नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य आनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर-गुरुभ्यो नमः

सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि

भाग 33

आगम ४१/२

"पिण्डनिर्युक्ति" मूलं एवं वृत्तिः

मूल संशोधक :- पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब

अभिनव-संकलनकर्ता :- आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी [M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

पूज्य शासनप्रभावक आचार्यश्री हर्षसागरसूरिजी की प्रेरणा से

'वर्धमान जैन आगम मंदिर संस्था' पालिताणा

ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता

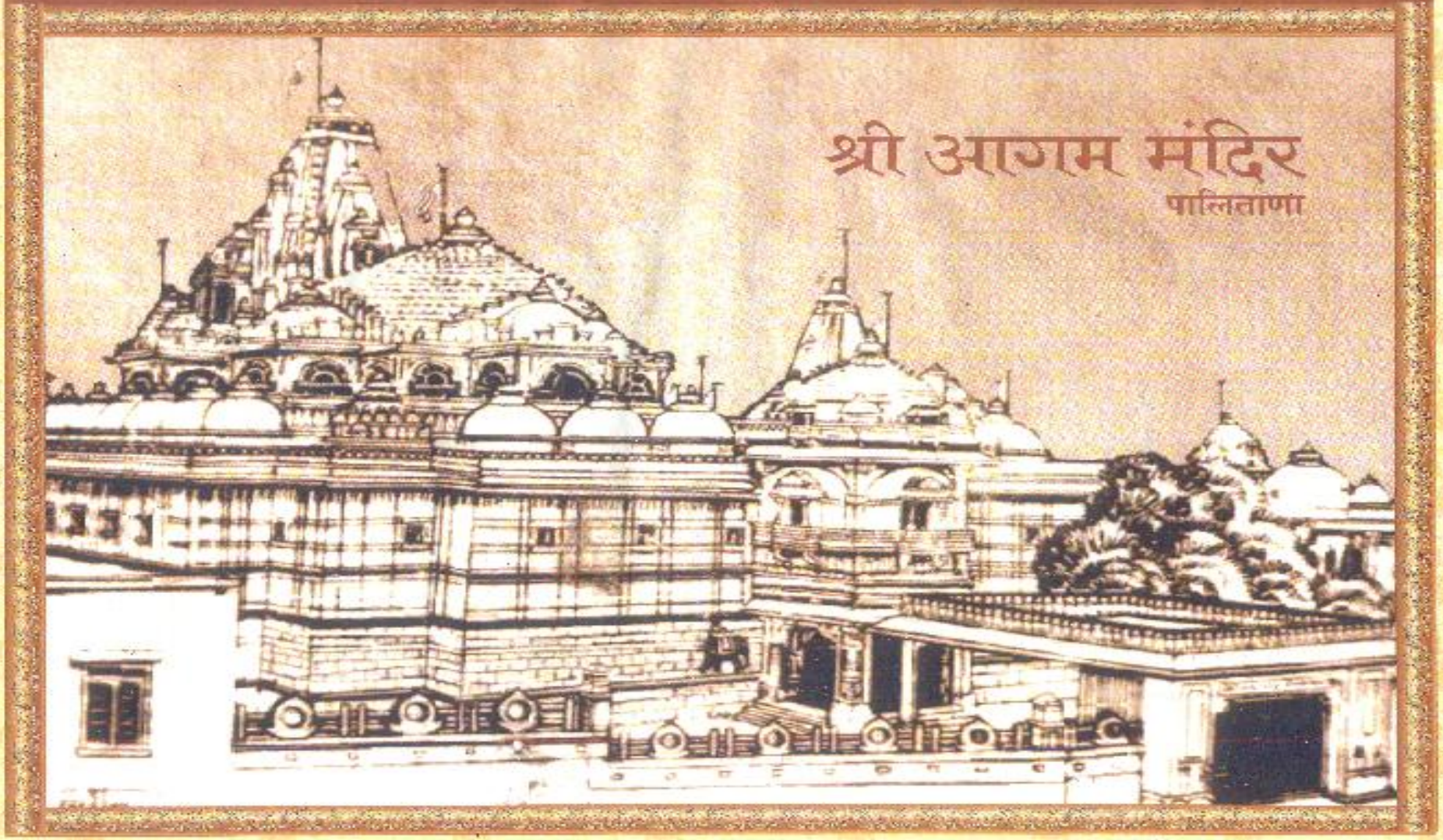

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि

मूल संशोधक

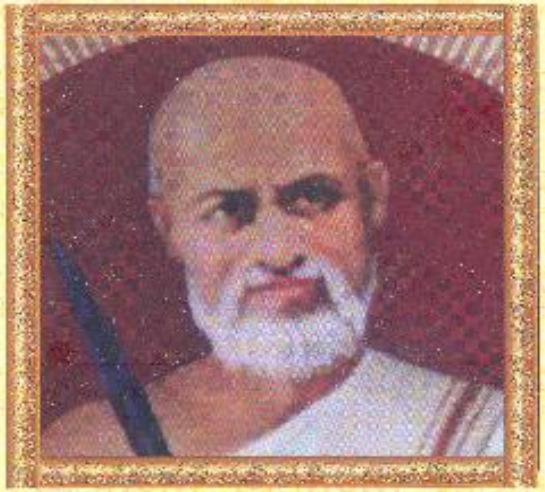

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य
श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

अभिनव-संकलनकर्ता

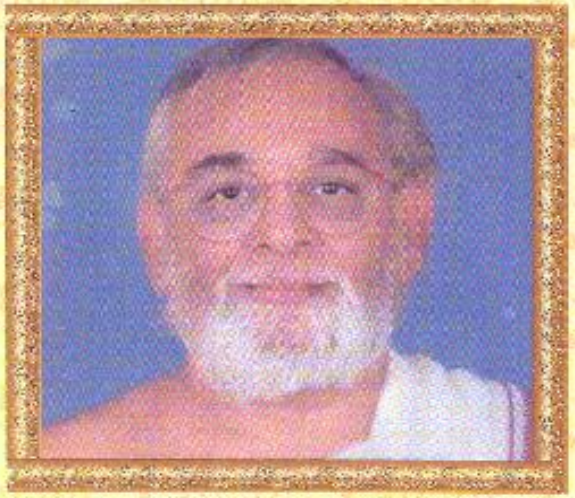

आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी
[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका
मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदाबाद Mo 9825598855 / 9825306275

आगम

वाचना शताब्दी वर्ष

[भाग-३३] श्रीपिण्डनिर्युक्तिः (मूलसूत्रम्-२/२)

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य श्रीआनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर गुरूभ्यो नमः

[आगम-४१/२] “पिण्डनिर्युक्ति” मूलं एवं वृत्तिः

[मूल-निर्युक्तिः + भाष्यं + मलयगिरिसूरि-विरचिता वृत्तिः]

[आद्य संपादकश्री]

पूज्य आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागर सूरीश्वरजी म॰ सा॰

(किञ्चित् वैशिष्ठ्यं समर्पितेन सह)

पुनः संकलनकर्ता→ मुनि दीपरत्नसागर (M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि)

28/07/2017, शुक्रवार, २०७३ श्रावण शुक्ल ५ ‘सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि’ श्रेणि भाग-33

श्री आगमोद्धारक-वाचना-शताब्दी-वर्ष-निमित्त ‘आगम-वृत्ति-मुद्रण-प्रोजेक्ट’

सामाचारी-संरक्षक, ज्ञानधनी, आगम-संशोधक, तीव्र-मेधावी, समाधिमृत्यु-प्राप्त, बहुमुखीप्रतिभाधारक

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

◆ जिन्होने शुद्ध-श्रद्धा, सम्यक्-श्रुत आराधना, यथाख्यातचारित्र के प्रति गति और अंत समय देह-ममत्व के त्याग के द्वारा कायोत्सर्ग नामक अभ्यंतर-तप कि मिशाल कायम कि है ऐसे बहुश्रुत आचार्य श्री सागरानंदसूरीश्वरजी महाराज का परिचय कराना मेरे लिए नामुमकिन है, फ़िर भी गुरुभक्ति बुद्धि से श्रद्धांजली स्वरुप एक मामुली सी झलक पैस करने का यह प्रयास मात्र है |

◆ चारित्र-ग्रहण के बाद अल्प कालमे जो अपने गुरुदेव की छत्रछाया से दूर हो गये, तो भी गुरुदेव के स्वर्ग-गमन को सिर्फ़ कर्मो का प्रभाव मानकर अपने संयम के लक्ष्य प्रति स्थिर रहते हुए अकेले ज्ञान-मार्ग कि साधना के पथ पर चले | पढाई के लिए ही कितने महिनो तक रोज एकासणा तप के साथ बारह किल्लोमिटर पैदल विहार भी किया | लेकिन अपने मंझिल पे डटे रहे, और परिणाम स्वरुप संस्कृत एवं प्राकृत भाषा का, प्राचीन लिपिओ का, व्याकरण-न्याय-साहित्य आदि का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया | जैन आगमशास्त्रो के समुद्र को भी पार कर गए|

◆ एक अकेला आदमी भी क्या नहीं कर शकता? इस प्रश्न का उत्तर हमें इस महापुरुष के जीवन और कवन से मिल गया, जब वे चल पड़े देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के स्थापित पथ पर. बिना किसी सहाय लिए हुए सिर्फ अकेले ही "जैन-आगम-शास्त्रो" को दीर्घजीवी बनाने के लिए अनेक हस्तप्रतो से शुद्ध-पाठ तैयार किये | दो वैकल्पिक आगम, कल्पसूत्र और निर्युक्तिओ को जोड़कर ४५ आगम-शास्त्रो को संशोधित कर के संपादित किया | फिर पालीताणामें आगम मंदिर बनवाकर आरस-पत्थर के ऊपर ये सभी आगम-साहित्य को कंडारा, सूरतमें ताम्रपत्र पर भी अंकित करवाए और "आगम मंजूषा" नाम से मुद्रण भी करवा के बड़ी बड़ी पेटीमें रखवा के गाँव गाँव भेज दिए | वर्तमानकालमे सर्व प्रथमबार ऐसा कार्य हुआ |

◆ सिर्फ मूल आगम के कार्य से ही उन के कदम रुके नही थे, उन्होंने आगमो की वृत्ति, चूर्णि, निर्युक्ति, अवचूरी, संस्कृत-छाया आदि का भी संशोधन-सम्पादन किया | उपयोगी विषयो के लिए उन्होंने एक लाख श्लोक प्रमाण संस्कृत-प्राकृत नए ग्रंथो की रचना भी की | कितने ही ग्रंथो की प्रस्तावना भी लिखी | ये सम्यक्-श्रुत मुद्रित करवाने के लिए आगमोदय समिति, देवचंद लालभाई इत्यादि विभिन्न संस्था की स्थापना भी की |

◆ ज्ञानमार्ग के अलावा सम्मेतशिखर, अंतरीक्षजी, केशरियाजी आदि तीर्थरक्षा कर के सम्यक-दर्शन-आराधना का परिचय भी दिया | राजाओं को प्रतिबोध कर के और वाचनाओ द्वारा अपनी प्रवचन-प्रभावकता भी उजागर करवाई | बालदिक्षा, देवद्रव्य-संरक्षण, तिथि-प्रश्न इत्यादि विषयोमे सत्य-पक्षमें अंत तक दृढ़ रहे | जैनशासन के लिए जब जरुरत पड़ी तब अदालती कारवाईंओ का सामना भी बड़ी निडरता से किया था |

◆ सागरानंदजी के नाम से मशहूर हो चुके पूज्य आनंदसागरसूरीश्वरजीने अपने परिवार स्वरुप ८७० साधू-साध्वीजी भी शासन को भेट किये |

...ये थे हमारे गुरुदेव "सागरजी"... *.....मुनि दीपरत्नसागर...*

संयमैकलक्षी, उपधान-तप-प्रेरक, चारित्र-मार्ग-रागी, प्रवचन-पटु, सुपरिवार-युक्त

पूज्य गच्छाधिपतिआचार्यदेव श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

*** परमपूज्य आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी के पाट-परंपरामे हुए तिसरे गच्छाधिपति थे पूज्य आचार्य श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी, जो एक पून्यवान् आत्मा थे, दीक्षा ग्रहण के बाद अल्पकालमे ही एक शिष्य के गुरु बन गये | फ़िर क्या ! शिष्यो कि संख्या बढती चली, बढ़ते हुए पुन्य के साथ-साथ वे आखिर 'गच्छाधिपति' पद पे आरूढ़ हो गए | इस महात्मा का पुन्य सिर्फ शिष्यों तक सिमित नही था, वे जहा कहीं भी 'उपधान-तप' की प्रेरणा करते थे, तुरंत ही वहां 'उपधान' हो जाते थे | प्रवचनपटुता एवं पर्षदापुन्य के कारण उन के उपदेश-प्राप्त बहोत आत्माओने संयम-मार्ग का स्वीकार किया | खुद भी संयमैकलक्षी होने के कारण चारित्रमार्ग के रागी तो थे ही, साथसाथ ज्ञानमार्ग का स्पर्श भी उन का निरंतर रहेता था | आप कभी भी दुपहर को चले जाइए, वे खुद अकेले या शिष्य-परिवार के साथ कोई भी ग्रन्थ के अध्ययन-अध्यापनमें रत दिखाई देंगे |

*** ये तो हमने उनके जीवन के दो-तीन पहेलु दिखाए | एक और भी अनुसरणीय बात उन के जीवनमें देखने को मिली थी- 'आराधना-प्रेम'. कैसी भी शारीरिक स्थिति हो, मगर उन्होंने दोनों शाश्वती ओलीजी, [पोष}दशमी, शुक्ल पंचमी, त्रिकाल देववंदन, पर्व या पर्वतिथि के देववंदन आदि आराधना कभी नहीं छोड़ी | आखरी सालोमें जब उन को एहसास हो गया की अब 'अंतिम-आराधना' का अवसर नजदीक है, तब उन के मुहमें एक ही रटण बारबार चालु हो गया- "*अरिहंतनुं शरण, सिद्धनुं शरण, साधुनुं शरण, केवली भगवंते भाखेला धर्मनुं शरण*" इसी चार शरणो के रटण के साथ ही वे समाधि-मृत्यु-रूप सम्यक् निद्रा को प्राप्त हुए थे | ऐसे महान् सूरिवर को भावबरी वंदना |

*** मुनि दीपरत्नसागर...

◆◆◆ श्री वर्धमान जैन आगम मंदिर संस्था, पालिताणा ◆◆◆

पूज्यपाद आनंदसागर-सूरीश्वरजी की बौद्धिक-प्रतिभा का मूर्तिमंत स्वरुप ऐसी इस संस्था की स्थापना विक्रम-संवत १९९९ मे महा-वद ५ को हुइ| *पूज्य आचार्य हर्षसागरसूरिजी की प्रेरणा से* जिन की तरफ़ से इस *सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि* के लिए संपूर्ण द्रव्य-सहाय की प्राप्ति हुइ |

शिल्प-स्थापत्य, शिलोत्कीर्ण आगम और समवसरण स्थित नयनरम्य ४५ चौमुख जिन-प्रतिमाजी से सुशोभित ऐसा ये 'आगममंदिर' है, जो शत्रुंजय-गिरिराज कि तलेटीमे स्थित है | वर्तमान २४ जिनवर, २० विहरमान जिनवर और १ शाश्वत मिलाकर ४५ चौमुखजी यहा बिराजमान है | जहां ४० समवसरण की रचना मेरु पर्वत के तिनो काण्ड के वर्णो के अनुसार चार अलग-अलग रंगो के आरस-पत्थर से बना है, देवो द्वारा रचित समवसरण के शास्त्र वर्णन-अनुसार आगम-मंदिर कि समवसरण का स्थापत्य है | ऐसी अनेक विशेषता से युक्त ये आगममंदिर है |

**** मुनि दीपरत्नसागर...*

'सागर-समुदाय-एकता-संरक्षक, तीर्थ-उद्धार-कार्य-प्रवृत्त, गुणानुरागी'

इस "सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि' श्रेणि भाग १ से ४० के संपूर्ण अनुदान के प्रेरणादाता

पूज्य शासनप्रभावक आचार्य श्री हर्षसागरसूरिजी महाराज साहेब

पूज्यपाद स्व॰ गच्छाधिपति देवेन्द्रसागर-सूरीश्वरजी के विनयी शिष्य एवं दो गच्छाधिपतिओ के मुख्य सहायक के रुपमे 'सागर समुदाय' के सुचारु संचालक पूज्य हर्षसागरसूरिजी, जिन की प्रेरणा से ये "सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि" के मुद्रण के लिए संपूर्ण द्रव्यराशि प्राप्त हुई, उनका अत्यल्प परिचय यहां करेंगे| समुदाय-एकता के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हुए ये महात्मा *समुदाय के साधु-साध्वीजी* की आवश्यकताओकी पूर्ती के लिए भी प्रवृत्त रहेते है, प्राचीन-अर्वाचीन तीर्थो के जीर्णोद्धार एवं विकाश के लिए भी उत्साहित रहेते है, ज्ञान-क्षेत्र अछूता न रहे इसीलिए अनुमोदना, अनुदान एवं समय मिलने पर शास्त्र-वांचनमें भी रूचि रखते है | समुदाय के जरूरतमंद साध्वीजी भगवंतो के आवास का विषय हो या साध्वीजी के विहारमें मजदूर का वेतन चुकाना हो, ऐसे छोटे-छोटे कार्यो के प्रति भी उन का लक्ष्य रहेता है | दर्शन-शुद्धि के लिए जब उन्होंने समग्र भारतवर्ष के १०० साल तक के पुराने जिनालयो में १८ अभिषेक की प्रेरणा की, उस वक्त लगभग सभी अभिषेक-सामग्री की द्रव्य-शुद्धि का ख़याल रखते हुए अपनी मेधावी बुद्धि का परिचय दिया था, साथमे अनुकंपा भाव से पुजारी या विधि करानेवाले को यत्किंचित् बहुमान प्रगट करते हुए कुछ धन-राशि प्रदान करवाई |

ऐसे बहुगुण-संपन्न महात्मा पूज्य आचार्यश्री हर्षसागर-सूरिजी को हम भावभरी वंदना करते हुए इस श्रुतकार्य का प्रारंभ करने जा रहे है |

**** मुनि दीपरत्नसागर*

[कात्रज]पूना, कपडवंज, प्रभासपाटण आदि स्थानोमे आगममंदिर के प्रेरक, कर्मग्रंथ अभ्यासु, निस्पृह महात्मा

पूज्यपाद गच्छाधिपति आचार्य श्री दौलतसागर-सूरीश्वरजी महाराज साहेब

(एवं) अजातशत्रु, स्वाध्याय-रसिक, प्रशांतमूर्ती और अपने गुरु के प्रीतिपात्र

परम पूज्य आचार्य श्री नंदीवर्धनसागर-सूरिजी महाराज साहेब

इस पवित्र श्रुत-कार्यमे दोनो सूरिवरो का स्मरण करते हुए कोटि कोटि वंदना के साथ

.....मुनि दीपरत्नसागर

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ॥–॥ दीप अनुक्रम [–]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

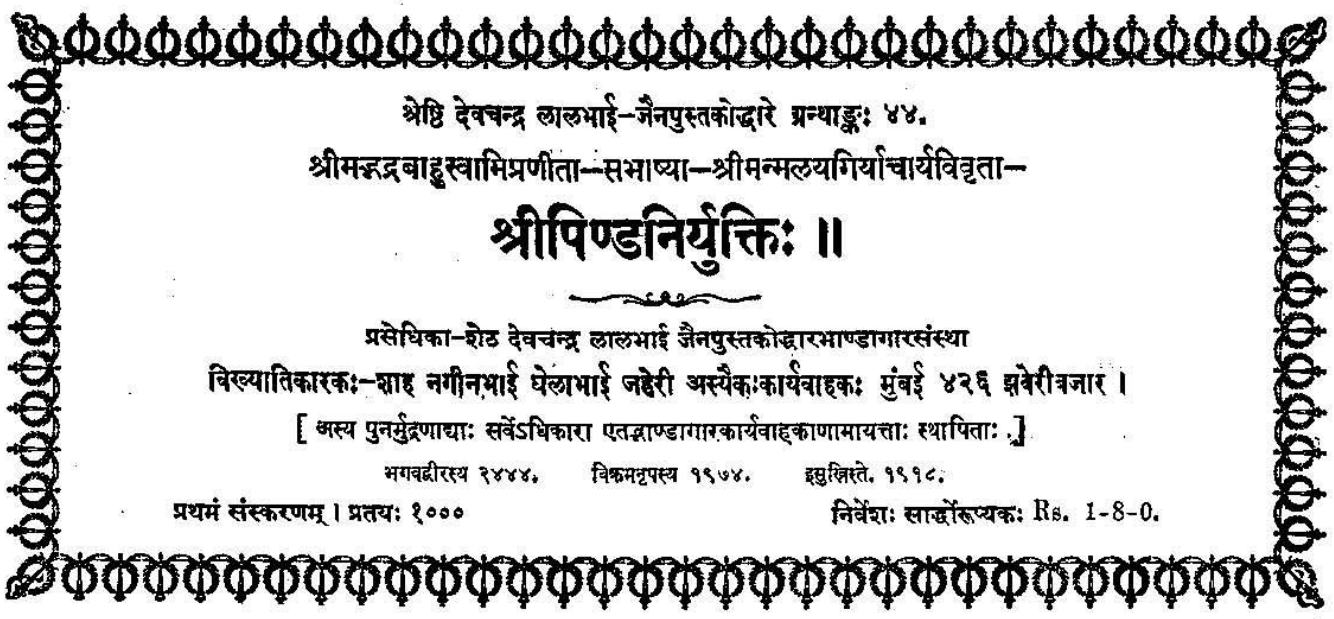

श्रेष्ठि देवचन्द्र लालभाई–जैनपुस्तकोद्धारे ग्रन्थाङ्कः ४४.

श्रीमद्भद्रबाहुस्वामिप्रणीता–सभाष्या–श्रीमन्मलयगिर्याचार्यविवृता–

श्रीपिण्डनिर्युक्तिः ॥

प्रसेधिका–शेठ देवचन्द्र लालभाई जैनपुस्तकोद्धारभाण्डागारसंस्था

विख्यातिकारकः–शाह नगीनभाई घेलाभाई जहेरी अस्यैकःकार्यवाहकः मुंबई ४२६ झवेरीबजार ।

[अस्य पुनर्मुद्रणाद्याः सर्वेऽधिकारा एतद्भाण्डागारकार्यवाहकाणामायत्ताः स्थापिताः]

भगवद्वीरस्य २४४४. विक्रमनृपस्य १९७४. इसुखिस्ते. १९१८.

प्रथमं संस्करणम् । प्रतयः १००० निवेशः साद्धोरूप्यकः Rs. 1-8-0.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	पिण्डनिर्युक्ति सूत्रस्य मूल "टाइटल पेज"

मूलांक:	विषय:	पृष्ठां		मूलांक	विषय:	पृष्ठां		मूलांक	विषय:	पृष्ठां
००१	प्रस्तावना गाथा	०१२		००२	पिण्ड	०१५		१०१	उद्गम	०९२
४३६	उत्पादना	२५०		५५८	एषणा	३०२		६७८	संयोजना	३५४
६८४	प्रमाण	३५६		६९७	अंगार-धूम	३६१		७०३	कारण	३६३
७११	उपसंहार	३६७			----------				----------	

[पिण्डनिर्युक्ति- मूलं एवं वृत्ति:] इस प्रकाशन की विकास-गाथा

यह प्रत सबसे पहले "श्री पिण्डनिर्युक्ति:" नामसे सन १९१८ (विक्रम संवत १९७४) में देवचन्द्र लालभाइ पुस्तकोद्धार संस्था द्वारा प्रकाशित हुई , इस के संपादक-महोदय थे पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी (सागरानंदसूरिजी) महाराज साहेब | हमने जब "आगमसुत्ताणि" (सटीकं) नामसे ४५ आगम-सटीकं का प्रकाशन करवाया तब हमारे संपादन कार्यमे इसी प्रत का सहारा लेकर हमने भी "पिण्डनिर्युक्ति-सटीकं" का पुन: संपादन एवं प्रकाशन किया है | जो "आगमसुत्ताणि" (सटीकं) के २६ वे भागमे मुद्रित हुआ है , और इन्टरनेट पर भी "आगमसुत्ताणि" (सटीकं) ४१/२ के रुपमे है| जीसे हमारे द्वारा प्रकाशित 'डीवीडी' मे भी स्थान दिया है |

✣ हमारा ये प्रयास क्यों?✣ आगम की सेवा करने के हमें तो बहोत अवसर मिले, ४५-आगम सटीक भी हमने ३० भागोमे १२५०० से ज्यादा पृष्ठोमें प्रकाशित करवाए है, किन्तु लोगो की पूज्यश्री सागरानंदसूरीश्वरजी के प्रति श्रद्धा तथा प्रत स्वरुप प्राचीन प्रथा का आदर देखकर हमने इसी प्रत को स्केन करवाई, उसके बाद एक स्पेशियल फोरमेट बनवाया , जिसमे बीचमे पूज्यश्री संपादित प्रत ज्यों की त्यों रख दी , ऊपर शीर्षस्थानमे आगम का नाम , फिर मूलसूत्र-निर्युक्ति-भाष्य आदि के नंबर लिख दिए , ताँकि पढ़नेवाले को प्रत्येक पेज पर कौनसा सूत्र , निर्युक्ति, भाष्य आदि चल रहे है उसका सरलता से ज्ञान हो शके |

बायीं तरफ आगम का क्रम और इसी प्रत का निर्युक्ति/भाष्य/प्रक्षेप का सूत्रक्रम दिया है , उसके साथ वहाँ 'दीप अनुक्रम ' भी दिया है , जिससे हमारे प्राकृत, संस्कृत, हिंदी गुजराती, इंग्लिश आदि सभी आगम प्रकाशनोमें प्रवेश कर शके | हमारे अनुक्रम तो प्रत्येक प्रकाशनोमें एक सामान और क्रमशः आगे बढते हुए ही है , इसीलिए सिर्फ क्रम नंबर दिए है , मगर प्रत में गाथा आदि के नंबर अलग-अलग होने से हमने उसे अलग-अलग दिए है और उसके लिए ||-|| ऐसी दो लाइन खींची या 'गाथा' आदि शब्द लिख दिया है | अनेक स्थानोमे पृष्ठ के नीचे विशिष्ठ फूटनोट्स भी दी है |

शासनप्रभावक पूज्य आचार्यश्री हर्षसागरसूरिजी म०सा० की प्रेरणासे और श्री वर्धमान जैन आगममंदिर, पालिताणा की संपूर्ण द्रव्य सहाय से ये 'सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि' भाग-३३ का मुद्रण हुआ है, हम उन के प्रति हमारा आभार व्यक्त करते है |

.....मुनि दीपरत्नसागर.

आगम (४१/२)	[भाग-३३] "पिण्डनिर्युक्ति"– मूलसूत्र-२/१ (मूलं+निर्युक्ति:+वृत्ति:) मूलं [-] ●➔ "निर्युक्ति: [-] + भाष्यं [-] + प्रक्षेपं [-]" ←●
प्रत गाथांक नि/भा/प्र ॥-॥ दीप अनुक्रम [-]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति: 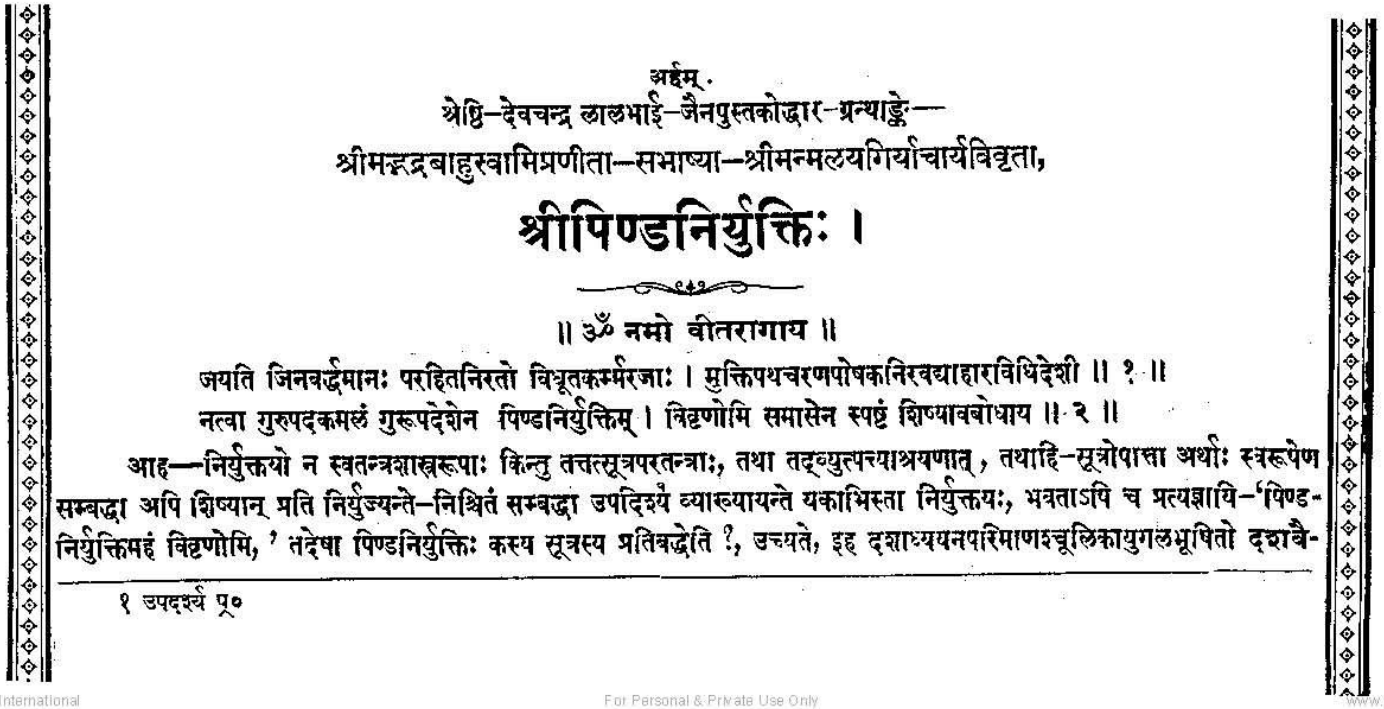
	वृत्तिकार रचिता आरंभिकगाथा:

अर्हम्.

श्रेष्ठि–देवचन्द्र लालभाई–जैनपुस्तकोद्धार–ग्रन्थाङ्कः—

श्रीमद्भद्रबाहुस्वामिप्रणीता–सभाष्या–श्रीमन्मलयगिर्याचार्यविवृता,

श्रीपिण्डनिर्युक्तिः ।

॥ ॐ नमो वीतरागाय ॥

जयति जिनवर्द्धमानः परहितनिरतो विधूतकर्म्मरजाः । मुक्तिपथचरणपोषकनिरवद्याहारविधिदेशी ॥ १ ॥

नत्वा गुरुपदकमलं गुरूपदेशेन पिण्डनिर्युक्तिम् । विवृणोमि समासेन स्पष्टं शिष्यावबोधाय ॥ २ ॥

आह—निर्युक्तयो न स्वतन्त्रशास्त्ररूपाः किन्तु तत्तत्सूत्रपरतन्त्राः, तथा तद्व्युत्पत्त्याश्रयणात्, तथाहि–सूत्रोपात्ता अर्थाः स्वरूपेण सम्बद्धा अपि शिष्यान् प्रति निर्युज्यन्ते–निश्चितं सम्बद्धा उपदिश्यै व्याख्यायन्ते यकाभिस्ता निर्युक्तयः, भवताऽपि च प्रत्यज्ञायि–'पिण्डनिर्युक्तिमहं विवृणोमि,' तदेषा पिण्डनिर्युक्तिः कस्य सूत्रस्य प्रतिबद्धेति ?, उच्यते, इह दशाध्ययनपरिमाणश्चूलिकायुगलभूषितो दशवै-

१ उपदर्श्य पू०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१||

दीप अनुक्रम [१]

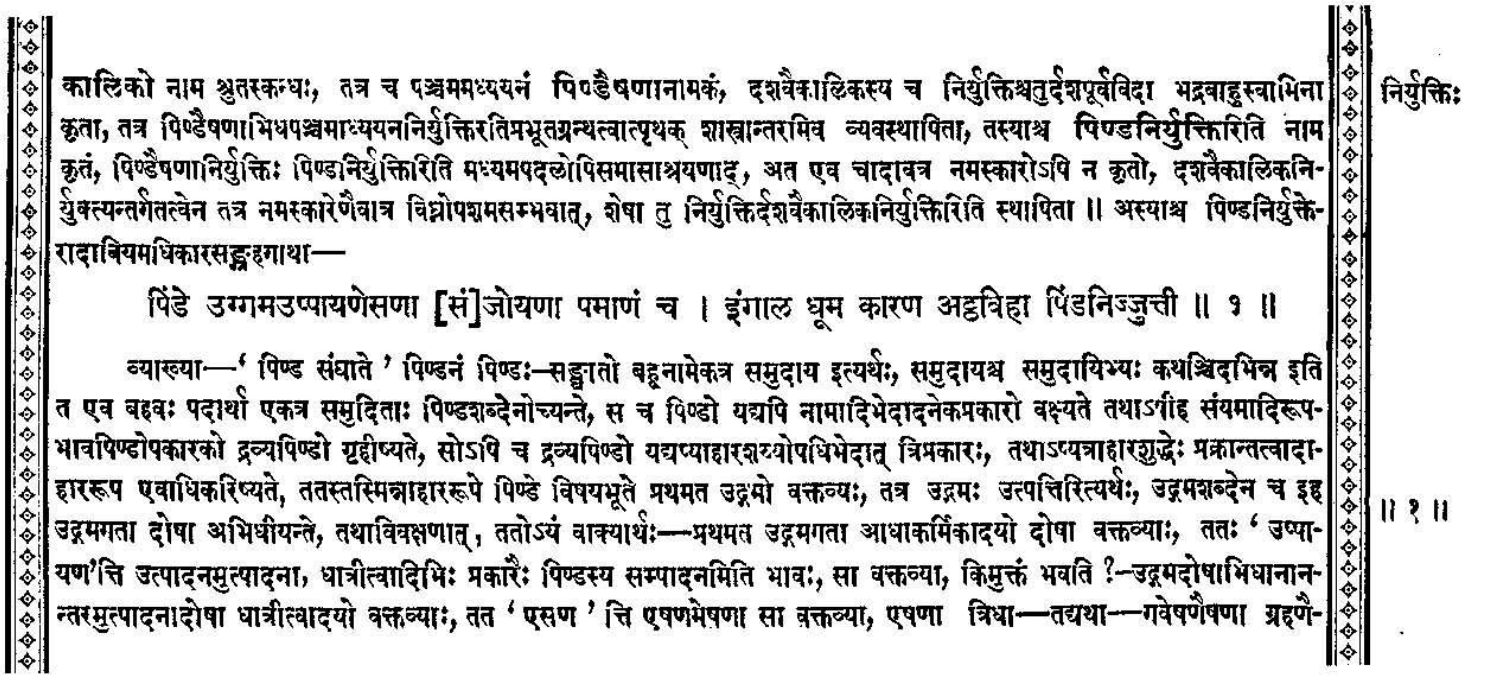

श्रीपिण्ड- ॥ १ ॥

कालिको नाम श्रुतस्कन्धः, तत्र च पञ्चममध्ययनं पिण्डैषणानामकं, दशवैकालिकस्य च निर्युक्तिश्चतुर्दशपूर्ववित्या भद्रबाहुस्वामिना कृता, तत्र पिण्डैषणाभिधपञ्चमाध्ययननिर्युक्तिरतिप्रभूतग्रन्थत्वात्पृथक् शास्त्रान्तरमिव व्यवस्थापिता, तस्याश्च पिण्डनिर्युक्तिरिति नाम कृतं, पिण्डैषणानिर्युक्तिः पिण्डनिर्युक्तिरिति मध्यमपदलोपिसमासाश्रयणाद्, अत एव चादावत्र नमस्कारोऽपि न कृतो, दशवैकालिकनिर्युक्त्यन्तर्गतत्वेन तत्र नमस्कारेणैवात्र विघ्नोपशमसम्भवात्, शेषा तु निर्युक्तिर्दशवैकालिकनिर्युक्तिरिति स्थापिता ॥ अस्याश्च पिण्डनिर्युक्तेरादावियमधिकारसङ्ग्रहगाथा—

निर्युक्तिः

पिंडे उग्गमउप्पायणेसणा [सं]जोयणा पमाणं च । इंगाल धूम कारण अट्ठविहा पिंडनिज्जुत्ती ॥ १ ॥

व्याख्या—' पिण्ड संघाते ' पिण्डनं पिण्डः—सङ्घातो बहूनामेकत्र समुदाय इत्यर्थः, समुदायश्च समुदायिभ्यः कथञ्चिदभिन्न इति त एव बहवः पदार्था एकत्र समुदिताः पिण्डशब्देनोच्यन्ते, स च पिण्डो यद्यपि नामादिभेदादनेकप्रकारो वक्ष्यते तथाऽप्याह संयमादिरूपभावपिण्डोपकारको द्रव्यपिण्डो गृहीष्यते, सोऽपि च द्रव्यपिण्डो यद्यप्याहारशय्योपधिभेदात् त्रिप्रकारः, तथाऽप्यत्राहारशुद्धेः प्रक्रान्तत्वादाहाररूप एवाधिकरिष्यते, ततस्तस्मिन्नाहाररूपे पिण्डे विषयभूते प्रथमत उद्गमो वक्तव्यः, तत्र उद्गमः उत्पत्तिरित्यर्थः, उद्गमशब्देन च इह उद्गमगता दोषा अभिधीयन्ते, तथाविवक्षणात्, ततोऽयं वाक्यार्थः—प्रथमत उद्गमगता आधाकर्मिकादयो दोषा वक्तव्याः, ततः ' उप्पायण'त्ति उत्पादनमुत्पादना, धात्रीत्वादिभिः प्रकारैः पिण्डस्य सम्पादनमिति भावः, सा वक्तव्या, किमुक्तं भवति ?—उद्गमदोषाभिधानानन्तरमुत्पादनादोषा धात्रीत्वादयो वक्तव्याः, तत ' एसण ' त्ति एषणमेषणा सा वक्तव्या, एषणा त्रिधा—तद्यथा—गवेषणैषणा ग्रहणै-

॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'पिण्डनिर्युक्ति' विषय=अधिकार संग्रहगाथा

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१||

दीप अनुक्रम [१]

षणा ग्रासैषणा च, तत्र गवेषणे—अन्वेषणे एषणा—अभिलाषो गवेषणैषणा, एवं ग्रहणैषणा ग्रासैषणाऽपि भावनीये, तत्र गवेषणैषणा उद्गमोत्पादनाविषयेति तद्ग्रहणेनैव गृहीता द्रष्टव्या, ग्रासैषणा त्वभ्यवहारविषया, ततः संयोजनादिग्रहणेन सा गृहीष्यते, तस्मादिह पारिशेष्यादेषणाशब्देन ग्रहणैषणा गृहीता द्रष्टव्या, ग्रहणैषणाग्रहणेन च ग्रहणैषणागता दोषा वेदितव्याः, तथाविवक्षणात्, ततोऽयं भावार्थः—उत्पादनादोषाभिधानानन्तरं ग्रहणैषणागता दोषाः शङ्कितम्रक्षितादयोऽभिधातव्याः, ततः संयोजना वक्तव्या, तत्र संयोजनं संयोजना—गृद्ध्या रसोत्कर्षसम्पादनाय सुकुमारिकादीनां खण्डादिभिः सह मीलनं, सा द्रव्यभावभेदाद् द्विधा, वक्ष्यति च—'दव्वे भावे संयोजणा य' इत्यादि, ततः प्रमाणं कवलसङ्ख्यालक्षणं वक्तव्यं, चकारः समुच्चये, स च भिन्नक्रमत्वात्कारणशब्दानन्तरं द्रष्टव्यः, ततः, 'इंगाल धूम' त्ति अङ्गारदोषो धूमदोषश्च यथा भवति तथा वक्तव्यं, तदनन्तरं 'कारण' त्ति यैः कारणैराहारो यतिभिरादीयते यैस्तु न तानि कारणानि च वक्तव्यानि, सूत्रे च विभक्तिलोप आर्षत्वात्, तदेवम् 'अष्टविधा' अष्टप्रकारा अष्टभिरर्थाधिकारैः सम्बद्धेति भावार्थः, पिण्डनिर्युक्तिः—पिण्डैषणानिर्युक्तिः ॥ स्यादेतद्, एतेऽष्टावप्यर्थाधिकाराः किं कुतश्चित्सम्बन्धविशेषादायाताः उत यथाकथ श्चिद्वक्तव्याः, ? उच्यते, सम्बन्धविशेषादायाताः, तथाहि—पिण्डैषणाऽध्ययननिर्युक्तिर्वक्तुमुपक्रान्ता, पिण्डैषणाऽध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि, तद्यथा—उपक्रमो निक्षेपोऽनुगमो नयश्च, तत्र नामनिष्पन्ने निक्षेपे पिण्डैषणाऽध्ययनमिति नाम, ततः पिण्ड इति अध्ययनमिति च व्याख्येयं, तत्राध्ययनमिति प्रागेव द्रुमपुष्पिकाऽध्ययने व्याख्यातम्, इह तु पिण्ड इति व्याख्येयं, तत एव एषणा, एषणा च गवेषणैषणा ग्रहणैषणा ग्रासैषणा च, गवेषणैषणादयश्च उद्गमादिविषयास्ततस्ते वक्तव्याइत्यष्टौ पिण्डादयोऽर्थाधिकाराः ॥ तत्र प्रथमतः पिण्ड इति व्याख्यायते, व्याख्या च तत्त्वभेदपर्यायैः, अतः प्रथमतः पिण्डशब्दस्य पर्यायानभिधित्सुराह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२||

दीप अनुक्रम [२]

श्रीपिण्ड- ॥ २ ॥

पिंड निकाय समूहे संपिंडण पिंडणा य समवाए । समुसरण निचय उवचय चए य जुम्मे य रासी य ॥ २ ॥

व्याख्या—एते सर्वेऽपि सामान्यतः पिण्डशब्दस्य पर्यायाः, विशेषापेक्षया तु कोऽपि कापि रूढः, तत्र पिण्डशब्दो गुडपिण्डादिरूपे सङ्घाते रूढो, निकायशब्दो भिक्षुकादिसङ्घाते, समूहशब्दो मनुष्यादिसमुदाये, संपिण्डनशब्दः सेवादीनां खण्डपाकादेश्च परस्परं सम्यक्-संयोगे, पिण्डनाशब्दोऽपि तत्रैव, केवलं मीलनमात्रे संयोगे, समवायशब्दो वणिगादीनां सङ्घाते, समवसरणशब्दः तीर्थकृतः सदेवमनुजा-सुराणां पर्षदि, निचयशब्दः सूकरादिसङ्घाते, उपचयशब्दः पूर्वावस्थातः प्रचुरीभूते सङ्घातविशेषे, चयशब्द इष्टिकारचनाविशेषे, युग्मशब्दः पदार्थद्वयसङ्घाते, राशिशब्दः पूगफलादिसमुदाये, तदेवमिह यद्यपि पिण्डादयः शब्दाः लोके प्रतिनियत एव सङ्घातविशेषे रूढाः,तथाऽपि सामान्यतो यद् व्युत्पत्तिनिमित्तं सङ्घातत्वमात्रलक्षणं तत्सर्वेषामप्यविशिष्टमितिकृत्वा सामान्यतः सर्वे पिण्डादयः शब्दा एकार्थिका उक्ताः, ततो न कश्चिद्दोषः॥ तदेवं पिण्डशब्दस्य पर्यायानभिधाय सम्प्रति भेदानाचिख्यासुराह—

पिंडस्स उ निक्खेवो चउक्कओ छक्कओ व कायव्वो । निक्खेवं काऊणं परूवणा तस्स कायव्वा ॥ ३ ॥

व्याख्या—'पिण्डस्य' प्रागुक्तशब्दार्थस्य तुशब्दः पुनरर्थे, स च निक्षेपशब्दानन्तरं योज्यो, 'निक्षेपो' नामादिन्यासरूपः, पुनश्चतुष्ककः षट्ककको वा कर्तव्यः, तत्र चत्वारः परिमाणमस्येति चतुष्कः, "सङ्ख्याडतेश्चाशत्तिष्टेः कः" इति कः प्रत्ययः, ततो भूयः स्वार्थिककप्रत्ययविधानाच्चतुष्ककः, एवं षट्ककोऽपि वाच्यः, इह यत्र वस्तुनि निक्षेपो न सम्यग् विस्तरतोऽवगम्यतेऽवगतो वा विस्मृतिपथमुपगतस्तत्राप्यवश्यं नामस्थापनाद्रव्यभावरूपश्चतुष्ककको निक्षेपः कर्तव्य इति प्रदर्शनार्थं चतुष्ककग्रहणं, यत्र तु तथाविधगुरुस-

निर्युक्तिः ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'पिण्ड' शब्दस्य पर्याया: वर्णयते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||४||

दीप अनुक्रम [४]

स्प्रदायतः सविस्तरमधिगतो भवति नाप्यधिगतो विस्मृतिपथमुपगतस्तत्र सविस्तरं निक्षेपो वक्तव्य इति न्यायप्रदर्शनार्थं षट्ककग्रहणं, तथा चोक्तं—"जत्थ य जं जाणिज्जा निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं । जत्थ वि य न जाणिज्जा चउक्कयं निक्खिवे तत्थ" ॥ १ ॥ ततश्चैतदुक्तं भवति–यदि षट्को निक्षेपः सम्यगधिगतो भवति अधिगतोऽपि च न विस्मृतस्तदा षट्करूपो निक्षेपः कर्त्तव्यः, अन्यथा तु नियमतश्चतुष्करूप इति । एवं च निक्षेपं कृत्वा तस्य पिण्डस्य प्ररूपणा कर्त्तव्या, येन पिण्डेनेहाधिकारः स पिण्डः प्ररूपणीय इति भावार्थः । इदमेव च नामादिभेदोपन्यासेन व्याख्यायाः फलं यदुत यावन्तो विवक्षितशब्दवाच्याः पदार्था घटन्ते तान् सर्वानपि यथास्वरूपं वैविक्त्येनोपदर्श्येन केनचिन्नामाद्यन्यतमेन प्रयोजनं स युक्तिपूर्वमधिक्रियते शेषास्त्वपाक्रियन्ते तथा चोक्तम्–' अप्रस्तुतार्थापाकरणात्प्रस्तुतार्थव्यायुरणाच्च निक्षेपः फलवानि'ति, इह 'चतुष्कः षट्को वा निक्षेपः कर्त्तव्य' इत्युक्तं तत्र नानिर्दिष्टस्वरूपं चतुष्कं षट्कं वा निक्षेपं शिष्याः स्वयमेवावगन्तुमीशास्ततोऽवश्यं तत्स्वरूपं निर्देष्टव्यं, तत्र षट्के निर्दिष्टे तदन्तर्गतत्वाच्चतुष्कोऽर्थान्निर्दिष्टो भवति, ततः स एव षट्कनिक्षेपोनिर्दिश्यते इति, एतदृष्टान्तपुरस्सरं प्रतिपिपादयिषुराह—

कुलए उ चउब्भागस्स संभवो छक्कए चउण्हं च । नियमेण संभवो अत्थि छक्कगं निक्खिवे तम्हा ॥ ४ ॥

व्याख्या—यथा 'कुलके' चतुःसेतिकाप्रमाणे चतुर्भागस्य–सेतिकाप्रमाणस्य सम्भवो–विद्यमानताऽवश्यं भाविनी, एवं षट्के निक्षेपे

१ यत्र च यं जानीयात् निक्षेपं निक्षिपेत् निरवशेषम् । यत्रापि च न जानीयात् चतुष्कं निक्षिपेत्तत्र ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ॥५॥

दीप अनुक्रम [५]

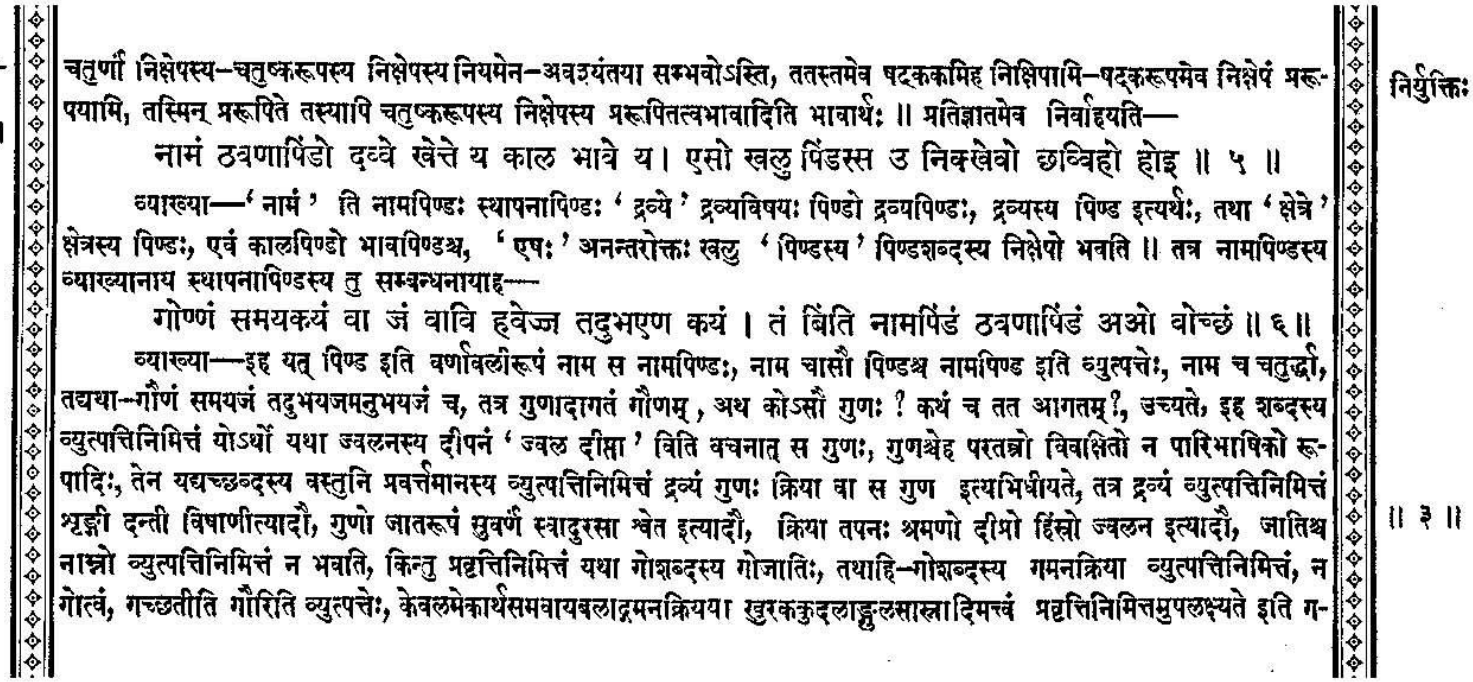

श्रीपिण्ड- ॥ ३ ॥

चतुर्णां निक्षेपस्य–चतुष्करूपस्य निक्षेपस्य नियमेन–अवश्यंतया सम्भवोऽस्ति, ततस्तमेव षट्ककमिह निक्षिपामि–षट्करूपमेव निक्षेपं प्ररूपयामि, तस्मिन् प्ररूपिते तस्यापि चतुष्करूपस्य निक्षेपस्य प्ररूपितत्वभावादिति भावार्थः ॥ प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

नामं ठवणापिंडो दव्वे खेत्ते य काल भावे य। एसो खलु पिंडस्स उ निक्खेवो छव्विहो होइ ॥ ५ ॥

व्याख्या—'नामं' ति नामपिण्डः स्थापनापिण्डः 'द्रव्ये' द्रव्यविषयः पिण्डो द्रव्यपिण्डः, द्रव्यस्य पिण्ड इत्यर्थः, तथा 'क्षेत्रे' क्षेत्रस्य पिण्डः, एवं कालपिण्डो भावपिण्डश्च, 'एषः' अनन्तरोक्तः खलु 'पिण्डस्य' पिण्डशब्दस्य निक्षेपो भवति ॥ तत्र नामपिण्डस्य व्याख्यानाय स्थापनापिण्डस्य तु सम्बन्धनायाह—

गोण्णं समयकयं वा जं वावि हवेज्ज तदुभएण कयं । तं बिंति नामपिंडं ठवणापिंडं अओ वोच्छं ॥ ६ ॥

व्याख्या—इह यत् पिण्ड इति वर्णावलीरूपं नाम स नामपिण्डः, नाम चासौ पिण्डश्च नामपिण्ड इति व्युत्पत्तेः, नाम च चतुर्द्धा, तद्यथा–गौणं समयजं तदुभयजमनुभयजं च, तत्र गुणादागतं गौणम्, अथ कोऽसौ गुणः ? कथं च तत आगतम्?, उच्यते, इह शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं योऽर्थो यथा ज्वलनस्य दीपनं 'ज्वल दीप्ता' विति वचनात् स गुणः, गुणश्चेह परतन्त्रो विवक्षितो न पारिभाषिको रूपादिः, तेन यद्यच्छब्दस्य वस्तुनि प्रवर्त्तमानस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं द्रव्यं गुणः क्रिया वा स गुण इत्यभिधीयते, तत्र द्रव्यं व्युत्पत्तिनिमित्तं शृङ्गी दन्ती विषाणीत्यादौ, गुणो जातरूपं सुवर्णं स्वादुरसा श्वेत इत्यादौ, क्रिया तपनः श्रमणो दीप्तो हिंस्रो ज्वलन इत्यादौ, जातिश्च नाम्नो व्युत्पत्तिनिमित्तं न भवति, किन्तु प्रवृत्तिनिमित्तं यथा गोशब्दस्य गोजातिः, तथाहि–गोशब्दस्य गमनक्रिया व्युत्पत्तिनिमित्तं, न गोत्वं, गच्छतीति गौरिति व्युत्पत्तेः, केवलमेकार्थसमवायबलाद्गमनक्रियया खुरककुदलाङ्गुलसास्नादिमत्त्वं प्रवृत्तिनिमित्तमुपलक्ष्यते इति ग-

निर्युक्तिः ॥ ३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'पिण्ड'स्य षड् निक्षेपा:

च्छत्यगच्छति वा गोपिण्डे गोशब्दस्य प्रवृत्तिः, एवं सर्वेष्वपि जातिशब्देषु नामसु व्युत्पत्तिनिमित्तवत्सु भावनीयं, ये तु जातिशब्दा व्युत्पत्तिरहिता यथाकथञ्चिज्जातिमत्सु रूढिमुपागतास्तेषु व्युत्पत्तिनिमित्तमेव नास्तीति कुतस्तत्र जातेर्व्युत्पत्तिनिमित्तत्वप्रसङ्गः?, तस्माज्जातिः परतन्त्रापि न शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तमिति न सा गुणग्रहणेन गृह्यते, ये तु गोत्वविशिष्टा गोमानित्यादयो जातिव्युत्पत्तिनिमित्ता न ते नामरूपा इति न तैर्व्यभिचारः, ततो गुणादागतं गौणं, व्युत्पत्तिनिमित्तं द्रव्यादिरूपं गुणमधिकृत्य यद्वस्तुनि प्रवृत्तं नाम तद्गौणनामेति भावार्थः, एतदेव च नाम लोके यथार्थमित्याख्यायते, तथा समयजं यदन्वर्थरहितं समय एव प्रसिद्धं यथौदनस्य प्राभृतिकेति नाम, उभयजं यद्गुणनिष्पन्नं समयप्रसिद्धं च, यथा धर्मध्वजस्य रजोहरणमिति नाम, इदं हि समयप्रसिद्धमन्वर्थयुक्तं च, तथाहि–बाह्यमाभ्यन्तरं च रजो ह्रियते अनेनेति रजोहरणं, तत्र बाह्यरजोऽपहारित्वमस्य सुप्रतीतम्, आन्तररजोऽपहरणसमर्थाश्च परमार्थतः संयमयोगाः, तेषां च कारणमिदं धर्मलिङ्गमिति कारणे कार्योपचाराद्रजोहरणमित्युच्यते, उक्तं च–"हरइ रओ जीवाणं बज्झं अब्भितरं च जं तेणं। रयहरणंति पवुच्चइ कारणकज्जोवयाराओ ॥ १ ॥ संयमजोगा इत्थं रओहरा तेसि कारणं जेणं। रयहरणं उवयारा भन्नइ तेणं रओ कम्मं ॥ २ ॥" अनुभयजं यदन्वर्थरहितं समयाप्रसिद्धं च, यथा कस्यापि पुंसः शौर्यक्रौर्यादिगुणासम्भवेनोपचाराभावे सिंह इति नाम, यद्वा देवा एनं द्रेयासुरिति व्युत्पत्तिनिमित्तासम्भवे देवदत्त इति नाम। एवं पिण्ड इति वर्णावलीरूपमपि नाम गौणादिभेदाच्चतुर्द्धा, तत्र यदा बहूनां सजातीयानां विजातीयानां वा कठिनद्रव्याणामेकत्र पिण्डने पिण्ड इति नाम प्रवर्त्तते तद्गौणं, व्युत्पत्तिनिमित्तस्य वाच्ये विद्यमानत्वात्, यदा तु समयपरिभा-

१ हरति रजो जीवानां बाह्यमाभ्यन्तरं च यत्तेन। रजोहरणमिति प्रोच्यते कारणे कार्योपचारात् ॥ १ ॥ संयमयोगा अत्र रजोहरकास्तेषां कारणं येन। रजोहरणमुपचारात् भण्यते तेन रजः कर्म ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

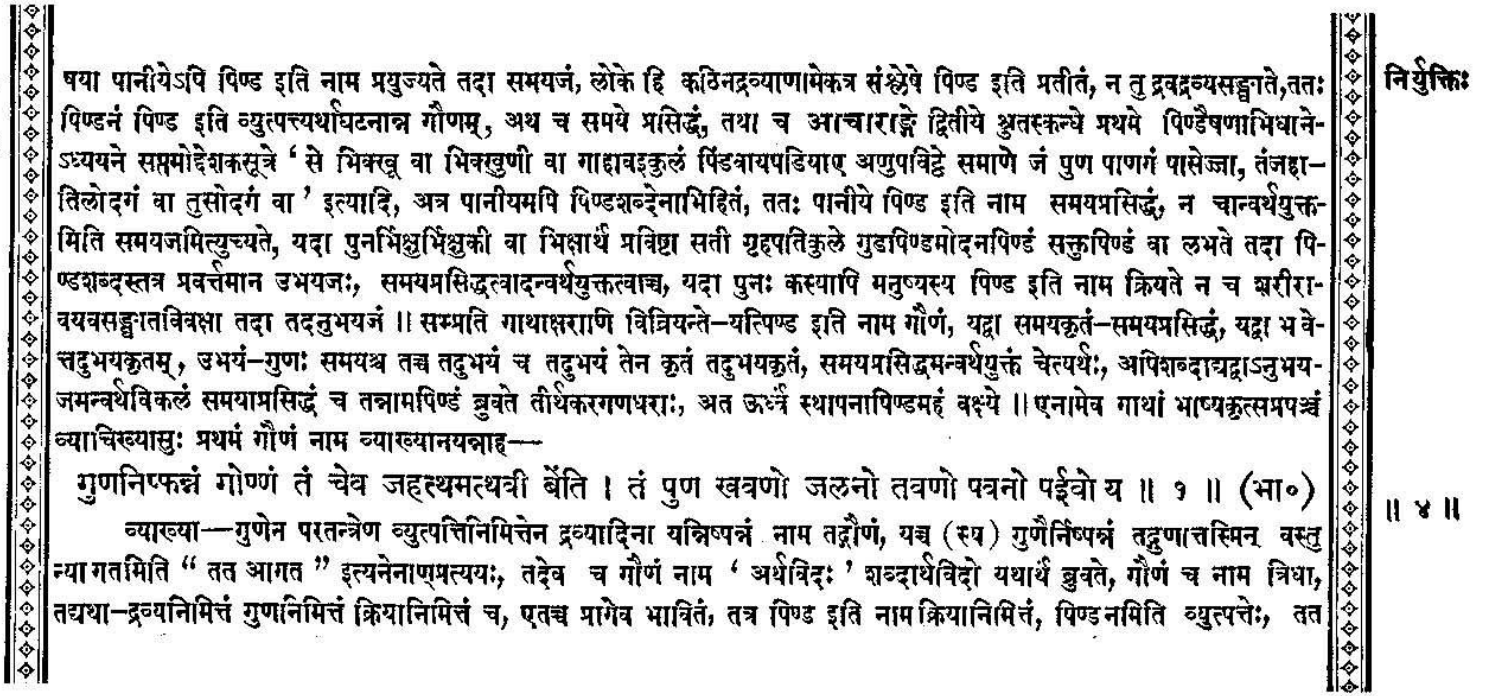

श्रीपिण्ड- ॥ ४ ॥

षया पानीयेऽपि पिण्ड इति नाम प्रयुज्यते तदा समयजं, लोके हि कठिनद्रव्याणामेकत्र संश्लेषे पिण्ड इति प्रतीतं, न तु द्रवद्रव्यसङ्घाते,ततः पिण्डनं पिण्ड इति व्युत्पत्त्यर्थाघटनान्न गौणम्, अथ च समये प्रसिद्धं, तथा च आचाराङ्गे द्वितीये श्रुतस्कन्धे प्रथमे पिण्डैषणाभिधानेऽध्ययने सप्तमोद्देशकसूत्रे 'से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे जं पुण पाणगं पासेज्जा, तंजहा–तिलोदगं वा तुसोदगं वा' इत्यादि, अत्र पानीयमपि पिण्डशब्देनाभिहितं, ततः पानीये पिण्ड इति नाम समयप्रसिद्धं, न चान्वर्थयुक्तमिति समयजमित्युच्यते, यदा पुनर्भिक्षुर्भिक्षुकी वा भिक्षार्थं प्रविष्टा सती गृहपतिकुले गुडपिण्डमोदनपिण्डं सक्तुपिण्डं वा लभते तदा पिण्डशब्दस्तत्र प्रवर्त्तमान उभयजः, समयप्रसिद्धत्वादन्वर्थयुक्तत्वाच्च, यदा पुनः कस्यापि मनुष्यस्य पिण्ड इति नाम क्रियते न च शरीरावयवसङ्घातविवक्षा तदा तदनुभयजं ॥ सम्प्रति गाथाक्षराणि विविवियन्ते–यत्पिण्ड इति नाम गौणं, यद्वा समयकृतं–समयप्रसिद्धं, यद्वा भवेत्तदुभयकृतम्, उभयं–गुणः समयश्च तच्च तदुभयं च तदुभयं तेन कृतं तदुभयकृतं, समयप्रसिद्धमन्वर्थयुक्तं चेत्यर्थः, अपिशब्दाद्यद्वाऽनुभयजमन्वर्थविकलं समयाप्रसिद्धं च तन्नामपिण्डं ब्रुवते तीर्थकरगणधराः, अत ऊर्ध्वं स्थापनापिण्डमहं वक्ष्ये ॥ एनामेव गाथां भाष्यकृत्सप्रपञ्चं व्याचिख्यासुः प्रथमं गौणं नाम व्याख्यानयन्नाह—

गुणनिप्फन्नं गोण्णं तं चेव जहत्थमत्थवी बेंति । तं पुण खवणो जलनो तवणो पवनो पईवो य ॥ १ ॥ (भा०)

व्याख्या—गुणेन परतन्त्रेण व्युत्पत्तिनिमित्तेन द्रव्यादिना यन्निष्पन्नं नाम तद्गौणं, यच्च (स्य) गुणैर्निष्पन्नं तद्गुणात्तस्मिन् वस्तुन्यागतमिति "तत आगत" इत्यनेनाणप्रत्ययः, तदेव च गौणं नाम 'अर्थविदः' शब्दार्थविदो यथार्थं ब्रुवते, गौणं च नाम त्रिधा, तद्यथा–द्रव्यनिमित्तं गुणनिमित्तं क्रियानिमित्तं च, एतच्च प्रागेव भावितं, तत्र पिण्ड इति नाम क्रियानिमित्तं, पिण्डनमिति व्युत्पत्तेः, तत

निर्युक्तिः ॥ ४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१||

दीप अनुक्रम [७]

उदाहरणान्यपि क्रियानिमित्तान्येव दर्शयति–'तं पुण' इत्यादि, तत्पुनर्गौणं नाम क्षपण इत्यादि, तत्र क्षपयति कर्म्माणीति क्षपणः–क्षपकर्षिः, इह क्षपकर्षेः क्षपणलक्षणां क्रियामधिकृत्य क्षपण इति नाम प्रवृत्तमतो गौणम्, एवं शेषेष्वप्युदाहरणेषु भावना कार्या, तथा ज्वलतीति ज्वलनो–वैश्वानरः, तपतीति तपनो–रविः, पवते पुनातीति वा पवनो–वायुः, प्रदीप्यते इति प्रदीपःदीपकलिका, चकारोऽन्येषामप्येवंजातीयानामुदाहरणानां समुच्चयार्थः ॥ तदेवं सामान्यतो गौणं नाम व्याख्यातं, सम्प्रति पिण्ड इति नाम गौणं समयकृतं च व्याचिख्यासुराह–

पिंडण बहुदव्वाणं पडिवक्खेणावि जत्थ पिंडक्खा । सो समयकओ पिंडो जह सुत्तं पिंडपडियाई ॥ २ ॥ (भा०)

व्याख्या—बहूनां सजातीयानां विजातीयानां वा कठिनद्रव्याणां यत् पिण्डनम्—एकत्र संश्लेषस्तत्र पिण्ड इति नाम प्रवर्त्तमानं गौणमिति शेषो, व्युत्पत्तिनिमित्तस्य तत्र विद्यमानत्वात्, तथा प्रतिपक्षेणाप्यत्र प्रकरणात्प्रतिपक्षशब्दः कठिनद्रव्यसंश्लेषाभाववाची, ततोऽयमर्थः–यत्र प्रतिपक्षेणापि–बहूनां द्रव्याणां मीलनमन्तरेण तावत्पिण्ड इति नाम प्रवर्त्तत एव, न काचित्तत्र व्याहतिरित्यपिशब्दार्थः, समयप्रसिद्धया ' पिण्डाख्या ' पिण्ड इति नाम, स पिंडाख्यावाच्यनामपिण्डः समयकृत इत्युच्यते, तत्र नामनामवत तोरभेदोपचारादेवं निर्देशः, उपचाराभावे त्वयमर्थः–तत्र वस्तुनि तत्पिण्ड इति नाम समयकृतमिति, एतदेव दर्शयति–'जह सुत्तं पिंडपडियाई' यथेत्युपदर्शने पिण्डेति पिण्डपातग्रहणं, तत एवं गाथायां निर्देशो द्रष्टव्यः–' पिंडवायपडियाए ' इत्यादि, आदिशब्दात् ' पविट्ठे समाणे ' इत्यादिसूत्रपरिग्रहः, तच्च प्रागेव दर्शितम्, इयमत्र भावना–अत्र सूत्रे प्रभूतकठिनद्रव्यपरस्परसंश्लेषाभावेऽपि पानीये पिण्ड इति नामान्वर्थरहितं समयप्रसिद्धया प्रयुज्यते, अत इदं समयजमभिधीयते इति ॥ सम्प्रत्युभयजं पिण्ड इति नाम दर्शयति—

जस्स पुण पिंडवायट्ठया पविट्ठस्स होइ संपत्ती । गुडओयणपिंडेहिं तं तदुभयपिंडमाहंसु ॥ ३ ॥ (भा०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

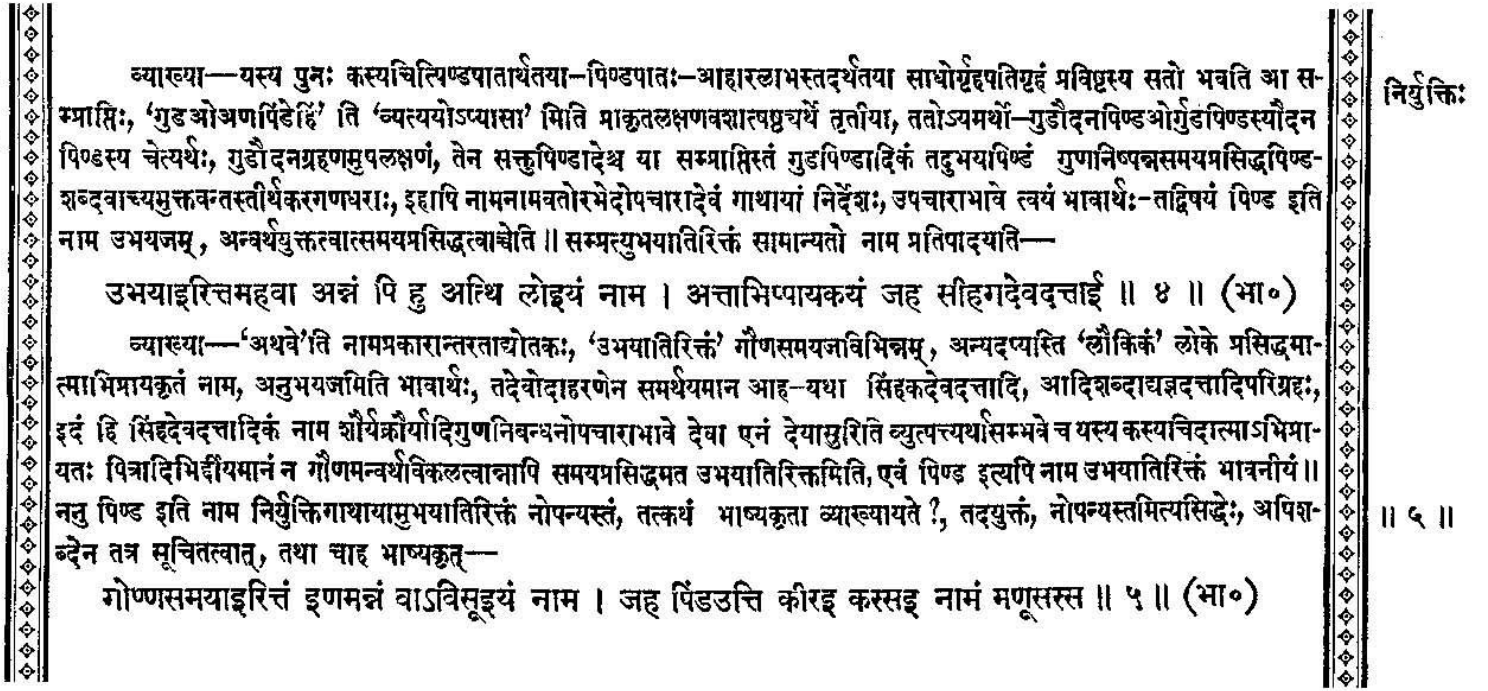

श्रीपिण्ड- ॥ ९ ॥

व्याख्या—यस्य पुनः कस्यचित्पिण्डपातार्थतया–पिण्डपातः–आहारलाभस्तदर्थतया साधोर्गृहपतिगृहं प्रविष्टस्य सतो भवति आ सम्प्राप्तिः, 'गुडओअणपिंडेहिं' ति 'व्यत्ययोऽप्यासा' मिति प्राकृतलक्षणवशात्षष्ठ्यर्थे तृतीया, ततोऽयमर्थो–गुडौदनपिण्डओर्गुडपिण्डस्यौदन पिण्डस्य चेत्यर्थः, गुडौदनग्रहणमुपलक्षणं, तेन सक्तुपिण्डादेश्च या सम्प्राप्तिस्तं गुडपिण्डादिकं तदुभयपिण्डं गुणनिष्पन्नसमयप्रसिद्धपिण्डशब्दवाच्यमुक्तवन्तस्तीर्थकरगणधराः, इहापि नामनामवतोरभेदोपचारादेवं गाथायां निर्देशः, उपचाराभावे त्वयं भावार्थः–तद्विषयं पिण्ड इति नाम उभयजम्, अन्वर्थयुक्तत्वात्समयप्रसिद्धत्वाच्चेति ॥ सम्प्रत्युभयातिरिक्तं सामान्यतो नाम प्रतिपादयति—

उभयाइरित्तमहवा अन्नं पि हु अत्थि लोइयं नाम । अत्ताभिप्पायकयं जह सीहगदेवदत्ताई ॥ ४ ॥ (भा०)

व्याख्या—'अथवे'ति नामप्रकारान्तरताद्योतकः, 'उभयातिरिक्तं' गौणसमयजाविभिन्नम्, अन्यदप्यस्ति 'लौकिकं' लोके प्रसिद्धमात्माभिप्रायकृतं नाम, अनुभयजमिति भावार्थः, तदेवोदाहरणेन समर्थयमान आह–यथा सिंहकदेवदत्तादि, आदिशब्दाद्यज्ञदत्तादिपरिग्रहः, इदं हि सिंहदेवदत्तादिकं नाम शौर्यक्रौर्यादिगुणनिबन्धनोपचाराभावे देवा एनं देयासुरिति व्युत्पत्त्यर्थासम्भवे च यस्य कस्यचिदात्माऽभिप्रायतः पित्रादिभिर्दीयमानं न गौणमन्वर्थविकलत्वान्नापि समयप्रसिद्धमत उभयातिरिक्तमिति, एवं पिण्ड इत्यपि नाम उभयातिरिक्तं भावनीयं ॥ ननु पिण्ड इति नाम निर्युक्तिगाथायामुभयातिरिक्तं नोपन्यस्तं, तत्कथं भाष्यकृता व्याख्यायते ?, तदयुक्तं, नोपन्यस्तमित्यसिद्धेः, अपिशब्देन तत्र सूचितत्वात्, तथा चाह भाष्यकृत्—

गोण्णसमयाइरित्तं इणमन्नं वाऽविसूइयं नाम । जह पिंडउत्ति कीरइ कस्सइ नामं मणूसस्स ॥ ५ ॥ (भा०)

निर्युक्तिः ॥ ९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—इदं पिण्ड इति नाम अन्यद्वा 'गौणसमयातिरिक्तं' गौणसमयजविभिन्नमपिशब्दसूचितमस्ति, तदेव दर्शयति–यथा कस्यापि मनुष्यस्य पिण्ड इति नाम क्रियते, तद्धि न गौणं प्रभूतद्रव्यसंश्लेषासम्भवाच्छरीरावयवसङ्घातस्य चाविवक्षणात् नापि समयकृतम्, अत इदमुभयातिरिक्तमिति । ननु समयकृतोभयातिरिक्तयोर्न कश्चित्परस्परं विशेष उपलभ्यते, उभयत्राप्यन्वर्थविकलत्वादात्माभिप्रायकृतत्वाविशेषाच्च, तत्कथं द्वयोरुपादानं ?, साङ्केतिकमित्येवोच्यताम्, एवं हि द्वयोरपि ग्रहणं भवति, तदयुक्तम्, अभिप्रायापरिज्ञानाद्, इह हि यल्लौकिकं नाम साङ्केतिकं तत्पृथग्जनाः सामयिकाश्च व्यवहरन्ति, यत्पुनः समय एव साङ्केतिकं तत्सामयिका एव न पृथग्जनाः ॥ तथा चाह भाष्यकृत्—

तुल्लेऽवि अभिप्पाए समयपसिद्धं न गिण्हए लोओ । जं पुण लोयपसिद्धं तं सामइया उवचरन्ति ॥ ६ ॥ (भा०)

व्याख्या—इहाभिप्रायशब्देन पदैकदेशे पदसमुदायोपचारादभिप्रायकृतत्वमुच्यते, तत्रायमर्थः–अभिप्रायेण–इच्छामात्रेण कृतं न तु वस्तुबलप्रवृत्तमभिप्रायकृतं, तस्य भावोऽभिप्रायकृतत्वं साङ्केतिकत्वमित्यर्थः, तस्मिंस्तुल्येऽपि–समानेऽपि, आस्तामसमाने इत्यपिशब्दार्थः,' समयप्रसिद्धं 'लोकः' पृथग्जनरूपो न गृह्णाति–न समयप्रसिद्धेन साङ्केतिकेन नाम्ना व्यवहरति, न खलु पृथग्जनो भोजनादिकं समुद्देशादिना समयप्रसिद्धेन साङ्केतिकेन नाम्ना व्यवहरति, यत्पुनर्लोकप्रसिद्धं तत्पृथग्जनाः सामयिकाश्चो पचरन्ति, तत इत्थं समयकृतोभयातिरिक्तयोः स्वभावभेदाद् तद्वयोरपि पृथगुपादानमर्थवत्, एतेन गौणोभयकृतयोरपि स्वभावभेदसूचनेन पृथगुपादानं सार्थकमुपपादितं द्रष्टव्यं, तथाहि–यद्यपि गौणमुभयकृतं चान्वर्थयुक्तत्वेनाविशिष्टं, तथापि यद्गौणं तत्पृथग्जनाः सामयिकाश्च व्यवहरन्ति, यत्पुनः समयप्रसिद्धं गौणं तत्सामयिका एव न पृथग्जनाः, तेषां तेन प्रयोजनाभावात्, समयप्रसिद्धेन हि नाम्ना गौणेनापि यथोक्तसमयपरिपालननिष्पन्नचेतसां गृही-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

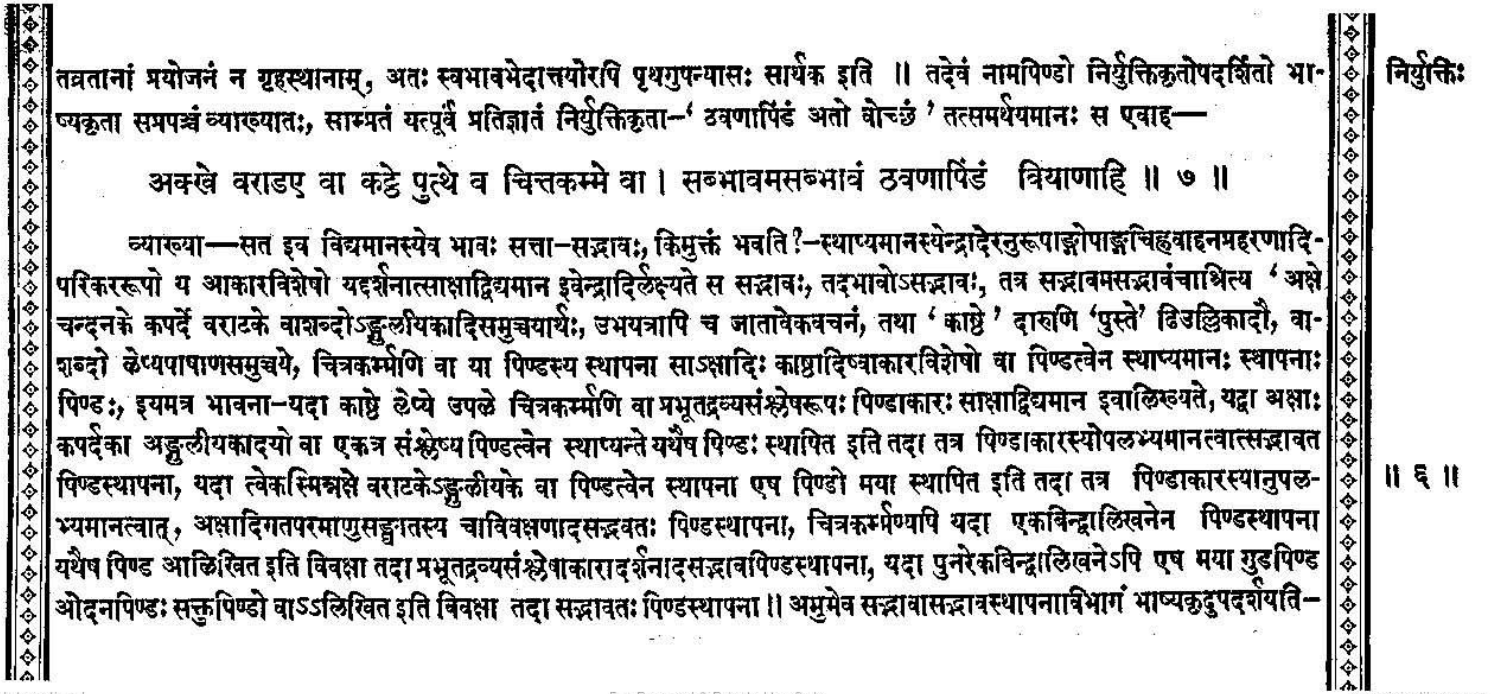

श्रीपिण्ड- ॥ ६ ॥

तत्रतानां प्रयोजनं न गृहस्थानाम्, अतः स्वभावभेदात्तयोरपि पृथगुपन्यासः सार्थक इति ॥ तदेवं नामपिण्डो निर्युक्तिकृतोपदर्शितो भाष्यकृता समपञ्चं व्याख्यातः, साम्प्रतं यत्पूर्वं प्रतिज्ञातं निर्युक्तिकृता–' ठवणापिंडं अतो वोच्छं ' तत्समर्थयमानः स एवाह—

अक्खे वराडए वा कट्ठे पुत्थे व चित्तकम्मे वा । सब्भावमसब्भावं ठवणापिंडं वियाणाहि ॥ ७ ॥

व्याख्या—सत इव विद्यमानस्येव भावः सत्ता–सद्भावः, किमुक्तं भवति?–स्थाप्यमानस्येन्द्रादेरनुरूपाङ्गोपाङ्गचिह्नवाहनप्रहरणादिपरिकररूपो य आकारविशेषो यदर्शनात्साक्षाद्विद्यमान इवेन्द्रादिर्लक्ष्यते स सद्भावः, तदभावोऽसद्भावः, तत्र सद्भावमसद्भावंचाश्रित्य ' अक्षे चन्दनके कपर्दे वराटके वाशब्दोऽङ्गुलीयकादिसमुच्चयार्थः, उभयत्रापि च जातावेकवचनं, तथा ' काष्ठे ' दारुणि 'पुस्ते' ढिउल्लिकादौ, वाशब्दो लेप्यपाषाणसमुच्चये, चित्रकर्म्मणि वा या पिण्डस्य स्थापना साऽक्षादिः काष्ठादिष्वाकारविशेषो वा पिण्डत्वेन स्थाप्यमानः स्थापनापिण्डः, इयमत्र भावना–यदा काष्ठे लेप्ये उपले चित्रकर्म्मणि वा प्रभूतद्रव्यसंश्लेषरूपः पिण्डाकारः साक्षाद्विद्यमान इवालिख्यते, यद्वा अक्षाः कपर्दका अङ्गुलीयकादयो वा एकत्र संश्लेष्य पिण्डत्वेन स्थाप्यन्ते यथैष पिण्डः स्थापित इति तदा तत्र पिण्डाकारस्योपलभ्यमानत्वात्सद्भावत पिण्डस्थापना, यदा त्वेकस्मिन्नक्षे वराटकेऽङ्गुलीयके वा पिण्डत्वेन स्थापना एष पिण्डो मया स्थापित इति तदा तत्र पिण्डाकारस्यानुपलभ्यमानत्वात्, अक्षादिगतपरमाणुसङ्घातस्य चाविवक्षणादसद्भवतः पिण्डस्थापना, चित्रकर्म्मण्यपि यदा एकबिन्द्वालिखनेन पिण्डस्थापना यथैष पिण्ड आलिखित इति विवक्षा तदा प्रभूतद्रव्यसंश्लेषाकारादर्शनादसद्भावपिण्डस्थापना, यदा पुनरेकबिन्द्वालिखनेऽपि एष मया गुडपिण्ड ओदनपिण्डः सक्तुपिण्डो वाऽऽलिखित इति विवक्षा तदा सद्भावतः पिण्डस्थापना ॥ अमुमेव सद्भावासद्भावस्थापनाविभागं भाष्यकृदुपदर्शयति–

निर्युक्तिः ॥ ६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ॥७॥

दीप अनुक्रम [१४]

इक्को उ असब्भावे तिण्हं ठवणा उ होइ सब्भावे। चित्तेसु असब्भावे दारुअलेप्पोवले सियरो॥ ७ ॥ (भा०)

व्याख्या—एकोऽक्षो वराटकोऽङ्गुलीयकादिर्वा यदा पिण्डत्वेन स्थाप्यते तदा सा पिण्डस्थापना 'असद्भावे' असद्भावविषया, असद्भाविकीत्यर्थः, तत्र पिण्डाकृतेरनुपलभ्यमानत्वात्, अक्षादिगतपरमाणुसङ्घातस्य चाविवक्षणात्। यदा तु त्रयाणामक्षाणां वराटकानामङ्गुलीयकादीनां वा परस्परमेकत्र संश्लेषकरणेन पिण्डत्वेन स्थापना तदा सा पिण्डस्थापना 'सद्भावे' सद्भाविकी, तत्र पिण्डाकृतेरुपलभ्यमानत्वात्, त्रयाणांचेत्युपलक्षणं तेन द्वयोरपि बहूनां चेत्यपि द्रष्टव्यं। तथा 'चित्रेषु' चित्रकर्मसु यदैकबिन्दालिखनेन पिण्डस्थापना तदा साऽप्यसद्भावे, यदा तु चित्रकर्मस्वपि अनेकबिन्दुसंश्लेषालिखनेन प्रभूतद्रव्यसङ्घातात्मकपिण्डस्थापना तदा सा सद्भावस्थापना, पिण्डाकृतेस्तत्र दर्शनात्। तथा दारुकलेप्योपलेषु पिण्डाकृतिसम्पादनेन या पिण्डस्य स्थापना स 'इतरः' सद्भावस्थापनापिण्डः, तत्र पिण्डाकारस्य दर्शनात्॥ तदेवमुक्तः स्थापनापिण्डः,सम्प्रतिद्रव्यपिण्डस्यावसरः, स च द्विधा–आगमतो नोआगमतश्च, तत्राऽऽगमतः पिण्डशब्दार्थस्य ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः 'अनुपयोगो द्रव्य' मिति वचनात्, नोआगमतस्त्रिधा, तद्यथा–ज्ञशरीरद्रव्यपिण्डः भव्यशरीरद्रव्यपिण्डः ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यपिण्डश्च, तत्र पिण्डशब्दार्थज्ञस्य यच्छरीरं सिद्धशिलातलादिगतमपगतजीवितं तद् भूतपिण्डशब्दार्थपरिज्ञानकारणत्वात् ज्ञशरीरद्रव्यपिण्डः, यस्तु बालको नेदानीमवबुध्यते पिण्डशब्दार्थम् अथ चावश्यमायत्यां तेनैव शरीरेण परिवर्द्धमानेन भोत्स्यते स भावपिण्डशब्दार्थपरिज्ञानकारणत्वाद् भव्यशरीरद्रव्यपिण्डः॥ ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं तु द्रव्यपिण्डं निर्युक्तिकृदाह—

तिविहो उ दव्वपिंडो सच्चित्तो मीसओ अचित्तो य। एक्केक्कस्स य एत्तो नव नव भेआ उ पत्तेयं॥ ८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ॥८॥

दीप अनुक्रम [१५]

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ ७ ॥

व्याख्या–ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यपिण्डस्त्रिधा, तद्यथा–सचित्तो मिश्रोऽचित्तश्च, तत्र मिश्रः सचित्ताचित्तरूपः, इह पृथिवीकायादिकः पिण्डत्वेनाभिधास्यते, स च पूर्वं सचित्तो भवति, ततः स्वकायशस्त्रादिभिः प्रासुकीक्रियमाणः कियन्तं कालं मिश्रो भवति, तत ऊर्ध्वमचित्तः, तत एतदर्थख्यापनार्थं सचित्तमिश्राचित्ताः क्रमेणोक्ताः। 'इतो' भेदत्रयाभिधानादनन्तरम् 'एकैकस्य' सचित्तादेर्भेदस्य प्रत्येकं नव नव भेदा वाच्या भवन्ति ॥ तानेव नव नव भेदानाह—

पुढवी आउक्काओ तेऊ वाऊ वणस्सई चेव । बेइंदिय तेइंदिय चउरो पंचेंदिया चेव ॥ ९ ॥

व्याख्या—इह पिण्डशब्दः पूर्वगाथातोऽनुवर्त्तमानः प्रत्येकं सम्बध्यते, तद्यथा–पृथिवीकायपिण्डोऽप्कायपिण्डस्तेजस्कायपिण्डो वायुकायपिण्डो वनस्पतिकायपिण्डो द्वीन्द्रियपिण्डस्त्रीन्द्रियपिण्डश्चतुरिन्द्रियपिण्डः पञ्चेन्द्रियपिण्डश्च ॥ सम्प्रत्यमीषामेव नवानां भेदानां सचित्तत्वादिकं विभावयिषुः प्रथमतः पृथिवीकाये भावयति—

पुढवीकाओ तिविहो सच्चित्तो मीसओ य अच्चित्तो । सच्चित्तो पुण दुविहो निच्छयववहारओ चेव ॥ १० ॥

व्याख्या—पृथिवीकायस्त्रिविधः, तद्यथा–सचित्तो मिश्रोऽचित्तश्च, सचित्तः पुनर्द्विधा, तद्यथा–निश्चयतो व्यवहारतश्च ॥ एतदेव निश्चयव्यवहाराभ्यां सचित्तस्य द्वैविध्यं प्रतिपादयति—

निच्छयओ सच्चित्तो पुढविमहापव्वयाण बहुमज्झे । अचित्तमीसवज्जो सेसो ववहारसच्चित्तो ॥ ११ ॥

व्याख्या—निश्चयतः सचित्तः पृथिवीकायो घर्मादीनां पृथिवीनां मेर्वादीनां महापर्वतानामुपलक्षणमेतत् तेन टङ्कादीनां च, बहुम-

पिण्डानक्षेपः ॥ ७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यपिण्डे पृथ्वी आदि ५ तथा बेइन्द्रियादि ४ इति नव-पिण्डानाम् वर्णनं आरभ्यते

ध्यभागे वेदितव्यः, तत्राचित्तताया मिश्रतायाश्च हेतूना शीतादीनामसम्भवात्, शेषः पुनः अचित्तमिश्रवर्ज्जो वक्ष्यमाणस्थानसम्भविमिश्राचित्तव्यतिरिक्तो निराबाधारण्यभूम्यादिषु व्यवस्थितो व्यवहारतः सचित्तो वेदितव्यः ॥ उक्तः सचित्तपृथिवीकायः, सम्प्रति तमेव मिश्रमाह—

खीरदुमहेट्ठ पंथे कट्ठोले इंधणे य मीसो उ । पोरिसि एग दुग तिगं बहुइंधणमज्झथोवे य ॥ १२ ॥

व्याख्या—' खीरदुमहेट्ठ ' त्ति 'क्षीरद्रुमा' वटाश्वत्थादयस्तेषामधस्तात्–तले यः पृथिवीकायः स मिश्रः, तत्र हि क्षीरद्रुमाणां माधुर्येण शस्त्रत्वाभावात् कियान्सचित्तः शीतादिशस्त्रसम्पर्कसम्भवाच्च कियानचित्त इति मिश्रता, तथा पथि ग्रामान्नगराद्वा बहिर्यः पृथिवीकायो वर्त्तते सोऽपि मिश्रो, यतस्तत्र गन्त्रीचक्रादिभिर्य उत्खातः पृथिवीकायः स कियान्सचित्तः कियांश्च शीतवातादिभिरचित्तीकृत इति मिश्रः, 'कट्ठोले' त्ति कुष्ठो हलविदारितः सोऽपि प्रथमतो हलेन विदार्यमाणः सचित्तः ततः शीतवातादिभिः कियानचित्तीक्रियते इतिमिश्रः, तथाऽऽर्द्रो जलमिश्रितः, तथाहि–मेघस्यापि जलं सचित्तपृथिवीकायस्योपरि निपतत् कियन्तं पृथिवीकायं विराधयति ततो जलार्द्रपृथिवीकायो मिश्र उपपद्यते, सोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तादनन्तरमचित्तीभवति, परस्परशस्त्रत्वेन द्वयोरपि पृथिव्यप्काययोरचित्तीभवनसम्भवात्, यदा त्वतिप्रभूतं मेघजलं निपततितदा तज्जलं यावन्नाद्यापि स्थितिं बध्नाति तावत् मिश्रः पृथिवीकायः, स्थितिबन्धे तु कृते सति सचित्तोऽपि सम्भाव्यते, तथा 'इन्धने' गोमयादौ मिश्रः, तथाहि–गोमयादिकमिन्धनं सचित्तपृथिवीकायस्य शस्त्रं, शस्त्रेण च परिपीड्यमानो यावन्नाद्यापि सर्वथापरिणमति तावन्मिश्रः । अत्रैवेन्धनविषये कालमानमाह—'पोरिसी ' त्यादि, बहिर्न्धनमध्यगत एकां पौरुषीं यावन्मिश्रो मध्यमेन्धनसम्पृक्तस्तु पौरुषीद्विकम् अल्पेन्धनसम्पृक्तस्तु पौरुषीत्रिकं तत ऊर्द्ध्वमचित्त इति ॥ तदेवमुक्तो मिश्रः पृथिवीकायः, साम्प्रतमचित्तमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१३||

दीप अनुक्रम [२०]

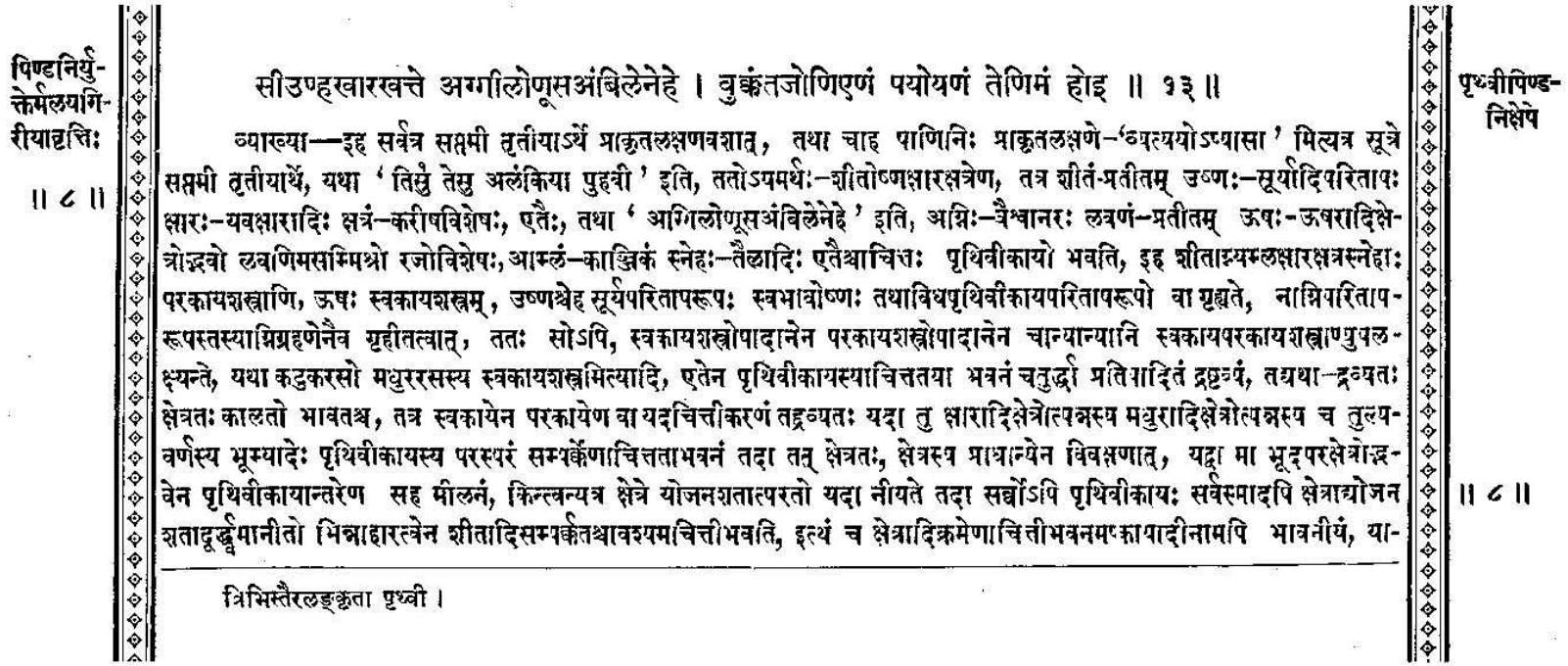

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ ८ ॥

सीउण्हखारखत्ते अग्गीलोणूसअंबिलेनेहे । वुक्कंतजोणिएणं पयोयणं तेणिमं होइ ॥ १३ ॥

व्याख्या—इह सर्वत्र सप्तमी तृतीयार्थे प्राकृतलक्षणवशात्, तथा चाह पाणिनिः प्राकृतलक्षणे–'व्यत्ययोऽप्यासा' मित्यत्र सूत्रे सप्तमी तृतीयार्थे, यथा 'तिसुं तेसु अलंकिया पुहवी' इति, ततोऽयमर्थः–शीतोष्णक्षारक्षत्रेण, तत्र शीतं-प्रतीतम् उष्णः–सूर्यादिपरितापः क्षारः–यवक्षारादिः क्षत्रं–करीषविशेषः, एतैः, तथा 'अग्गिलोणूसअंबिलेनेहे' इति, अग्निः–वैश्वानरः लवणं–प्रतीतम् ऊषः-ऊषरादिक्षेत्रोद्भवो लवणिमसम्मिश्रो रजोविशेषः, आम्लं–काञ्जिकं स्नेहः–तैलादिः एतैश्चाचित्तः पृथिवीकायो भवति, इह शीताद्यम्लक्षारक्षत्रस्नेहाः परकायशस्त्राणि, ऊषः स्वकायशस्त्रम्, उष्णश्चेह सूर्यपरितापरूपः स्वभावोष्णः तथाविधपृथिवीकायपरितापरूपो वा गृह्यते, नाग्निपरितापरूपस्तस्याग्निग्रहणेनैव गृहीतत्वात्, ततः सोऽपि, स्वकायशस्त्रोपादानेन परकायशस्त्रोपादानेन चान्यान्यानि स्वकायपरकायशस्त्राण्युपलक्ष्यन्ते, यथा कटुकरसो मधुररसस्य स्वकायशस्त्रमित्यादि, एतेन पृथिवीकायस्याचित्ततया भवनं चतुर्द्धा प्रतिपादितं द्रष्टव्यं, तद्यथा–द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, तत्र स्वकायेन परकायेन वा यदचित्तीकरणं तद्द्रव्यतः यदा तु क्षारादिक्षेत्रोत्पन्नस्य मधुरादिक्षेत्रोत्पन्नस्य च तुल्यवर्णस्य भूम्यादेः पृथिवीकायस्य परस्परं सम्पर्केणाचित्तताभवनं तदा तत् क्षेत्रतः, क्षेत्रस्य प्राधान्येन विवक्षणात्, यद्वा मा भूदपरक्षेत्रोद्भवेन पृथिवीकायान्तरेण सह मीलनं, किन्त्वन्यत्र क्षेत्रे योजनशतात्परतो यदा नीयते तदा सर्वोऽपि पृथिवीकायः सर्वस्मादपि क्षेत्राद्योजनशतादूर्द्ध्वमानीतो भिन्नाहारत्वेन शीतादिसम्पर्कतश्चावश्यमचित्तीभवति, इत्थं च क्षेत्रादिक्रमेणाचित्तीभवनमप्कायादीनामपि भावनीयं, या-

त्रिभिस्तैरलङ्कृता पृथ्वी ।

पृथ्वीपिण्ड-निक्षेपे

॥ ८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वद्धनस्पतिकायिकानां, तथा च हरीतक्यादयो योजनशतादूर्द्धमानीताऽचित्तीभूतत्वादौषधार्थं साधुभिः प्रतिगृह्यन्ते इति । कालतस्त्वचित्तता स्वभावतः स्वायुःक्षयेण, सा च परमार्थतोऽतिशयज्ञानेनैव सम्यक्परिज्ञायते न छाद्मस्थिकज्ञानेनेति न व्यवहारपथमवतरति, अत एव च तृषाऽतिपीडितानामपि साधूनां स्वभावतः स्वायुःक्षयेणाचित्तीभूतमपि तडागोदकं पानाय वर्द्धमानस्वामी भगवान् नानुज्ञातवान्, इत्थंभूतस्याचित्तीभवनस्य छद्मस्थानां दुर्ज्ञेयत्वेन मा भूत् सर्वत्रापि तडागोदके सचित्तेऽपि पाश्चात्यसाधूनां प्रवृत्तिप्रसङ्ग इतिकृत्वा, भावतोऽचित्तीभवनं पूर्ववर्णादिपरित्यागतोऽपरवर्णादितया भवनं । तदेवमुक्तोऽचित्तोऽपि पृथिवीकायः । एतेन चाचित्तेन साधूनां प्रयोजनं, तथा चाह–' वुक्कंत ' इत्यादि, व्युत्क्रान्ताः–अपगता योनिः–उत्पत्तिस्थानं यत्र तेन विध्वस्तयोनिना-प्रासुकेन 'इदं' वक्ष्यमाणस्वरूपं प्रयोजनं साधूनां भवति ॥ तदेवोपदर्शयति—

अवरद्धिगविसघंधे लवणेन व सुरभिउवलएणं वा । अचित्तस्स उ गहणं पओयणं तेणिमं वऽन्नं ॥ १४ ॥

व्याख्या—अपराधनम् अपराद्धं–पीडाजनकता तदस्यास्तीति अपराद्धिको–लूतास्फोटः सर्पादिदंशो वा विषं–प्रतीतं तच्च दृष्टिप्रभृतिषु चारितं सम्भवति तयोरुपशमनाय बन्ध इव बन्धः–प्रलेपस्तस्मिन् कर्त्तव्येऽचित्तपृथिवीकायस्य गौरमृत्तिकाकेदारतरिकादिरूपस्य ग्रहणं प्रयोजनं, यद्वा लवणेन प्रतीतेन ' अचित्तस्स ' त्ति विभक्तिपरिणामेनेह तृतीयान्तं सम्बध्यते, अचित्तेनालवणभक्तभोजनादौ प्रयोजनम्, अथवा सुरभ्युपलेन–गन्धपाषाणेन गन्धरोहकाख्येन प्रयोजनं, तेन हि पामाप्रसूतवातधातादिः क्रियते, वाशब्दो विकल्पार्थः, अथवा तेन पृथिवीकायेनेदमन्यत्प्रयोजनम् ॥ तदेवाह—

ठाणनिसियणतुयट्टण उच्चाराईण चेव उस्सग्गो । घट्टगडगलगलेवो एमाइ पओयणं बहुहा ॥ १५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१५||

दीप अनुक्रम [२२]

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ ९ ॥

व्याख्या–इह साधुभिः सचित्तमिश्रपरिहारद्वारेणाचित्ते भूतलप्रदेशे यत् स्थानं–कायोत्सर्गो विधीयते, यच्च निषीदनम्–उपवेशनं यच्च त्वग्वर्त्तनं–स्वापः, यश्च उच्चारादीनां पुरीषप्रस्रवणश्लेष्मनिष्ठ्यूतानामुत्सर्गः, तथा यो घुट्टको–लेपितपात्रमसृणताकारकः पाषाणो ये च डगलकाः–पुरीषोत्सर्गानन्तरमपानप्रोञ्छनकपाषाणादिखण्डरूपा यश्च लेपो–भोगपुरपाषाणादिनिष्पन्नस्तौम्बकपात्राभ्यन्तरे दीयते, एवमादि ' बहुधा ' बहुप्रकारम् अचित्तेन पृथिवीकायेन प्रयोजनम् ॥ उक्तः सचित्तादिभेदभिन्नः पृथिवीकायपिण्डः, सम्प्रत्यप्कायपिण्डं सचित्तादिभेदभिन्नमाह—

आउक्काओ तिविहो सच्चित्तो मीसओ य अच्चित्तो । सच्चित्तो पुण दुविहो निच्छयववहारओ चेव ॥ १६ ॥

व्याख्या—अप्कायस्त्रिविधः, तद्यथा–सचित्तो मिश्रोऽचित्तश्च, तत्र सचित्तो द्विधा–निश्चयतो व्यवहारतश्च ॥ एतदेव सचित्तस्य निश्चयव्यवहाराभ्यां द्वैविध्यमुपदर्शयति—

घणउदही घणवलया करगसमुद्दद्दहाण बहुमज्झे । अह निच्छयसच्चित्तो ववहारनयस्स अगडाई ॥ १७ ॥

व्याख्या–'घनोदधयः' नरकपृथ्वीनामाधारभूताः काठिनतोयाः समुद्राः, 'घनवलयाः' तासामेव नरकपृथिवीनां पार्श्ववर्त्तिवृत्ताकारतोयाः ये च ' करकाः ' घनोपलाः तथा ' समुद्रद्रहदानां ' लवणादिसमुद्रपद्मादिद्रहदानां च बहुमध्यभागे येऽप्कायाः 'अह' त्ति एष सर्वोऽप्यप्कायो ' निश्चयसचित्तः ' एकान्तसचित्तः, शेषस्तु 'अवटादिः' अवटवापीतडागादिस्थः, इहावटादिस्थोऽवटादिशब्देनोक्तः, तात्स्थ्येन तद्व्यपदेशप्रवृत्तेः, यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादौ, तत्रावटः कूपस्तदादिगतोऽप्कायो ' व्यवहारनयस्य ' व्यवहारनयमतेन सचित्तः ॥ उक्तः सचित्तोऽप्कायः, सम्प्रति मिश्रमाह—

पृथ्वीपिण्ड-निक्षेपे

॥ ९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'अप्काय'पिण्डस्य निक्षेपा: वर्णयते

उसिणोदगमणुव्वत्ते दंडे वासे य पडियमित्तंमि । मोत्तूणादेसतिगं चाउलउदगेऽबहुपसन्नं ॥ १८ ॥

व्याख्या—अनुद्वृत्ते दण्डे, अत्र जातावेकवचनं, ततोऽयमर्थः—अनुद्वृत्तेषु त्रिषु दण्डेषु—उत्कालेषु यदुष्णोदकं तन्मिश्रमिति प्रस्तावाद्गम्यते, तथाहि—प्रथमे दण्डे जायमाने कश्चित्परिणमति कश्चिन्नेति मिश्रः, द्वितीये प्रभूतः परिणमति स्तोकोऽवतिष्ठते, तृतीये तु सर्वोऽप्यचित्तो भवति, ततोऽनुद्वृत्तेषु त्रिषु दण्डेषूष्णोदकं (मिश्रं) सम्भवति, तथा वर्षे—वृष्टौ पतितमात्रे यज्जलं ग्रामनगरादिषु प्रभूततिर्यग्मनुष्यप्रचारसम्भविषु भूमौ वर्त्तते तद्यावन्नाद्याप्यचित्तीभवति तावन्मिश्रमवगन्तव्यं, ग्रामनगरादिभ्योऽपि बहिस्ताद्यदि स्तोकं मेघजलं निपतति तदानीं तदपि पतितमात्रं मिश्रमवसेयं, पृथिवीकायसम्पर्कतस्तस्य परिणममानत्वात्, यदाऽप्यतिप्रभूतं जलं मेघो वर्षति तदाऽपि प्रथमतो निपतत् पृथिवीकायसम्पर्कतः परिणममानं मिश्रं, शेषं तु पश्चान्निपतत् सचित्तमिति, तथा 'मुक्त्वा' परिहृत्य 'आदेशत्रिकं' मतत्रिकं, तदुक्ता मिश्रता न ग्राह्येति भावार्थः, 'चाउलोदकं' तण्डुलोदकम् 'अबहुप्रसन्नं' नातिस्वच्छीभूतं, मिश्रमिति गाथार्थः । अबहुप्रसन्नमित्यत्रादावकारलोप आर्षत्वात् ॥ आदेशत्रिकमेव दर्शयति—

भंडगपासवलग्गा उत्तेडा बुब्बुया न संमंति । जा ताव मीसगं तंदुला य रज्झंति जावऽन्ने ॥ १९ ॥

व्याख्या—तण्डुलोदके तण्डुलप्रक्षालनभाण्डादन्यस्मिन् भाण्डे प्रक्षिप्यमाणे ये बुटित्वा भाण्डकस्य पार्श्वेषु 'उत्तेडा' बिन्दवो लग्नाः ते यावन्न 'शाम्यन्ति' विध्वंसमुपगच्छन्ति तावत्तत्तण्डुलोदकं मिश्रमित्येके १, अपरे पुनराहुः—तण्डुलोदके तण्डुलप्रक्षालनभाण्डकादपरस्मिन् भाण्डके प्रक्षिप्यमाणे ये तण्डुलोदकस्योपरि समुद्भूता बुद्बुदास्ते यावदद्यापि 'न शाम्यन्ति' न विनाशमियूति तावत्तत्तण्डुलोदकं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१९||

दीप अनुक्रम [२६]

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ १० ॥

मिश्रमिति २, अन्ये पुनरेवमाहुः–तण्डुलप्रक्षालनानन्तरं तण्डुला राद्धुमारब्धास्ततस्ते यावन्न राध्यन्ति, यावन्नाद्यापि सिध्यन्तीति भावः, तावत्तत्तण्डुलोदकं मिश्रमिति ३ ॥ एषां त्रयाणामप्यादेशानां दूषणान्याह—

एए उ अणाएसा तिन्निवि कालनियमस्सऽसंभवओ । लुक्खेयरभंडगपवणसंभवासंभवाईहिं ॥ २० ॥

व्याख्या—एते त्रयोऽप्यादेशा अनादेशा एव, तुशब्द एवकारार्थो भिन्नक्रमश्च, कुतोऽनादेशाः ? इत्याह–कालनियमस्यासम्भवात्, न खलु बिन्दूपगमे बुद्बुदापगमे तण्डुलपाकनिष्पत्तौ वा सदा सर्वत्र प्रतिनियत एव कालः, येन प्रतिनियतकालसम्भविनो मिश्रत्वादूर्द्धमचित्तत्वस्याभिधीयमानस्य न व्यभिचारसम्भवः, कथं प्रतिनियतः कालो न घटते ? इति कालनियमासम्भवमाह–'लुक्खेयरे' त्यादि, रूक्षेतरभाण्डपवनसंभवासम्भवादिभिः, अत्रादिशब्दाच्चिरकालसलिलभिन्नत्वाभिन्नत्वादिपरिग्रहः, इयमत्र भावना–इह यदापाकतः प्रथममानीतं चिरानीतं वा स्नेहजलादिना न भिन्नं भाण्डं तद्रूक्षमुच्यते, स्नेहादिना तु भिन्नं स्निग्धं, तत्र रूक्षे भाण्डे तण्डुलोदके प्रक्षिप्यमाणे ये बिन्दवः पार्श्वेषु लग्नास्ते भाण्डस्य रूक्षतया झटित्येव शोषमुपयान्ति, स्निग्धे तु भाण्डे भाण्डस्य स्निग्धतया चिरकालं, ततः प्रथमादेशवादिनां मते रूक्षे भाण्डे बिन्दूनामपगमे परमार्थतो मिश्रस्याप्यचित्तत्वसम्भावनया ग्रहणप्रसङ्गः, स्निग्धे तु भाण्डे परमार्थतोऽचित्तस्यापि बिन्दूनामनपगमे मिश्रत्वेन सम्भावनया न ग्रहणमिति । तथा बुद्बुदा अपि प्रचुरखरपवनसम्पर्कतो झटिति विनाशमुपगच्छन्ति, प्रचुरखरपवनसम्पर्काभावे चिरमप्यवतिष्ठन्ते, ततो द्वितीयादेशवादिनामपि मते यदा खरप्रचुरपवनसम्पर्कतो झटिति विनाशमेयरुर्बुद्बुदास्तदा परमार्थतो मिश्रस्यापि तण्डुलोदकस्याचित्तत्वेन सम्भावनया ग्रहणप्रसङ्गः, यदा तु खरप्रचुरपवनसम्पर्काभावे चिरकालमप्यवतिष्ठन्ते बुद्बुदाः तदा परमार्थतोऽचित्तस्यापि तण्डुलोदकस्य बुद्बुददर्शनतो मिश्रत्वशङ्कायां न ग्रहणमिति । येऽपि तृतीयादेशवादिनस्तेऽपि न परमार्थं पर्यालोचितवन्तः,

अप्कायपिण्डनिक्षेपे

॥ १० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तण्डुलानां चिरकालपानीयभिन्नाभिन्नत्वेन पाकस्यानियतकालत्वात्, तथाहि–ये चिरकालसलिलभिन्नास्तण्डुला न च नवीना इन्धनादि सामग्री च परिपूर्णा ते सत्वरमेव निष्पद्यन्ते, शेषास्तु मन्दं, ततस्तेषामपि मतेन कदाचिन्मिश्रस्याप्यचित्तत्वसम्भावनया ग्रहणप्रसङ्गः, कदाचित्पुनरचित्तीभूतस्यापि मिश्रत्वशङ्कासम्भवाद्ग्रहणमिति त्रयोऽप्यनादेशाः ॥ सम्प्रति यः प्रवचनाविरोधी आदेशः प्रागुपदिष्टस्तं विभावयिषुराह—

जाव न बहुप्पसन्नं ता मीसं एस इत्थ आएसो । होइ पमाणमचित्तं बहुप्पसन्नं तु नायव्वं ॥ २१ ॥

व्याख्या—यावत्तण्डुलोदकं 'न बहुप्रसन्नं' नातिस्वच्छीभूतं तावन्मिश्रमवगन्तव्यम्, एषः 'अत्र' मिश्रविचारप्रक्रमे भवत्यादेशः प्रमाणं, न शेषः, यत्तु 'बहुप्रसन्नम्' अतिस्वच्छीभूतं तदचित्तं ज्ञातव्यं, ततोऽचित्तत्वेन तस्य ग्रहणे न कश्चिद्दोषः ॥ उक्तो मिश्रोऽप्कायः, अधुना तमेवाचित्तमाह—

सीउण्हखाररुक्खे अग्गीलोणूसअंबिलेनेहे । वुक्कंतजोणिएणं पओयणं तेणिमं होइ ॥ २२ ॥

व्याख्या—इयं गाथा प्रागिव व्याख्येया, नवरं पृथिवीकायस्थानेऽप्कायाभिलापः कर्त्तव्यः । इह या स्वकायपरकायशस्त्रयोजना द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया वाऽचित्तत्वभावना साऽपि प्रागिव यथायोगमप्कायेऽपि भावनीया । तथा यदा दधितैलादिसत्केषु घटेषु क्षिप्तस्य शुद्धजलादेरुपरि दध्याद्यवयवसत्का तरी जायते तदा सा यदि परिस्थूरा तर्ह्येकया पौरुष्या तत्परिणमति, मध्यमभावा चेत्तर्हि द्वाभ्यां पौरुषीभ्यां, स्तोका चेत्तर्हि तिसृभिः पौरुषीभिरिति ॥ इह तेन व्युक्रान्तयोनिकेनाप्कायेनेदं प्रयोजनमित्युक्तम्, अतस्तदेव दर्शयति—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२३||

दीप अनुक्रम [३०]

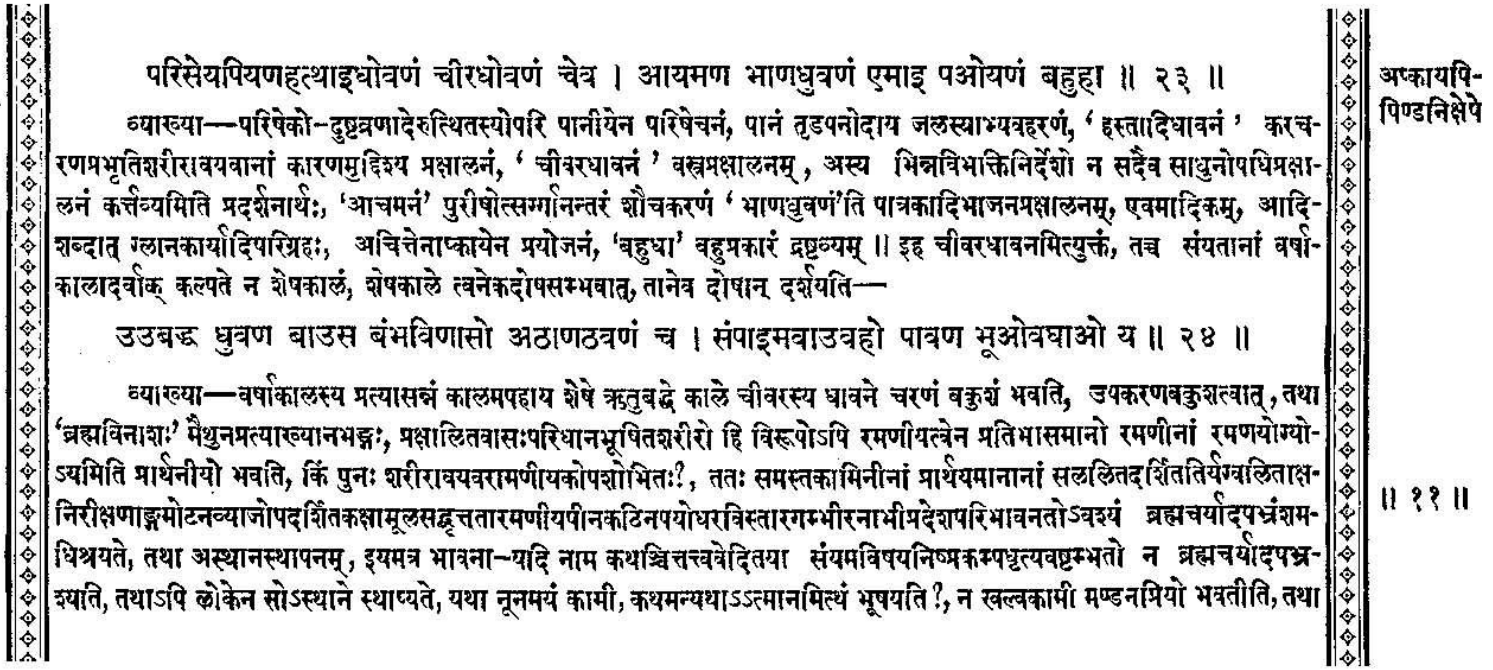

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ ११ ॥

परिसेयपियणहत्थाइधोवणं चीरधोवणं चेव । आयमण भाणधुवणं एमाइ पओयणं बहुहा ॥ २३ ॥

व्याख्या—परिषेको–दुष्टव्रणादेरुत्थितस्योपरि पानीयेन परिषेचनं, पानं तृडपनोदाय जलस्याभ्यवहरणं, 'हस्तादिधावनं' करचरणप्रभृतिशरीरावयवानां कारणमुद्दिश्य प्रक्षालनं, 'चीवरधावनं' वस्त्रप्रक्षालनम्, अस्य भिन्नविभक्तिनिर्देशो न सदैव साधुनोपधिप्रक्षालनं कर्त्तव्यमिति प्रदर्शनार्थः, 'आचमनं' पुरीषोत्सर्गानन्तरं शौचकरणं 'भाणधुवणं'ति पात्रकादिभाजनप्रक्षालनम्, एवमादिकम्, आदिशब्दात् ग्लानकार्यादिपरिग्रहः, अचित्तेनाप्कायेन प्रयोजनं, 'बहुधा' बहुप्रकारं द्रष्टव्यम् ॥ इह चीवरधावनमित्युक्तं, तच्च संयतानां वर्षाकालादर्वाक् कल्पते न शेषकालं, शेषकाले त्वनेकदोषसम्भवात्, तानेव दोषान् दर्शयति—

उउबद्ध धुवण बाउस बंभविणासो अठाणठवणं च । संपाइमवाउवहो पावण भूओवघाओ य ॥ २४ ॥

व्याख्या—वर्षाकालस्य प्रत्यासन्नं कालमपहाय शेषे ऋतुबद्धे काले चीवरस्य धावने चरणं बकुशं भवति, उपकरणबकुशत्वात्, तथा 'ब्रह्मविनाशः' मैथुनप्रत्याख्यानभङ्गः, प्रक्षालितवासःपरिधानभूषितशरीरो हि विरूपोऽपि रमणीयत्वेन प्रतिभासमानो रमणीनां रमणयोग्योऽयमिति प्रार्थनीयो भवति, किं पुनः शरीरावयवरामणीयकोपशोभितः?, ततः समस्तकामिनीनां प्रार्थ्यमानानां सललितदर्शितितिर्यग्वलिताक्षनिरीक्षणाङ्गमोटनव्याजोपदर्शितकक्षामूलसद्वृत्ततारमणीयपीनकठिनपयोधरविस्तारगम्भीरनाभीप्रदेशपरिभावनतोऽवश्यं ब्रह्मचर्यादपभ्रंशमधिश्रयते, तथा अस्थानस्थापनम्, इयमत्र भावना–यदि नाम कथञ्चित्तत्त्ववेदितया संयमविषयनिष्प्रकम्पधृत्यवष्टम्भतो न ब्रह्मचर्यादपभ्रश्यति, तथाऽपि लोकेन सोऽस्थाने स्थाप्यते, यथा नूनमयं कामी, कथमन्यथाऽऽत्मानमित्थं भूषयति?, न खल्वकामी मण्डनप्रियो भवतीति, तथा

अप्कायपिपिण्डनिक्षेपे

॥ ११ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संपातिमाना मक्षिकादीनां प्रक्षालनजलादिषु निपततां वायोश्च ' वधः ' विनाशो भवति, तथा ' प्लावनेन ' प्रक्षालनजलपरिष्ठापने पृथिव्या रेलणेन ' भूतोपघातः ' पृथिव्याश्रितकीटिकादिसत्त्वोपमर्दो भवति, तस्मान्न ऋतुबद्धे काले वस्त्रं प्रक्षालनीयम् ॥ नन्वेते दोषा वर्षाकालादर्वागपि धावने सम्भवन्ति ततस्तदानीमपि न चीवराणि प्रक्षालनीयानि, तन्न, तदानीं चीवरामक्षालनेऽनेकदोषसम्भवात् तानेवाह—

अइभार चुडण पणए सीयलपाउरणऽजीरगेलण्णे । ओहावणकायवहो वासासु अ धोवणे दोसा ॥ २५ ॥

व्याख्या—इह वर्षाकालादर्वागपि यदि वासांसि न प्रक्षाल्यन्ते तदानीम् ' अतिभारः ' गुरुत्वं वस्त्राणां भवति, तथाहि—वासांसि मलविद्धानि यदा जलकणानुषक्तसमीरणमात्रेणापि स्पृष्टानि भवन्ति तदाऽपि स मलः क्लिन्नीभूय–दृढतरं वस्त्रेषु सम्बन्धमापद्यते, किं पुनर्वर्षासु सर्वतः सलिलमयीषु ?, ततो वर्षासु क्लिन्नमलसम्पर्कतो वासांसि गुरुतरभाराणि भवन्ति, तथा 'चुडण'न्ति वाससां वर्षाकालादर्वागप्यधावने वर्षासु जीर्णता भवति शाटो भवतीत्यर्थः, किमुक्तं भवति ?–यदि नाम वर्षाकालादर्वागपि वस्त्राणि न प्रक्ष्याल्यन्ते ततो वर्षासु तेषां मलक्लिन्नतया जीर्णताभवनेन शाटो भवति, न च वर्षास्वभिनववस्त्रग्रहणं, न चाधिकः परिग्रहः, ततो ये वस्त्राभावे दोषाः समये प्रसिद्धास्ते सर्वेऽपि यथायोगमुपढौकन्ते इति, तथा मलक्लिन्नेषु वस्त्रेषु शीतलजलकणसंस्पर्शतो मलस्यार्द्रीभावतः ' पनकः ' वनस्पतिविशेषः प्रावृर्षेण्योपजायते, तथा च सति प्राणिव्यापादनप्रसक्तिः, तथा निरन्तरं सर्वतः प्रसरेण निपतति वर्षे शीतले च मारुते वाति मलस्यार्द्रीभावतः शीतलीभूतानां वाससां प्रावरणे भुक्ताऽऽहारस्याजीर्णतायाम्–अपरिणतौ ' ग्लानता ' शरीरमान्द्यमुज्जृम्भते, तथा च सति प्रवचनस्यापभ्राजना, यथा–अहो बठराशिरोमणयोऽमी तपस्विनो न परमार्थतस्तत्त्ववेदिनो ये नाम वर्षास्वप्रक्षालितानां वाससां परिभोगे मान्द्यमुपजायते इत्येतदपि नावबुध्यन्ते ते पृथग्जनापरिच्छेद्यं स्वर्गापवर्गमार्गमवगच्छन्तीति दुःश्रद्धेयं, तथा वर्षास्वप्रक्षालितानि वस्त्राणि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२५||

दीप अनुक्रम [३२]

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ १२ ॥

प्राप्त्य भिक्षार्थं विनिर्गतस्य साधोर्मेघवृष्टौ मलिनवस्त्रकम्बलसम्पर्कतोऽप्कायविराधना भवति, एते 'वर्षास्वि'ति वर्षाकालप्रत्यासन्नोऽपि कालो वर्षा इत्युच्यते, तत्सामीप्यात्, भवति च तत्सामीप्यात्तच्छब्दव्यपदेशो, यथा गङ्गायां घोष इत्यत्र, ततो 'वर्षासु' वर्षाप्रत्यासन्ने काले वस्त्रादीनामप्रक्षालने दोषाः तस्मादवश्यं वर्षाकालादर्वाग् वासांसि प्रक्षालनीयानि। ये च सम्पातिमसत्त्वोपघातादयो दोषाश्चीवरप्रक्षालने प्रागुक्तास्तेऽपि सूत्रोक्तनीत्या यतनया प्रवर्त्तमानस्य न सम्भवन्तीति वेदितव्यम् । यो हि सूत्राज्ञामनुसृत्य यतनया सम्यक् प्रवर्त्तते स यद्यपि कथञ्चित्प्राण्युपमर्दकारी तथापि नासौ पापभाग् भवति, नापि तीव्रप्रायश्चित्तभागी, सूत्रबहुमानतो यतनया प्रवर्त्तमानत्वात्, वक्ष्यति च सूत्रम्–'अप्पत्ते चिय वासे सव्वं उवहिं धुवंति जयणाए' इति, ततो न कश्चिद्दोषः, नापि तदा वस्त्रप्रक्षालने बकुशं चरणं, सूत्राज्ञया प्रवर्त्तमानत्वात्, नाप्यस्थानस्थापनदोषो, लोकानामपि वर्षासु वाससामप्राक्षलने दोषपरिज्ञानभावात्, न चैतेऽनन्तरोक्ता अतिभारादयो दोषा ऋतुबद्धे काले वाससामप्रक्षालने सम्भवन्ति, तस्मान्न तदा प्रक्षालनं युक्तमिति स्थितम् ॥ सम्प्रति वर्षाकालादर्वागपि यावानुपधिरुत्कर्षतो जघन्यतश्च प्रक्षालनीयो भवति तावत्तमभिधित्सुराह—

अप्पत्तेचिय वासे सव्वं उवहिं धुवंति जयणाए । अस इए उ दवस्स य जहन्नओ पाय निज्जोगो ॥ २६ ॥

'अप्राप्ते एव' अनायाते एव 'वर्षे' वर्षाकाले, वर्षाकालात् मनागर्वाक्तने काले इत्यर्थः, जलादिसामग्र्यां सत्यां 'उपधिम्' उपकरणं यतनया यतयः प्रक्षालयन्ति, 'द्रवस्य' जलस्य पुनः 'असति' अभावे, जघन्यतोऽपि पात्रनिर्योगोऽवश्यं प्रक्षालनीयः, इह निस्पूर्वो युजिरुपकारे वर्त्तते, तथा चोक्तं–'पाठो दूखले निज्जोगो उवयारो' इति, ततो निर्युज्यते–उपक्रियतेऽनेनेति निर्योग–उपकरणम्,

१ अप्राप्तायामेव वर्षायां सर्वमुपधिं प्रक्षालयन्ति यतनया ।

अप्कायपिपिण्डनिक्षेपे ॥ १२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२६|| दीप अनुक्रम [३३] | पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

अकर्त्तरीत्यनेन घञ् प्रत्ययः, पात्रस्य नियोगः पात्रनियोगः–पात्रोपकरणं पात्रकबन्धादिः, उक्तं च–" पैत्तं पत्ताबंधो पायट्ठवणं च पायकेसरिया । पडलाइं रयत्ताणं च गोच्छओ पायनिज्जोगो ॥" इति । आह–किं सर्व्वेषामेव वस्त्राणि वर्षाकालादर्वागेव प्रक्ष्याल्यन्ते ? किं वाऽस्ति केषाञ्चिद्विशेषः ?, अस्तीति ब्रूमः ॥ केषामिति चेदत आह—

आयरिय गिलाणाण य मइला मइला पुणोऽवि धावंति । मा हु गुरूण अवण्णो लोगंमि अजीरणं इयरे ॥ २७ ॥

व्याख्या—इह ये कृतपूर्व्विणो भगवत्प्रणीतप्रवचनानुगताचारादिशास्त्रोपधानानि अधीतिनः स्वसमयशास्त्रेषु ज्ञातिनः सकलस्वपरसमयशास्त्रार्थेषु कृतिनः कारितिनश्च पञ्चविधेष्वाचारेषु प्रवचनार्थव्याख्याधिकारिणः सद्धर्म्मदेशनाऽभियुक्ताः सूरयस्ते आचार्याः, आचार्यग्रहणमुपलक्षणं तेनोपाध्यायादीनां प्रभूणां परिग्रहः, तेषां, तथा 'ग्लानाः' मन्दाः तेषां च, पुनः पुनः मलिनानि वस्त्राणि 'धाव्यन्ते' प्रक्षाल्यन्ते, मलिनानीत्यत्र नपुंसकत्वे प्राप्तेऽपि सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतलक्षणवशात्, तथा चाह–पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे–"लिङ्गं व्यभिचार्यपी"ति, प्रस्तुतेऽर्थे कारणमाह–'मा हु' इत्यादि, मा भवतु, 'हुः' निश्चितं, गुरूणां मलिनवस्त्रपरिधाने लोके 'अवर्ण्णः' अश्लाघा, यथा–निराकृतयोऽमी मलदुरभिगन्धोपदिग्धदेहास्ततः किमेतेषामुपकण्ठं गतैरस्माभिरिति, तथा 'इतरस्मिन्' ग्लाने मा भवत्वजीर्णमिति भूयो भूयो मलिनानि तेषां प्रक्षाल्यन्ते ॥ सम्प्रति ये उपधिविशेषा न विश्रम्यन्ते तन्नामग्राहं गृहीत्वा तेषां धावने विधिमाह—

पायस्स पडोयारो दुनिसिज्ज तिपट्ट पोत्ति रयहरणं । एए उ न वीसामे जयणा संकामणा धुवणं ॥ २८ ॥

१ पात्रं पात्रबन्धः पात्रस्थापनं च पात्रकेशरिका । पटला रजस्त्राणं च गोच्छकः पात्रनियोगः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	पिण्डनिक्षेपे वस्त्र-धावन विधि:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२८|| दीप अनुक्रम [३५]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

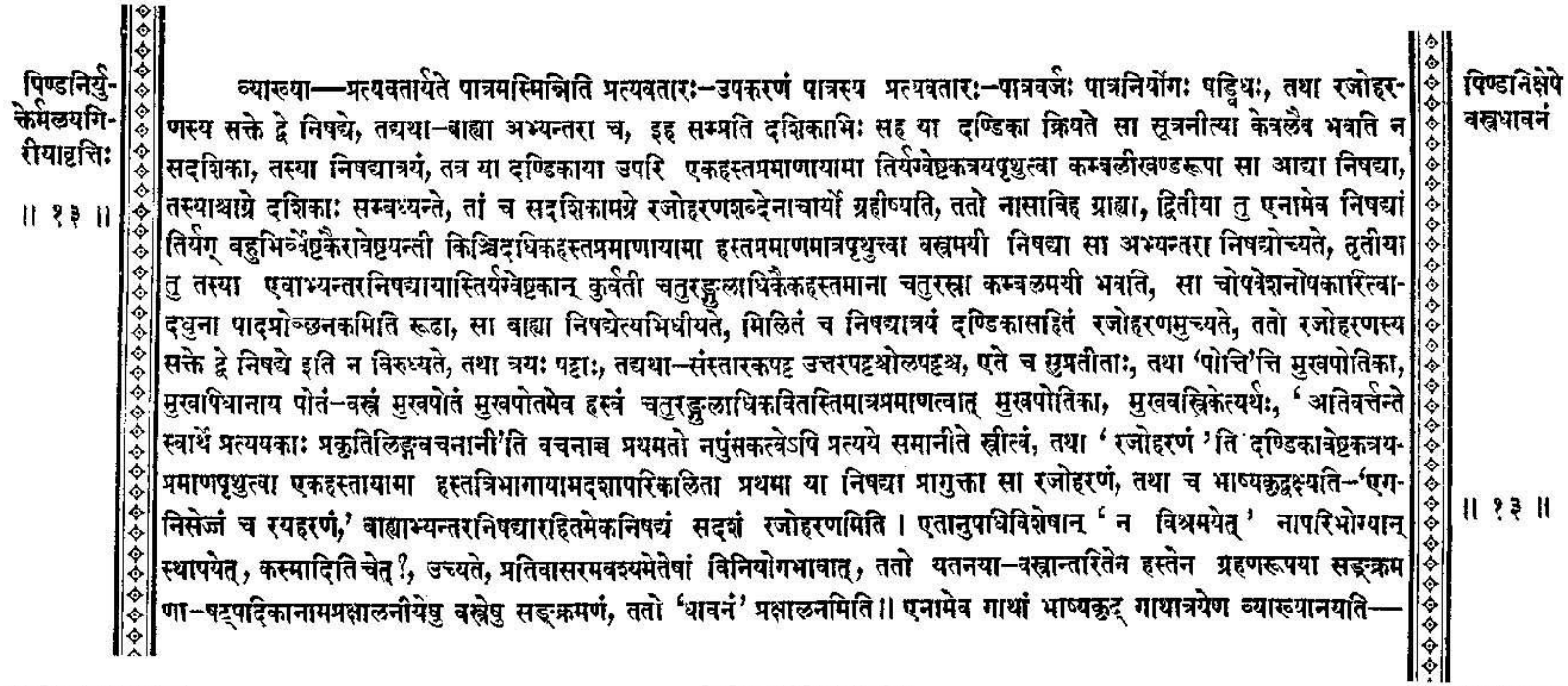

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ १३ ॥

व्याख्या—प्रत्यवतार्यते पात्रमस्मिन्निति प्रत्यवतारः–उपकरणं पात्रस्य प्रत्यवतारः–पात्रवर्जः पात्रनिर्योगः षड्विधः, तथा रजोहरणस्य सक्ते द्वे निषद्ये, तद्यथा–बाह्या अभ्यन्तरा च, इह सम्प्रति दशिकाभिः सह या दण्डिका क्रियते सा सूत्रनीत्या केवलैव भवति न सदशिका, तस्या निषद्यात्रयं, तत्र या दण्डिकाया उपरि एकहस्तप्रमाणायामा तिर्यग्वेष्टकत्रयपृथुत्वा कम्बलीखण्डरूपा सा आद्या निषद्या, तस्याश्चाग्रे दशिकाः सम्बध्यन्ते, तां च सदशिकामग्रे रजोहरणशब्देनाचार्यो ग्रहीष्यति, ततो नासाविह ग्राह्या, द्वितीया तु एनामेव निषद्यां तिर्यग् बहुभिर्वेष्टकैरावेष्टयन्ती किञ्चिदधिकहस्तप्रमाणायामा हस्तप्रमाणमात्रपृथुत्वा वस्त्रमयी निषद्या सा अभ्यन्तरा निषद्योच्यते, तृतीया तु तस्या एवाभ्यन्तरनिषद्यायास्तिर्यग्वेष्टकान् कुर्वती चतुरङ्गुलाधिकैकहस्तमाना चतुरस्रा कम्बलमयी भवति, सा चोपवेशनोपकारित्वादधुना पादप्रोञ्छनकमिति रूढा, सा बाह्या निषद्येत्यभिधीयते, मिलितं च निषद्यात्रयं दण्डिकासहितं रजोहरणमुच्यते, ततो रजोहरणस्य सक्ते द्वे निषद्ये इति न विरुध्यते, तथा त्रयः पट्टाः, तद्यथा–संस्तारकपट्ट उत्तरपट्टश्चोलपट्टश्च, एते च सुप्रतीताः, तथा 'पोत्ति'त्ति मुखपोतिका, मुखपिधानाय पोतं–वस्त्रं मुखपोतं मुखपोतमेव ह्रस्वं चतुरङ्गुलाधिकवितस्तिमात्रप्रमाणत्वात् मुखपोतिका, मुखवस्त्रिकेत्यर्थः, 'अतिवर्त्तन्ते स्वार्थे प्रत्ययकाः प्रकृतिलिङ्गवचनानी'ति वचनाच्च प्रथमतो नपुंसकत्वेऽपि प्रत्यये समानीते स्त्रीत्वं, तथा 'रजोहरणं'ति दण्डिकावेष्टकत्रयप्रमाणपृथुत्वा एकहस्तायामा हस्तत्रिभागायामदशापरिकलिता प्रथमा या निषद्या प्रागुक्ता सा रजोहरणं, तथा च भाष्यकृद्वक्ष्यति–'एगनिसेज्जं च रयहरणं,' बाह्याभ्यन्तरनिषद्यारहितमेकनिषद्यं सदशं रजोहरणमिति। एतानुपधिविशेषान् 'न विश्रमयेत्' नापरिभोग्यान् स्थापयेत्, कस्मादिति चेत्?, उच्यते, प्रतिवासरमवश्यमेतेषां विनियोगभावात्, ततो यतनया–वस्त्रान्तरितेन हस्तेन ग्रहणरूपया सङ्क्रमणा–षट्पादिकानामप्रक्षालनीयेषु वस्त्रेषु सङ्क्रमणं, ततो 'धावनं' प्रक्षालनमिति॥ एनामेव गाथां भाष्यकृद् गाथात्रयेण व्याख्यानयति—

पिण्डनिक्षेपे वस्त्रधावनं

॥ १३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पायस्स पडोयारो पत्तगवज्जो य पायनिज्जोगो । दोन्नि निसिज्जाओ पुण अब्भितर बाहिरा चेव ॥ ८ ॥
संथारुत्तरचोलग पट्टा तिन्नि उ हवंति नायव्वा । मुहपोत्तियात्ति पोत्ती एगनिसेज्जं च रयहरणं ॥ ९ ॥
एए उ न वीसामे पइदिणमुवओगओ य जयणाए । संकामिऊण धोवंति छप्पइया तत्थ विहिणा उ ॥१०॥ (भाष्यम्)

व्याख्या—एतास्तिस्रोऽपि व्याख्यातार्थाः, नवरं ' संकामिऊण ' इत्यादि, तत्र विश्रामाभावे सति यतनया षट्पदिका अन्यत्र सङ्क्रमय्य विधिना ' धावयंति ' प्रक्षालयन्ति ॥ तदेवमविश्रमणीय उपधिरुक्तः, तद्धणनाच्च शेषो विश्रमणीयोपधिर्गम्यते, ततस्तस्य विश्रमणविधिं विभणिषुरिदमाह—

जो पुण वीसामिज्जइ तं एवं वीयरायआणाए । पत्ते धोवणकाले उवहिं वीसामए साहू ॥ २९ ॥

व्याख्या—यः पुनरुपधिः प्राप्तेः धावनकाले–प्रक्षालनकाले, अनेन अकालप्रक्षालने भगवदाज्ञाभङ्गलक्षणं दोषमुपदर्शयति, ' विश्रम्यते ' निःशेषषट्पदिकाविशोधनार्थमपरिभुक्तो ध्रियते, तमुपधिं ' वीतरागाऽऽज्ञया' सर्वज्ञोपदेशेन, सर्वज्ञोक्तमवधार्येति भावः, ' एवं ' वक्ष्यमाणेन प्रकारेण, साधुर्विश्रमयेत् ॥ विश्रमणाप्रकारमेवाह—

अब्भितरपरिभोगं उवरिं पाउणइ नाइदूरे य । तिन्नि य तिन्नि य एगं निसिं तु काउं परिच्छिज्जा ॥ ३० ॥

व्याख्या—इह साधूनां द्वौ कल्पौ क्षौमौ एकः कम्बलमयः, तत्र यदा ते प्राव्रियन्ते तदा एकः क्षौमोऽभ्यन्तरं प्राव्रियते, शरीर-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| प्रत गाथांक नि/भा/प्र ॥३०॥ दीप अनुक्रम [४०] | पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

पिण्डनिर्युक्तिमलयगिरीयावृत्तिः ॥ १४ ॥

लग्नः प्राप्नियते इत्यर्थः, द्वितीयः क्षौमस्तस्योपरि, तृतीयः कम्बलमयस्तस्याप्युपरि, ततः प्रक्षालनकाले विश्रमणाविधिप्रारम्भे रात्रौ स्वपन् अभ्यन्तरपरिभोगं सदैव शरीरेण सह संलग्नं परिभुज्यमानं क्षौमं कल्पमुपरि शेषकल्पद्वयाद्बहिस्त्रीणि दिनानि यावत्प्रावृणोति येन तत्स्थाः षट्पदिकाः क्षुधा पीड्यमाना आहारार्थम् अथवा शीतादिना पीड्यमानास्तं बहिः प्राप्नियमाणं कल्पमपहायान्तरे कल्पद्वये शरीरे वा लगन्ति, एष प्रथमो विश्रमणाविधिः, एवं त्रीणि दिनानि प्रावृत्य ततस्त्रीण्येव दिनानि यावद्रात्रौ स्वापकाले नातिदूरे स्थापयति, किमुक्तं भवति ?–स्वापकाले संस्तारकतट एव स्थापयति, येन प्रथम विश्रमणविधिना या न निःसृताः षट्पदिकास्ता अपि क्षुधा पीड्यमाना आहारार्थं ततो विनिर्गत्य संस्तारकादौ लगन्ति, एष द्वितीयो विश्रमणाविधिः, तत एकां 'निशां' रात्रिं, तुः समुच्चये, स्वपन् स्वापस्थानस्योपरि लम्बमानमधोमुखं शरीरलग्नप्रायपर्यन्तं प्रसारितं कृत्वा संस्थापयेत्, संस्थाप्य च पश्चात्परीक्षेत, दृष्ट्वा प्रावरणेन च षट्पदिका निभालयेत्, तद्यथा–प्रथमं तावद्दृष्ट्वा निभालयेत्, दृष्ट्वा निभालिता अपि यदि न दृष्टास्ततः सूक्ष्मषट्पदिकारक्षणार्थं भूयः शरीरे प्रावृणोति, येन ता आहारार्थं शरीरे लगन्ति, एवं परीक्षणे कृते यदि ता न स्युस्तदा प्रक्षालयेत्, अथ स्युस्तर्हि पुनः पुनर्निर्भाल्य यदा न सन्तीति निश्चितं भवति तदा प्रक्षालयेत्, एवं सप्तभिर्दिनैः कल्पशोधना, एतदनुसारेण शेषस्याप्युपधेः शोधना भावनीया । इह विश्रमणा प्रक्षालनीयस्यापरिभोगरूपा उक्ता, ततो यत्तस्य बहिः प्रावरणादिरूपः परिभोगः स परमार्थतोऽपरिभोग इति न तदा विश्रमणा विरुध्यते ॥ एनामेव गाथां भाष्यकृद् व्याख्यानयति—

धोवत्थं तिन्नि दिणे उवरिं पाउणइ तह य आसन्नं । धारेइ तिन्नि दियहे एगदिणं उवरि लंबंतं ॥ ११ ॥ (भा०)

इयं व्याख्यातार्था । अत्रैव विश्रमणाविधौ मतान्तरमाह—

पिण्डनिक्षेपे वस्त्रधावन-विधिः ॥ १४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

केई एक्केक्कनिास संवासेउं तिहा परिच्छंति। पाउणइ जइ न लग्गंति छप्पइया ताहि धोवंति ॥ ३१ ॥

व्याख्या—केचिद् एके सूरय एवमाहुरेकैकां 'निशां' रात्रिं 'त्रिधा' त्रिभिः प्रकारैः पूर्वोक्तैः संवास्य तद्यथा–एकां निशां शोधनीयं कल्पं बहिः प्रावृणोति, द्वितीयां निशां संस्तारकतटे स्थापयति, तृतीयां तु निशां स्वपन् स्वापस्थानस्योपरि लम्बमानमधोमुखं प्रसारितं शरीरलग्नमायपर्यन्तं स्थापयति, एवं त्रिधा संवास्य 'परीक्षन्ते' दृष्ट्या निभालयन्ति, निभालिताश्चेन्न दृष्टास्ततः सूक्ष्मषट्पदिकाविशोधनार्थं शरीरे प्रावृण्वन्ति, प्रावृते च यदि 'न लगंति' न लग्नाः प्रतिभासन्ते षट्पदिकास्ततः प्रक्षालयन्ति, लगन्ति चेत्तर्हि भूयो भूयस्तावद्दृष्ट्या शरीरप्रावरणेन च परीक्षन्ते यावन्न सन्तीति निश्चितं भवति, ततः प्रक्षालयन्तीति, एषोऽपि विधिरदूषणात्समीचीन इवाऽऽचार्यस्य प्रतिभासत इति मन्यामहे ॥ वस्त्रप्रक्षालनं च जलेन भवति, अतो जलग्रहणे विधिविशेषमाह—

निव्वोदगस्स गहणं केई भाणेसु असुइ पडिसेहो। गिहिभायणेसु गहणं ठिय वासे मीसगं छारो ॥ ३२ ॥

व्याख्या—वर्षासु गृहच्छादनप्रान्तगलितं जलं नीव्रोदकं तस्य, इह यदि वर्षाकालादर्वाक् सर्वोऽप्युपधिः कथञ्चित्सामग्र्यभावतो न प्रक्षालितस्तर्हि प्राप्ते वर्षे सति साधुभिर्नीव्रोदकस्य–गृहपटलान्तोत्तीर्णस्य जलस्य वस्त्रप्रक्षालनार्थं 'ग्रहणम्' आदानं कर्त्तव्यं, तद्धि रजोगुण्डितधूमधूम्रीकृतदिनकरातपसम्पर्कक्षोष्मतीव्रसंस्पर्शतः परिणतत्वादचित्तम्, अतस्तद्ग्रहणे न काचिद्विराधना, नीव्रोदकस्य ग्रहणे केचिदाहुः–'भाजनेषु' स्वपात्रेषु नीव्रोदकस्य ग्रहणं कर्त्तव्यमिति, अत्राऽऽचार्य आह—'असुइ पडिसेहो' 'असुइ' त्ति भावप्रधानोऽयं निर्देशः,ततोऽयमर्थः—'अशुचित्वाद्' अपवित्रत्वात्परोक्तविधिना नीव्रोदकग्रहणस्य प्रतिषेधः, नीव्रोदकं हि मलिनं मलिनत्वाच्चाशुचि ततः कथं येषु पात्रेषु भोजनं विधीयते तेषु तस्य ग्रहणमुपपन्नं भवति?, मा भूत् लोके प्रवचनगर्हा यथाऽमी अशुचय इति, ततः 'गृहिभाजनेषु' गृहिसत्केषु कु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

ण्डिकादिषु भग्नेषु तस्य नीव्रोदकस्य ग्रहणं, तच्च नीव्रोदकग्रहणं 'स्थिते' निवृत्ते 'वर्षे' वृष्टौ, अन्तर्मुहूर्त्तादूर्द्ध्वमिति गम्यते, अन्तर्मुहूर्त्तेन सर्वात्मना परिणमनसम्भवात्, नास्थिते, किमित्याह—'मीसगं'ति मिश्रकं, निपतति वर्षे नीव्रोदकं मिश्रं भवति, तथाहि—पूर्वं निपतितमचित्तीभूतं तत्कालं तु निपतत्सचित्तमिति मिश्रं, ततः स्थिते वर्षे तत्प्रतिग्राह्यं, तस्मिंश्च प्रतिगृहीते तन्मध्ये 'छारो' त्ति क्षारः प्रक्षेपणीयो येन भूयः सचित्तं न भवति, जलं हि केवलं प्रासुकीभूतमपि भूयः प्रहरत्रयादूर्ध्वं सचित्तीभवति, ततस्तन्मध्ये क्षारः प्रक्षिप्यते, अपि च—क्षारप्रक्षेपे समलमपि जलं प्रसन्नतामाभजति, प्रसन्नेन च जलेन प्रक्षाल्यमानान्याचार्यादिवासांसि सुतेजांसि जायन्ते, तत एतदर्थमपि क्षारप्रक्षेपो न्याय्यः ॥ सम्प्रति धावनगतमेव क्रमविशेषमाह—

गुरुपच्चक्खाणिगिलाणसेहमाईण धोवणं पुव्वं । तो अप्पणो पुव्वमहाकडे य इयरे दुवे पच्छा ॥ ३३ ॥

व्याख्या—गुरुप्रत्याख्यानिग्लानशैक्षादीनां 'पूर्वं' प्रथमं धावनं कुर्यात् 'ततः' पश्चादात्मनः, इयमत्र भावना—इह साधुभिः परमहितमात्मनः समीक्षमाणैरवश्यं गुर्वादिषु विनयः प्रयोक्तव्यः, विनयबलादेव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रवृद्धिसम्भवाद्, अन्यथा दुर्विनीतस्य सतो गच्छवासस्यैवासम्भवतः सकलमूलहानिप्रसक्तेः, ततो धावनप्रवृत्तेन साधुना प्रथमतो गुरूणाम्—आचार्याणां वासांसि प्रक्षालनीयानि, ततः प्रत्याख्यानिनां—क्षपकप्रभृतीनां तदनन्तरं ग्लानानां ततोऽप्यनन्तरं शैक्षकादीनां, तत्र शैक्षा—अभिनवप्रव्रजिता आदिशब्दाद्बालादिपरिग्रहः, सूत्रे च 'सेहमाईण' इत्यत्र मकारोऽलाक्षणिकः, 'ततः' तदनन्तरमात्मनः, इह सर्वेषामपि गुर्वादीनां यथायोगं त्रिविधान्यपि प्रक्षालनीयवस्त्राणि सम्भवन्ति, तद्यथा—यथाकृतान्यल्पपरिकर्माणि बहुपरिकर्माणि च, तत्र यानि परिकर्मरहितान्येव तथारूपाणि लब्धानि तानि यथाकृतानि, यानि चैकं वारं खण्डित्वा सीवितानि तान्यल्पपरिकर्माणि, यानि च बहुधा खण्डित्वा सीवितानि तानि बहुपरि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्म्माणि, ततस्तत्रापि धावनक्रममाह–'पुव्वमहागडे यैत्ति, 'पूर्वं' प्रथमं सर्वेषामपि यथाकृतानि वासांसि धावयेत्, पश्चात्क्रमेण इतरे द्वे, किमर्थमिति चेत्? उच्यते–विशुद्धाध्यवसायस्फातिनिमित्तं, तथाहि–यान्यल्पपारिकर्म्माणि तानि बहुकर्म्मापेक्षया स्तोकसंयमव्याघातकारीणि भवन्तीति तदपेक्षया शुद्धानि, तेभ्योऽपि यथाकृतान्यतिशुद्धानि, मनागपि पलिमन्थदोषकारित्वाभावात्, ततो यथा यथा पूर्वं पूर्वं शुद्धानि प्रक्षाल्यन्ते तथा तथा संयमबहुमानवृद्धिभावतो विशुद्धाध्यवसायस्फातिरिति पूर्वं यथाकृतानीत्यादिक्रमः॥ सम्प्रति प्रक्षालनक्रियाविधिमुपदर्शयति—

अच्छोडपिट्टणासु य न धुवे धोए पयावणं न करे। परिभोग अपरिभोगे छायायव पेह कल्लाणं ॥ ३४ ॥

व्याख्या—इह वस्त्राणि धावन् आच्छोटनपिट्टनाभ्यां न धावेत्, तत्र आच्छोटनं—रजकैरिव शिलायामास्फालनं पिट्टनं—घनहीनरण्डारमणीभिरिव पुनः पुनः पानीयप्रक्षेपपुरस्सरमुद्वर्त्योत्पिट्टनेन कुट्टनं, सूत्रे च सप्तमी तृतीयार्थे, यथा 'तिसृषु तेसु अलङ्क्रिया पुहवी'[1] इत्यादौ, तुशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, स च पाणिपोदन प्रमृज्य प्रमृज्य यतनया प्रक्षालयेदिति समुच्चिनोति, ततो 'धौते' प्रक्षालिते, धावनजलस्पर्शजनितशीतापनोदायात्मनो वस्त्रस्य वा शोषणायाग्नेः प्रतापनं न कुर्यात्, मा भूत् धावनजलार्द्रीभूतहस्तादितो वस्त्रतो वा कथञ्चिद्विन्दुनिपातेनाग्निकायविराधना, यद्येवं तर्हि कथं वस्त्रस्य शोषणं कर्त्तव्यमिति शोषणविधिमाह—परिभोग्यानि अपरिभोग्यानि च यथाक्रमं छायाऽऽतपयोः शोषयेत्, सूत्रे च विभक्तिलोप आर्षत्वात्, परिभोग्येषु हि वस्त्रेषु तथा पूर्वं शोधितेष्वपि कथञ्चित् षट्पदिकाः सम्भवन्ति, सा च प्रक्षालनकाले तथोपमर्दिताऽपि कथञ्चिज्जीविता सती दिनकराऽऽतपसम्पर्के म्रियन्ते, ततस्तद्रक्षणार्थं तानि छायायां शोषयेत्,

१ त्रिभिस्तैरलङ्कृता पृथ्वी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ॥३४॥ दीप अनुक्रम [४५]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

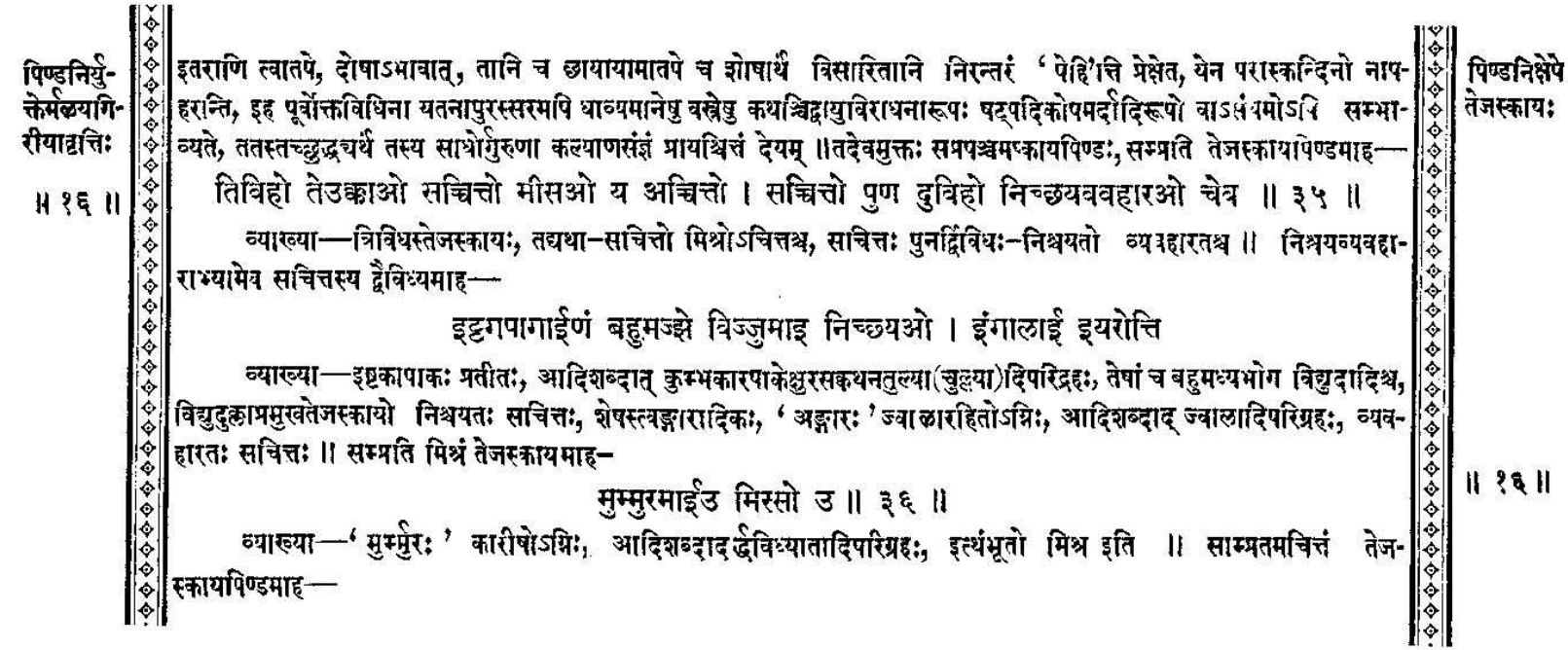

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ १६ ॥

इतराणि स्वातपे, दोषाऽभावात्, तानि च छायायामातपे च शोषार्थं विसारितानि निरन्तरं 'पेहि'त्ति प्रेक्षेत, येन परास्कन्दिनो नाप-हरन्ति, इह पूर्वोक्तविधिना यतनापुरस्सरमपि धाव्यमानेषु वस्त्रेषु कथञ्चिद्वायुविराधनारूपः षट्पदिकोपमर्दादिरूपो वाऽसंयमोऽपि सम्भा-व्यते, ततस्तच्छुद्ध्यर्थं तस्य साधोर्गुरुणा कल्याणसंज्ञं प्रायश्चित्तं देयम् ॥तदेवमुक्तः सप्तपञ्चमष्कायपिण्डः, सम्प्रति तेजस्कायपिण्डमाह—

तिविहो तेउक्काओ सच्चित्तो मीसओ य अचित्तो । सच्चित्तो पुण दुविहो निच्छयववहारओ चेव ॥ ३५ ॥

व्याख्या—त्रिविधस्तेजस्कायः, तद्यथा–सचित्तो मिश्रोऽचित्तश्च, सचित्तः पुनर्द्विविधः–निश्चयतो व्यवहारतश्च ॥ निश्चयव्यवहा-राभ्यामेव सचित्तस्य द्वैविध्यमाह—

इट्टगपागाईणं बहुमज्झे विज्जुमाइ निच्छयओ । इंगालाई इयरोत्ति

व्याख्या—इष्टकापाकः प्रतीतः, आदिशब्दात् कुम्भकारपाकेक्षुरसकथनतुल्या(चुल्ल्या)दिपरिग्रहः, तेषां च बहुमध्यभोग विद्युदादिश्च, विद्युदुल्कामुखतेजस्कायो निश्चयतः सचित्तः, शेषस्त्वङ्गारादिकः, 'अङ्गारः' ज्वालारहितोऽग्निः, आदिशब्दाद् ज्वालादिपरिग्रहः, व्यव-हारतः सचित्तः ॥ सम्प्रति मिश्रं तेजस्कायमाह–

मुम्मुरमाईउ मिस्सो उ ॥ ३६ ॥

व्याख्या—'मुर्म्मुरः' कारीषोऽग्निः, आदिशब्दादर्द्धविध्यातादिपरिग्रहः, इत्थंभूतो मिश्र इति ॥ साम्प्रतमचित्तं तेज-स्कायपिण्डमाह—

पिण्डनिक्षेपे तेजस्कायः

॥ १६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	अथ तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय पिण्ड विषयक वर्णनं क्रियते

ओयणवंजणपाणगआयामुसिणोदगं च कुम्मासा । डगलगसरक्खसूई पिप्पलमाई उ उवओगो ॥ ३७ ॥

व्याख्या—ओदनः–शाल्यादि भक्तं व्यञ्जनं–पत्रशाकतीमनादि पानकं-काञ्जिकं, तत्र ह्रवश्रावणं प्रक्षिप्यते, ततस्तदपेक्षया काञ्जिकस्याग्निकायता आयामम्–अवश्रावणम् उष्णोदकम्–उद्वृत्तत्रिदण्डम्, एतेषां च पदानां समाहारद्वन्द्वः, चकारो मण्डकादिसमुच्चयार्थः, 'कुल्माषाः' पक्वा माषाः, एते चौदनादयोऽग्निनिष्पन्नत्वेनाग्निकार्यत्वादग्नयो व्यपदिश्यन्ते, भवति च तत्कार्यत्वात्तच्छब्देन व्यपदेशो यथा द्रम्मो भक्षितोऽनेनेत्यादौ, ओदनादयश्चाचित्तास्तत एतेषामचित्ताग्निकायत्वेनाभिधानं न विरुध्यते, तथा 'डगलकाः' पक्वेष्टकानां खण्डानि 'सरजस्कः' भस्म 'सूची' लोहमयी वस्त्रसीवनिका, अथवा सरक्खसूइत्ति रक्षा–भस्म सह रक्षया वर्त्तते इति सरक्षा सूची, किमुक्तं भवति?–रक्षा सूची चेति, 'पिप्पलकः' किञ्चिद्वक्रः क्षुरविशेषः, आदिशब्दान्नखरदनिकादिपरिग्रहः, एतानि च डगलकादीनि पूर्वमग्निरूपतया परिणतान्यासीरन्, ततो भूतपूर्वगत्या सम्प्रत्यप्यग्निकायत्वेन व्यपदिश्यन्तेऽचित्तानि च, न चैतेषामचित्ताग्निकायत्वाभिधाने विरोधः ॥ सम्प्रत्यचित्ताग्निकायस्य प्रयोजनमाह—'उवओगो' एतेषामोदनादीनां य उपयोगो–भोजनादावुपयुज्यमानता तदचित्ताग्निकायेन साधनां प्रयोजनं, द्रव्यादिभेदाच्च चतुर्विधत्वमचित्ताग्निकायस्य प्रागिव यथायोगं भावनीयम् ॥ उक्तस्तेजस्कायपिण्डः, सम्प्रति वायुकायपिण्डमाह—

वाउक्काओ तिविहो सच्चित्तो मीसओ य अच्चित्तो । सच्चित्तो पुण दुविहो निच्छयववहारओ चेव ॥ ३८ ॥

व्याख्या—वायुकायस्त्रिविधः, तद्यथा—सचित्तो मिश्रोऽचित्तश्च, सचित्तः पुनर्द्विधा–निश्चयतो व्यवहारतश्च ॥ एतदेव निश्चयव्यवहाराभ्यां सचित्तस्य द्वैविध्यमचित्तं चाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सवलय घणतणुवाया अइहिम अइदुद्दिणे य निच्छयओ। ववहार पाइणाई अक्कंताई य अच्चित्तो ॥३९॥

व्याख्या—सह वलयैर्वर्त्तन्ते इति सवलया ये 'घणतणुवाय'त्ति वातशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, घनवातास्तनुवाताश्च, किमुक्तं भवति ?—ये नरकपृथिवीनां पार्श्वेषु घनवातास्तनुवाता वा वलयाकारेण व्यवस्थिता वलयशब्दवाच्याः, ये च नरकपृथिवीनामेवाधस्ताद् घनवातास्तनुवाताश्च, तथा 'अइहिम अइदुद्दिणे अ'ति अतिशयेन हिमे निपतति अतिशयेन च 'दुर्दिने'मेघतिमिरे मेघैर्गगनमण्डलस्याऽऽच्छादने ये वायवः, एष सर्वोऽपि वायुकायो निश्चयतः सचित्तः, अतिहिमातिदुर्दिनाभावे तु यः 'प्राचीनादिवातः' पूर्वादिदिग्वातः स व्यवहारतः सचित्तः, यस्तु 'आक्रान्तादिकः' आक्रान्तपङ्कादिसमुत्थप्रभृतिकः पञ्चप्रकारो वक्ष्यमाणस्वरूपः सोऽचित्त इति॥ आक्रान्तादिस्वरूपमेवाह—

अक्कंतधंतघाणे देहाणुगए य पीलियाइसु य। अच्चित्त वाउकाओ भणिओ कम्मट्ठमहणेहिं ॥ ४० ॥

व्याख्या—आक्रान्ते—पादेनाक्रान्ते कर्दमादौ यो वाताश्रितिति शब्दं कुर्वन् समुच्छलति, यश्चाध्माते मुखवातभृते दृत्यादौ वर्त्तते यो वा 'धाणे' तिलपीडनयन्त्रे तिलपीडनवशात्सशब्दं विनिर्गच्छन्नुपलभ्यते, यश्च 'देहानुगतः' शरीराश्रितः, उच्छ्वासनिःश्वासवातनिसर्गरूपः, 'पीलितं' सजलं निश्चोत्यमानं वस्त्रादि, आदिशब्दात्तालवृन्तादिपरिग्रहः, तेषु च यः सम्भवति वातः एष पञ्चप्रकारोऽपि वातः कर्माष्टकमथनैरचित्तः प्रतिपादितः॥ सम्प्रति मिश्रं वायुकायं प्रतिपिपादयिषुर्दृत्यादिस्थस्याचित्तवातकायस्य जले स्थितस्य क्षेत्रमाश्रित्य स्थलस्थितस्य (च) कालमाश्रित्याचित्तादिविभागमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| प्रत गाथांक नि/भा/प्र ॥४१॥ दीप अनुक्रम [५२] | पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

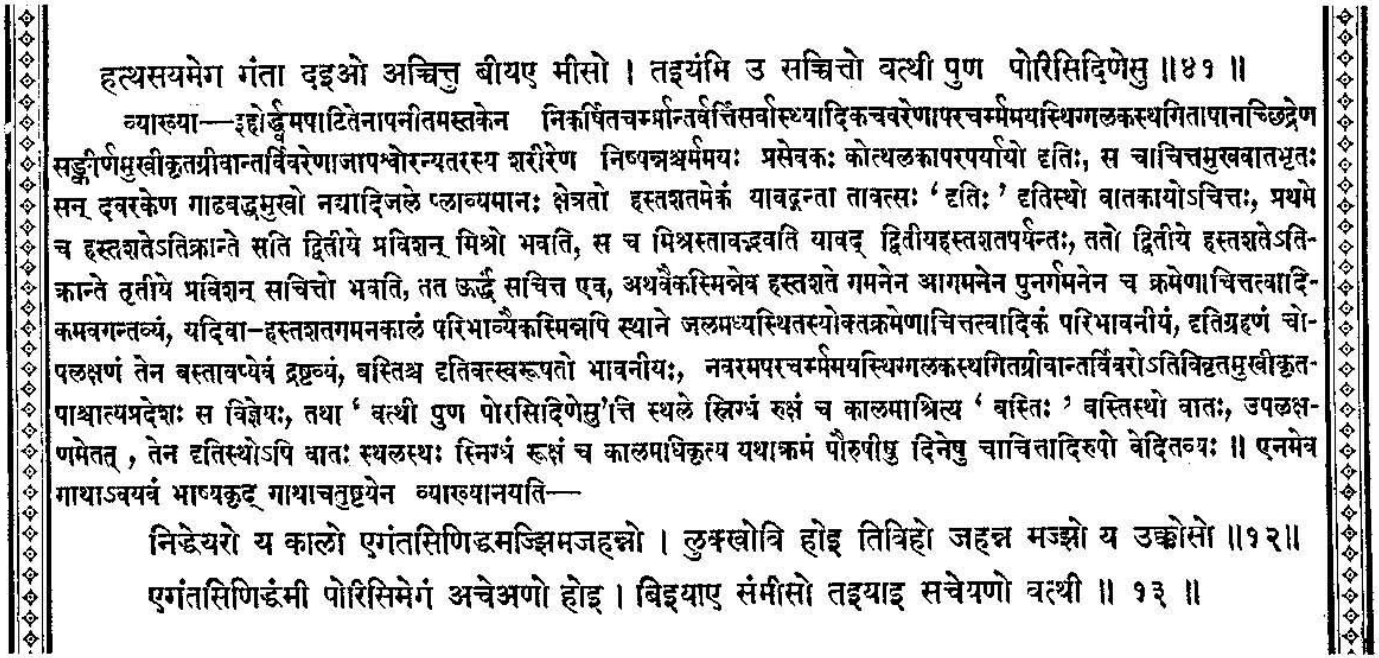

हत्थसयमेग गंता दइओ अच्चित्तु बीयए मीसो । तइयंमि उ सच्चित्तो वत्थी पुण पोरिसिदिणेसु ॥४१॥

व्याख्या—इहोर्द्ध्वमपाटितेनापनीतमस्तकेन निकर्षितचर्म्मान्तर्वर्त्तिसर्वास्थ्यादिकचवरेणापरचर्म्ममयस्थिग्गलकस्थगितापानच्छिद्रेण सङ्कीर्णमुखीकृतग्रीवान्तर्विवरेणाजापश्वोरन्यतरस्य शरीरेण निष्पन्नश्चर्ममयः प्रसेवकः कोत्थलकापरपर्यायो दृतिः, स चाचित्तमुखवातपूरितः सन् दवरकेण गाढबद्धमुखो नद्यादिजले प्लाव्यमानः क्षेत्रतो हस्तशतमेकं यावद्गन्ता तावत्सः 'दृतिः' दृतिस्थो वातकायोऽचित्तः, प्रथमे च हस्तशतेऽतिक्रान्ते सति द्वितीये प्रविशन् मिश्रो भवति, स च मिश्रस्तावद्भवति यावद् द्वितीयहस्तशतपर्यन्तः, ततो द्वितीये हस्तशतेऽतिक्रान्ते तृतीये प्रविशन् सचित्तो भवति, तत ऊर्द्धं सचित्त एव, अथवैकस्मिन्नेव हस्तशते गमनेन आगमनेन पुनर्गमनेन च क्रमेणाचित्तत्वादिकमवगन्तव्यं, यदिवा–हस्तशतगमनकालं परिभाव्यैकस्मिन्नपि स्थाने जलमध्यस्थितस्योक्तक्रमेणाचित्तत्वादिकं परिभावनीयं, दृतिग्रहणं चोपलक्षणं तेन बस्तावप्येवं द्रष्टव्यं, बस्तिश्च दृतिवत्स्वरूपतो भावनीयः, नवरमपरचर्म्ममयस्थिग्गलकस्थगितग्रीवान्तर्विवरोऽतिविवृतमुखीकृतपाश्चात्यप्रदेशः स विज्ञेयः, तथा 'वत्थी पुण पोरसिदिणेसु'त्ति स्थले स्निग्धं रुक्षं च कालमाश्रित्य 'बस्तिः' बस्तिस्थो वातः, उपलक्षणमेतत्, तेन दृतिस्थोऽपि वातः स्थलस्थः स्निग्धं रूक्षं च कालमधिकृत्य यथाक्रमं पौरुषीषु दिनेषु चाचित्तादिरूपो वेदितव्यः ॥ एनमेव गाथाऽवयवं भाष्यकृद् गाथाचतुष्टयेन व्याख्यानयति—

निद्धेयरो य कालो एगंतसिणिद्धमज्झिमजहन्नो । लुक्खोवि होइ तिविहो जहन्न मज्झो य उक्कोसो ॥१२॥

एगंतसिणिद्धंमी पोरिसिमेगं अचेअणो होइ । बिइयाए संमीसो तइयाइ सचेयणो वत्थी ॥ १३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१४||

दीप अनुक्रम [५५]

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ १८ ॥

मज्झिमनिद्धे दो पोरिसीउ अच्चित्तु मीसओ तइए । चउत्थीए सचित्तो पवणो दइयाइ मज्झगओ ॥ १४ ॥
पोरिसितिगमच्चित्तो निद्धजहन्नंमि मीसग चउत्थी। सच्चित्त पंचमीए एवं लुक्खेऽवि दिण वुड्ढी ॥१५॥ (भा०)

व्याख्या—इह कालः सामान्यतो द्विविधः, तद्यथा—स्निग्धो रूक्षश्च, तत्र यः सजलः सशीतश्च स स्निग्धः, उष्णो रूक्षः, स्निग्धोऽपि त्रिधा, तद्यथा—एकान्तस्निग्धो मध्यमो जघन्यश्च, तत्र एकान्तस्निग्धः अतिस्निग्धः, रूक्षोऽपि त्रिधा, तद्यथा—जघन्यो मध्यम उत्कृष्टः, उत्कृष्टो नाम अतिशयेन रूक्षः, तत्रैकान्तस्निग्धकाले बस्तिगतो वायुकायः उपलक्षणमेतत् तेन इतिस्थोऽपि एकां पौरुषीं यावदचेतनो भवति, द्वितीयस्यास्तु पौरुष्याः प्रारम्भेऽपि मिश्रः, स च तावद्यावत्परिपूर्णा द्वितीया पौरुषी, तृतीयस्यां तु पौरुष्यामादित एव सचित्तः, तत ऊर्द्धं सचित्त एव, मध्यमे तु स्निग्धकाले द्वे पौरुष्यौ यावदचित्तस्तृतीयस्यां तु पौरुष्यां मिश्रः,चतुर्थ्यां सचेतनः, जघन्ये च स्निग्धकाले इत्यादिमध्यगतो वायुः पौरुषीत्रिकं यावदचित्तः, चतुर्थपौरुष्या मिश्रः, पञ्चम्यां तु सचेतनः, एवं रूक्षेऽपि द्रष्टव्यं, केवलं तत्र दिनवृद्धिः कर्त्तव्या, सा चैवं—जघन्यरूक्षकाले बस्त्यादिगतः पवनो दिनमेकमचित्तो द्वितीये दिने मिश्रस्तृतीये सचित्तः, मध्यमरूक्षकाले दिनद्वयमचित्तस्तृतीयदिने मिश्रश्चतुर्थदिने सचेतनः, उत्कृष्टरूक्षकाले दिनत्रयमचित्तश्चतुर्थदिने मिश्रः पञ्चमदिने सचित्तः ॥ सम्प्रत्यचित्तवायुकायप्रयोजनमाह—

दइएण वत्थिणा वा पओयणं होज्ज वाउणा मुणिणो । गेलन्नंमि व होज्जा सचित्तमीसे परिहरेज्जा ॥४२॥

व्याख्या—'इतिना' इतिस्थेन 'बस्तिना' बस्तिस्थेन वेति समुच्चये नद्याद्युत्तारे प्रयोजनं भवेद्वायुना मुनेः, अनेन जलस्थो वायु-

पिण्डनिक्षेपे वातकायः ॥ १८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गृह्यते, अथवा 'ग्लानत्वे' मन्दत्वे सति वायुना प्रयोजनं भवति, क्वापि हि रोगे इत्यादिना संगृह्य वातोऽपानादौ प्रक्षिप्यते, अनेन स्थलस्थो गृहीतः, सचित्तमिश्रौ तु यत्नतः परिहरेत्, जलमध्ये त्वशक्ये परिहारे प्रायश्चित्तं पश्चादभिगृह्णीयात् ॥ तदेवमुक्तो वायुकायपिण्डः-सम्प्रति वनस्पतिकायपिण्डमाह—

वणस्सइकाओ तिविहो सच्चित्तो मीसओ य अच्चित्तो । सच्चित्तो पुण दुविहो निच्छयववहारओ चेव ॥४३॥

व्याख्या—वनस्पतिकायस्त्रिविधः, तद्यथा—सचित्तो मिश्रोऽचित्तश्च, सचित्तः पुनर्द्विधा, तद्यथा–निश्चयतो व्यवहारतश्च ॥ इदमेव निश्चयव्यवहाराभ्यां सचित्तस्य द्वैविध्यं मिश्रं च प्रतिपादयति—

सव्वोऽवऽणंतकाओ सच्चित्तो होइ निच्छयनयस्स । ववहारस्स य सेसो मीसो पव्वायरोट्टाई ॥ ४४ ॥

व्याख्या—निश्चयनयस्य मतेन सर्वोऽपि 'अनन्तकायः' वनस्पतिकायः सचित्तो भवति, शेषः पुनः 'प्रत्येकः' निम्बाम्रादिकः 'व्यवहारस्य' व्यवहारनयस्य मतेन सचित्तः, मिश्रो म्लानलोष्टादिः, तत्र म्लानः सर्वोऽपि वनस्पतिकायोऽर्द्धशुष्को ज्ञेयः, तत्र हि–योऽर्धः शुष्कः सोऽचित्तः शेषस्तु सचित्त इति मिश्रः, 'लोष्टः' घरट्टादिचूर्णः, तत्र काश्चिन्नखिकाः सम्भवन्ति ताश्च सचित्ताः शेषस्त्वचित्त इति मिश्रः, आदिशब्दात्तत्कालदलितकणिकादिपरिग्रहः, तत्रापि कियन्तोऽवयवा अद्याप्यपरिणता इति सचित्ताः कियन्तस्त्वचित्ता इति मिश्रता ॥ साम्प्रतमचित्तं वनस्पतिकायमाह—

पुप्फाणं पत्ताणं सरडुफलाणं तहेव हरियाणं । वेंटंमि मिलाणंमी नायव्वं जीवविप्पजढं ॥ ४५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

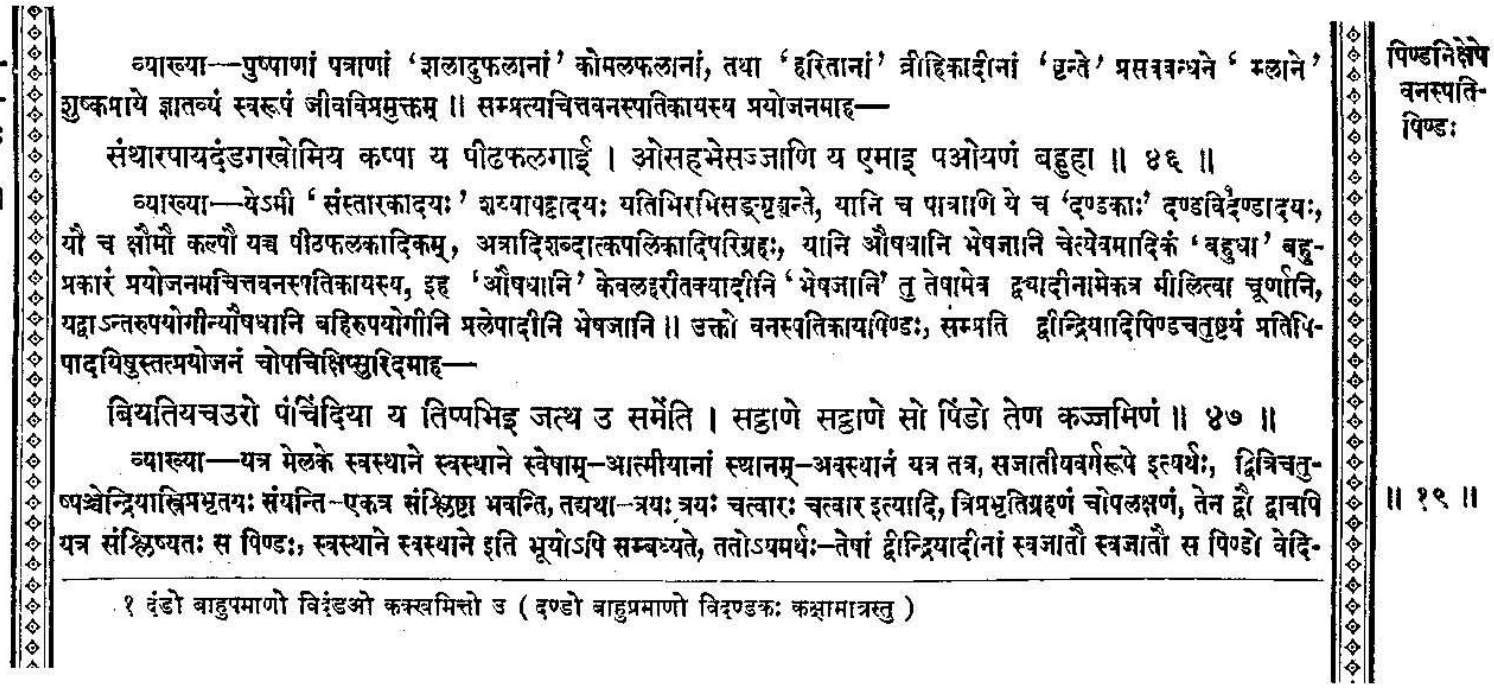

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ १९ ॥

व्याख्या—पुष्पाणां पत्राणां 'शलादुफलानां' कोमलफलानां, तथा 'हरितानां' व्रीहिकादीनां 'वृन्ते' प्रसवबन्धने 'म्लाने' शुष्कप्राये ज्ञातव्यं स्वरूपं जीवविप्रमुक्तम् ॥ सम्प्रत्यचित्तवनस्पतिकायस्य प्रयोजनमाह—

संथारपायदंडगखोमिय कप्पा य पीढफलगाई । ओसहभेसज्जाणि य एमाइ पओयणं बहुहा ॥ ४६ ॥

व्याख्या—येऽमी 'संस्तारकादयः' शय्यापट्टादयः यतिभिरभिसङ्गृह्यन्ते, यानि च पात्राणि ये च 'दण्डकाः' दण्डविदण्डादयः[1], यौ च क्षौमौ कल्पौ यच्च पीठफलकादिकम्, अत्रादिशब्दात्कपलिकादिपरिग्रहः, यानि औषधानि भेषजानि चेत्येवमादिकं 'बहुधा' बहुप्रकारं प्रयोजनमचित्तवनस्पतिकायस्य, इह 'औषधानि' केवलहरीतक्यादीनि 'भेषजानि' तु तेषामेव द्व्यादीनामेकत्र मीलित्वा चूर्णानि, यद्वाऽन्तरुपयोगीन्यौषधानि बहिरुपयोगीनि प्रलेपादीनि भेषजानि ॥ उक्तो वनस्पतिकायपिण्डः, सम्प्रति द्वीन्द्रियादिपिण्डचतुष्टयं प्रतिपिपादयिषुस्तत्प्रयोजनं चोपचिक्षिप्सुरिदमाह—

बियतियचउरो पंचिंदिया य तिण्पभिइ जत्थ उ समेंति । सट्ठाणे सट्ठाणे सो पिंडो तेण कज्जमिणं ॥ ४७ ॥

व्याख्या—यत्र मेलके स्वस्थाने स्वस्थाने स्वेषाम्–आत्मीयानां स्थानम्–अवस्थानं यत्र तत्र, सजातीयवर्गरूपे इत्यर्थः, द्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियास्त्रिप्रभृतयः संयन्ति–एकत्र संश्लिष्टा भवन्ति, तद्यथा–त्रयः त्रयः चत्वारः चत्वार इत्यादि, त्रिप्रभृतिग्रहणं चोपलक्षणं, तेन द्वौ द्वावपि यत्र संश्लिष्यतः स पिण्डः, स्वस्थाने स्वस्थाने इति भूयोऽपि सम्बध्यते, ततोऽयमर्थः–तेषां द्वीन्द्रियादीनां स्वजातौ स्वजातौ स पिण्डो वेदि-

१ दंडो बाहुपमाणो विदंडओ कक्खमित्तो उ (दण्डो बाहुप्रमाणो विदण्डकः कक्षामात्रस्तु)

पिण्डनिक्षेपे वनस्पतिपिण्डः ॥ १९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||४७|| दीप अनुक्रम [६२] | पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

तव्यः, सोऽपि च त्रिधा, तद्यथा–सचित्तो मिश्रोऽचित्तश्च, तत्र सचित्तस्त्रिप्रभृतीनां अक्षादीनां जीवतामेकत्र संश्लेषेण मिलनं, मिश्रस्तेषामेव केषाञ्चिज्जीवतां केषाञ्चिन्मृतानामेकत्र संश्लेषः, अचित्तो जीवविप्रमुक्तानां तेषामेवाक्षादीनामेकत्र मिलनं, तेन च पिण्डेन अत्र जातावेकवचनं 'तैः' द्वीन्द्रियादिपिण्डैः 'कार्यं' प्रयोजनम् 'इदं' वक्ष्यमाणम्॥ तत्र द्वित्रिचतुष्पिण्डप्रयोजनं सार्द्धगाथयाऽभिधित्सुराह—

बेइंदियपरिभोगो अक्खाण ससिप्पसंखमाईणं । तेइंदियाण उद्देहिगादि जं वा वए वेज्जो ॥ ४८ ॥
चउरिंदियाण मच्छियपरिहारो आसमच्छिया चेव ॥

व्याख्या—इह साधोर्द्वीन्द्रियादीनां यथासम्भवं प्रयोजनं द्विधा, तद्यथा–शब्देन शरीरेण च, तत्र शब्देन प्रयोजनं शकुनादिपरिभावने, तथाहि–शङ्खशब्दमाकर्ण्यमानं प्रशस्तं महाशकुनमामनन्ति शाकुनिकाः, शरीरेण प्रयोजनं त्रिधा, तद्यथा–सम्पूर्णेन शरीरेण तदेकदेशेन शरीरसम्पर्कसमुद्भूतेन चान्येन वस्तुना, तत्रामीषां चतुर्णामपि प्रयोजनानां मध्ये किमपि केषाञ्चित्साधूनामुपयोगवद्भवति, केषाञ्चित्तु चत्वार्यपि, तत्र द्वीन्द्रियाणां सम्पूर्णशरीरेण प्रयोजनं साक्षादभिधत्ते–द्वीन्द्रियाणां 'परिभोगः' उपयोगोऽक्षाणां 'सशुक्तिशङ्खादीनां' शुक्तिशङ्खादिसहितानां, तत्र 'अक्षाः' चन्दनकाः 'शुक्तयः' सुप्रतीताः यत्र स्वातिनक्षत्रसम्भविजलसम्पर्कतो मौक्तिकानि जायन्ते, 'शङ्खाः' शम्बूकाः, आदिशब्दात्कपर्दादिपरिग्रहः, तत्राक्षाणां कपर्दकादीनां चोपयोगः समवसरणस्थापनादौ शङ्खशुक्तिकानां चक्षुःपुष्पकाद्यपनोदादौ, त्रीन्द्रियाणां परिभोगमाह—त्रीन्द्रियाणां परिभोग उद्देहिकादि, इह उद्देहिकाशब्देन उद्देहिकाकृतवल्मीकमृत्तिका परिगृह्यते, आदिशब्दादन्यस्याप्येवंविधस्य त्रीन्द्रियमृत्तिकादेः परिग्रहः, स परिभोगः परिभोगविषयत्वात्, यद्वाऽत्र कर्म्मसाधनः परि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	अथ द्वी, त्रि चतुर् पञ्च-इन्द्रियपिण्ड विषयक वर्णनं क्रियते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||४८||

दीप अनुक्रम [६३]

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ २० ॥

भोगशब्दो विवक्षणीयः, परिभुज्यते इति परिभोगः–परिभुज्यमानता (स)च उद्देहिकामृत्तिकादेः सर्पदंशादौ दाहोपशमनाय वेदितव्यः, यद्वा–किमपि वैद्यस्त्रीन्द्रियविशेषशरीरादिकं बाह्यप्रलेपादिनिमित्तं वदेत् तद्वा परिभोगस्त्रीन्द्रियाणां तथा चतुरिन्द्रियाणां मध्ये मक्षिकाणां परिहारः–पुरीषं परिभोगः, तद्धि वमननिषेधादौ प्रत्यलमुपवर्ण्यते, यद्वा–अश्वमक्षिका उपयुज्यते अक्षिभ्योऽक्षरसमुद्धरणाय चैवेति एवंप्रायचतुरिन्द्रियपरिभोगसमुच्चयार्थः ॥ पञ्चेन्द्रियपिण्डविषये सामान्यत उपयोगमाह—

पंचेंदियपिंडंमि उ अव्ववहारी उ नेरइया ॥ ४९ ॥

व्याख्या—पञ्चेन्द्रियपिण्डे उपयोगविषयतया परिभाव्यमाने सर्वोऽपि तिर्यगादिपिण्डो यथायोगमुपयोगं समायाति, नैरयिकाः पुनः 'अव्यवहारिणः' अनुपयोगिनः ॥ तत्र पञ्चेन्द्रियतिर्यगुपयोगमाह—

चम्मट्ठिदंतनहरोमसिंगअविलाइछगणगोमुत्ते । खीरदधिमाइयाण य पंचिंदियतिरियपरिभोगो ॥ ५० ॥

व्याख्या—पञ्चेन्द्रियतिरश्चां परिभोगश्चर्मास्थिदन्तनखरोमशृङ्गाविलादिच्छगणगोमूत्रे क्षीरदध्यादीनां च, तत्र चर्म्मणः परिभोगः क्षुरादिधरणार्थं कोशकादिकरणे, अस्थ्नो गृद्धनखिकादेः, तद्धि शरीरस्फोटापनोदार्थं बाह्वादौ बध्यते, दन्तस्य शूकरदंष्ट्रायाः, सा हि दृष्टिषु पुष्पिकापनोदाय घर्षित्वा क्षिप्यते, नखानां जीवविशेषसत्कानां, ते हि क्वापि धूपे पतन्ति गन्धश्च तेषां कस्यापि रोगस्यापनोदाय प्रभवति, रोम्लामविमेषी(वी)लासत्कानां, तन्निष्पन्नो हि कम्बलः साधूनामुपयोगवान्, शृङ्गस्य महिष्यादिसत्कस्य, तद्धि मार्गे गच्छात्परि-

पिण्डनिक्षेपे पञ्चेन्द्रियपिण्डः ॥ २० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भ्रष्टानां साधूनां मीलनाय वाद्यते, तथाऽविलादिछगणस्य गड्डरिकाया गड्डरकस्य वा, आदिशब्दादन्येषां च पुरीषस्य, गोमूत्रस्य पामार्जुपमर्दने, क्षीरादीनां भोजने ॥ सम्प्रति मनुष्यस्य सचित्तादिभेदात् त्रिविधस्याप्युपयोगमाह—

सच्चित्ते पव्वावण पंथुत्रएसे य भिक्खदाणाई । सीसट्ठिग अच्चित्ते मीसट्ठिसरक्खपहपुच्छा ॥ ५१ ॥

व्याख्या—सचित्ते इति षष्ठीसप्तम्योरर्थे प्रत्यभेदात् सचित्तस्य मनुष्यस्य प्रयोजनं पथि पृष्टे 'उपदेशः' कथनं, तथा भिक्षादानम्, आदिशब्दाद्वसत्यादिदानं चोपयोगः, शिरसोऽस्थि, तद्धि लिङ्गे व्याधिविशेषापनोदाय घर्षित्वा दीयते, यद्वा कदाचित्कश्चित्परिरुष्टो राजादिः साधूनां विनाशाय कृतोद्यमो भवेत् ततस्ते साधवः शिरोऽस्थिकमादाय कापालिकवेषेण नष्ट्वा देशान्तरं व्रजितुमिच्छन्तीति तेन प्रयोजनं, तथा मिश्रस्य मनुष्यस्योपयोगः, 'अट्ठिसरक्खि'त्ति 'अस्थिभिः' आभरणकल्पैः भूषितस्य सरजस्कस्य सरक्षाकस्य वा भस्मावगुण्ठितवपुष्कस्येत्यर्थः, कापालिकस्य पार्श्वे यत्पथि विषये प्रच्छनम् ॥ सम्प्रति देवताविषयमुपयोगमाह—

खमगाइ कालकज्जाइएसु पुच्छिज्ज देवयं कचि । पंथे सुभासुभे वा पुच्छेज्जह दिव्व उवओगो ॥ ५२ ॥

व्याख्या—क्षपकादिः, आदिशब्दादत्राऽऽचार्यादिपरिग्रहः, क्षपकस्य हि तपोविशेषाकृष्टत्वेन प्रायः समासन्ना एव देवता भवन्ति तत इह साक्षात्क्षपकग्रहणं कृतं, 'कालकार्यम्' मरणरूपं प्रयोजनं, तदादिकेषु प्रयोजनेषूपस्थितेषु काश्चिद्देवतां पृच्छेत्, तथा पथिविषयेषु 'शुभाशुभे' सापायत्वे निरपायत्वे वा देवतां काञ्चन पृच्छेत्, एष 'दिव्य उपयोगः' देवताविषय उपयोगः ॥ तदेवं सचित्तादिभेदभिन्नस्त्रिप्रकारोऽपि द्रव्यपिण्डः प्रत्येकं पृथिवीकायादिभेदान्नवविध उक्तः, सम्प्रत्येतेषामेव नवानां पृथिवीकायादीनां द्व्यादिमिश्रणतो मिश्रं द्रव्यपिण्डमभिधित्सुराह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||५३||

दीप अनुक्रम [६८]

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ २१ ॥

अह मीसओ य पिंडो एएसिं चिय नवण्ह पिंडाणं । दुगसंजोगाईओ नायव्वो जाव चरमोत्ति ॥ ५३ ॥

व्याख्या—अथेत्यानन्तर्यद्योतने, केवलपृथिवीकायादिपिण्डाभिधानानन्तरं मिश्रकपिण्डो व्याख्यायते इति द्योतयति, 'मिश्रकः' सजातीयविजातीयद्रव्यमिश्रणात्मकः पिण्डः एतेषामेव नवानां पिण्डानां द्व्यादिसंयोगात्मको ज्ञातव्यः, तद्यथा–पृथिवीकायोऽप्कायश्चेति द्विकसंयोगे प्रथमो भङ्गः, पृथिवीकायस्तेजस्काय इति द्वितीयः, एवं द्विकसंयोगे षट्त्रिंशद्भङ्गा भावनीयाः, तथा त्रिकसंयोगे पृथिवीकायोऽप्कायस्तेजस्काय इति प्रथमो भङ्गः पृथिवीकायोऽप्कायो वायुकाय इति द्वितीयः एवं त्रिकसंयोगे चतुरशीतिर्भङ्गाः, तथा चतुष्कसंयोगे पृथिवीकायोऽप्कायस्तेजस्कायो वायुकाय इति प्रथमो भङ्गः, पृथिवीकायोऽप्कायस्तेजस्कायो वनस्पतिकाय इति द्वितीयः, एवं चतुष्कसंयोगे षड्विंशं शतं भङ्गानां भावनीयं, पञ्चकसंयोगेऽपि षड्विंशं शतं, षड्कसंयोगे चतुरशीतिः, सप्तकसंयोगे षट्त्रिंशत्, अष्टकसंयोगे नव, नवकसंयोगे एकः, सर्वसङ्कलया भङ्गानां पञ्च शतानि द्व्यधिकानि, एतेषां च भङ्गानामानयनार्थमियं करणगाथा, " उभयमुहं रासिदुगं दिट्ठिल्लाणंतरेण भय पढमं । लद्धह रासिविभत्ते तस्सुवरि गुणित्तु संजोगा ॥ १ ॥ अस्याक्षरगमनिका–इह नवानां पदानां द्व्यादिसंयोगभङ्गा आनेतुमभिप्रेतास्ततस्तावत्प्रमाणौ द्वौ राशी उभयमुखौ स्थाप्येते, स्थापना चेयं १२३४५६७८९ / ९८७६५४३२१ अत्रैकस्योपरि नवकः, तत एककसंयोगे नव भङ्गा द्रष्टव्याः, न च तत्र करणगाथाया व्यापारः, द्व्यादिसंयोगभङ्गानयनायैव तस्याः प्रवृत्तत्वात्, ततोऽधस्तने राशौ पर्यन्तवर्त्तिन एककस्यानन्तरेण द्विकलक्षणेनोपरितनराशौ प्रथममङ्कं नवकरूपं भजेत्-तस्य भागहारं कुर्यात्, ततो लब्धाः सार्द्धाश्चत्वारः, तेन च सार्द्धचतुष्केणाधोराशिनोपरितने प्रथमेऽङ्के विभक्ते लब्धेन तस्य द्विकलक्षणस्याङ्कस्योपरितनमङ्कमष्टकलक्षणं गुणयेत्–ताडयेत्, जाता षट्त्रिंशत्, इत्थं च गुणयित्वा 'संयोगाः' संयोगभङ्गा वाच्याः, यथा द्विकसंयोगे भङ्गाः षट्त्रिंशदिति, ततो भूयोऽपि त्रिकसंयोगभङ्गानयनाय प्रथमपा-

पिण्डनिक्षेपे मिश्रपिण्डः

॥ २१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दरद्दिता करणगाथा व्यापार्यते, अधस्तने राशौ स्थितेन द्विकादनन्तरेण त्रिकेणोपरितनराशिव्यवस्थितं त्रिकोपरितनसप्तकरूपाङ्कापेक्षया आद्यं षट्त्रिंशद्रूपमङ्कं भजेत्, ततो लब्धा द्वादश तैश्चाधोराशिनोपरितनेऽङ्के विभक्ते लब्धैस्त्रिकलक्षणस्याङ्कस्योपरितनं सप्तकलक्षणमङ्कं गुणयेत्, गुणिते च सति जाताश्चतुरशीतिः, एतावन्तस्त्रिकसंयोगेष्वपि भङ्गा आनेतव्याः, यावन्नवकसंयोगे एको भङ्गः, तथा चाह–'जाव चरिमो'त्ति तावद्विकसंयोगादिको मिश्रपिण्डो ज्ञातव्यो यावच्चरमो नवकनिष्पन्न एकसङ्ख्यो मिश्रपिण्डः, स च लेपमधिकृत्योपदर्श्यते, इहाक्षस्य धुरि अक्षितायां रजोरूपः पृथिवीकायो लगति, नदीमुत्तरतोऽप्कायः, लोहमयावपनघर्षणे तेजस्कायः, यत्र तेजस्तत्र वायुरिति वायुकायोऽपि, वनस्पतिकायो धूरेव, द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः सम्पातिमाः सम्भवन्ति, महिष्यादिचर्ममयनाडिकादेश्च घृष्यमाणस्यावयवरूपः पञ्चेन्द्रियपिण्डः, इत्थंभूतेन चाक्षस्य खञ्जनेन लेपः क्रियते इत्यसावुपयोगी, इतिशब्दो मिश्रपिण्डसमाप्त्यर्थः, एतावानेव द्रव्यपिण्डो मिश्रः सम्भवतीति ॥ सम्प्रत्यस्यैव मिश्रपिण्डस्य कानिचिदुदाहरणान्युपदर्शयति—

सोवीरा गोरसासव वेसण भेसज्ज नेह साग फले । पोग्गल लोण गुलोयण णेगा पिंण्डा उ संजोगे ॥ ५४ ॥

व्याख्या—'सौवीरं' काञ्जिकं, तच्चाप्कायतेजस्कायवनस्पतिकायादिपिण्डरूपं, तथाहि–तत्राप्कायस्तण्डुलधावनं तेजस्कायोऽवश्यावणं वनस्पतिकायस्तण्डुलावयवा यत्सम्पर्कतस्तण्डुलोदकं गडुलमुपजायते, लवणावयवाश्च केचन तत्र लवणसम्मिश्रतण्डुलोदकादिभिः सह पतन्ति ततस्तत्र पृथिवीकायोऽपि सम्भवतीति, एवमन्यत्रापि भावना स्वधिया कर्त्तव्या, तथा 'गोरसं' तक्रादि, तच्चाप्कायत्रसकायसम्मिश्रं भवति, तथा 'आसवः' मद्यं, तच्चाप्कायतेजस्कायवनस्पतिकायादिपिण्डरूपं, 'वेसनं' जीरकलवणादि, तच्च वनस्पतिपृथिवीकायादिपिण्डरूपं, 'भेषजं' यवागूप्रभृति, तच्चाप्कायतेजस्कायवनस्पतिकायपिण्डरूपं, 'स्नेहः' घृतवशादि, तच्च तेजस्कायत्रसकायादिपिण्डरूपं, 'शा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||५४||

दीप अनुक्रम [६९]

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ २२ ॥

कः ' वत्थुलभर्जिकादिरूपः, स च वनस्पतिकायपृथिवीकायत्रसकायादिपिण्डरूपः, ' फलम् ' आमलकादि, तच्चेह पक्वं ग्राह्यं, ततस्तदपीत्थमेव भावनीयं, ' पोग्गलं ' मांसं, तदपीह पक्वं गृह्यते, ततस्तदपि शाकवद्भावनीयं, ' लवणं ' प्रतीतं, तच्चाप्कायपृथिवीकायरूपं, ' गुडौदनौ ' प्रतीतौ, तावपि फलवद्भावनीयौ, एवमन्येऽप्यनेके यथासम्भवं संयोगे पिण्डा भावनीयाः, केवलं तं तं संयोगं परिभाव्य यो यत्र द्विकसंयोगादावन्तर्भवति स तत्र स्वयमेवान्तर्भावनीयः ॥ तदेवमुक्तः सप्तपञ्चं द्रव्यपिण्डः, सम्प्रति क्षेत्रकालपिण्डावभिधित्सुराह—

तिन्नि उ पएससमया ठाणट्ठिइउ दविए तयाएसा । चउपंचमपिंडाणं जत्थ जया तप्परूवणया ॥ ५५ ॥

व्याख्या—इह क्षेत्रकालपिण्डौ ' नामं ठवणापिंडे दव्वे खेत्ते य काल भावे य ' इति गाथानिर्देशक्रमापेक्षया चतुर्थपञ्चमपिण्डौ, क्षेत्रम्–आकाशं कालः–समयविवर्त्तरूपः, तत्र त्रयः प्रदेशाः क्षेत्रप्रस्तावादाकाशप्रदेशाः तथा त्रयः समयाः कालस्य निर्विभागा भागाः, तुशब्दो विशेषणार्थः, स च परस्परमनुगता इति विशेषयति, 'चतुष्पञ्चमपिण्डयोः' क्षेत्रकालपिण्डयोः स्वरूपम्, इयमत्र भावना–त्रयः परस्परमनुगता आकाशप्रदेशास्त्रयः परस्परमनुगताः समया यथाक्रमं क्षेत्रपिण्डः कालपिण्ड इति वेदितव्याः, त्रिग्रहणं चोपलक्षणं, तेन द्विचतुरादयोऽपि द्रष्टव्याः, तदेवं क्षेत्रकालपिण्डौ निरूपचरितौ प्रतिपाद्य सम्प्रति तावेव सोपचारावभिधत्ते—' ठाणट्ठिइउ दविए तयाएसा ' 'दविएत्ति' द्रव्ये–पुद्गलस्कन्धरूपे स्थानम्–अवगाहः स्थितिः–कालतोऽवस्थानं स्थानं च स्थितिश्च स्थानस्थिती ताभ्यां स्थानस्थितितः अत्र पञ्चमी ' यपः कर्म्माधारे' इत्यनेन सूत्रेण, ततोऽयमर्थः–स्थानं स्थितिं चाश्रित्य यस्तदाऽऽदेशः–क्षेत्रकालादेशः क्षेत्रकालप्राधान्यविवक्षया क्षेत्रेण कालेन च व्यपदेशस्तस्माच्चतुष्पञ्चमपिण्डयोः प्ररूपणा कार्या, किमुक्तं भवति ?–स्कन्धरूपे पुद्गलद्रव्येऽवगाहचिन्तामाश्रित्य क्षेत्रप्राधान्यविवक्षया यदा क्षेत्रेण व्यपदेशो यथा एकप्रादेशिकोऽयं द्विप्रादेशिकोऽयं त्रिप्रादेशिक इत्यादि स इत्थं क्षेत्रतो व्यपदिश्यमानः

पिण्डनिक्षेपे क्षेत्रकालपिण्डः ॥ २२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ क्षेत्र-काल पिण्ड विषयक वर्णनं क्रियते

क्षेत्रपिण्ड इत्युच्यते, क्षेत्रतो व्यपदिष्टः पिण्डः क्षेत्रपिण्ड इति व्युत्पत्तेः, यदा तु कालतोऽवस्थानमधिकृत्य कालप्राधान्यविवक्षया कालेन व्यपदेशो यथा–एकसामयिको द्विसामयिक इत्यादि तदा स कालपिण्डोऽपि भण्यते, कालतो व्यपदिष्टः पिण्डः कालपिण्ड इति समासाऽऽश्रयणात्, अथवा त्रिप्रदेशाद्यात्मकक्षेत्रपिण्डे यदिवा त्रिसमयाद्यात्मक कालपिण्डे यदवस्थितं पुद्गलद्रव्यं तत्तदादेशात् क्षेत्रकालव्यपदेशात्–क्षेत्रकालोपचारादित्यर्थः, यथाक्रमं क्षेत्रपिण्डः कालपिण्डः । प्रकारान्तरेण सोपचारौ क्षेत्रकालपिण्डावाह–' जत्थ जया तप्परूवणया ' ' यत्र ' वसत्यादौ यदा प्रथमपौरुष्यादौ ' तत्प्ररूपणा ' पिण्डप्ररूपणा क्रियते स पिण्डः प्ररूप्यमाणो नामादिपिण्डो वसत्यादिक्षेत्रमधिकृत्य क्षेत्रपिण्ड उच्यते, यथाऽमुकवसतिरूपक्षेत्रपिण्ड इति, प्रथमपौरुष्यादिकं तु कालमधिकृत्य कालपिण्डो यथाऽमुकप्रथमप्रहरादिरूपः कालपिण्ड इति ॥ ' इह तिन्नि उ पएससमया ' इत्यत्र पर आक्षेपमाह–ननु मूर्त्तेषु द्रव्येषु परस्परमनुवेधतः सङ्ख्याबाहुल्यतश्च पिण्ड इति व्यपदेशो घटते, क्षेत्रकालयोस्तु न परस्परमनुवेधो नापि काले सङ्ख्याबाहुल्यं, तथाहि–क्षेत्रमाकाशमुच्यते ' खेत्तं खलु आगास ' मिति वचनात्, तच्च नित्यमकृत्रिमत्वात्, ततः सदैव विविक्तप्रदेशात्मकतया व्यवस्थितमिति कथमाकाशप्रदेशानामनुवेधः ?, एकत्र मिश्रणाभावात्, कालोऽपि पूर्वापरसमयविविक्तो वार्त्तमानिकसमयरूप एव पारमार्थिकः, पूर्वापरसमययोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन परमार्थतोऽसत्त्वात्, सतां च परस्परमनुवेधः सङ्ख्याबाहुल्यं वा नासतां सदसतां वा, ततः कालद्वयमपि नोपपद्यते इति कथं तत्र पिण्ड इति व्यपदेशः ?, अत्र प्रतिविधानमभिधित्सुराह—

मुत्तदविएसु जुज्जइ जइ अन्नोऽन्नाणुवेहओ पिंडो । मुत्तिविमुत्तेसुवि सो जुज्जइ णणु संखबाहुल्ला ॥ ५६ ॥

व्याख्या—ननु यदि मूर्त्तेषु द्रव्येषु ' अन्योऽन्यानुवेधतः ' परस्परानुवेधतः, 'संखबाहुल्ला' इत्यप्यत्र सम्बध्यते, ' सङ्ख्याबाहुल्यतश्च ' द्व्यादिसङ्ख्यासम्भवतश्च पिण्ड इति व्यपदेशो ' युज्यते ' योगमुपैति घटते इत्यर्थः, तर्हि स पिण्ड इति व्यपदेशः ' मूर्त्तिविमु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ २३ ॥

क्तेष्वपि ' मूर्त्तिरहितेष्वपि अमूर्त्तेष्वित्यर्थः, क्षेत्रप्रदेशकालसमयेषु युज्यते, तत्रापि पिण्डशब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य परस्परानुवेधस्य सङ्ख्या-बाहुल्यस्य च सम्भवात्, तथाहि–सर्वेऽपि क्षेत्रप्रदेशाः परस्परं नैरन्तर्यलक्षणेन सम्बन्धेन सम्बद्धा अवतिष्ठन्ते, ततो यथा बादरनिष्पादिते चतुरस्रादिघने परस्परनैरन्तर्यरूपानुवेधतः सङ्ख्याबाहुल्यतश्च पिण्ड इति व्यपदेशः प्रवर्त्तते तथा क्षेत्रप्रदेशेष्वपि पिण्डशब्दः प्रवर्त्तमानो न विरुध्यते, तत्रापि परस्परनैरन्तर्यरूपस्यानुवेधस्य सङ्ख्याबाहुल्यस्य च सम्भवात्, तथा कालोऽपि परमार्थतः सन् द्रव्यं च, ततः सोऽपि परिणामी, सतः सर्वस्य परिणामित्वाभ्युपगमाद्, अन्यथा सत्त्वायोगात्, एतच्चान्यत्र धर्मसङ्ग्रहणिटीकादौ विभावितमिति नेह भूयो विभाव्यते, ग्रन्थगौरवभयात्, परिणामी चान्वयी तेन तेन रूपेण परिणममान उच्यते, ततोऽस्ति वार्त्तमानिकस्यापि समयस्य पूर्वापरसमयाभ्यामनुवेधः, केवलं तौ पूर्वापरसमयावसन्तावपि बुद्ध्या सन्ताविव विवक्षितौ, ततः सङ्ख्याबाहुल्यमपि तत्रास्तीति पिण्डशब्दप्रवृत्त्यविरोधः ॥ सम्प्रति क्षेत्रे पिण्डशब्दप्रवृत्त्यविरोधं दृष्टान्तद्वारेण समर्थयते—

जह तिपएसो खंधो तिसुवि पएसेसु जो समोगाढो । अविभागिण संबद्धो कहं तु नेवं तदाधारो ? ॥ ५७ ॥

व्याख्या—यथा कश्चिदनिर्दिष्टव्यक्तिकः ' त्रिप्रदेशिकः ' त्रिपरमाण्वात्मकः स्कन्धस्त्रिष्वप्याकाशप्रदेशेष्ववगाढो न त्वेकस्मिन् द्वयोर्वेत्यपिशब्दार्थः, 'अविभागेन सम्बध्धो ' विभागो–नैरन्तर्याभावस्तदभावोऽविभागो नैरन्तर्यमित्यर्थः तेन सम्बध्धो नैरन्तर्यसम्बन्धसम्बद्ध इति भावः, पिण्ड इति व्यपदिश्यते, नैरन्तर्येणावस्थानभावात् सङ्ख्याबाहुल्यतश्च, एवं–त्रिप्रदेशावगाढत्रिपरमाणुस्कन्ध इव तदाधारः–त्रिपरमाणुस्कन्धाधारः प्रदेशत्रयसमुदायः कथं तु न पिण्ड इति व्यपदिश्यते ?, सोऽपि पिण्ड इति व्यपदिश्यताम्, उभयत्राप्युक्तनीत्या विशेषाभा-

पिण्डनिक्षेपे क्षेत्रकाल-पिण्डौ

॥ २३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

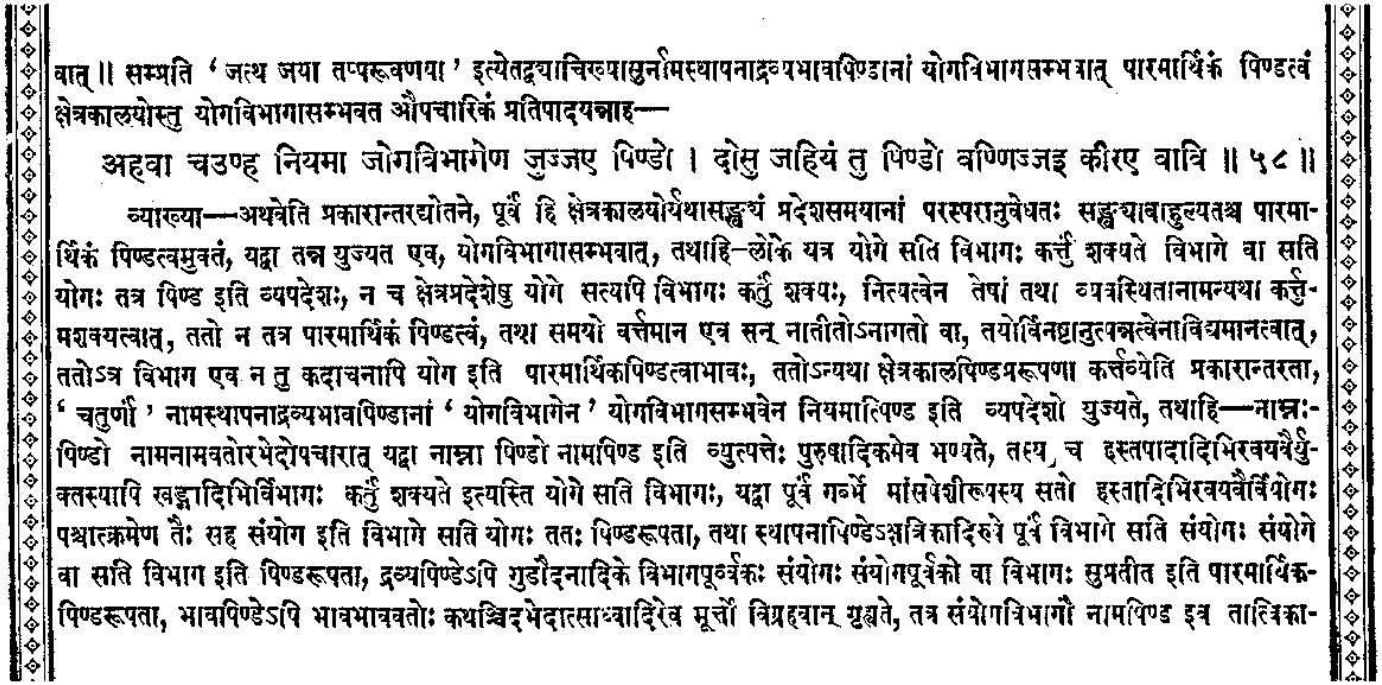

वात् ॥ सम्प्रति 'जत्थ जया तप्परूवणया' इत्येतद्व्याचिख्यासुर्नामस्थापनाद्रव्यभावपिण्डानां योगविभागसम्भवात् पारमार्थिकं पिण्डत्वं क्षेत्रकालयोस्तु योगविभागासम्भवत औपचारिकं प्रतिपादयन्नाह—

अहवा चउण्ह नियमा जोगविभागेण जुज्जए पिण्डो । दोसु जहियं तु पिण्डो वण्णिज्जइ कीरए वावि ॥ ५८ ॥

व्याख्या—अथवेति प्रकारान्तरद्योतने, पूर्वं हि क्षेत्रकालयोर्यथासङ्ख्यं प्रदेशसमयानां परस्परानुवेधतः सङ्ख्याबाहुल्यतश्च पारमार्थिकं पिण्डत्वमुक्तं, यद्वा तन्न युज्यत एव, योगविभागासम्भवात्, तथाहि—लोके यत्र योगे सति विभागः कर्तुं शक्यते विभागे वा सति योगः तत्र पिण्ड इति व्यपदेशः, न च क्षेत्रप्रदेशेषु योगे सत्यपि विभागः कर्तुं शक्यः, नित्यत्वेन तेषां तथा व्यवस्थितानामन्यथा कर्तुमशक्यत्वात्, ततो न तत्र पारमार्थिकं पिण्डत्वं, तथा समयो वर्त्तमान एव सन् नातीतोऽनागतो वा, तयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनाविद्यमानत्वात्, ततोऽत्र विभाग एव न तु कदाचनापि योग इति पारमार्थिकपिण्डत्वाभावः, ततोऽन्यथा क्षेत्रकालपिण्डप्ररूपणा कर्त्तव्येति प्रकारान्तरता, 'चतुर्णां' नामस्थापनाद्रव्यभावपिण्डानां 'योगविभागेन' योगविभागसम्भवेन नियमात्पिण्ड इति व्यपदेशो युज्यते, तथाहि—नाम्नः-पिण्डो नामनामवतोरभेदोपचारात् यद्वा नाम्ना पिण्डो नामपिण्ड इति व्युत्पत्तेः पुरुषादिकमेव भण्यते, तस्य च हस्तपादादिभिरवयवैर्युक्तस्यापि खड्गादिभिर्विभागः कर्तुं शक्यते इत्यस्ति योगे सति विभागः, यद्वा पूर्वं गर्भे मांसपेशीरूपस्य सतो हस्तादिभिरवयवैर्वियोगः पश्चात्क्रमेण तैः सह संयोग इति विभागे सति योगः ततः पिण्डरूपता, तथा स्थापनापिण्डेऽक्षवित्कादिरूपे पूर्वं विभागे सति संयोगः संयोगे वा सति विभाग इति पिण्डरूपता, द्रव्यपिण्डेऽपि गुडौदनादिके विभागपूर्वकः संयोगः संयोगपूर्वको वा विभागः सुप्रतीत इति पारमार्थिक-पिण्डरूपता, भावपिण्डेऽपि भावभाववतोः कथञ्चिद्भेदात्साध्वादिरेव मूर्त्तो विग्रहवान् गृह्यते, तत्र संयोगविभागौ नामपिण्ड इव तात्त्विका-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||५८||

दीप अनुक्रम [७३]

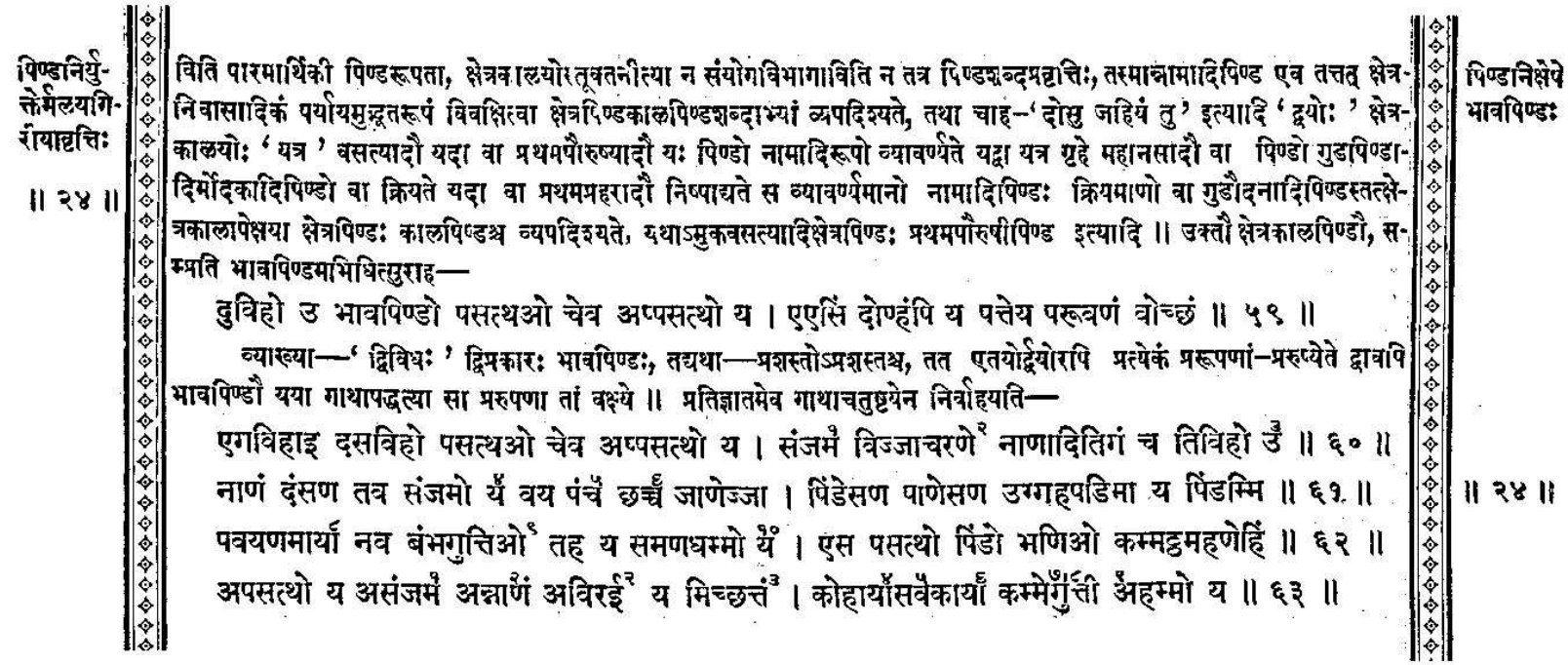

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ २४ ॥

विति पारमार्थिकी पिण्डरूपता, क्षेत्रकालयोस्तूपचरितत्वान्न संयोगविभागाविति न तत्र पिण्डशब्दप्रवृत्तिः, तस्मान्नामादिपिण्ड एव तत्तत् क्षेत्रनिवासादिकं पर्यायमुद्भूतरूपं विवक्षित्वा क्षेत्रपिण्डकालपिण्डशब्दाभ्यां व्यपदिश्यते, तथा चाह–'दोसु जहियं तु' इत्यादि 'द्वयोः' क्षेत्रकालयोः 'यत्र' वसत्यादौ यदा वा प्रथमपौरुष्यादौ यः पिण्डो नामादिरूपो व्यावर्ण्यते यद्वा यत्र गृहे महानसादौ वा पिण्डो गुडपिण्डादिर्मोदकादिपिण्डो वा क्रियते यदा वा प्रथमप्रहरादौ निष्पाद्यते स व्यावर्ण्यमानो नामादिपिण्डः क्रियमाणो वा गुडौदनादिपिण्डस्तत्क्षेत्रकालापेक्षया क्षेत्रपिण्डः कालपिण्डश्च व्यपदिश्यते, यथाऽमुकवसत्यादिक्षेत्रपिण्डः प्रथमपौरुषीपिण्ड इत्यादि ॥ उक्तौ क्षेत्रकालपिण्डौ, सम्प्रति भावपिण्डमभिधित्सुराह—

दुविहो उ भावपिण्डो पसत्थओ चेव अप्पसत्थो य । एएसिं दोण्हंपि य पत्तेय परूवणं वोच्छं ॥ ५९ ॥

व्याख्या—'द्विविधः' द्विप्रकारः भावपिण्डः, तद्यथा—प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च, तत एतयोर्द्वयोरपि प्रत्येकं प्ररूपणां–प्ररूप्येते द्वावपि भावपिण्डौ यया गाथापद्धत्या सा प्ररुपणा तां वक्ष्ये ॥ प्रतिज्ञातमेव गाथाचतुष्टयेन निर्वाहयति—

एगविहाइ दसविहो पसत्थओ चेव अप्पसत्थो य । संजमे विज्जाचरणे[२] नाणादितिगं च तिविहो उ[३] ॥ ६० ॥
नाणं दंसण तव संजमो यँ वय पंचँ छच्चँ जाणेज्जा । पिंडेसण पाणेसण उग्गहपडिमा य पिंडम्मि ॥ ६१ ॥
पवयणमायाँ नव बंभगुत्तिओ[९] तह य समणधम्मो यँ । एस पसत्थो पिंडो भणिओ कम्मट्ठमहणेहिं ॥ ६२ ॥
अपसत्थो य असंजमे अन्नाणं अविरई[२] य मिच्छत्तं[३] । कोहायाँसवैकायाँ कम्मेगुँत्ती अहम्मो य ॥ ६३ ॥

॥ २४ ॥

पिण्डनिक्षेपे भावपिण्डः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ भावपिण्डस्य वर्णनं क्रियते

व्याख्या—प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च भावपिण्डः प्रत्येकं ' दशविधः ' दशप्रकारः, किंरूपः ? इत्याह–' एकविधादिकः ' एकविधो द्विविधस्त्रिविधश्चतुर्विधो यावद्दशविध इति, तत्र प्रथमत उद्देशक्रममप्रामाण्यानुसरणात्प्रशस्तं भावपिण्डं दशविधमप्यभिदधाति–'सञ्जमे'त्यादि, तत्रैकविधः प्रशस्तो भावपिण्डः संयमः, इह संयमो ज्ञानदर्शने विना न भवति, ' पूर्वद्वयलाभः पुनरुत्तरलाभे भवति सिद्धः ' इति वचनप्रामाण्यात्, ततो ज्ञानदर्शने संयम एवान्तर्भूते विवक्षिते इति संयम एवैकः प्रशस्तभावपिण्डत्वेन प्रतिपाद्यमानो न विरुध्यते, द्विविधः पिण्डो 'विद्याचरणे' विद्या–ज्ञानं चरणं–क्रिया, अत्र सम्यग्दर्शनं ज्ञान एवान्तर्भूतं विवक्षितमिति न पृथग्गणितं, विवक्षा हि वक्तृवशीना, वक्ता च कदाचित्संक्षेपेणाभिधित्सुस्तां तां प्रत्यासत्तिमधिकृत्य तत्तदन्तर्भावेनाभिधत्ते कदाचित्पुनर्विशेषपरिज्ञानोत्पादनाय विस्तरेणाभिधित्सुः सर्वं वैविक्त्येन पृथक् प्रतिपादयति, ततः कदाचित् ज्ञानादित्रिकं संयम इति प्रतिपाद्यते कदाचित् ज्ञानक्रिये इति कदाचित्पुनः परिपूर्णमपि साक्षाद्यथा ज्ञानादित्रिकमिति न कश्चिद्दोषः, त्रिविधः पिण्डः पुनः ' ज्ञानादित्रिकं ' ज्ञानदर्शनचारित्राणि, चतुर्विधः पिण्डो ज्ञानदर्शनतपःसंयमाः, पञ्चविधः पञ्च व्रतानि–प्राणातिपातमृषावादादत्तादानमैथुनपरिग्रहनिवृत्तिलक्षणानि, अत्रापि ज्ञानदर्शने अन्तर्भूते विवक्षिते इति न पृथग्गणिते, रात्रिभोजनविरमणमध्येतेषु पञ्चसु यथायोगमन्तर्भूतं विवक्षितं ततो न पञ्चविधत्वव्याघातः, एवमुत्तरत्रापि यथायोगमन्तर्भावभावना भावनीया, षड्विधो भावपिण्डः–षट् व्रतानि, तत्र पञ्च व्रतानि पूर्वोक्तान्येव प्राणातिपातविरमणादीनि षष्ठं तु रात्रिभोजनविरमणलक्षणं, तथा सप्तविधे पिण्डे–सप्त पिण्डैषणाः सप्त पानैषणाः सप्त अवग्रहप्रतिमाः, तत्र पिण्डैषणाः पानैषणाश्च सप्त संसृष्टादयः, ताश्चेमाः–' संसट्ठम-

१ अवग्रहप्रतिमाः सप्त, अवगृह्यते इत्यवग्रहस्तस्य प्रतिमा अभिग्रहाः, तत्र पूर्वमेवैवंभूतः प्रतिश्रयो मया ग्राह्यो नान्यथाभूत इति विचिन्त्य तमेव याचित्वा गृह्णतः प्रथमा १ । तथा यस्यैवंभूतोऽभिग्रहो भवति–अहं खल्वन्येषां कृतेऽवग्रहं ग्रहीष्यामि, अन्यैश्च गृहीतेऽवग्रहे वत्स्यामीति द्विती-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||६३||

दीप अनुक्रम [७८]

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ २५ ॥

संसट्ठा उद्धड तह अप्पलेवडा चेव । उग्गहिया पग्गहिया उज्झियधम्मा य सत्तमिया ॥ १ ॥' अवग्रहप्रतिमा वसतिविषयनियमविशेषाः, तथाऽष्टविधः पिण्डोऽष्टौ प्रवचनमातरः, ताश्च पञ्च समितयस्तिस्रो गुप्तयः, तथा नवविधः पिण्डो नव ब्रह्मचर्यगुप्तयः, तासां चेदं स्वरूपं–' वसहि कह निसिज्जिंदिय कुड्डंतर पुव्वकीलिय पणीए । अइमायाहार विभूसणं च नव बंभगुत्तीओ ॥१॥' 'तथा चे'ति समुच्चये, दशविधः पिण्डो दशप्रकारः श्रमणधर्म्मः, स चायं–' खंती य मद्दवऽज्जव मुत्ती तव संजमे य बोद्धव्वे । सच्चं सोयं आकिंचणं च बंभं च जइधम्मो ॥१॥'

या, तत्र प्रथमा सामान्येन, इयं तु गच्छान्तर्गतानां साम्भोगिकानां चोद्युक्तविहारिणां यतस्तेऽन्योऽन्यार्थं याचन्ते २ । अन्यार्थमवग्रहं याचिष्ये अन्यावगृहीते तु न स्थास्यामीत्येषाऽहालन्दिकानां, यतस्ते सूत्रावशेषमाचार्यादभिकाङ्क्षन्त आचार्यार्थं तं याचन्ते ३। अहमन्यार्थमवग्रहं न याचिष्ये, अन्यावगृहीते तु वत्स्यामीति, एषा गच्छ एवोद्युक्तविहारिणां जिनकल्पाद्यर्थं परिकर्म कुर्वतां ४ । आत्मकृतेऽवग्रहं याचिष्ये न परार्थम् , एषा जिनकल्पिकस्य ५। यदीयमहमवग्रहं ग्रहीष्यामि तदीयमेव चेत्कटादि संस्तारकं ग्रहीष्यामि, अन्यथोत्कुटुक उपविष्टो वा रात्रिं गमयिष्यामीत्येषा जिनकल्पिकादेः ६ । सप्तमी त्वेषैव पूर्वोक्ता नवरं यथासंस्तृतमेव शिलादि ग्रहीष्यामि नान्यदिति ७ । २ व्याख्या–असंसृष्टा हस्तमात्राभ्यां चिन्त्या, " असंसट्ठे हत्थे असंसट्ठे मत्ते, अखरंटिअत्तिवुत्तं भवइ, एवं गृह्णतः प्रथमा, गाथाभङ्गभयाद्विपर्ययनिर्देशः १, संसृष्टापि ताभ्यां चिन्त्या, " संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते, खरंटिअत्तिवुत्तं भवइ २, उद्धृता पाकस्थानाद्यत् स्थाल्यादौ स्वयोगेन भोजनजातमुद्धृतं तत एव गृह्णतः ३, अल्पलेपाऽल्पशब्दोऽभाववाचकस्ततो निर्लेपं पृथुकादि गृह्णतः ४, अवगृहीता भोजनकाले भोक्तुकामस्य शरावादिना यदुपहृतं तत एव गृह्णतः ५, प्रगृहीता भोजनवेलायां भोक्तुकामाय दातुमभ्युद्यतेन भोक्त्रा वा स्वहस्तादिना यत्प्रगृहीतं तद्गृह्णतः ६, उज्झितधर्मा यत्परित्यागार्हं भोजनजातमन्ये च द्विपदादयो नावकाङ्क्षन्ति तदर्हं त्यक्तं वा गृह्णतः ७ । पानैषणा अप्येवमेव, नवरं चतुर्थ्यामायामसौवीरादि निर्लेपं ज्ञेयं ।

पिण्डनिक्षेपे प्रशस्ताप्रशस्ताभावपिण्डाः

॥ २५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रशस्तभावपिण्डस्योपसंहारमाह–'एसो' इत्यादि, 'एष'दशप्रकारोऽपि भावपिण्डः कर्म्मोष्टकमथनैः–तीर्थकृद्भिर्भणितः, अनेन स्वमनीषिकाव्युदासमाह ॥ सम्प्रति अप्रशस्तं भावपिण्डं दशविधमपि क्रमेणाह–' अपसत्थो य ' इत्यादि, अप्रशस्तः पुनर्भावपिण्ड एकविधोऽसंयमोविरत्यभावः, अत्राज्ञानमिथ्यात्वादीनि सर्व्वाण्यप्यन्तर्भूतानि विवक्ष्यन्ते ततो न कश्चिद्दोषः, द्विविधोऽज्ञानाविरती, चशब्दो मिथ्यात्वशब्दानन्तरं योजनीयः, अत्र मिथ्यात्वकषायादयः सर्वेऽप्यत्रैवान्तर्भूता विवक्षितास्ततो न द्विविधत्वव्याघातः, एवमुत्तरत्राप्यन्तर्भावभावना भावनीया, त्रिविधो मिथ्यात्वं चशब्दादज्ञानाविरती च, चतुर्विधः चत्वारः क्रोधादयः क्रोधमानमायालोभाः, पञ्चविधः पञ्चाश्रवद्वाराणि प्राणातिपातमृषावादादत्तादानमैथुनपरिग्रहरूपाणि, षड्विधः 'काय'त्ति कायवधाः–पृथिवीकायिकादिविनाशाः, सप्तविधः कर्म्मणि–कर्मविषयो द्रष्टव्यः, इह कर्म्मशब्देन कर्मबन्धनिबन्धनभूता अध्यवसाया गृह्यन्ते, भावपिण्डाधिकारात्, तत आयुर्वर्जशेषसप्तकर्मबन्धनिबन्धनभूताः काषायिका अकाषायिका वा परिणामविशेषा जातिभेदापेक्षया सप्तभेदाः सप्तविधोऽप्रशस्तो भावपिण्डः, अष्टविधोऽपि भावपिण्डः कर्म्मविषयः, तत्रापीयं भावना–कर्माष्टकबन्धनिबन्धनभूताः काषायिकाः परिणामविशेषा जातिभेदापेक्षयाऽष्टभेदा अष्टविधोऽप्रशस्तो भावपिण्डः, 'अगुत्तीओ'त्ति नवब्रह्मचर्यगुप्तिप्रतिपक्षभूता नवाब्रह्मचर्यगुप्तयः, तथा अधर्म्मो–दशविधधर्मप्रतिपक्षभूतो दशविधोऽप्रशस्तो भावपिण्डः । सम्प्रति प्रशस्ताप्रशस्तयोर्भावपिण्डयोर्लक्षणमाह—

बज्झइ य जेण कम्मं सो सव्वो होइ अप्पसत्थो उ । मुच्चइ य जेण सो उण पसत्थओ नवरि विन्नेओ ॥६४॥

व्याख्या—इह येन भावपिण्डेनैकविधादिकेन प्रवर्त्तमानेन 'कर्म्म' ज्ञानावरणीयादि बध्यते, चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, स च दीर्घस्थितिकंदीर्घसंसारानुबन्धि विपाककटुकं च येन बध्यते इति समुच्चिनोति, स सर्वोऽप्यप्रशस्तो भावपिण्डो ज्ञातव्यः, येन पुनरेकविधादिना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||६४||

दीप अनुक्रम [७९]

॥ २६ ॥

प्रवर्त्तमानेन कर्मणः सकाशात् शनैः शनैः सर्वात्मना वा मुच्यते स प्रशस्तो भावपिण्डो विज्ञेयः, आह–पिण्डो नाम बहूनामेकत्र मीलनमुच्यते, पिण्डनं पिण्ड इति व्युत्पत्तेः, भावाश्च संयमादयो यदा प्रवर्त्तन्ते तदैकसङ्ख्या एव, एकस्मिन् समये एकस्यैवाध्यवसायस्य भावात्, ततः कथं पिण्डत्वम् ? इति, अत्रोत्तरमाह—

दंसणनाणचरित्ताण पज्जवा जे उ जत्तिया वावि । सो सो होइ तयक्खो पज्जवपेयालणा पिंडो ॥ ६५ ॥

व्याख्या—इह चारित्रग्रहणेन तपःप्रभृत्यपि गृह्यते, तस्यापि विरतिपरिणामरूपतया चारित्रभेदत्वात्, ततो दर्शनज्ञानचारित्राणां प्रत्येकं ये ये 'पर्यवाः' पर्यायाः अविभागपरिच्छेदरूपा यदा यदा 'यावन्तो' यत्परिमाणा वर्त्तन्ते स स तदा तदा तत्तदाख्यो–दर्शनाख्यो ज्ञानाख्यश्चारित्राख्यः 'पर्यवपेयालना पिण्डः' पर्यायपमाणकरणेन पिण्डः पर्यायसंहतिविवक्षया पिण्डो भवतीत्यर्थः, इयमत्र भावना–इह यदा संयम एव केवलः प्राधान्येन विवक्ष्यते न तु सती अपि ज्ञानदर्शने संयमस्य तदविनाभावित्वेन तयोस्तत्रैवान्तर्भाविवक्षणात्, तदा ये तस्य संयमस्याविभागपरिच्छेदाख्याः पर्यायास्ते समुदायेनैकत्र पिण्डीभूय व्यवतिष्ठन्ते, परस्परं तादात्म्यसम्बन्धेन सम्बद्धत्वात्, ततः संयमपर्यायसंहत्यपेक्षया पिण्ड इति संयम एकविधभावपिण्डत्वेनोच्यमानो न विरुध्यते, यदा तु तस्मिन्नेव संयमरूपेऽध्यवसाये पृथग् ज्ञानविवक्षा क्रियाविवक्षा च भवति, यथा—वस्तुयाथात्म्यपरिच्छेदरूपोऽंशो ज्ञानं प्राणातिपातादिविरतिरूपः परिणामविशेषस्तु क्रियेति तदा ये ज्ञानस्याविभागपरिच्छेदरूपाः पर्यायास्ते परस्परं तादात्म्यसम्बन्धेनावस्थिता इति ज्ञानपिण्डः, ये तु क्रियाया अविभागपरिच्छेदरूपाः पर्यायास्ते क्रियापिण्डः, ततो द्विविधो भावपिण्डो ज्ञानक्रियाख्यः प्रतिपाद्यमानो न विरुध्यते, यदा तु तस्मिन्नेव संयमरूपेऽध्यवसाये पृथग् ज्ञानविवक्षा दर्शनविवक्षा चारित्रविवक्षा च, यथा वस्तुयाथात्म्यपरिच्छेदरूपोऽंशो ज्ञानं तस्मिन्नेव वस्तुनि परिच्छिद्यमाने जिनैरित्थ-

॥ २६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||६५||

दीप अनुक्रम [८०]

मुक्तम् अत इदं तथेतिप्रतिपत्तिनिबन्धनं रुचिरूपः परिणामविशेषो दर्शनं, प्राणातिपातादिविरतिरूपस्तु परिणामविशेषश्चारित्रमिति, तदा ये ज्ञानस्याविभागपरिच्छेदरूपाः पर्यायास्ते समुदिता ज्ञानपिण्डो ये तु दर्शनस्य ते दर्शनपिण्डः ये तु चारित्रस्य ते चारित्रपिण्ड इति त्रिविधो ज्ञानदर्शनचारित्राख्यो भावपिण्ड उपपद्यते, यदा तु तपोरूपोऽपि परिणामो भवति भिन्नश्च चारित्राद्विवक्ष्यते तदा त्रयः पिण्डाः पूर्वोक्ताश्चतुर्थस्तु तपःपिण्ड इति चतुर्विधो भावपिण्डः, यदा तु पञ्च महाव्रतान्येव केवलानि विवक्ष्यन्ते ज्ञानदर्शनतपांसि पुनस्तत्रैवान्तर्भूतानि तदा ये प्राणातिपातविरतिपरिणामस्याविभागपरिच्छेदरूपाः पर्यायास्ते परस्परं समुदितत्वात् प्राणातिपातविरतिपिण्डः ये तु मृषावादविरतिपरिणामस्य ते मृषावादविरतिपिण्डः एवं यावद्ये परिग्रहविरतिपरिणामस्य ते परिग्रहविरतिपिण्ड इति पञ्चविधो भावपिण्ड उपपद्यते, एवं शेषेष्वपि पिण्डेषु पिण्डत्वभावना भावनीया। एवमप्रशस्तेष्वपि भावपिण्डेषु ॥ तदेवं पिण्डनं पिण्ड इति भावविषयां व्युत्पत्तिमधिकृत्य संयमादेः पिण्डत्वमुक्तम्, अथवा भावपिण्डविचारे पिण्डशब्दः कर्तृसाधनो विवक्ष्यते, यथा पिण्डयति–कर्म्मणा सहात्मानं मिश्रयतीति पिण्डो भावश्चासौ पिण्डश्च भावपिण्डः, एतदेवाह—

कम्माण जेण भावेण अप्पगे चिणइ चिक्कणं पिंडं । सो होइ भावपिंडो पिंडयए पिंडणं जम्हा ॥ ६६ ॥

व्याख्या—येन 'भावेन' परिणामविशेषेण कर्म्मणां पिण्डं 'चिक्कणन्ति' अन्योऽन्यानुवेधेन गाढसंश्लेषरूपमात्मनि चिनोति स भावो भवति भावपिण्डः, अत्र हेतुमाह—यस्मात्पिण्डनमिति पिण्डयते आत्मा स्वेन सह येन तत्पिण्डनं—कर्म्म ज्ञानावरणीयादि तत्पिण्डयति-आत्मना सह सम्बद्धं करोति स भावस्तस्मात्कारणात्स भावपिण्ड इत्युच्यते, अत्र चेत्थं प्रशस्ताप्रशस्तत्वभावना–येन भावेन शुभं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||६५||

दीप अनुक्रम [८१]

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥२७॥

कर्म्म आत्मन्युपचीयते स प्रशस्तो भावपिण्डः येन स्वशुभं सोऽप्रशस्त इति ॥ तदेवमुक्तो भावपिण्डः, तदुक्तौ च व्याख्याताः षडपि नामादयः पिण्डाः, सम्प्रत्यमीषां पिण्डाना मध्ये येनात्राधिकारस्तमभिधित्सुराह—

दव्वे अच्चित्तेणं भावंमि पसत्थएणिहं पगयं । उच्चारियत्थसरिसा सीसमइविकोवणट्ठाए ॥ ६७ ॥

व्याख्या—'इह' अस्यां पिण्डनिर्युक्तौ 'द्रव्ये' द्रव्यपिण्डविषये 'अचित्तेन' अचित्तद्रव्यपिण्डेन 'भावे' भावपिण्डविषये पुनः 'प्रशस्तेन' प्रशस्तभावपिण्डेन 'प्रकृतं' प्रयोजनं, यद्येवं तर्हि शेषाः किमर्थमभिहिताः ? अत आह—'उच्चारिए'त्यादि, शेषा—नामादयः पिण्डाः पुनरुच्चरितार्थसदृशा उच्चरितः—प्रतिपादितः योऽर्थः पिण्डशब्देनान्वर्थयुक्तेन तत्सदृशाः—तेन तुल्याः, तेषामपि पिण्डा इत्येवमुच्चार्यमाणत्वात्, ततः शिष्याणां मतेः विकोपनं—प्रकोपनं झटिति तत्तदर्थव्यापकतया प्रसरीभवनं तदर्थमुक्ताः, इयमत्र भावना—जगति नामादयोऽपि पिण्डा उच्यन्ते, तत्रापि पूर्वोक्तप्रकारेण पिण्डशब्दप्रवृत्तिदर्शनात्, केवलमिह तेषां मध्येऽचित्तद्रव्यपिण्डेन प्रशस्तेन च भावपिण्डेनाधिकारः, न शेषैरप्रस्तुतत्वादिति, अस्यार्थस्य वैविक्त्येन प्रतिपादनार्थं शेषनामादिपिण्डोपन्यास इति । आह—मुमुक्षूणां सकलकर्म्मशृङ्खलाबन्धविमोक्षाय प्रशस्तेन भावपिण्डेन प्रयोजनं भवतु, अचित्तेन तु द्रव्यपिण्डेन किं प्रयोजनम् ?, उच्यते, भावपिण्डोपचयस्य तदुपष्टम्भकत्वाद्, एतदेवाह—

आहारउवहिसेज्जा पसत्थपिंडस्सुवग्गहं कुणइ । आहारे अहिगारो अट्ठहिं ठाणेहिं सो सुद्धो ॥ ६८ ॥

१ स (द्रव्यपिण्डः) उपष्टम्भको यस्य तत्त्वं

पिण्डनिक्षेपे अधिकारदर्शनं ॥२७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—इहाचित्तद्रव्यपिण्डस्त्रिधा, तद्यथा—आहाररूप उपधिरूपः शय्यारूपश्च, एष च त्रिविधोऽपि प्रशस्तस्य–ज्ञानसंयमादिरूपस्य भावपिण्डस्य 'उपग्रहम्' उपष्टम्भं करोति, ततस्त्रिविधेनाप्येतेन यतीनां प्रयोजनं, केवलमिह ग्रन्थे 'अधिकारः' प्रयोजनम्, 'आहारे' आहारपिण्डे, स चाष्टभिः स्थानैः–उद्गमादिभिः परिशुद्धो यथा यतीनां गवेषणीयो भवति तथाऽभिधास्यते ॥ किं कारणमत्र विशेषत आहारपिण्डेन प्रयोजनम् ?, अत आह—

निव्वाणं खलु कज्जं नाणाइतिगं च कारणं तस्स । निव्वाणकारणाणं च कारणं होइ आहारो ॥ ६९ ॥

व्याख्या—इह मुमुक्षूणां 'कार्य' कर्त्तव्यं निर्वाणमेव न शेषं, खलुशब्दोऽवधारणार्थः, शेषस्य सर्वस्यापि तुच्छत्वात्, 'तस्य' निर्वाणस्य कारणं 'ज्ञानादित्रिकं' ज्ञानदर्शनचारित्ररूपं 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इति (तत्त्वा०अ०१सू०१) वचनप्रामाण्यात्, ततस्तदवश्यमुपादेयम्, उपायसेवामन्तरेणोपेयप्राप्त्यसम्भवात्, तेषां ज्ञानादीनां निर्वाणकारणानां कारणमष्टभिः स्थानैः परिशुद्ध आहारः, आहारमन्तरेण धर्म्मकायस्थितेरसम्भवात्, उद्गमादिदोषदुष्टस्य च चारित्रभ्रंशकारित्वात् ॥ एतदेवाहारस्य निर्वाणकारणज्ञानादिकारणत्वं दृष्टान्तेन समर्थयते—

जह कारणं तु तंतू पडस्स तेसिं च होंति पम्हाइं । नाणाइतिगस्सेवं आहारो मोक्खनेमस्स ॥ ७० ॥

व्याख्या—यथा पटस्य तन्तवः कारणं तेषामपि तन्तूनां कारणानि पक्ष्माणि भवन्ति, 'एवम्' अनेन प्रकारेण ज्ञानादित्रिकस्य 'मोक्खनेमस्स'त्ति नेमशब्दो देश्यः कार्याभिधाने रूढः, ततो मोक्षो नेमः—कार्यं यस्य तस्य कारणं भवत्याहारः । इह कश्चित् ज्ञानादीनां मोक्षकारणतामेव न प्रतिपद्यते, विचित्रत्वात्सत्त्वचित्तवृत्तेः, ततस्तं प्रति ज्ञानादीनां मोक्षकारणतां दृष्टान्तेन भावयति—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||७१||

दीप अनुक्रम [८६]

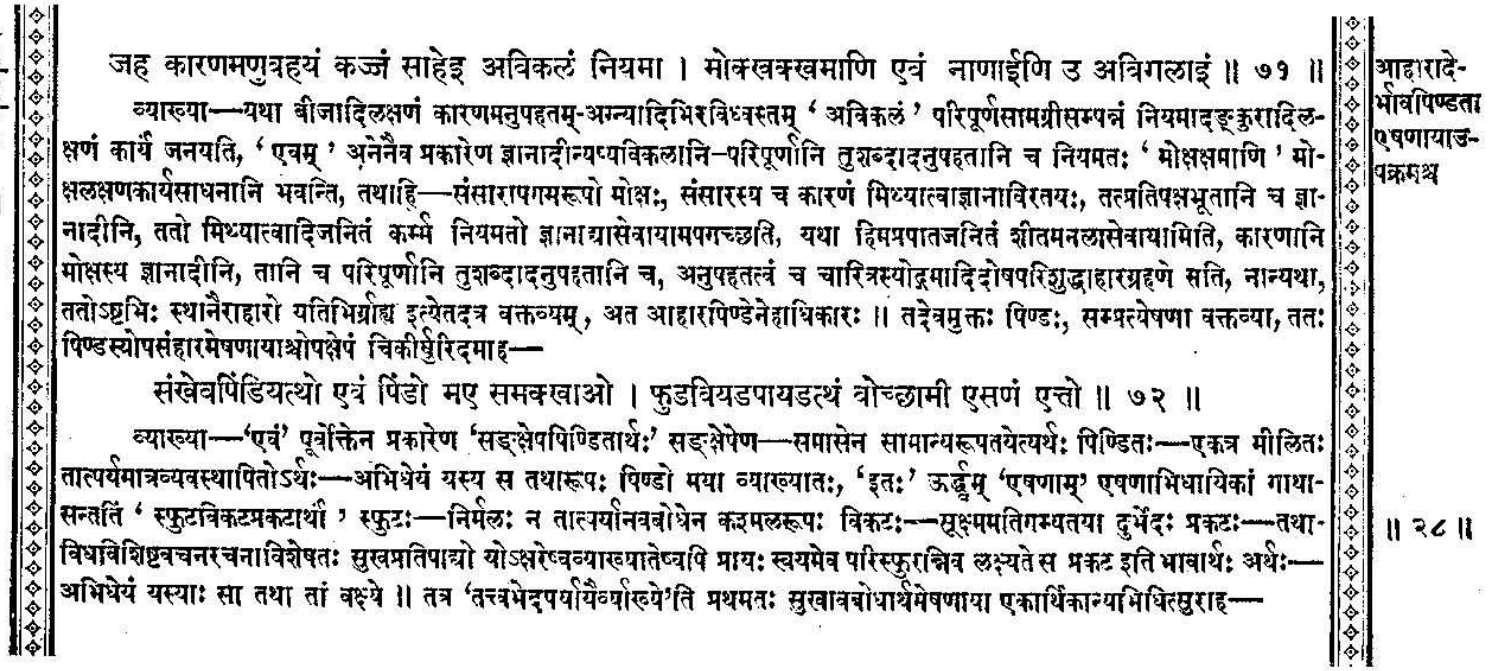

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ २८ ॥

जह कारणमणुवहयं कज्जं साहेइ अविकलं नियमा । मोक्खक्खमाणि एवं नाणाईणि उ अविगलाइं ॥ ७१ ॥

व्याख्या—यथा बीजादिलक्षणं कारणमनुपहतम्-अग्न्यादिभिरविध्वस्तम् 'अविकलं' परिपूर्णसामग्रीसम्पन्नं नियमाद्ङ्कुरादिलक्षणं कार्यं जनयति, 'एवम्' अनेनैव प्रकारेण ज्ञानादीन्यप्यविकलानि–परिपूर्णानि तुशब्दादनुपहतानि च नियमतः 'मोक्षक्षमाणि' मोक्षलक्षणकार्यसाधनानि भवन्ति, तथाहि—संसारापगमरूपो मोक्षः, संसारस्य च कारणं मिथ्यात्वाज्ञानाविरतयः, तत्प्रतिपक्षभूतानि च ज्ञानादीनि, ततो मिथ्यात्वादिजनितं कर्म्म नियमतो ज्ञानाद्यासेवायामपगच्छति, यथा हिमप्रपातजनितं शीतमनलासेवायामिति, कारणानि मोक्षस्य ज्ञानादीनि, तानि च परिपूर्णानि तुशब्दादनुपहतानि च, अनुपहतत्वं च चारित्रस्योद्गमादिदोषपरिशुद्धाहारग्रहणे सति, नान्यथा, ततोऽष्टभिः स्थानैराहारो यतिभिर्ग्राह्य इत्येतदत्र वक्तव्यम्, अत आहारपिण्डेनेहाधिकारः ॥ तदेवमुक्तः पिण्डः, सम्प्रत्येषणा वक्तव्या, ततः पिण्डस्योपसंहारमेषणायाश्चोपक्षेपं चिकीर्षुरिदमाह—

संखेवपिंडियत्थो एवं पिंडो मए समक्खाओ । फुडवियडपायडत्थं वोच्छामी एसणं एत्तो ॥ ७२ ॥

व्याख्या—'एवं' पूर्वोक्तेन प्रकारेण 'सङ्क्षेपपिण्डितार्थः' सङ्क्षेपेण—समासेन सामान्यरूपतयेत्यर्थः पिण्डितः—एकत्र मीलितः तात्पर्यमात्रव्यवस्थापितोऽर्थः—अभिधेयं यस्य स तथारूपः पिण्डो मया व्याख्यातः, 'इतः' ऊर्द्ध्वम् 'एषणाम्' एषणाभिधायिकां गाथासन्ततिं 'स्फुटविकटप्रकटार्थां' स्फुटः—निर्मलः न तात्पर्यानवबोधेन कश्मलरूपः विकटः—सूक्ष्ममतिगम्यतया दुर्भेदः प्रकटः—तथाविधविशिष्टवचनरचनाविशेषतः सुखप्रतिपाद्यो योऽक्षरेष्वव्याख्यातेष्वपि प्रायः स्वयमेव परिस्फुरन्निव लक्ष्यते स प्रकट इति भावार्थः अर्थः—अभिधेयं यस्याः सा तथा तां वक्ष्ये ॥ तत्र 'तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्ये'ति प्रथमतः सुखावबोधार्थमेषणाया एकार्थिकान्यभिधित्सुराह—

आहारादेर्भावपिण्डता एषणायाश्चोपक्रमश्च

॥ २८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||७३|| दीप अनुक्रम [८८]	एसण गवेसणा मग्गणा य उग्गोवणा य बोद्धव्वा । एए उ एसणाए नामा एगट्ठिया होंति ॥ ७३ ॥ व्याख्या—एषणा गवेषणा मार्गणोद्गोपना एतानि चशब्दादन्वेषणाप्रभृतीनि चैषणाया एकार्थिकानि नामानि भवन्ति, तत्र ' इषु इच्छायां ' एषणम् एषणा इच्छा, गवेषणा–अन्वेषणा गवेषणं गवेषणा, मार्गणं मार्गणा, उद्गोपनम् उद्गोपना ॥ एवं नामान्यभिधाय सम्मति भेदानभिधित्सुराह— नामं ठवणा दविए भावंमि य एसणा मुणेयव्वा । दव्वे भावे एक्केक्कया उ तिविहा मुणेयव्वा ॥ ७४ ॥ व्याख्या—एषणा चतुर्विधा ज्ञातव्या, तद्यथा—नामैषणा स्थापनैषणा तथा ' द्रव्ये ' द्रव्यविषयैषणा ' भावे 'भावविषया च, तत्र नामैषणा एषणा इति नाम यद्वा—जीवस्याजीवस्य वैषणाशब्दान्वर्थरहितस्य एषणा इति नाम क्रियते स नामनामवतोरभेदोपचारात्, यद्वा—नाम्ना एषणा नामैषणा इति व्युत्पत्तेर्नामैषणेत्यभिधीयते, स्थापनैषणा एषणावतः साध्वादेः स्थापना, इहैषणा साध्वादेरभिन्ना तत उपचारात्साध्वादिरेव एषणेत्यभिधीयते, ततः स स्थाप्यमानः स्थापनैषणा, स्थाप्यते इति स्थापना स्थापना चासौ एषणा च स्थापनैषणा, द्रव्यैषणा द्विधा—आगमतो नोआगमतश्च, तत्राऽऽगमत एषणाशब्दार्थस्य ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः, ' अनुपयोगो द्रव्य'मिति वचनात्, नोआगमतस्त्रिधा, तद्यथा—ज्ञशरीरद्रव्यैषणा भव्यशरीरद्रव्यैषणा ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यैषणा च, तत्रैषणाशब्दार्थज्ञस्य यच्छरीरमपगतजीवितं सिद्धशिलातलादिगतं तद्भूतभावतया ज्ञशरीरद्रव्यैषणा, यस्तु बालको नेदानीमेषणाशब्दार्थमवबुध्यते अथ चायत्यां तेनैव शरीरसमुच्छ्रयेण परिवर्द्धमानेन भोत्स्यते स भाविभावकारणत्वाद्भव्यशरीरद्रव्यैषणा, ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता तु द्रव्यैषणा सचित्तादिद्रव्यविष-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	'एषणा' संबंधी कथनं आरभ्यते

या, भावैषणाऽपि द्विधा—आगमतो नोआगमतश्च, तत्र आगमत एषणाशब्दार्थस्य परिज्ञाता तत्र चोपयुक्तः, 'उपयोगो भावनिक्षेप' इति वचनात्, नोआगमतो गवेषणाएषणादिभेदात् त्रिधा, तत्र नामैषणां स्थापनैषणां द्रव्यैषणां आगमतो नोआगमतश्च ज्ञशरीरभव्यशरीररूपां भावैषणां त्यागमतः सुज्ञानत्वादनादृत्य शेषां द्रव्यैषणां भावैषणां च व्याचिख्यासुरिदमाह—'दव्वे' इत्यादि, द्रव्ये—द्रव्यविषया 'भावे च' भावविषया, एकैका 'त्रिविधा' त्रिप्रकारा ज्ञातव्या, तत्र द्रव्यविषया त्रिविधा सचित्तादिभेदात्, तद्यथा—सचित्तद्रव्यविषया अचित्तद्रव्यविषया मिश्रद्रव्यविषया च, भावविषयापि त्रिधा गवेषणादिभेदात्, तद्यथा—गवेषणैषणा ग्रहणैषणा ग्रासैषणा च ॥ तत्र द्रव्यैषणापि सचित्तद्रव्यविषया त्रिधा, तद्यथा—द्विपदविषया चतुष्पदविषया अपदविषया च, तत्र प्रथमतो द्विपदद्रव्यविषयामेषणामाह—

जम्मं एसइ एगो सुयस्स अन्नो तमेसए नट्ठं । सत्तुं एसइ अन्नो पएण अन्नो य से मच्चुं ॥ ७५ ॥

व्याख्या—इह यद्यपि एषणादीनि चत्वारि नामानि प्रागेकार्थिकान्युक्तानि, तथाऽपि तेषां कथञ्चिदर्थभेदोऽप्यस्ति, तथाहि-एषणा इच्छामात्रमभिधीयते, तच्च गवेषणादावपि विद्यते, अत एव गवेषणादय एषणायाः पर्याया उक्ताः, गवेषणादीनां तु परस्परं नियतोऽप्यर्थभेदोऽस्ति, तथाहि—गवेषणमनुपलभ्यमानस्य पदार्थस्य सर्वतः परिभावनं, मार्गणं—निपुणबुद्ध्याऽन्वेषणम्, उद्द्योपनं—विवक्षितस्य पदार्थस्य जनप्रकाशचिकीर्षा, तत एतेषां क्रमेणोदाहरणान्याह—एकः कोऽप्यनिर्दिष्टनामा देवदत्तादिकः सन्तत्यादिनिमित्तं सुतस्य 'जन्म' उत्पत्तिं 'एषते' इच्छति, इदमेषणाया उदाहरणम्, अन्यः पुनः कोऽपि यज्ञदत्तादिकः सुतं क्वापि नष्टम् 'एषते' गवेषयते, इदं गवेषणाया उदाहरणम्, अन्यः कोऽपि विष्णुमित्रादिकः 'पदेन' पदानुसारेण धूलीबहलभूमिसमुत्थचरणप्रतिबिम्बानुसारेणेत्यर्थः, शत्रुम् 'एषते' मृगयते, इदं मार्गणाया उदाहरणम्, अन्यः पुनः 'से' तस्य शत्रोः 'मृत्युं' मरणम् 'एषते' उद्द्योपयति, सर्वजनप्रकाशं मृत्युमभिधातुमभिल-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||७५||

दीप अनुक्रम [९०]

षतीत्यर्थः, इदमुद्गोपनाया उदाहरणम् ॥ तदेवमुक्ता सचित्तद्विपदद्रव्यविषया एषणा, सम्प्रति सचित्तचतुष्पदापदाविषयां मिश्रविषयामचित्तविषयां च प्रतिपादयति—

एमेव सेसएसुवि चउप्पयापयअचित्तमीसेसु । जा जत्थ जुज्जए एसणा उ तं तत्थ जोएज्जा ॥ ७६ ॥

व्याख्या—' एवमेव ' द्विपदेष्विव ' शेषेष्वपि ' द्विपदेभ्यो व्यतिरिक्तेष्वपि चतुष्पदापदाचित्तमिश्रेषु गवादिबीजपूरकादिद्रम्मादिकटककेयूराद्याभरणविभूषितसुतादिरूपेषु द्रव्येषु विषयेषु या यत्रैषणा—इच्छागवेषणामार्गणादिरूपा ' युज्यते ' घटते तां तत्र पूर्वोक्तगाथानुसारेण योजयेत्, यथा कोऽपि दुग्धाभ्यवहाराय गामिच्छति, कोऽपि पुनस्तामेव क्वापि नष्टां गवेषयते, अन्यः पुनस्तामेव गां परास्कन्दिभिरपहियमाणां गवादिपदप्रतिबिम्बानुसारेण मृगयते, कोऽपि पुनः स्वशौर्यप्रकटनाय जनप्रकाशं व्याघ्रमपगतासुं चिकीर्षति, एवमपदादिष्वपि भावना कार्या ॥ उक्ता द्रव्यैषणा, साम्प्रतं भावैषणां त्रिप्रकारामभिधित्सुराह—

भावेसणा उ तिविहा गवेसगहणेसणा उ बोद्धव्वा । गासेसणा उ कमसो पन्नत्ता वीयरागेहिं ॥ ७७ ॥

व्याख्या—' भावः ' ज्ञानादिरूपः परिणामविशेषः तद्विषया एषणा भावैषणा, यथा ज्ञानदर्शनचारित्राणामेकदेशतः समूलघातं वा घातो न भवति तथा पिण्डादेरेषणमिति भावः, साऽपि 'त्रिधा' त्रिप्रकारा 'क्रमशः' क्रमेण प्रज्ञप्ता वीतरागैः, केन क्रमेण ? इत्यत आह—' गवेसे 'त्यादि, पूर्वं गवेषणैषणा ततो ग्रहणैषणा ततो ग्रासैषणा ॥ कस्मात्पुनरित्थं गवेषणादीनां क्रम ? इत्याह—

अगविट्ठस्स उ गहणं न होइ न य अगहियस्स परिभोगो । एसणतिगस्स एसा नायव्वा आणुपुव्वी उ ॥ ७८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||७८||

दीप अनुक्रम [९३]

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ ३० ॥

व्याख्या—इह न 'अगवेषितस्य' अपरिभावितस्य पिण्डादेर्ग्रहणं, नाप्यगृहीतस्य परिभोगः, तत एषणात्रिकस्य 'एषा' पूर्वोक्ता 'आनुपुर्व्वी' क्रमो ज्ञातव्यः ॥ सम्प्रति गवेषणाया नामादीन् भेदानाह—

नामं ठवणा दविए भावंमि गवेसणा मुणेयव्वा । दव्वंमि कुरंगगया उग्गमउप्पायणा भावे ॥ ७९ ॥

व्याख्या—'नामं'ति नामगवेषणा स्थापनागवेषणा एते च एषणे इव सप्रपञ्चं स्वयमेव भावनीये, 'द्रव्ये' द्रव्यविषया 'भावे' भावविषया, तत्र द्रव्यविषया आगमनोआगमभेदाद्विधा, तत्राऽऽगमतो गवेषणाशब्दार्थज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः, 'अनुपयोगो द्रव्य'मिति वचनात्, नोआगमतस्त्रिधा ज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तभेदात्, तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीररूपे द्रव्यगवेषणे एषणे इव भावनीये, ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तगवेषणा सचित्तादिद्रव्यविषया, तत्र कुरङ्गगजा उदाहरणं, तथा चाह—'दव्वंमि कुरंगगया' द्रव्ये—द्रव्यविषयायां गवेषणायां कुरङ्गाः–मृगाः गजाः–हस्तिनो दृष्टान्ताः, 'भावे' भावविषया गवेषणा 'उग्गमउप्पायण'त्ति सूचनात्सूत्रमिति न्यायादुद्गमोत्पादनादोषविमुक्ताहारविषया ॥ यदुक्तं—'दव्वंमि कुरंगगया' इति, तत्र कुरङ्गदृष्टान्तं गाथाद्विकेनाभिधित्सुराह—

जियसत्तु देवि चित्तसभ पविसणं कणगपिट्ठपासणया । दोहल दुब्बल पुच्छा कहणं आणा य पुरिसाणं॥८०॥

सीवन्निसरिसमोयगकरणं सीवन्निरुक्खहेट्ठेसु । आगमण कुरंगाणं पसत्थ अपसत्थ उवमा उ ॥ ८१ ॥

व्याख्या—सुगमं, नवरं भावार्थः कथानकादवसेयः, तच्चेदं–क्षितिप्रतिष्ठितं नाम नगरं, तत्र राजा जितशत्रुस्तस्य भार्या पद्महादेवी नाम्ना सुदर्शना, तस्याः कदाचिदापन्नसत्त्वाया राज्ञा सह चित्रसभायां प्रविष्टायाश्चित्रलिखितान् कनकपृष्ठान्मृगानवलोक्य तन्मांसभ-

गवेषणानिक्षेपः

॥ ३० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ॥८१॥

दीप अनुक्रम [९६]

क्षणे दौहृदमजायत, दौहृदे चासम्पद्यमाने तस्याः खेदवशतः शरीरस्य दौर्बल्यमभवत्, तच्च दृष्ट्वा नृपतिः सखेदं तां पृष्टवान्, यथा–हा प्रिये! किमतीव शरीरे तव दौर्बल्यमजायत?, ततः सा दौहृदमचकथत्, ततो राजा सत्वरं कनकपृष्ठकुरङ्गनयनाय पुरुषान् प्रेषितवान्, तेऽपि च पुरुषाः स्वचेतसि चिन्तयामासुः–इह यस्य यद्दुर्लभं स तत्रासक्तः सन् प्रमादभावं भजमानः सुखेनैव बध्यते, कनकपृष्ठानां च कुरङ्गाणामिष्टानि श्रीपर्णीफलानि, तानि च सम्प्रति न विद्यन्ते, ततस्तत्सदृशान्मोदकान् कृत्वा श्रीपर्णीवृक्षतलेषु सर्वतः पुञ्जकपुञ्जकाकारेण क्षिप्त्वा तेषां समीपे पाशान् स्थापयाम इति तथैव कृतं, ते च कनकपृष्ठा रुरवो निजेन यूथाधिपतिना सह स्वेच्छया परिभ्रमन्तस्तत्रागताः, यूथाधिपतिश्च श्रीपर्णीफलाकारान् पुञ्जकपुञ्जकस्थितान्मोदकानवलोक्य मृगानुक्तवान्, यथा–भो रुरवो! युष्माकं बन्धनार्थमिदं केनापि धूर्त्तेन कृतं कूटं वर्त्तते, यतो न सम्प्रति श्रीपर्णीफलानि सम्भवन्ति, न च सम्भवन्त्यपि पुञ्जकपुञ्जकाकारेण घटन्ते, अथ मन्येथास्तथाविधपरिभ्रमद्वातसम्पर्कतः पुञ्जकपुञ्जकाकारेण घटन्ते, तदप्ययुक्तं, ननु पुरापि वाता वान्ति स्म, न तु कदाचनाप्येवं पुञ्जकपुञ्जकाकारेण भवन्ति स्म, तथा चैतदेव निर्युक्तिकारः पठति—

विइअमेयं कुरंगाणं, जया सीवन्नि सीयइ । पुरावि वाया वायंता, न उणं पुंजकपुंजका ॥ ८२ ॥

व्याख्या—'विदितं' प्रतीतम्, एतत्कुरङ्गाणां यदा श्रीपर्णी 'सीदति' धातूनामनेकार्थत्वात्फलति, तस्मान्नेदानीं फलानि सम्भवन्ति, सम्भवन्तु वा तथाऽपि कथं पुञ्जकपुञ्जकाकारेण स्थितानि?, वातवशाच्चेन्ननु पुरापि वाता वान्ति स्म, न पुनरेवं पुञ्जकपुञ्जकाः फलानामभवन्, तस्मात्कूटमिदमस्माकं बन्धनाय कृतं वर्त्तते इति मा यूयमेतेषामुपकण्ठं गमत, एवमुक्ते यैस्तद्वचः प्रतिपन्नं ते दीर्घजीविनो वनेषु स्वेच्छाविहारसुखभागिनश्चाजायन्त, यैस्त्वाहारलम्पटतया तद्वचो न प्रतिपन्नं ते पाशबन्धनादिदुःखभागिनोऽभवन्। इह यद्यू-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||८२||

दीप अनुक्रम [९७]

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ३१ ॥

थाधिपतेः श्रीपर्णीफलसदृशमोदकद्रव्यसदोषत्वनिर्दोषत्वपर्यालोचनं सा द्रव्यगवेषणा। इह निर्युक्तिकारेण 'पसत्थअपसत्थ उवमा उ' इति प्रतिपादयता दार्ष्टान्तिकोऽप्यर्थः सूचितो द्रष्टव्यः, स चायं–यूथाधिपतिस्थानीया आचार्याः मृगयूथस्थानीयाश्च साधवः, तत्र ये गुरुनियोगत आधाकर्म्मादिदोषदुष्टाहारपरिहारिणस्ते प्रशस्तकुरङ्गोपमा द्रष्टव्याः, ये त्वाहारलाम्पट्यतो गुर्वाज्ञामपाकृत्याधाकर्म्मादिपरिभोगिणो बभूवुः ते अप्रशस्तकुरङ्गसदृशा वेदितव्याः, अत्रार्थे च कथानकमिदं—हरन्तो नाम सन्निवेशः, तत्र यथाऽऽगमं विहरन्तः समिता नाम सूरयः समाययुः, तत्र च जिनदत्तो नाम श्रावक आसीत्, स च जिनवचनसाधुभक्तिपरीतचेता दानशौण्डः कदाचित्साधुनिमित्तं भक्त-माधाकर्म्म कारितवान्, सूरयश्च सर्वमपि तं वृत्तान्तं कथञ्चित्परिज्ञातवन्तः, ततस्तैः साधवस्तत्र प्रविशन्तो निवारिताः, यथा—भोः साधवस्तत्र साधुनिमित्त आहारः कृतो वर्त्तते इति मा तत्र यूयं गमत, एवमुक्ते यैस्तद्वचः प्रतिपन्नं ते आधाकर्म्मपरिभोगजनितपापक-र्म्मणा न बद्धा गुर्वाज्ञा च परिपालिता, ततः शुद्धशुद्धतरसंयमप्रवृत्तिभावतो मुक्तिसुखभागिनोऽभवन्, यैस्त्वाहारलाम्पट्यतो भाविनं दोषमवगणय्याधाकर्म्मणि झषा इव बडिशनिवेशिते मांसे प्रवृत्ताः ते कुगतिहेत्वाधाकर्म्मपरिभोगतो गुर्वाज्ञाभङ्गतश्च दीर्घतरसंसारभागिनो जाताः॥ साम्प्रतं गजदृष्टान्तमाह—

हत्थिग्गहणं गिम्हे अरहट्टेहिं भरणं च सरसीणं। अच्चुदएण नलवण आरूढा गयकुलागमणं ॥ ८३ ॥

व्याख्या—हस्तिग्रहणं मया कार्यमित्येवं राज्ञश्चिन्ता, ततस्तद्ग्रहणाय ग्रीष्मकालेऽपि पुरुषप्रेषणा तैश्च सरसीनामरघट्टकैर्भरणं कृतं, ततोऽत्युदकेन नलवनान्यतिशयेन प्ररूढानि, ततो गजकुलस्यागमनमिति गाथाक्षरार्थः ॥ भावार्थस्तु कथानकादवसेयः, तच्चेदम्—आनन्दं नाम पुरं, तत्र रिपुमर्दनो नाम राजा, तस्य भार्या धारिणी, तस्य च पुरस्य प्रत्यासन्नं गजकुलशतसहस्रसंकुलं

द्रव्यागवेष-णायां कुरङ्ग दृष्टान्तः

॥ ३१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विन्ध्यमरण्यं, ततो राजा कदाचिद् गजबलं महाबलमित्यवश्यं मया गजा ग्रहीतव्या इति परिभाव्य गजग्रहणाय सत्वरं पुरुषान् प्रेरयामास, ते च पुरुषाश्चिन्तितवन्तो यथा–गजानां नलचारिरभीष्टा, सा च सम्मति ग्रीष्मकाले न सम्भवति, किन्तु वर्षासु, तत इदानीमरघट्टैः सरसीर्बिभृमो येन नलवनान्यतिप्ररूढानि भवन्तीति, तथैव कृतं, नलवनप्रत्यासन्नाश्च सर्वतः पाशा मण्डिताः, इतश्च परिभ्रमन्तो यूथाधिपतिसहिता हस्तिनः समाजग्मुः, यूथाधिपतिश्च तानि नलवनानि परिभाव्य गजान् प्रति उवाच–भोः स्तम्बेरमा ! नामूनि नलवनानि स्वाभाविकानि, किन्त्वस्माकं बन्धनाय केनापि धूर्त्तेन कृतानि कूटानि, यत एवं नलवनान्यतिप्ररूढानि सरस्यो वाऽतीव जलसम्भृता वर्षासु सम्भवन्ति नेदानीं ग्रीष्मकाले, अथ ब्रवीरन् प्रत्यासन्नविन्ध्यपर्वतनिर्झरणप्रवाहत एवं सरस्यो भृता नलवनानि चातिप्ररूढानि ततो नामूनि कूटानि, तदयुक्तम्, अन्यदाऽपि हि खलु निर्झरणान्यासीरन्, न चैवं कदाचनाप्यतिजलभृताः सरस्योऽभूवन्, तथा चैतदर्थसङ्ग्राहिकामेव निर्युक्तिकारो गाथां पठति—

विझ्यमेयं गजकुलाणं, जया रोहंति नलवणा । अन्नयावि झरंति हृदा, न य एवं बहुओदगा ॥ ८४ ॥

व्याख्या—विदितमेतद् गजकुलानां यदा 'रोहन्ति' अतिशयेन प्ररूढानि भवन्ति नलवनानि, तस्मान्नामूनि स्वाभाविकानि, अथ निर्झरणवशादेवं प्ररूढानि तत आह–अन्यदाऽपि हृदा झरन्ति, न त्वेवं कदाचनापि बहूदकाः सरस्योऽभवन्, तस्माद्धूर्त्तेन केनाप्यमूनि कृतानि कूटानीति मा[त्र यूयं यासिष्ट, एवमुक्ते यैस्तद्वचः प्रतिपन्नं ते दीर्घकालं वनस्वेच्छाविहारसुखभागिनो जाताः, यैस्तु न कृतं ते बन्धबुभुक्षादिदुःखभागिनः, इहापि गजयूथाधिपतेर्नलवनसदोषनिर्दोषरूपतापरिभावनं द्रव्यगवेषणा, दार्ष्टान्तिकयोजना तु पूर्व-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||८४||

दीप अनुक्रम [९९]

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ३२ ॥

वत् स्वयमेव भावनीया, तदेवमुक्ता द्रव्यगवेषणा, साम्प्रतं भावगवेषणा कर्त्तव्या, सा च उद्गमाशुद्धाहारविषया, तत्र प्रथमत उद्गमस्यैकार्थिकानि नामानि नामादिकांश्च भेदान् प्रतिपादयति—

उग्गम उग्गोवण मग्गणा य एगट्ठियाणि एयाणि । नामं ठवणा दविए भावंमि य उग्गमो होई ॥८५॥

व्याख्या—उद्गम उद्गोपना मार्गणा च एकार्थिकान्येतानि नामानि, स चोद्गमश्चतुर्धा भवति, तद्यथा—'नामं'ति नामोद्गमः—यदुद्गम इति नाम, अथवा जीवस्याजीवस्य वा यद् उद्गम इति नाम स नामनामवतोरभेदोपचारात्, यद्वा नाम्ना उद्गमो नामोद्गम इति व्युत्पत्तेर्नामोद्गमः, स्थापनोद्गमः उद्गमः स्थाप्यमानः, 'द्रव्ये' द्रव्यविषयः, 'भावे' भावविषयः ॥ तत्र द्रव्योद्गमो द्विधा—आगमतो नोआगमतश्च, नोआगमतोऽपि त्रिधा—ज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तभेदात्, तत्राऽऽगमतो नोआगमतश्च ज्ञशरीरभव्यशरीररूपौ द्रव्यगवेषणावद् भावनीयौ, ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं तु द्रव्योद्गमं तथा नोआगमतो भावोद्गमं च प्रतिपादयति—

दव्वंमि लड्डुगाई भावे तिविहोग्गमो मुणेयव्वो । दंसणनाणचरित्ते चरित्तुग्गमेणेत्थ अहिगारो ॥ ८६ ॥

व्याख्या—'द्रव्ये' द्रव्यविषये उद्गमः 'लड्डुकादौ' लड्डुकादिविषयो लड्डुकादेः सम्बन्धी वेदितव्यः, अत्राऽऽदिशब्दाद् ज्योतिरादिपरिग्रहः, तथा 'भावे' भावविषयः 'त्रिविधः' त्रिप्रकारः ज्ञातव्यः, तद्यथा—'दर्शने' दर्शनविषयः 'ज्ञाने' ज्ञानविषयः, 'चारित्रे' चारित्रविषयः, अत्र तु चारित्रोद्गमेनाधिकारः—प्रयोजनं, चारित्रस्य प्रधानमोक्षाङ्गत्वात्, तथाहि—ज्ञानदर्शने सती अपि न चारित्रमन्तरेण कर्म्ममलापगमाय प्रभवतः, श्रेणिकादौ तथाऽनुपलम्भात्, चारित्रं पुनरवश्यं ज्ञानदर्शनाविनाभावि स्वरूपेणापि चाभि-

उद्गमस्यैकार्थिकानि भेदाश्च

॥ ३२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'उद्गम'स्य पर्याया: एवं तस्य विषयक वर्णनं

नवकर्म्मोपादाननिषेधपूर्वोपार्जितकर्म्मोपगमकरणस्वरूपं, ततस्तत्प्रधानं मोक्षस्याङ्गं, प्रधानानुयायिन्यश्च प्रेक्षावतां प्रवृत्तयः, ततोऽत्र चारित्रोद्गमेन प्रयोजनम् ॥ लड्डुकादेरित्यत्रादिशब्देन लब्धं ज्योतिरुद्गमादिरूपं द्रव्योद्गमं विवरीतुमाह—

जोइसतणोसहीणं मेहरिणकराणमुग्गमो दव्वे । सो पुण जत्तो य जया जहा य दव्वुग्गमो वच्चो ॥ ८७ ॥

व्याख्या—ज्योतिषां–चन्द्रसूर्यादीनां तृणानां–दर्भादीनां औषधीनां–शाल्यादीनां मेघानां–जीमूतानां ऋणस्य–उत्तमर्णीय दातव्यस्य कराणां–राजदेयभागानां, उपलक्षणमेतत् अन्येषामपि द्रव्याणां, य उद्गमः स 'द्रव्ये' द्रव्यविषयो द्रव्यस्य सम्बन्धी वेदितव्यः, स पुनर्द्रव्योद्गमः 'यतः' यस्मात्सकाशात् 'यदा' यस्मिन् काले 'यथा' येन प्रकारेण भवति तथा वाच्यः, तत्र ज्योतिषां मेघानां च आकाशदेशात् तृणानामौषधीनां च भूमेः ऋणस्य व्यवहारादेः कराणां नृपतिनियुक्तपुरुषादेः, तथा यदेति ज्योतिषां मध्ये सूर्यस्य प्रभाते शेषाणां तु कस्यापि कस्याश्चिद्वेलायां तृणादीनां प्रायः श्रावणादौ, तथा यथेति ज्योतिषां मेघानां चाऽऽकाशे प्रसरणेन तृणानामौषधीनां च भूमीं स्फोटयित्वा ऊर्द्धं निस्सरणेन ऋणस्य पञ्चकशतादिवर्द्धनरूपेण कराणां प्रतिवर्षं गृहस्य गृहस्य द्रम्मद्वयादि ग्राह्यमित्येवंरूपेण, एवं शेषाणामपि द्रव्याणां यतो यदा यथा च यथासम्भवमुद्गमो भावनीयः ॥ इह प्राग् 'दव्वंमि लड्डुगाई' इत्युक्तं, तेन च लड्डुकप्रियकुमारकथानकं सूचितम्, अतस्तदेवेदानीं गाथात्रयेणोपदर्शयति—

वासहरा अणुजत्ता अत्थाणी जोग्ग किड्डकाले य । घडगसरावेसु कया उ मोयगा लड्डुगपियस्स ॥ ८८ ॥

जोग्गा अजिण्ण मारुय निसग्ग तिसमुत्थ तो सुइसमुत्थो । आहारुग्गमचिंता असुइत्ति दुहा मलप्पभवो ॥ ८९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

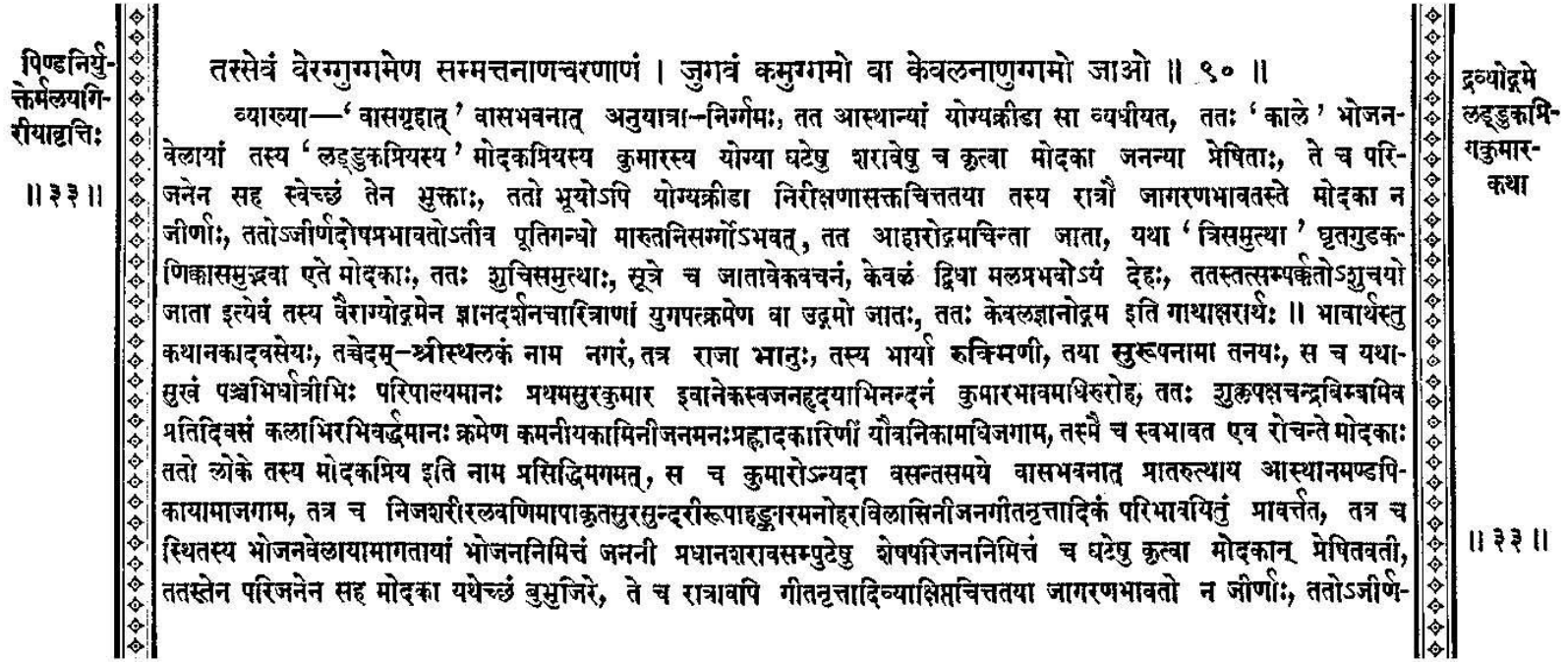

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ ३३ ॥

तस्सेवं वेरग्गुग्गमेण सम्मत्तनाणचरणाणं । जुगवं कमुग्गमो वा केवलनाणुग्गमो जाओ ॥ ९० ॥

व्याख्या—'वासगृहात्' वासभवनात् अनुयात्रा–निर्गमः, तत आस्थान्यां योग्यक्रीडा सा व्यधीयत, ततः 'काले' भोजनवेलायां तस्य 'लड्डुकप्रियस्य' मोदकप्रियस्य कुमारस्य योग्या घटेषु शरावेषु च कृत्वा मोदका जनन्या प्रेषिताः, ते च परिजनेन सह स्वेच्छं तेन भुक्ताः, ततो भूयोऽपि योग्यक्रीडा निरीक्षणासक्तचित्ततया तस्य रात्रौ जागरणभावतस्ते मोदका न जीर्णाः, ततोऽजीर्णदोषप्रभावतोऽतीव पूतिगन्धो मारुतनिसर्गोऽभवत्, तत आहारोद्गमचिन्ता जाता, यथा 'त्रिसमुत्था' घृतगुडकणिक्कासमुद्भवा एते मोदकाः, ततः शुचिसमुत्थाः, सूत्रे च जातावेकवचनं, केवलं द्विधा मलप्रभवोऽयं देहः, ततस्तत्सम्पर्कतोऽशुचयो जाता इत्येवं तस्य वैराग्योद्गमेन ज्ञानदर्शनचारित्राणां युगपत्क्रमेण वा उद्गमो जातः, ततः केवलज्ञानोद्गम इति गाथाक्षरार्थः ॥ भावार्थस्तु कथानकादवसेयः, तच्चेदम्–श्रीस्थलकं नाम नगरं, तत्र राजा भानुः, तस्य भार्या रुक्मिणी, तया सुरूपनामा तनयः, स च यथासुखं पञ्चभिर्धात्रीभिः परिपाल्यमानः प्रथमसुरकुमार इवानेकस्वजनहृदयाभिनन्दनं कुमारभावमधिरुरोह, ततः शुक्लपक्षचन्द्रबिम्बमिव प्रतिदिवसं कलाभिरभिवर्द्धमानः क्रमेण कमनीयकामिनीजनमनःप्रह्लादकारिणीं यौवनिकामधिजगाम, तस्मै च स्वभावत एव रोचन्ते मोदकाः ततो लोके तस्य मोदकप्रिय इति नाम प्रसिद्धिमगमत्, स च कुमारोऽन्यदा वसन्तसमये वासभवनात् प्रातरुत्थाय आस्थानमण्डपिकायामाजगाम, तत्र च निजशरीररूपलवणिमापाकृतसुरसुन्दरीरूपाहङ्कारमनोहरविलासिनीजनगीतनृत्तादिकं परिभावयितुं प्रावर्त्तत, तत्र च स्थितस्य भोजनवेलायामागतायां भोजननिमित्तं जननी प्रधानशरावसम्पुटेषु शेषपरिजननिमित्तं च घटेषु कृत्वा मोदकान् प्रेषितवती, ततस्तेन परिजनेन सह मोदका यथेच्छं बुभुजिरे, ते च रात्रावपि गीतनृत्तादिव्याक्षिप्तचित्ततया जागरणभावतो न जीर्णाः, ततोऽजीर्ण-

द्रव्योद्गमे लड्डुकप्रियकुमारकथा

॥ ३३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दोषप्रभावतोऽधोवातोऽतीव पूतिगन्धिर्निर्जगाम, तद्गन्धपुद्गलाश्च सर्वतः परिभ्रमन्तस्तन्नासिकां प्रविविशुः, ततस्तं तथारूपं पूतिगन्धमाघ्राय चिन्तयामास, यथाऽमी मोदका घृतगुडकणिक्कादिनिष्पन्नास्ततः शुचिद्रव्यसमुत्था एवैते केवलमयं यो देहो जननीशोणितजनकशुक्रूरूपद्विधामलप्रभवत्वादशुचिरूपः, ततसम्पर्कवशतोऽशुचिरूपा जाताः, दृश्यन्ते च कर्पूरादयोऽपि पदार्थाः स्वरूपतः सुरभिगन्धयोऽपि देहसम्पर्कतः क्षणमात्रेण दुरभिगन्धयो जायमानाः, क्षणान्तरे शरीरगन्धस्यैव पूत्यात्मकस्योपलम्भात्, तत इत्थमशुचिरूपस्यानेकापायशतसङ्कुलस्य शरीरस्यापि कृते ये गृहमासाद्य नरकादिकुगतिविनिपातकारीणि पापकर्म्माणि सेवन्ते ते सचेतना अपि मोहमयनिद्रोपहतविवेकचेतनत्वादचेतना एव परमार्थतो वेदितव्याः, यदपि च तेषां शास्त्रादिपरिज्ञानं तदपि परमार्थतः शरीरायासफलं, यद्वा तदपि पापानुबन्धिकर्म्मोदयतस्तथाविधक्षयोपशमनिबन्धनत्वादशुभकर्म्मकार्येवेति तत्त्ववेदिनामुपेक्षास्पदं, विद्वत्ता हि सा तत्त्ववेदिनां प्रशंसार्हा या यथाऽवस्थितं वस्तु विविच्य हेयोपादेयहानोपादानप्रवृत्तिफला, या तु सकलजन्माभ्यासप्रवृत्त्या कथमपि परिपाकमागताऽपि सती सदैव तथाविधपापकर्म्मोदयवशत एकान्ताशुचिरूपेष्वपि युवतिजनवदनजघनवक्षोरुहादिशरीरावयवेषु रामणीयकव्यावर्णनफला सा इहलोकेऽपि शरीरायासफला परलोके च कुगतिविनिपातहेतुरित्युपेक्षणीया, ये पुनः परमर्षयः सर्वदैव सर्वज्ञमतानुसारितर्कागमशास्त्राभ्यासतो विदितयथाऽवस्थितहेयोपादेयवस्तव इत्थं शरीरस्याशुचिरूपतां परिभाव्य युवतिकलेवरेषु नाभिरज्यन्ते नापि कर्म्माणि स्वशरीरकृते पापानि समाचरन्ति किन्तु शरीरादिनिस्पृहतया निरन्तरं सम्यक्शास्त्राभ्यासतो ज्ञानामृताम्भोधिनिमग्नाः समस्तमित्रशत्रवः परिषहादिभिरजिताः सकलकर्म्मनिर्म्मूलनाय यतन्ते ते धन्यास्ते तत्त्ववेदिनस्तानहं नमस्करोमि तदनुष्ठितं च मार्गमिदानीमनुतिष्ठामि, इत्येवं तस्य मोदकप्रियस्य कुमारस्य वैराग्योद्रेकेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामुद्रमो बभूव, ततः केवलज्ञानोद्गम इति ॥ तदेवमुक्तं मोदकप्रियकुमारकथानकं, सम्प्रति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ३४ ॥

यदुक्तं–' चारित्रोद्गमेनाधिकार ' इति, तत्र चारित्रस्योद्गमेनाधिकारः शुद्धस्य द्रष्टव्यो, नाशुद्धस्य, अशुद्धस्य मोक्षलक्षणकार्यसम्पादकत्वायोगात्, न खलु बीजमुपहतमङ्कुरं जनयति,सर्वत्राप्यनुपहतस्यैव कारणस्य कार्यजनकत्वात्, चारित्रस्य च शुद्धेः कारणं द्विधा, तद्यथा– आन्तरं बाह्यं च, ते द्वे अपि प्रतिपादयति—

दंसणनाणप्पभवं चरणं सुद्धेसु तेसु तस्सुद्धी । चरणेण कम्मसुद्धी उग्गमसुद्धा चरणसुद्धी ॥ ९१ ॥

व्याख्या—इह यतो ज्ञानदर्शनप्रभवं चारित्रं, ततस्तयोः शुद्धयोस्तस्य चारित्रस्य शुद्धिर्भवति नान्यथा, तस्मादवश्यं चारित्रशुद्धिनिमित्तं चारित्रिणा सम्यग्ज्ञाने सम्यग्दर्शने च यतितव्यं, यत्नश्च निरन्तरं सद्गुरुचरणकमलपर्युपासनापुरस्सरं सर्वज्ञमतानुसारितर्कागमशास्त्राभ्यासकरणम्, एतेन चारित्रशुद्धेरान्तरं कारणमुक्तम्, अथ चारित्रशुद्धयाऽपि किं प्रयोजनं येनेत्थं तच्छुद्धिरन्वेष्यते ?, अत आह- चरणेन कर्म्मशुद्धिः, चरणेन विशुद्धेन कर्म्मणो–ज्ञानावरणीयादिकस्य शुद्धिः-अपगमो भवति, तदपगमे चात्मनो यथाऽवस्थितस्वरूपलाभात्मको मोक्षः, ततो मोक्षार्थिना चरणशुद्धिरपेक्ष्यते, तथा न केवलयोरेव ज्ञानदर्शनयोः शुद्धौ चारित्रशुद्धिः किन्तूद्गमशुद्धौ चारित्रशुद्धिः । एतेन बाह्यं कारणमुक्तं, ततश्चरणशुद्धिनिमित्तं सम्यग्दर्शनज्ञानवतापि नियमत उद्गमदोषपरिशुद्ध आहारो ग्राह्यः ॥ ते चोद्गमदोषाः षोडश, तानेव नामतो निर्दिशति—

आहाकम्मुद्देसिय[1] पूईकम्मे य[2] मीसजाए[3] य । ठवणा[4] पाहुडियाए[5] पाओअरे[6] कीय पामिच्चे[7] ॥ ९२ ॥
परियट्टिए[8] अभिहडे[9] उब्भिन्ने[10] मालोहडे[11] इय । अच्छिज्जे[12] अणिसट्ठे[13] अज्झोयरए[14] य सोलसमे ॥ ९३ ॥

उद्गमशुद्धेर्मोक्षहेतुता

॥ ३४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—'आधाकर्म्मेति' आधानं–आधा 'उपसर्गादात' इत्यङ् प्रत्ययः, साधुनिमित्तं चेतसः प्रणिधानं, यथाऽमुकस्य साधोः कारणेन मया भक्तादि पचनीयमिति, आधया कर्म–पाकादिक्रिया आधाकर्म्म तद्योगाद् भक्ताद्यप्याधाकर्म्म, इह दोषाभिधानमक्रमेऽपि यद्दोषवतोऽभिधानं तद्दोषदोषवतोरभेदविवक्षया द्रष्टव्यं, यद्वा–आधाय–साधुं चेतसि प्रणिधाय यत्क्रियते भक्तादि तदाधाकर्म्म, पृषोदरादित्वाद् यलोपः १, तथा उद्देशनम् उद्देशः–यावदर्थिकादिप्रणिधानं तेन निर्वृत्तमौद्देशिकं २, तथा उद्गमदोषरहिततया स्वतः पवित्रस्य सतो भक्तादेरन्यस्याविशुद्धकोटिकभक्तादेरवयवेन सह सम्पर्कतः पूतेः–पूतीभूतस्य कर्म्म–करणं पूतिकर्म्म तद्योगाद्भक्ताद्यपि पूतिकर्म्म ३, तथा मिश्रेण–कुटुम्बप्रणिधानसाधुप्रणिधानमीलनरूपेण भावेन जातं यद् भक्तादि तन्मिश्रजातं ४, तथा स्थाप्यते–साधुनिमित्तं कियन्तं कालं यावन्निधीयते इति स्थापना, यद्वा–स्थापनं साधुभ्यो देयमितिबुद्ध्या देयवस्तुनः कियन्तं कालं व्यवस्थापनं स्थापना, तद्योगादेयमपि स्थापना ५, तथा कस्मैचिदिष्टाय पूज्याय वा बहुमानपुरस्सरीकारेण यदभीष्टं वस्तु दीयते तत्प्राभृतमुच्यते, ततः प्राभृतमिव प्राभृतं साधुभ्यो भिक्षादिकं देयं वस्तु, प्राभृतमेव प्राभृतिका, 'अतिवर्त्तन्ते स्वार्थे प्रत्ययकाः प्रकृतिलिङ्गवचनानी'ति वचनात् पूर्वं नपुंसकत्वेऽपि कप्रत्यये समानीते सति स्त्रीत्वं, यद्वा–प्र इति प्रकर्षेण आ इति साधुदानलक्षणमर्यादया भृता निर्वर्तिता यका भिक्षा सा प्राभृता, ततः स्वार्थिककप्रत्ययविधानात् प्राभृतिका ६, तथा साधुनिमित्तं मण्यादिस्थापनेन भित्त्याद्यपनयनेन वा प्रादुः–प्रकटत्वेन देयस्य वस्तुनः करणं प्रादुष्करणं तद्योगाद्भक्ताद्यपि प्रादुष्करणं, यद्वा प्रादुः–प्रकटं करणं यस्य तत् प्रादुष्करणं ७, तथा क्रीतं यत्साध्वर्थं मूल्येन परिगृहीतं ८, तथा 'पामिच्चे' इति अपमित्य–भूयोऽपि तव दास्यामीत्येवमभिधाय यत् साधुनिमित्तमुच्छिन्नं गृह्यते तदपमित्यम्, इह

१ 'अव्ययस्ये'त्यत्राव्ययशब्दसम्बन्धिनो हि स्यादेर्लुप्, तेन प्रणम्येत्यादौ भावप्रधानत्वेन कर्त्रादौ अवर्त्तमानत्वाद् अन्यपदार्थादिसम्बन्धि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

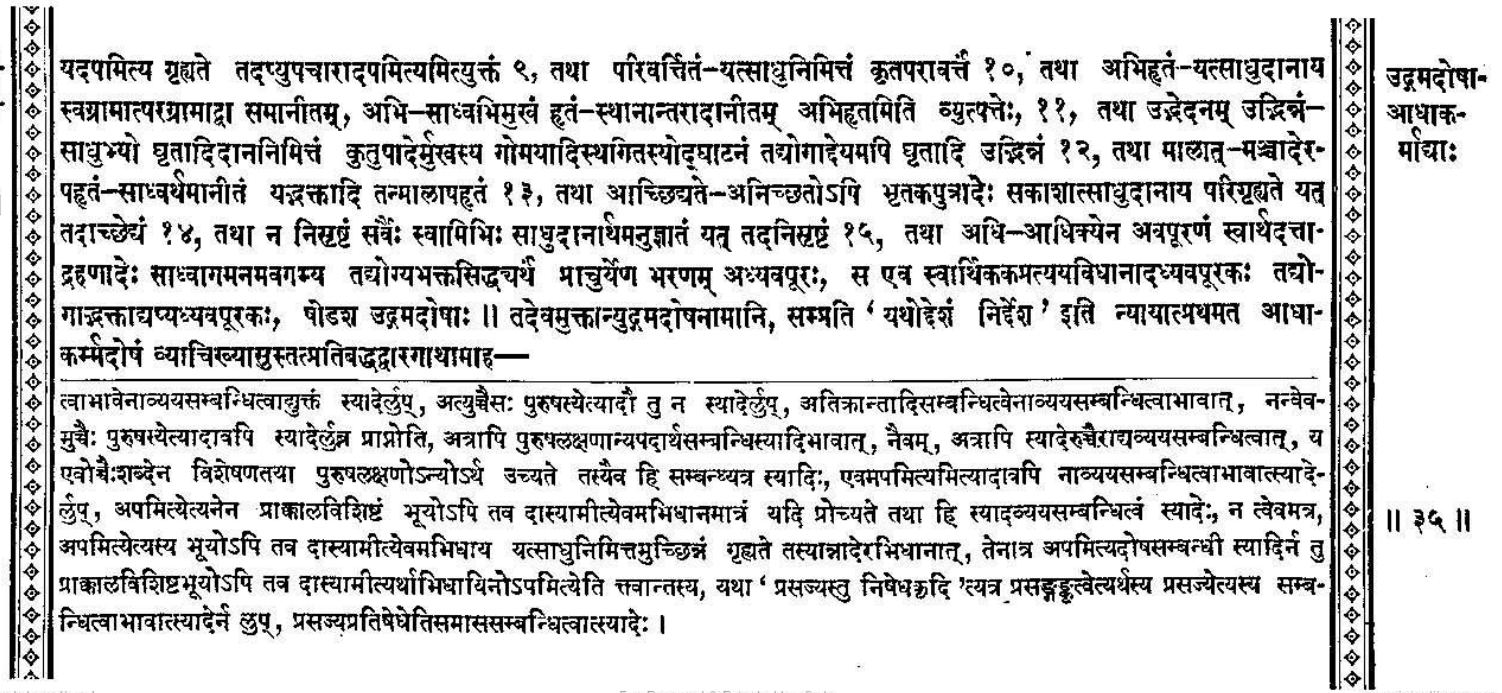

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ३५ ॥

यदपमित्य गृह्यते तदप्युपचारादपमित्यमित्युक्तं ९, तथा परिवर्त्तितं–यत्साधुनिमित्तं कृतपरावर्त्तं १०, तथा अभिहृतं–यत्साधुदानाय स्वग्रामात्परग्रामाद्वा समानीतम्, अभि–साध्वभिमुखं हृतं–स्थानान्तरादानीतम् अभिहृतमिति व्युत्पत्तेः, ११, तथा उद्भेदनम् उद्भिन्नं–साधुभ्यो घृतादिदाननिमित्तं कुतुपादेर्मुखस्य गोमयादिस्थगितस्योद्घाटनं तद्योगादेयमपि घृतादि उद्भिन्नं १२, तथा मालात्–मञ्चादेरपहृतं–साध्वर्थमानीतं यद्गक्तादि तन्मालापहृतं १३, तथा आच्छिद्यते–अनिच्छतोऽपि भृतकपुत्रादेः सकाशात्साधुदानाय परिगृह्यते यत् तदाच्छेद्यं १४, तथा न निसृष्टं सर्वैः स्वामिभिः साधुदानार्थमनुज्ञातं यत् तदनिसृष्टं १५, तथा अधि–आधिक्येन अवपूरणं स्वार्थदत्तादृहणादेः साध्वागमनमवगम्य तद्योग्यभक्तसिद्धचर्थं प्राचुर्येण भरणम् अध्यवपूरः, स एव स्वार्थिककप्रत्ययविधानाद्ध्यवपूरकः तद्योगाद्गक्ताद्यप्यध्यवपूरकः, षोडश उद्गमदोषाः ॥ तदेवमुक्तान्युद्गमदोषनामानि, सम्प्रति 'यथोद्देशं निर्देशः' इति न्यायात्प्रथमत आधाकर्मदोषं व्याचिख्यासुस्तत्प्रतिबद्धद्वारगाथामाह—

उद्गमदोषाधाकर्माद्याः

त्वाभावेनाव्ययसम्बन्धित्वायुक्तं स्यादेर्लुप्, अत्युच्चैसः पुरुषस्येत्यादौ तु न स्यादेर्लुप्, अतिक्रान्तादिसम्बन्धित्वेनाव्ययसम्बन्धित्वाभावात्, नन्वेवमुच्चैः पुरुषस्येत्यादावपि स्यादेर्लुप्त्र प्राप्नोति, अत्रापि पुरुषलक्षणान्यपदार्थसम्बन्धिस्यादिभावात्, नैवम्, अत्रापि स्यादेरुच्चैराद्यव्ययसम्बन्धित्वात्, य एवोच्चैःशब्देन विशेषणतया पुरुषलक्षणोऽन्योऽर्थ उच्यते तस्यैव हि सम्बन्ध्यत्र स्यादिः, एवमपमित्यमित्यादावपि नाव्ययसम्बन्धित्वाभावात्स्यादेर्लुप्, अपमित्येत्यनेन प्राक्कालविशिष्टं भूयोऽपि तव दास्यामीत्येवमभिधानमात्रं यदि प्रोच्यते तथा हि स्याद्व्ययसम्बन्धित्वं स्यादेः, न त्वेवमत्र, अपमित्येत्यस्य भूयोऽपि तव दास्यामीत्येवमभिधाय यत्साधुनिमित्तमुच्छिन्नं गृह्यते तस्यान्नादेरभिधानात्, तेनात्र अपमित्यदोषसम्बन्धी स्यादिर्न तु प्राक्कालविशिष्टभूयोऽपि तव दास्यामीत्यर्थाभिधायिनोऽपमित्येति क्त्वान्तस्य, यथा 'प्रसज्यस्तु निषेधकृदि'त्यत्र प्रसङ्गकृत्वेत्यर्थस्य प्रसज्येत्यस्य सम्बन्धित्वाभावात्स्यादेर्न लुप्, प्रसज्यप्रतिषेधेतिसमाससम्बन्धित्वात्स्यादेः ।

॥ ३५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आहाकम्मिय नामा एगट्ठा कस्स वावि किं वावि । परपक्खे य सपक्खे चउरो गहणे य आणाइ ॥९४॥

व्याख्या—इह प्रथमत आधाकर्म्मिकस्य नामान्येकार्थिकानि वक्तव्यानि, ततस्तदनन्तरं कस्यार्थाय कृतमाधाकर्म्म भवतीति विचारणीयं, तदनन्तरं च किंस्वरूपमाधाकर्म्मेति विचार्यं, तथा 'परपक्षः' गृहस्थवर्गः 'स्वपक्षः' साध्वादिवर्गः, तत्र परपक्षनिमित्तं कृतमाधाकर्म्म न भवति, स्वपक्षनिमित्तं तु कृतं भवतीति वक्तव्यं, तथा आधाकर्म्मग्रहणविषये चत्वारोऽतिक्रमादयः प्रकारा भवन्तीति वक्तव्यं, तथा 'ग्रहणे' आधाकर्म्मणो भक्तादेरादाने आज्ञादयः 'सूचनात्सूत्र'मिति न्यायादाज्ञाभङ्गादयो दोषा वक्तव्याः ॥ तत्रैकार्थिकाभिधानलक्षणं प्रथमं द्वारं विवक्षुराह—

आहा अहे य कम्मे आयाहम्मे य अत्तकम्मे य । पडिसेवण पडिसुणणा संवासऽणुमोयणा चेव ॥ ९५ ॥

व्याख्या—'आहा अहे य कम्मे'त्ति अत्र कर्म्मशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, चकारश्च कम्मेत्यनन्तरं समुच्चयार्थो द्रष्टव्यः, तत एवं निर्देशो ज्ञातव्यः—आधाकर्म्म अधःकर्म्म च, तत्राऽऽधाकर्म्मेति प्रागुक्तशब्दार्थम्, अधःकर्म्मेति अधोगतिनिबन्धनं कर्म्म अधःकर्म्म, तथाहि—भवति साधूनामाधाकर्म्म भुञ्जानानामधोगतिः, तन्निबन्धनप्राणातिपाताद्यास्रवेषु प्रवृत्तेः, तथा आत्मानं दुर्गतिप्रपातकारणतया हन्ति—विनाशयतीत्यात्मघ्नं, तथा यत् पाचकादिसम्बन्धि कर्म्म—पाकादिलक्षणं ज्ञानावरणीयादिलक्षणं वा तदात्मनः सम्बन्धि क्रियते अनेनेति आत्मकर्म्म । एतानि च नामान्याधाकर्म्मणो मुख्यानि सम्प्रति पुनर्यैः प्रतिषेवणादिभिः प्रकारैस्तदाधाकर्म्म भवति तान्यप्यभेदविवक्षया नामत्वेन प्रतिपादयति—'पडिसेवणेत्यादि' प्रतिसेव्यते इति प्रतिषेवणं, तथा आधाकर्म्मनिमन्त्रणानन्तरं प्रतिश्रूयते—अभ्युपगम्यते यत्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ३६ ॥

आधाकर्म्म तत् प्रतिश्रवणं तथा आधाकर्म्मभोक्तृभिः सह संवसनं–संवासः तद्वशात् शुद्धाहारभोज्यपि आधाकर्म्मभोजी द्रष्टव्यः, या हि तैः सह संवासमनुमन्यते स तेषामाधाकर्म्मभोक्तृत्वमप्यनुमन्यते, अन्यथा तैः सह संवसनमेव नेच्छेत्, अन्यच्च संवासवशतः कदाचिदा, धाकर्म्मगतमनोज्ञगन्धाघ्राणादिना विभिन्नचित्तः सन् स्वयमप्याधाकर्म्मभोजने प्रवर्त्तेत, ततः संवास आधाकर्म्मदोषहेतुत्वादाधाकर्म्म उक्तः तथा 'अनुमोदनम्' अनुमोदना–आधाकर्म्मभोक्तृप्रशंसा, साऽपि आधाकर्म्मसमुत्थपापनिबन्धनत्वादाधाकर्म्मप्रवृत्तिकारणत्वाच्च आधाकर्म्मेति उक्तं, अमीषां च प्रतिषेवणादीनामाधाकर्मत्वमात्मकर्म्मरूपं नाम प्रतीत्य वेदितव्यं, तथा च वक्ष्यति–'अत्तीकरेइ कंमंमित्यादि' इह आधाकर्म्मेति शब्दार्थविचारे आधया कर्म्म आधाकर्म्मेत्युक्तं, साऽपि चाधा नामादिभेदाच्चतुर्द्धा, तद्यथा–नामाधा स्थापनाधा द्रव्याधा भावनाधा च, तत्र नामाधा स्थापनाधा द्रव्याधाऽपि च आगमतो नोआगमतश्च ज्ञशरीररूपा भव्यशरीररूपा चैषणेव भावनीया, ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तां तु द्रव्याधामभिधित्सुराह—

धणुजुयकायभराणं कुडुंबरज्जाधुरमाइयाणं च। खंधाई हियय चिय दव्वाहा अंतए धणुणो ॥ ९६ ॥

व्याख्या—इह द्रव्याधायां विचार्यमाणायामाधाशब्दोऽधिकरणप्रधानो विवक्ष्यते आधीयतेऽस्यामित्याधा, आश्रय आधार इत्यनर्थान्तरं तत्र 'धणु'त्ति धनुः चापं तदाधा-आश्रयः प्रत्यञ्चाया इतिसामर्थ्याद्गम्यते, 'यूपः' प्रतीतः, 'कायः' कापोती यया पुरुषाः स्कन्धारूढया पानीयं वहन्ति 'भरा' यवसादिसमूहः, तथा 'कुटुम्बं' पुत्रकलत्रादिसमुदायः, 'राज्यं' प्रतीतं, तयोः धूः—चिन्ता आदिशब्दान्महाजनधूःप्रभृतिपरिग्रहः, तेषां च यथासङ्ख्यं द्रव्याधा—द्रव्यरूप आधारः स्कन्धादि हृदयं च, तत्र स्कन्धो बलीवर्दादिस्कन्धो नरादिस्कन्धश्च परिगृह्यते, आदिशब्दाद्गन्त्र्यादिपरिग्रहः, तत्र यूपस्य द्रव्याधा द्रव्यरूप आश्रयो वृषभादिस्कन्धः, स हि यूपस्तत्रा-

आधाकर्मै-कार्थिकानि तन्निक्षपाश्च

॥ ३६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऽऽरोप्यते, कापोत्या आश्रयो नरस्कन्धः, नरो हि पानीयानयनाय कापोतीं स्कन्धेन वहति, भरस्याश्रयो गन्त्र्यादिः, महाप्रमाणो हि भरो गन्त्र्यादिनैवानेतुं शक्यते नान्येन, तथा कुटुम्बचिन्तायाः राज्यचिन्तायाश्चाश्रयः 'हृदयं' मनः, हृदयमन्तरेण चिन्तायाः अयोगात्, धनुर्विषये भावनामाह—'अन्तके' करहसञ्ज्ञे धनुषः सम्बन्धिनि प्रत्यञ्चाऽऽरोप्यते ततो धनुः प्रत्यञ्चायाः आश्रयः, एवं शेषाणामपि यूपादीनां प्रत्याश्रयत्वं भावनीयं, तच्च भावितमेव ॥ उक्ता द्रव्याधा, सम्प्रति भावाधा वक्तव्या, सा च द्विधा—आगमतो नोआगमतश्च, तत्रागमत आधाशब्दार्थपरिज्ञानकुशलः तत्र चोपयुक्तः, 'उपयोगो भावनिक्षेप' इति वचनात्, नोआगमतस्तु भावाधा यत्र तत्र वा मनःप्रणिधानं, तथाहि–भावो नाम मानसिकः परिणामः तस्य चाधानं—निष्पादनं भवति मनसस्तदनुगुणतया तेन तेन रूपेण परिणमने सति नान्यथा, ततो मनःप्रणिधानं भावाधा, सा चेह प्रस्तावात्साधुदानार्थमोदनपचनपाचनादिविषया द्रष्टव्या तया यत्कृतं कर्म—ओदनपाकादि तदाधाकर्म्म, तथा चाह **निर्युक्तिकृत्**—

ओरालसरीराणं उद्दवण तिवायणं च जरसट्ठा । मणमाहित्ता कीरइ आहाकम्मं तयं बेंति ॥ ९७ ॥

व्याख्या—औदारिकं शरीरं येषां ते औदारिकशरीराः–तिर्यञ्चो मनुष्याश्च, तत्र तिर्यञ्चः—एकेन्द्रियादयः पञ्चेन्द्रियपर्यन्ता द्रष्टव्याः, एकेन्द्रिया अपि सूक्ष्मा बादराश्च, नन्विह येऽपद्रावणयोग्यास्तिर्यञ्चस्ते ग्राह्याः, न च सूक्ष्माणां मनुष्यादिकृतमपद्रावणं सम्भवति, सूक्ष्मत्वादेव, ततः कथं ते इह गृह्यन्ते?, उच्यते, इह यो यस्मादविरतः स तदकुर्व्वन्नपि परमार्थतः कुर्व्वन्नेव अवसेयो यथा रात्रिभोजनादनिवृत्तो रात्रिभोजनं, गृहस्थश्च सूक्ष्मैकेन्द्रियापद्रावणादनिवृत्तः, ततः साध्वर्थं समारम्भं कुर्व्वन् स तदपि कुर्व्वन्नवगन्तव्य इति सूक्ष्मग्रहणं, यद्वा–एकेन्द्रिया बादरा एव ग्राह्या न सूक्ष्माः, तथा च वक्ष्यति **भाष्यकृत्**—" ओरालग्गहणेणं तिरिक्खमणुयाऽहवा सुहुमवज्जा " तेषामौ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ३७ ॥

दारिकशरीराणां यदपद्रावणम्—अतिपातविवर्जिता पीडा, किमुक्तं भवति ?—साध्वर्थमुपस्क्रियमाणेष्वोदनादिषु यावदद्यापि शाल्यादिवनस्पतिकायादीनामतिपातः—प्राणव्युपरमलक्षणो न भवति तावदर्वागूवर्त्तिनी सर्वाऽपि पीडा अपद्रावणं, यथा साध्वर्थं शाल्योदनकृते शालिकरटेर्यावद्वारद्वयं कण्डनं, तृतीयं तु कण्डनमतिपातः, तस्मिन् कृते शालिजीवानामवश्यमतिपातभावात्, ततस्तृतीयं कण्डनमतिपातग्रहणेन गृह्यते, वक्ष्यति च भाष्यकृत्—"उद्दवणं पुण जाणसु अइवायविवज्जियं पीडं" ति, उद्दवणशब्दात्परतो विभक्तिलोप आर्षत्वात्, तथा 'तिपायणं' ति त्रीणि कायवाङ्मनांसि, यद्वा त्रीणि देहायुरिन्द्रियलक्षणानि पातनं चातिपातो विनाश इत्यर्थः, तत्र च त्रिधा समासविवक्षा, तद्यथा—षष्ठीतत्पुरुषः पञ्चमीतत्पुरुषस्तृतीयातत्पुरुषश्च, तत्र षष्ठीतत्पुरुषोऽयं—त्रयाणां कायवाङ्मनसां पातनं—विनाशनं त्रिपातनम्, एतच्च परिपूर्णगर्भजपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणामवसेयम्, एकेन्द्रियाणां तु कायस्यैव केवलस्य विकलेन्द्रियसम्मूर्च्छिमतिर्यग्मनुष्याणां तु कायवचसोरेवेति, यद्वा—त्रयाणां देहायुरिन्द्रियरूपाणां पातनं—विनाशनं त्रिपातनम्, इदं च सर्वेषामपि तिर्यग्मनुष्याणां परिपूर्णं घटते, केवलं यथा येषां सम्भवति तथा तेषां वक्तव्यं—यथैकेन्द्रियाणां देहस्य—औदारिकस्य आयुषः—तिर्यगायूरूपस्य इन्द्रियस्य—स्पर्शनेन्द्रियस्य, द्वीन्द्रियाणां देहस्यौदारिकरूपस्य आयुषस्तिर्यगायुष इन्द्रिययोश्च स्पर्शनरसनलक्षणयोरित्यादि, पञ्चमीतत्पुरुषस्त्वयं—त्रिभ्यः—कायवाङ्मनोभ्यो देहायुरिन्द्रियेभ्यो वा पातनं—च्यावनमिति त्रिपातनम्, अत्रापि त्रिभ्यः परिपूर्णेभ्यः कायवाङ्मनोभ्यः पातनं गर्भजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणाम् एकेन्द्रियाणां तु कायादेव केवलाद् विकलेन्द्रियसंमूर्च्छिमतिर्यङ्मनुष्याणां तु कायवाग्भ्यामिति, देहायुरिन्द्रियरूपेभ्यस्तु त्रिभ्यः पातनं सर्वेषामपि परिपूर्णं सम्भवति, केवलं यथा येषां सम्भवति तथा तेषां प्रागिव वक्तव्यं, तृतीयातत्पुरुषः पुनरयं—त्रिभिः कायवाङ्मनोभिर्विनाशकेन स्वसम्बन्धिभिः पातनं—विनाशनं त्रिपातनं, चशब्दः समुच्चये, भिन्नवि-

आधाकर्मताहेतुः

॥ ३७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१६|| दीप अनुक्रम [११३]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

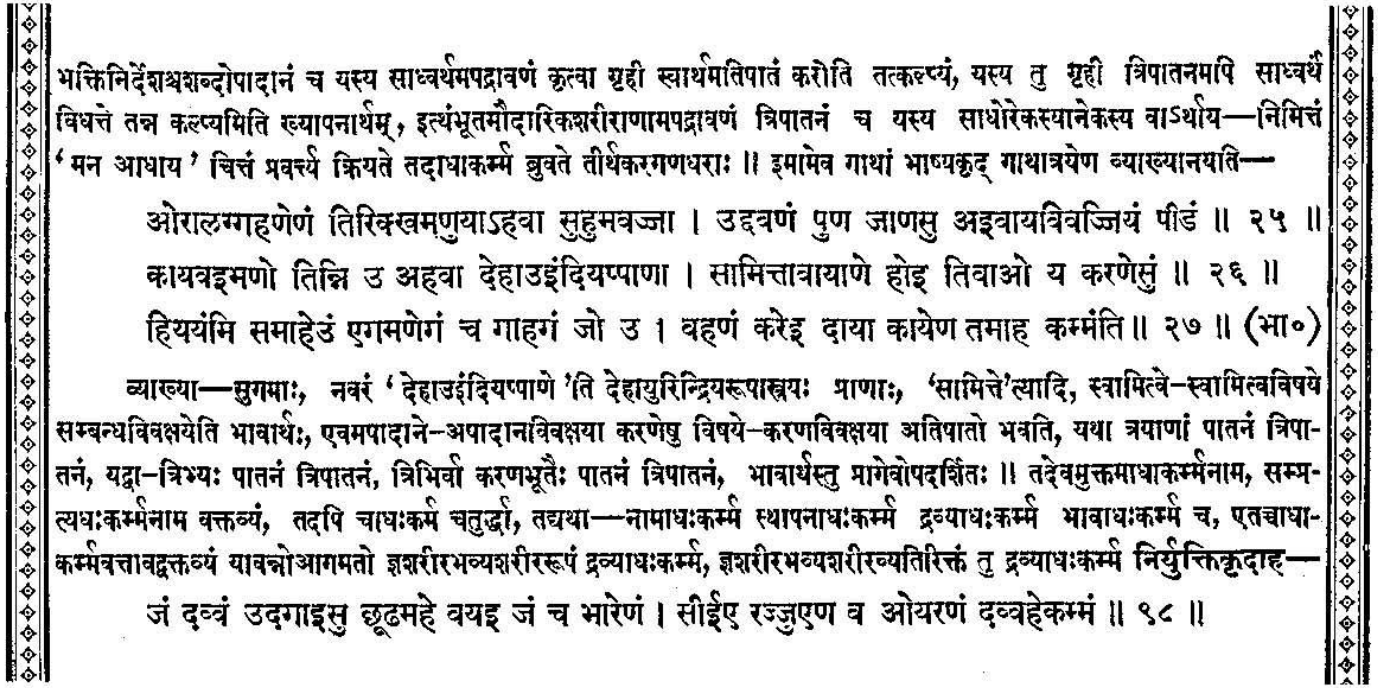

भक्तिनिर्देशश्चशब्दोपादानं च यस्य साध्वर्थमपद्रावणं कृत्वा गृही स्वार्थमतिपातं करोति तत्कल्प्यं, यस्य तु गृही त्रिपातनमपि साध्वर्थं विधत्ते तन्न कल्प्यमिति ख्यापनार्थम्, इत्थंभूतमौदारिकशरीराणामपद्रावणं त्रिपातनं च यस्य साधोरेकस्यानेकस्य वाऽर्थाय—निमित्तं 'मन आधाय' चित्तं प्रवर्त्त्य क्रियते तदाधाकर्म्म ब्रुवते तीर्थकरगणधराः ॥ इमामेव गाथां भाष्यकृद् गाथात्रयेण व्याख्यानयति—

ओरालग्गहणेणं तिरिक्खमणुयाऽहवा सुहुमवज्जा । उद्दवणं पुण जाणसु अइवायविवज्जियं पीडं ॥ २५ ॥
कायवइमणो तिन्नि उ अहवा देहाउइंदियप्पाणा । सामित्तावायाणे होइ तिवाओ य करणेसुं ॥ २६ ॥
हियर्यमि समाहेउं एगमणेगं च गाहगं जो उ । वहणं करेइ दाया कायेण तमाह कम्मंति ॥ २७ ॥ (भा०)

व्याख्या—सुगमाः, नवरं 'देहाउइंदियप्पाणे'ति देहायुरिन्द्रियरूपास्त्रयः प्राणाः, 'सामित्ते'त्यादि, स्वामित्वे–स्वामित्वविषये सम्बन्धविवक्षयेति भावार्थः, एवमपादाने–अपादानविवक्षया करणेषु विषये–करणविवक्षया अतिपातो भवति, यथा त्रयाणां पातनं त्रिपातनं, यद्वा–त्रिभ्यः पातनं त्रिपातनं, त्रिभिर्वा करणभूतैः पातनं त्रिपातनं, भावार्थस्तु प्रागेवोपदर्शितः ॥ तदेवमुक्तमाधाकर्म्मनाम, सम्प्रत्यधःकर्म्मनाम वक्तव्यं, तदपि चाधःकर्म चतुर्द्धा, तद्यथा—नामाधःकर्म्म स्थापनाधःकर्म्म द्रव्याधःकर्म्म भावाधःकर्म्म च, एतच्चाधाकर्म्मवत्तावद्वक्तव्यं यावन्नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीररूपं द्रव्याधःकर्म्म, ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं तु द्रव्याधःकर्म्म निर्युक्तिकृदाह—

जं दव्वं उदगाइसु छूढमहे वयइ जं च भारेणं । सीईए रज्जुएण व ओयरणं दव्वहेकम्मं ॥ ९८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	अत्र मूल संपादने '२५' इत्यादि भाष्य क्रमांकनं स्खलनत्वात् मुद्रितं दृश्यते तेषां क्रमाकनं '१६, १७, १८ इत्यादि सन्ति

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ॥९८॥ दीप अनुक्रम [११६]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

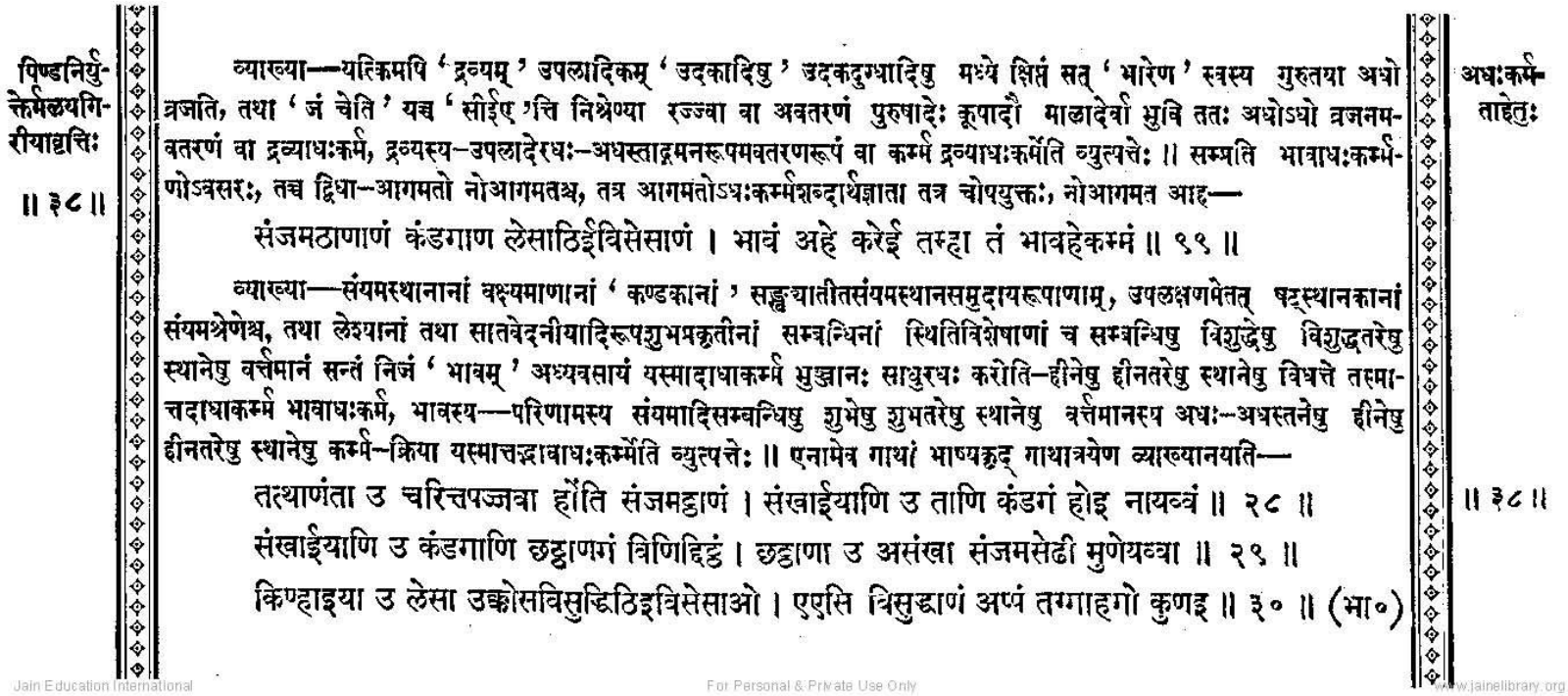

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ३८ ॥

व्याख्या—यत्किमपि 'द्रव्यम्' उपलादिकम् 'उदकादिषु' उदकदुग्धादिषु मध्ये क्षिप्तं सत् 'भारेण' स्वस्य गुरुतया अधो व्रजति, तथा 'जं चेति' यच्च 'सीईए'त्ति निश्रेण्या रज्ज्वा वा अवतरणं पुरुषादेः कूपादौ मालादेर्वा भुवि ततः अधोऽधो व्रजनमवतरणं वा द्रव्याधःकर्म, द्रव्यस्य–उपलादेरधः–अधस्ताद्गमनरूपमवतरणरूपं वा कर्म द्रव्याधःकर्मेति व्युत्पत्तेः ॥ सम्प्रति भावाधःकर्मणोऽवसरः, तच्च द्विधा–आगमतो नोआगमतश्च, तत्र आगमतोऽधःकर्मशब्दार्थज्ञाता तत्र चोपयुक्तः, नोआगमत आह—

संजमठाणाणं कंडगाण लेसाठिईविसेसाणं । भावं अहे करेई तम्हा तं भावहेकम्मं ॥ ९९ ॥

व्याख्या—संयमस्थानानां वक्ष्यमाणानां 'कण्डकानां' सङ्ख्यातीतसंयमस्थानसमुदायरूपाणाम्, उपलक्षणमेतत् षट्स्थानकानां संयमश्रेणेश्च, तथा लेश्यानां तथा सातवेदनीयादिरूपशुभप्रकृतीनां सम्बन्धिनां स्थितिविशेषाणां च सम्बन्धिषु विशुद्धेषु विशुद्धतरेषु स्थानेषु वर्त्तमानं सन्तं निजं 'भावम्' अध्यवसायं यस्मादाधाकर्म्म भुञ्जानः साधुरधः करोति–हीनेषु हीनतरेषु स्थानेषु विधत्ते तस्मात्तदाधाकर्म्म भावाधःकर्म, भावस्य—परिणामस्य संयमादिसम्बन्धिषु शुभेषु शुभतरेषु स्थानेषु वर्त्तमानस्य अधः–अधस्तनेषु हीनेषु हीनतरेषु स्थानेषु कर्म्म–क्रिया यस्मात्तद्भावाधःकर्म्मेति व्युत्पत्तेः ॥ एनामेव गाथां भाष्यकृद् गाथात्रयेण व्याख्यानयति—

तत्थाणंता उ चरित्तपज्जवा होंति संजमट्ठाणं । संखाईयाणि उ ताणि कंडगं होइ नायव्वं ॥ २८ ॥

संखाईयाणि उ कंडगाणि छट्ठाणगं विणिद्दिट्ठं । छट्ठाणा उ असंखा संजमसेढी मुणेयव्वा ॥ २९ ॥

किण्हाइया उ लेसा उक्कोसविसुद्धिठिइविसेसाओ । एएसि विसुद्धाणं अप्पं तग्गाहगो कुणइ ॥ ३० ॥ (भा०)

अधःकर्मताहेतुः

॥ ३८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	अत्र मूल संपादने '२८' इत्यादि भाष्य क्रमांकनं स्खलनत्वात् मुद्रितं दृश्यते तेषां क्रमाकनं '१९, २०, २१ एव भवति

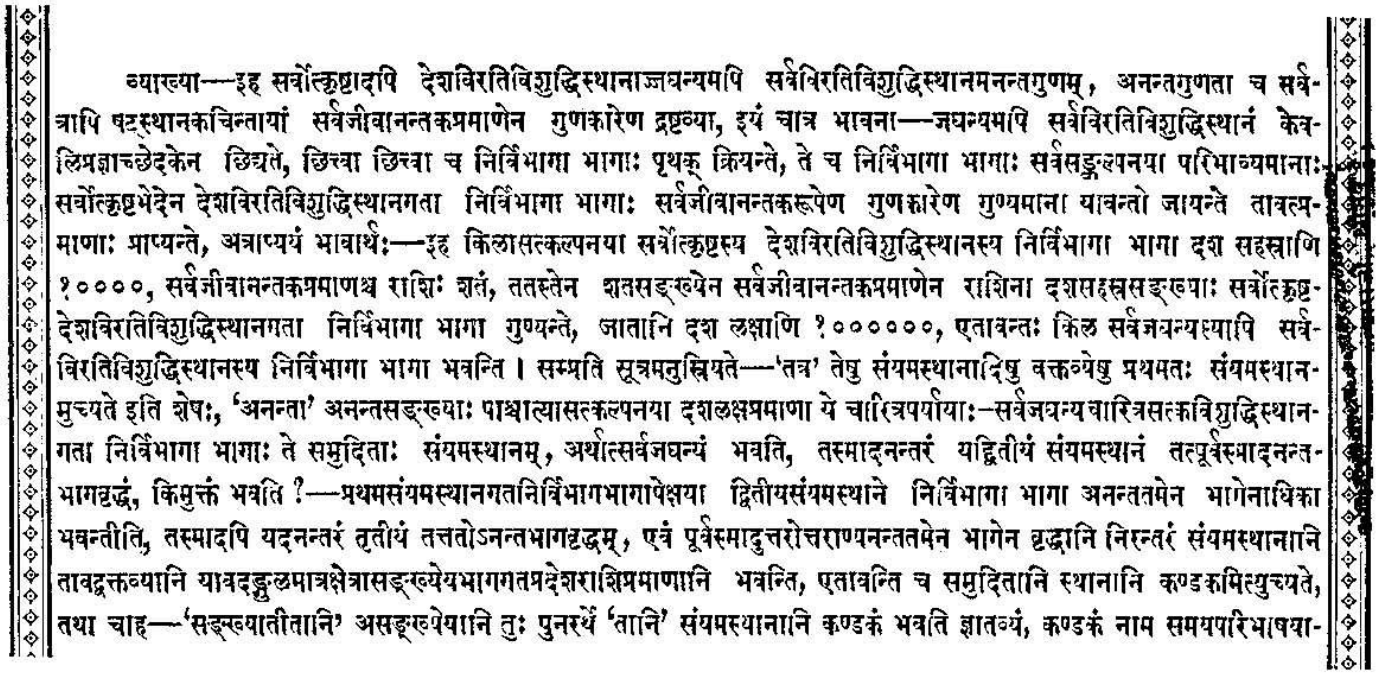

व्याख्या—इह सर्वोत्कृष्टादपि देशविरतिविशुद्धिस्थानाज्जघन्यमपि सर्वविरतिविशुद्धिस्थानमनन्तगुणम्, अनन्तगुणता च सर्वत्रापि षट्स्थानकचिन्तायां सर्वजीवानन्तकप्रमाणेन गुणकारेण द्रष्टव्या, इयं चात्र भावना—जघन्यमपि सर्वविरतिविशुद्धिस्थानं केवलिप्रज्ञाच्छेदकेन छिद्यते, छित्त्वा छित्त्वा च निर्विभागा भागाः पृथक् क्रियन्ते, ते च निर्विभागा भागाः सर्वसङ्कल्पनया परिभाव्यमानाः सर्वोत्कृष्टभेदेन देशविरतिविशुद्धिस्थानगता निर्विभागा भागाः सर्वजीवानन्तकरूपेण गुणकारेण गुण्यमाना यावन्तो जायन्ते तावत्प्रमाणाः प्राप्यन्ते, अत्राप्ययं भावार्थः—इह किलासत्कल्पनया सर्वोत्कृष्टस्य देशविरतिविशुद्धिस्थानस्य निर्विभागा भागा दश सहस्राणि १००००, सर्वजीवानन्तकप्रमाणश्च राशिः शतं, ततस्तेन शतसङ्ख्येन सर्वजीवानन्तकप्रमाणेन राशिना दशसहस्रसङ्ख्याः सर्वोत्कृष्टदेशविरतिविशुद्धिस्थानगता निर्विभागा भागा गुण्यन्ते, जातानि दश लक्षाणि १०००००, एतावन्तः किल सर्वजघन्यस्यापि सर्वविरतिविशुद्धिस्थानस्य निर्विभागा भागा भवन्ति । सम्प्रति सूत्रमनुस्रियते—'तत्र' तेषु संयमस्थानादिषु वक्तव्येषु प्रथमतः संयमस्थानमुच्यते इति शेषः, 'अनन्ता' अनन्तसङ्ख्याः पाश्चात्यासत्कल्पनया दशलक्षप्रमाणा ये चारित्रपर्यायाः–सर्वजघन्यचारित्रसत्कविशुद्धिस्थानगता निर्विभागा भागाः ते समुदिताः संयमस्थानम्, अर्थात्सर्वजघन्यं भवति, तस्मादनन्तरं यद्द्वितीयं संयमस्थानं तत्पूर्वस्मादनन्तभागवृद्धं, किमुक्तं भवति ?—प्रथमसंयमस्थानगतनिर्विभागभागापेक्षया द्वितीयसंयमस्थाने निर्विभागा भागा अनन्ततमेन भागेनाधिका भवन्तीति, तस्मादपि यदनन्तरं तृतीयं तत्ततोऽनन्तभागवृद्धम्, एवं पूर्वस्मादुत्तरोत्तराण्यनन्ततमेन भागेन वृद्धानि निरन्तरं संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावदङ्गुलमात्रक्षेत्रासङ्ख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणानि भवन्ति, एतावन्ति च समुदितानि स्थानानि कण्डकमित्युच्यते, तथा चाह—'सङ्ख्यातीतानि' असङ्ख्येयानि तुः पुनरर्थे 'तानि' संयमस्थानानि कण्डकं भवति ज्ञातव्यं, कण्डकं नाम समयपरिभाषया-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ३९ ॥

ऽङ्गुलमात्रक्षेत्रासङ्ख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणा सङ्ख्याऽभिधीयते, तथा चोक्तं—"कैण्डंति इत्थ भण्णइ अंगुलभागो असंखेज्जो ।" अस्माच्च कण्डकात्परतो यदन्यदनन्तरं संयमस्थानं भवति तत्पूर्वस्मादसङ्ख्येयभागाधिकम्, एतदुक्तं भवति—पाश्चात्यकण्डकसत्कचरमसंयमस्थानगतनिर्विभागभागापेक्षया कण्डकादनन्तरे संयमस्थाने निर्विभागा भागा असङ्ख्येयतमेन भागेनाधिकाः प्राप्यन्ते, ततः पराणि पुनरपि कण्डकमात्राणि संयमस्थानानि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि भवन्ति, ततः पुनरेकमसङ्ख्येयभागाधिकं संयमस्थानं, ततो भूयोऽपि ततः पराणि कण्डकमात्राणि संयमस्थानानि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि भवन्ति, ततः पुनरप्येकमसङ्ख्येयभागाधिकं संयमस्थानम्, एवमनन्तभागाधिकैः कण्डकप्रमाणैः संयमस्थानैर्व्यवहितानि असङ्ख्येयभागाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्तान्यपि कण्डकमात्राणि भवन्ति, ततश्चरमादसङ्ख्येयभागाधिकात् संयमस्थानात्पराणि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि कण्डकमात्राणि संयमस्थानानि भवन्ति, ततः परमेकं सङ्ख्येयभागाधिकं संयमस्थानं, ततो मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति भूयोऽपि तेनैव क्रमेणाभिधाय पुनरप्येकं सङ्ख्येयभागाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम्, इदं द्वितीयं सङ्ख्येयभागाधिकं संयमस्थानं, ततोऽनेनैव क्रमेण तृतीयं वक्तव्यम्, अमूनि चैवं सङ्ख्येयभागाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति, तत उक्तक्रमेण भूयोऽपि सङ्ख्येयभागाधिकसंयमस्थानमसङ्ख्ये सङ्ख्येयगुणाधिकमेकं संयमस्थानं वक्तव्यं, ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति भूयोऽपि तथैव वक्तव्यानि, ततः पुनरप्येकं सङ्ख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यं, ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वक्तव्यानि, ततः पुनरप्येकं सङ्ख्येयगुणाधिकं संयमस्थानम्, अमून्यप्येवं सङ्ख्येयगुणाधिकानि संयमस्था-

१ कण्डकमिति अत्र भण्यते अङ्गुलभागोऽसंख्येयः ।

अधःकर्मताहेतुः

॥ ३९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नानि तावद्वक्तव्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति, तत उक्तक्रमेण पुनरपि सङ्ख्येयगुणाधिकसंयमस्थानप्रसङ्गेऽसङ्ख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यं, ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति तेनैव क्रमेण भूयोऽपि वक्तव्यानि, ततः पुनरप्येकमसङ्ख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम्, ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वक्तव्यानि, ततः पुनरपि एकमसंख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम्, अमूनि चैवमसङ्ख्येयगुणाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति, ततः पूर्वपरिपाट्या पुनरप्यसङ्ख्येयगुणाधिकसंयमस्थानप्रसङ्गेऽनन्तगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यं, ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति तथैव क्रमेण भूयोऽपि वक्तव्यानि, ततः पुनरप्येकमनन्तगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यं, ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वक्तव्यानि, ततः पुनरप्येकमनन्तगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम्, एवमनन्तगुणाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति, ततो भूयोऽपि तेषामुपरि पञ्चवृद्ध्यात्मकानि संयमस्थानानि मूलादारभ्य तथैव वक्तव्यानि, यत्पुनरनन्तगुणवृद्धिस्थानं तन्न प्राप्यते षट्स्थानकस्य परिसमाप्तत्वात्, इत्थंभूतान्यसङ्ख्येयानि कण्डकानि समुदितानि षट्स्थानकं भवति, तथा चाह भाष्यकृत्—' संखाईयाणि उ कंडगाणि छट्ठाणगं विणिद्दिट्ठं ' सुगमं, अस्मिंश्च षट्स्थानके षोढा वृद्धिरुक्ता, तद्यथा—अनन्तभागवृद्धिरसङ्ख्येयभागवृद्धिः सङ्ख्येयभागवृद्धिः सङ्ख्येयगुणवृद्धिरसङ्ख्येयगुणवृद्धिरनन्तगुणवृद्धिश्च, तत्र यादृशोऽनन्ततमो भागोऽसङ्ख्येयतमः सङ्ख्येयतमो वा गृह्यते यादृशस्तु सङ्ख्येयोऽसङ्ख्येयोऽनन्तो वा गुणकारः स निरूप्यते—तत्र यदपेक्षयाऽनन्तभागवृद्धता तस्य सर्वजीवसङ्ख्याप्रमाणेन राशिना भागो ह्रियते हृते च भागे यल्लब्धं सोऽनन्ततमोभागः, तेनाधिकमुत्तरं संयमस्थानं, किमुक्तं भवति ?—प्रथमस्य संयमस्थानस्य ये निर्विभागा भागास्तेषां सर्वजीवसङ्ख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति ये लभ्यन्ते तावत्प्रमाणै-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

निर्विभागैर्भागैर्द्वितीये संयमस्थाने निर्विभागा भागा अधिकाः प्राप्यन्ते, द्वितीयस्य संयमस्थानस्य ये निर्विभागा भागास्तेषां सर्वजीवसङ्ख्या-प्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यावन्तो लभ्यन्ते तावत्प्रमाणैर्निर्विभागैर्भागैरधिकास्तृतीये संयमस्थाने निर्विभागा भागाः प्राप्यन्ते, एवं यद्यत् संयमस्थानमनन्तभागवृद्धमुपलभ्यते तत्तत्पाश्चात्यस्य पाश्चात्यस्य संयमस्थानस्य सर्वजीवसङ्ख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यद्यल्लभ्यते तावत्प्रमाणेन तावत्प्रमाणेनानन्ततमेन भागेनाधिकमवगन्तव्यम्, असङ्ख्येयभागाधिकानि पुनरेवं—पाश्चात्यस्य पाश्चात्यस्य संयमस्थानस्य सत्कानां निर्विभागभागानामसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यद्यल्लभ्यते स सोऽसङ्ख्येयतमो भागः, ततस्तेन तेनासङ्ख्येयतमेन भागेनाधिकानि असङ्ख्येयभागाधिकानि वेदितव्यानि, सङ्ख्येयभागाधिकानि चैवं—पाश्चात्यस्य पाश्चात्यस्य संयमस्थानस्योत्कृष्टेन सङ्ख्येयेन भागे हृते सति यद्यल्लभ्यते स स सङ्ख्येयतमो भागः, ततस्तेन तेन सङ्ख्येयतमेन भागेनाधिकानि सङ्ख्येयभागाधिकानि संयमस्थानानि वेदितव्यानि, सङ्ख्येयगुणवृद्धानि पुनरेवं—पाश्चात्यस्य पाश्चात्यस्य संयमस्थानस्य ये ये निर्विभागा भागास्ते ते उत्कृष्टेन सङ्ख्येयकप्रमाणेन राशिना गुण्यन्ते, गुणिते च सति यावन्तो यावन्तो भवन्ति तावत्प्रमाणानि तावत्प्रमाणानि स-ङ्ख्येयगुणाधिकानि संयमस्थानानि द्रष्टव्यानि, एवमसङ्ख्येयगुणवृद्धानि अनन्तगुणवृद्धानि च भावनीयानि, नवरमसङ्ख्येयगुणवृद्धौ पाश्चा-त्यस्य संयमस्थानस्य निर्विभागा भागा असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणेनासङ्ख्येयेन गुण्यन्ते, अनन्तगुणवृद्धौ तु सर्वजीवप्रमाणेनानन्तेन, इत्थं च भागहारगुणकारकल्पनं मा स्वमनीषिकाशिल्पकल्पितं मंस्थाः, यत उक्तं कर्मप्रकृतिसङ्ग्रहण्यां षट्स्थानकगतभागहारगुणकार-विचाराधिकारे—"सव्वजियाणप्पसंखेज्जलोग संखिज्जगस्स जिट्ठस्स । भागो तिसु गुणगातिसु" इति, प्रथमाच्च षट्स्थानकादूर्ध्वमुक्तक्रमेणैव द्वितीयं षट्स्थानकमुत्तिष्ठति, एवमेव च तृतीयम्, एवं षट् स्थानकान्यपि तावद्वाच्यानि यावदसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि भवन्ति,

॥ ४० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उक्तं च—" छट्ठाणगणवसाणे अन्नं छट्ठाणयं पुणो अन्नं । एवमसङ्खा लोगा छट्ठाणाणं मुणेयव्वा ॥ १ ॥ " इत्थंभूतानि चासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि षट् स्थानकानि संयमश्रेणिरुच्यते, तथा चाह—'छट्ठाणा उ असंखा संजमसेढी मुणेयव्वा' । तथा 'लेसाउ'त्ति कृष्णादयो लेश्याः, स्थितिविशेषा उत्कृष्टानां—सर्वोत्कृष्टानां सातावेदनीयप्रभृतीनां विशुद्धप्रकृतीनां सम्बन्धिनो विशुद्धाः स्थितिविशेषा वेदितव्याः, तत एतेषां संयमस्थानादीनां सम्बन्धिषु शुभेषु स्थानेषु वर्त्तमानस्तद्ग्राहकः—आधाकर्मग्राहक आत्मानमेतेषां—संयमस्थानादीनां विशुद्धानामधोऽधस्तात्करोति ॥ यदि नाम संयमस्थानादीनामधस्तादात्मानमाधाकर्मग्राही करोति ततः किं दूषणं तस्यापतितमत आह—

भावावयारमाहेउमप्पगे किंचिनूणचरणग्गो । आहाकम्मग्गाही अहो अहो नेइ अप्पाणं ॥ १०० ॥

भावानां—संयमस्थानादिरूपाणां विशुद्धानामधस्तात् हीनेषु हीनतरेषु अध्यवसायेषु 'अवतारम्' अवतरणमात्मनि 'आधाय' कृत्वा 'किंञ्चिनूनचरणग्गो' इति इह चरणेनाग्रः—प्रधानश्चरणाग्रः, स च निश्चयनयमतापेक्षया क्षीणकषायादिरकषायचारित्रः परिगृह्यते, न च तस्य प्रमादसम्भवो नापि लौल्यम्, एकान्तेन लोलादिमोहनीयस्य विनाशात्, ततो न तस्याधाकर्मग्रहणसम्भव इति किञ्चिदूनग्रहणं, किञ्चिदूनेन चरणेनाग्रः—प्रधानः किञ्चिदूनचरणाग्रः, स च परमार्थत उपाशान्तमोह उच्यते, अतिशयख्यापनार्थं चैतदुक्तं, ततोऽयमर्थः—किञ्चिदूनचरणाग्रोऽपि यावदास्तां प्रमत्तसंयतादिरिति, आधाकर्मग्राही अधोऽधो—रत्नप्रभादिनरकादौ नयत्यात्मानम्, एतद्दूषणमाधाकर्मग्राहिणः ॥ एतदेव भावयति—

बंधइ अहेभवाऊ पकरेइ अहोमुहाइं कम्माइं । घणकरणं तिव्वेण उ भावेण चओ उवचओ य ॥ १०१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ४१ ॥

व्याख्या—आधाकर्म्मग्राही विशुद्धेभ्यः संयमादिस्थानेभ्योऽवतीर्य 'अधः' अधोऽधोवर्तिषु हीनेषु हीनतरेषु भावेषु वर्त्तमानोऽधोभवस्य रत्नप्रभादिनारकरूपस्य भवस्य सम्बन्धि आयुः 'करोति' बध्नाति, शेषाण्यपि कर्म्माणि गत्यादिनामादीनि 'अधोमुखानि' अधोगत्यभिमुखानि अधोगतिनयनशीलानि इत्यर्थः, 'प्रकरोति' प्रकर्षेण दुस्सहकटुकतीव्रानुभावयुक्ततया करोति–बध्नाति, बद्धानां च सतामाधाकर्म्मविषयपरिभोगलाम्पट्यवृद्धितो निरन्तरमुपजायमानेन 'तीव्रेण' तीव्रतरेण 'भावेन' परिणामेन घनकरणं यथायोगं निधत्तिरूपतया निकाचनारूपतया वा व्यवस्थापनं, तथा प्रतिक्षणमन्यान्यपुद्गलग्रहणेन चय उपचयश्च, तत्र स्तोकतरा वृद्धिश्चयः, प्रभूततरा वृद्धिरुपचयः, एतेन च व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्रमाचार्येणानुवर्त्तितं, तथा च व्याख्याप्रज्ञप्तावालापकः–"आहाकम्मं णं भुंजमाणे समणे निग्गंथे अट्ठकम्मपगडीओ बंधइ अहे पकरेइ अहे चिणइ अहे उवचिणइ" इत्यादि ॥ तत एवं सति—

तेसिं गुरूणमुदएण अप्पगं दुग्गईएँ पवडंतं । न चएइ विधारेउं अहरगतिं निंति कम्माइं ॥ १०२ ॥

व्याख्या—'तेषाम्' अधोभवायुरादीनां कर्म्मणां 'गुरूणां' अधोगतिनयनस्वभावतया गुरूणीव गुरूणि तेषाम्, 'उदयेन' विपाकवेदनानुभवरूपेण, विपाकवेदनानुभवरूपोदयवशादित्यर्थः, दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं 'विधारयितुं' निवारयितुम् आधाकर्म्मग्राही न शक्नोति यतोऽतः कर्म्माणि अधोभवायुरादीनि उदयप्राप्तानि बलाद् 'अधरगतिं' नरकादिरूपां नयन्ति, न च कर्म्मणां कोऽपि बलीयान्,

१ स्थित्यनुभागयोर्वृहत्करणमुद्वर्त्तना, तयोरेव ह्रस्वीकरणमपवर्त्तना, उद्वर्त्तनाऽपवर्त्तनावर्जशेषसङ्क्रमादिकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थापनं निधत्तिः, समस्तकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थापनं निकाचना, [सङ्क्रमः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशानामन्यकर्मरूपतया स्थितानामन्यकर्मस्वरूपेण व्यवस्थापनम्, आदिशब्देनोदीरणोपशमने गृह्येते]। २ आधाकर्म भुञ्जानः श्रमणो निर्ग्रन्थोऽष्टौ कर्मप्रकृतीर्बध्नाति अधः प्रकरोति अधश्चिनोति अध उपचिनोति ।

अधःकर्मताहेतुः

॥ ४१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१०२|| दीप अनुक्रम [१२३]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

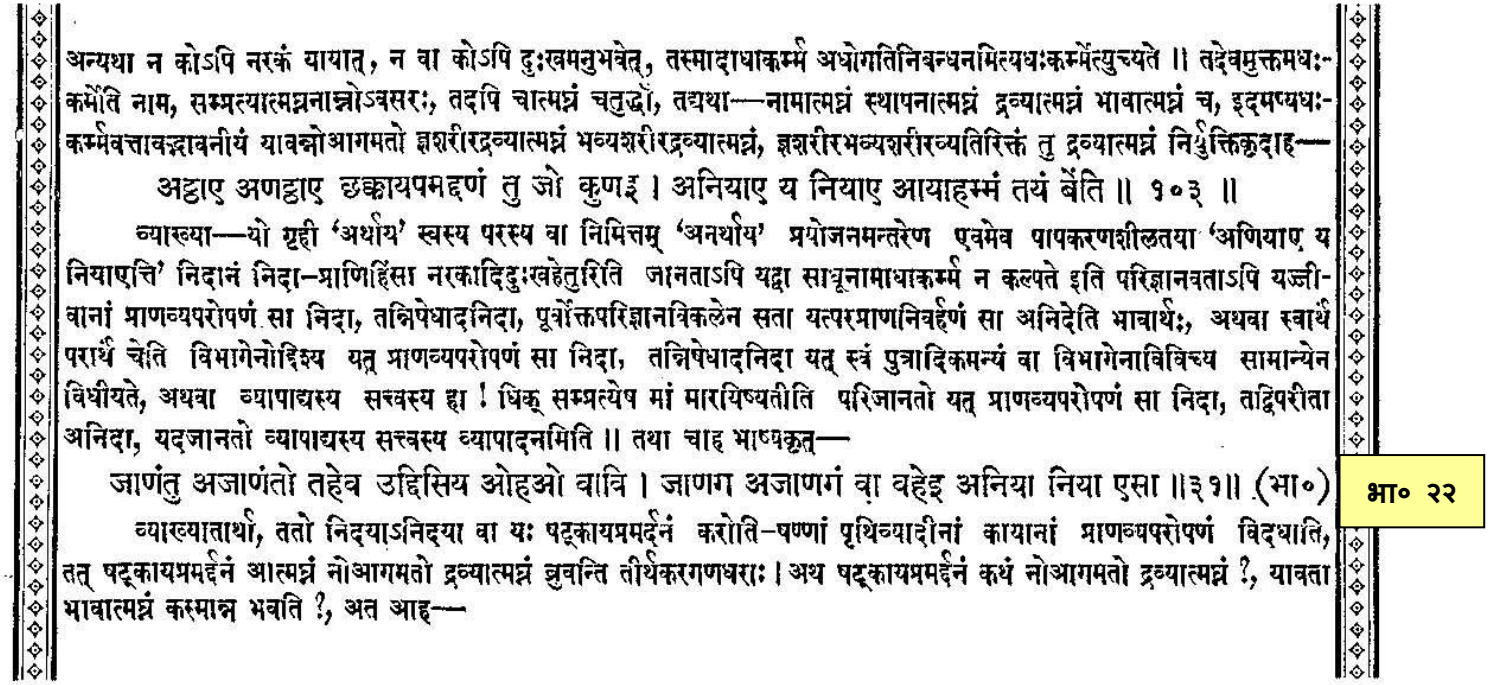

अन्यथा न कोऽपि नरकं यायात्, न वा कोऽपि दुःखमनुभवेत्, तस्मादाधाकर्म्म अधोगतिनिबन्धनमित्यधःकर्म्मेत्युच्यते ॥ तदेवमुक्तमधः-कर्मेति नाम, सम्प्रत्यात्मघ्ननाम्नोऽवसरः, तदपि चात्मघ्नं चतुर्द्धा, तद्यथा—नामात्मघ्नं स्थापनात्मघ्नं द्रव्यात्मघ्नं भावात्मघ्नं च, इदमप्यधः-कर्म्मवत्तावद्भावनीयं यावन्नोआगमतो ज्ञशरीरद्रव्यात्मघ्नं भव्यशरीरद्रव्यात्मघ्नं, ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं तु द्रव्यात्मघ्नं निर्युक्तिकृदाह—

अट्ठाए अणट्ठाए छक्कायपमद्दणं तु जो कुणइ । अनियाए य नियाए आयाहम्मं तयं बेंति ॥ १०३ ॥

व्याख्या—यो गृही 'अर्थाय' स्वस्य परस्य वा निमित्तम् 'अनर्थाय' प्रयोजनमन्तरेण एवमेव पापकरणशीलतया 'अणियाए य नियाएत्ति' निदानं निदा–प्राणिहिंसा नरकादिदुःखहेतुरिति जानतोऽपि यद्वा साधूनामाधाकर्म्म न कल्पते इति परिज्ञानवतोऽपि यज्जीवानां प्राणव्यपरोपणं सा निदा, तन्निषेधादनिदा, पूर्वोक्तपरिज्ञानविकलेन सता यत्परप्राणनिर्वर्हणं सा अनिदेति भावार्थः, अथवा स्वार्थे परार्थे चेति विभागेनोद्दिश्य यत् प्राणव्यपरोपणं सा निदा, तन्निषेधादनिदा यत् स्वं पुत्रादिकमन्यं वा विभागेनाविविच्य सामान्येन विधीयते, अथवा व्यापाद्यस्य सत्त्वस्य हा ! धिक् सम्प्रत्येष मां मारयिष्यतीति परिजानतो यत् प्राणव्यपरोपणं सा निदा, तद्विपरीता अनिदा, यदजानतो व्यापाद्यस्य सत्त्वस्य व्यापादनमिति ॥ तथा चाह भाष्यकृत्—

जाणंतु अजाणंतो तहेव उद्दिसिय ओहओ वावि । जाणग अजाणगं वा वहेइ अनिया निया एसा ॥३१॥ (भा०)

भा० २२

व्याख्यातार्था, ततो निदयाऽनिदया वा यः षट्कायप्रमर्दनं करोति–षण्णां पृथिव्यादीनां कायानां प्राणव्यपरोपणं विदधाति, तत् षट्कायप्रमर्दनं आत्मघ्नं नोआगमतो द्रव्यात्मघ्नं ब्रुवन्ति तीर्थकरगणधराः । अथ षट्कायप्रमर्दनं कथं नोआगमतो द्रव्यात्मघ्नं ?, यावता भावात्मघ्नं कस्मान्न भवति ?, अत आह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	अत्र मूल संपादने '३१' इति भाष्य क्रमांकनं स्खलनत्वात् मुद्रितं दृश्यते तेषां क्रमाकनं '२२ एव भवति

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ४२ ॥

दव्वाया खलु काया ।

व्याख्या—'कायाः' पृथिव्यादयः 'खलु' निश्चयेन 'द्रव्यात्मानो' द्रव्यरूपा आत्मानः, जीवानां गुणपर्यायवत्तया द्रव्यत्वात्, उक्तं च—"अजीवकायाः धर्माधर्माकाशपुद्गलाः, द्रव्याणि जीवाश्चे" (तत्त्वा० अ० ५–सू० १–२)ति । ततस्तेषां यदुपमर्दनं तद् द्रव्यात्मघ्नं भवति। उक्तं द्रव्यात्मघ्नं, सम्प्रति भावात्मघ्नं वक्तव्यं—तच्च द्विधा—आगमतो नोआगमतश्च, तत्र आगमत आत्मघ्नशब्दार्थज्ञाता तत्र चोपयुक्तः, नोआगमतो भावात्मघ्नमाह—

भावाया तिन्नि नाणमाईणि । परपाणपाडणरओ चरणायं अप्पणो हणइ ॥ १०४ ॥

व्याख्या—'भावात्मानो' भावरूपा आत्मानः 'त्रीणि ज्ञानादीनि' ज्ञानदर्शनचारित्राणि, आत्मनो हि पारमार्थिकं स्वस्वरूपं ज्ञानदर्शनचरणात्मकं, ततस्तान्येव परमार्थत आत्मानो न शेषं द्रव्यमात्रं, स्वस्वरूपाभावात्, ततो यश्चारित्री सन् परेषां पृथिव्यादीनां ये प्राणाः—इन्द्रियादयः तेषां यत् पातनं—विनाशनं तस्मिन् रतः–आसक्तः स आत्मनश्चरणरूपं भावात्मानं हन्ति, चरणात्मनि च हते ज्ञानदर्शनरूपावप्यात्मानौ परमार्थतो हतावेव द्रष्टव्यौ, यत आह—

निच्छयनयस्स चरणायविघाए नाणदंसणवहोऽवि । ववहारस्स उ चरणे हयंमि भयणा उ सेसाणं ॥१०५॥

व्याख्या—निश्चयनयस्य मतेन चरणात्मविघाते सति ज्ञानदर्शनयोरपि वधो–विघातो द्रष्टव्यः, ज्ञानदर्शनयोर्हि फलं चरणप्रतिपत्ति-रूपा सन्मार्गप्रवृत्तिः, सा चेन्नास्ति तर्हि ते अपि ज्ञानदर्शने परमार्थतोऽसती एव, स्वकार्याकरणात्, उक्तं च मूलटीकायां–'चरणा-

आत्मघ्न-तादेतुः

॥ ४२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१०५||

दीप अनुक्रम [१२७]

त्मविघाते ज्ञानदर्शनवधोऽपि, तयोश्चरणफलत्वात्, फलाभावे च हेतोर्निरर्थकत्वादिति, अपिच-यश्चरणं प्रतिपद्याऽऽहारलाम्पट्यादिना ततो न विनिवर्त्तते स नियमाद्भगवदाज्ञाविलोपादिदोषभागी, भगवदाज्ञाविलोपादौ च वर्तमानो न सम्यग्ज्ञानी नापि सम्यग्दर्शनी, उक्तं च-"आणाए चिय चरणं तब्भंगे जाण किं न भग्गंति । आणं च अइक्कंतो कस्साएसा कुणइ सेसं ? ॥ १ ॥" तथा "जो जिणवायं न कुणइ मिच्छदिट्ठी तओ हु को अन्नो ? । वड्ढेइ य मिच्छत्तं परस्स संकं जणेमाणो ॥ २ ॥" ततश्चरणविघाते नियमतो ज्ञानदर्शनविघातः, 'व्यवहारस्य' व्यवहारनयस्य पुनर्मतेन हते चरणे 'शेषयोः' ज्ञानदर्शनयोः 'भजना' कचिद्भवतः कचिन्न, य एकान्तेन भगवतो विप्रतिपन्नस्तस्य न भवतो यस्तु देशविरतिं भगवति श्रद्धानमात्रं वा कुरुते तस्य व्यवहारनयमतेन सम्यग्दृष्टित्वाद्भवत इति, ततो निश्चयनयमतापेक्षया चरणात्मनि हते ज्ञानदर्शनरूपावप्यात्मानौ हतावेवेति परप्राणव्यपरोपणरतः समूलघातमात्मघ्न इति परप्राणव्यपरोपणमात्मघ्नं, तच्च साधोराधाकर्म्म भुञ्जानस्यानुमोदनादिद्वारेण नियमतः सम्भवतीत्युपचारत आधाकर्म्म आत्मघ्नमित्युच्यते ॥ तदेवमुक्तमात्मघ्ननाम, सम्प्रत्यात्मकर्म्मनाम्नोऽवसरः, तदपि चात्मकर्म्म चतुर्द्धा, तद्यथा—नामात्मकर्म्म स्थापनात्मकर्म्म द्रव्यात्मकर्म्म भावात्मकर्म्म च, इदं चाधाकर्म्मैव तावद्भावनीयं यावन्नोआगमतो भव्यशरीरद्रव्यात्मकर्म्म, ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं तु द्रव्यात्मकर्म्म प्रतिपादयति—

दव्वंमि अत्तकम्मं जं जो उ ममायए तयं दव्वं ।

व्याख्या—यः पुरुषो यद् द्रव्यादिकं द्रव्यं 'ममायते' ममेति प्रतिपद्यते तत्-ममेति प्रतिपादनं तस्य पुरुषस्य 'दव्वंमि अत्तक-

१ आज्ञयैव चरणं तद्भङ्गे जानीहि किं न भग्नमिति । आज्ञां चातिक्रान्तः कस्यादेशात् करोति शेषम् ? ॥ १ ॥
२ यो यथावादं न करोति मिथ्यादृष्टिस्ततः क एवान्यः । वर्धयति च मिथ्यात्वं परस्य शङ्कां जनयन् ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

म्मं'ति ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्ये–द्रव्यविषयमात्मकर्म्म भवति, आत्मसम्बन्धित्वेन कर्म्म–करणम् आत्मकर्म्मेति व्युत्पत्त्याश्रयणात् । भावात्मकर्म्म च द्विधा, तद्यथा–आगमतो नोआगमतश्च, तत्राऽऽगमत आत्मकर्म्मशब्दार्थज्ञाता तत्र चोपयुक्तः, नोआगमतः पुनराह—

भावे असुहपरिणओ परकम्मं अत्तणो कुणइ ॥ १०६ ॥

व्याख्या—'अशुभपरिणतः' अशुभेन प्रस्तावादाधाकर्म्मग्रहणरूपेण भावेन परिणतः परस्य–पाचकादेः सम्बन्धि यत् कर्म्मपचनपाचनादिजनितं ज्ञानावरणीयादि तत् आत्मनः सम्बन्धि करोति, तच्च परसम्बन्धिनः कर्म्मणः आत्मीयत्वेन करणं 'भावे' भावतः आत्मकर्म्म, नोआगमतो भावात्मकर्म्मेत्यर्थः, भावेन–परिणामविशेषेण परकीयस्यात्मसम्बन्धित्वेन कर्म्म–करणं भावात्मकर्म्मेति व्युत्पत्तेः ॥ एतदेव सार्द्धया गाथया भावयति—

आहाकम्मपरिणओ फासुयमवि संकिलिट्ठपरिणामो । आयय्यमाणो बज्झइ तं जाणसु अत्तकम्मन्ति ॥ १०७ ॥

परकम्म अत्तकम्मीकरेइ तं जो उ गिण्हउं भुंजे ।

व्याख्या—प्रासुकम्–अचेतनम् उपलक्षणमेतद् एषणीयं च स्वरूपेण भक्तादिकमास्तामाधाकर्म्मेत्यपिशब्दार्थः, 'सङ्क्लिष्टपरिणामः सन्' आधाकर्म्मग्रहणपरिणतः सन् 'आददानो' गृह्णन् यथाऽहमतिशयेन व्याख्यानलब्धिमान् मद्गुणाश्चासाधारणविद्वत्तादिरूपाः सूर्यस्य भानव इव कुत्र कुत्र न प्रसरमधिरोहन्ति ?, ततो मद्गुणावर्जित एष सर्वोऽपि लोकः पक्त्वा पाचयित्वा च मह्यमिष्टमिदमोदनादिकं प्रयच्छतीत्यादि, स इत्थमाददानः साक्षादारम्भकर्त्तैव ज्ञानावरणीयादिकर्म्मणा बध्यते, ततस्तद् ज्ञानावरणीयादिकर्म्म-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बन्धनमात्मकर्म्म जानीहि, इयमत्र भावना—आधाकर्म्म यद्वा स्वरूपेणानाधाकर्म्मापि भक्तिवशतो मदर्थमेतन्निष्पादितमित्याधाकर्म्मग्रहणपरिणतो यदा गृह्णाति तदा स साक्षादारम्भकर्त्तैव स्वपरिणामविशेषतो ज्ञानावरणीयादिकर्म्मणा बध्यते, यदि पुनर्न गृह्णीयात्तर्हि न बध्यते, तत आधाकर्म्मग्राहिणा यत्परस्य पाचकादेः कर्म्म तदात्मनोऽपि क्रियते इति परकर्म्म आत्मकर्म्म करोतीत्युच्यते, एतदेव स्पष्टं व्यनक्ति—'परकम्मे'त्यादि, तत आधाकर्म्म यदा साधुर्गृहीत्वा भुङ्क्ते स परस्य पाचकादेर्यत्कर्म तदात्मकर्म्मीकरोति, आत्मनोऽपि सम्बन्धि करोतीति भावार्थः ॥ अमुं च भावार्थमस्य वाक्यस्याजानानः परो जातसंशयः प्रश्नयति—

तत्थ भवे परकिरिया कहं नु अन्नत्थ संकमइ ? ॥ १०८ ॥

व्याख्या—'तत्र' परकर्म्म आत्मकर्मीकरोतीत्यत्र वाक्ये भवेत् परस्य वक्तव्यं यथा—कथं 'परक्रिया' परस्य सत्कं ज्ञानावरणीयादिकर्म्म अन्यत्र आधाकर्मभोजके साधौ संक्रामति ?, नैवं सङ्क्रामतीति भावः, न खलु जातुचिदपि परकृतं कर्म्म अन्यत्र सङ्क्रामति, यदि पुनरन्यत्रापि सङ्क्रामेत् तर्हि क्षपकश्रेणिमधिरूढः कृपापरीतचेताः सकलजगज्जन्तुकर्म्मनिर्मूलनापादनसमर्थः सर्वेषामपि जन्तूनां कर्म्म ज्ञानावरणीयाद्यात्मनि सङ्क्रमय्य क्षपयेत्, तथा च सति सर्वेषामेककालं मुक्तिरुपजायेत, न च जायते, तस्मान्नैव परकृतकर्म्मणामन्यत्र सङ्क्रमः, उक्तं च—"क्षपकश्रेणिपरिगतः स समर्थः सर्वकर्म्मिणां कर्म्म। क्षपयितुमेको यदि कर्म्मसङ्क्रमः स्यात्परकृतस्य ॥ १ ॥ परकृतकर्म्मणि यस्मान्न क्रामति सङ्क्रमो विभागो वा। तस्मात्सत्त्वानां कर्म्म यस्य यत्तेन तद्वेद्यम् ॥ २ ॥" ततः कथमुच्यते—परकर्म्म आत्मकर्मीकरोतीति ?। इदं च वाक्यं पूर्वान्तर्गतमन्यथाऽपि केचित्परमार्थमजानाना व्याख्यानयन्ति, ततस्तन्मतमपाकर्त्तुमुपन्यस्यन्नाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तिर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ४४ ॥

कूडउवमाइ केइ परप्पउत्तेऽवि बेंति बंधोत्ति ।

व्याख्या—'केचित्' स्वयूथ्या एव प्रवचनरहस्यमजानानाः 'कूटोपमया' कूटदृष्टान्तेन ब्रुवते 'परप्रयुक्तेऽपि' परेण पाचकादिना निष्पादितेऽप्योदनादौ साधोस्तद्ग्राहकस्य भवति बन्धः, एतदुक्तं भवति—यथा व्याधेन कूटे स्थापिते मृगस्यैव बन्धो न व्याधस्य, तथा गृहस्थेन पाकादौ कृते तद्ग्राहकस्य साधोर्बन्धो न पाककर्तुः, ततः परस्य यत्कर्म ज्ञानावरणीयादि सम्भवति तदाधाकर्म्मग्राही स्वस्यैव सम्बन्धि करोतीति परकर्म्म आत्मकर्म्मीकरोतीत्युच्यते, तदेतदसदुत्तरं, जिनवचनविरुद्धत्वात्, तथाहि—परस्यापि साक्षादारम्भकर्तृत्वेन नियमतः कर्म्मबन्धसम्भवः, ततः कथमुच्यते तद्ग्राहकस्य साधोर्बन्धो न पाककर्तुः ?, न च मृगस्यापि परप्रयुक्तिमात्राद् बन्धः, किन्तु स्वस्मादेव प्रमादादिदोषात्, एवं साधोरपि ॥ तथा चैतदेव निर्युक्तिकृदाह—

भणइ य गुरू पमत्तो बज्झइ कूडे अदक्खो य ॥ १०९ ॥

एमेव भावकूडे बज्झइ जो असुभभावपरिणामो । तम्हा उ असुभभावो वज्जेयव्वो पयत्तेणं ॥ ११० ॥

व्याख्या—'भणति' प्रतिपादयति, 'चः' पुनरर्थे, पुनरर्थश्चायम्–एके केचन सम्यग्गुरुचरणपर्युपासनाविकलतया यथाऽवस्थितं तत्त्वमवेदितारोऽनन्तरोक्तं ब्रुवते, गुरुः पुनर्भगवान् श्रीयशोभद्रसूरिरेवमाह, एतेनैतदावेदयति–जिनवचनमवितथं जिज्ञासुना नियमतः प्रज्ञावताऽपि सम्यग्गुरुचरणकमलपर्युपासनमास्थेयम्, अन्यथा प्रज्ञाया अवैतथ्यानुपपत्तेः, उक्तं च–"तत्तदुत्प्रेक्षमाणानां, पुराणैरागमैर्विना । अनुपासितवृद्धानां, प्रज्ञा नातिप्रसीदति ॥ १ ॥" गुरुवचनमेव दर्शयति–मृगोऽपि खलु कूटैः स बध्यते यः प्रमत्तोऽदक्षश्च भवति, यस्त्वप्रमत्तो दक्षश्च स कदाचनापि न बध्यते, तथाहि–अप्रमत्तो मृगः प्रथमत एव कूटदेशं परिहरति, अथ कथमपि प्रमादवशात् कूटदेश-

आत्मकर्मीकरणेनात्मकर्मता

॥ ४४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मपि प्राप्तो भवति तथापि यावन्नाद्यापि बन्धः पतति तावदक्षतया झगिति तद्विषयादपसर्प्पति, यस्तु प्रमत्तो दक्षतारहितश्च स बध्यते एव, तस्मान्मृगोऽपि बध्यते परमार्थतः स्वप्रमादक्रियावशतो न परप्रयुक्तिमात्रात्, 'एवमेव' अनेनैव मृगदृष्टान्तोक्तप्रकारेण 'भावकूटे' संयमरूपभावबन्धनाय कूटमिव कूटम्–आधाकर्म्म तत्र स 'बध्यते' ज्ञानावरणीयादिकर्म्मणा युज्यते, योऽशुभभावपरिणामः–आहारलाम्पट्यत आधाकर्म्मग्रहणात्मकाशुभभावपरिणामो न शेषः, न खल्वाधाकर्म्मणि कृतेऽपि यो न तद्गृह्णाति नापि भुङ्क्ते स ज्ञानावरणीयादिना पापेन बध्यते, न हि कूटे स्थापितेऽपि यो मृगस्तदेश एव नाऽऽयाति आयातोऽपि यत्नतस्तदेशं परिहरति स कूटेन बन्धमाप्नोति, तन्न परप्रयुक्तिमात्राद्बन्धो येन परोक्तनीत्या परकृतकर्म्मण आत्मकर्म्मीकरणमुपपद्यते, किन्त्वशुभाध्यवसायभावतः, तस्मादशुभो भाव आधाकर्म्मग्रहणरूपः साधुना प्रयत्नेन वर्जयितव्यः, परकर्म्म आत्मकर्म्म करोतीत्यत्र च वाक्ये भावार्थः प्रागेव दर्शितः, यथा परस्य पाचकादेर्यत्कर्म तदात्मकर्म्मीकरोति, किमुक्तं भवति?–तदात्मन्यपि कर्म्म करोतीति, ततो न कश्चिद्दोषः, परकर्म्मणश्चात्मकर्म्मीकरणमाधाकर्म्मणा ग्रहणे भोजने वा सति भवति, नान्यथा, तत उपचारादाधाकर्म्म आत्मकर्मेत्युच्यते ॥ ननु तदाधाकर्म्म यदा स्वयं करोत्यन्यैर्वा कारयति कृतं वाऽनुमोदते तदा भवतु दोषो, यदा तु स्वयं न करोति नापि कारयति नाप्यनुमोदते तदा कस्तस्य ग्रहणे दोष इति?, अत्राह—

कामं सयं न कुव्वइ जाणंतो पुण तहावि तग्गाही । वड्ढेइ तप्पसंगं अगिण्हमाणो उ वारेइ ॥ १११ ॥

व्याख्या—'कामं' सम्मतमेतद्, यद्यपि स्वयं न करोत्याधाकर्म्म उपलक्षणमेतन्न कारयति, तथाऽपि मदर्थमेतन्निष्पादितमिति जानानो यद्याधाकर्म्म गृह्णाति तर्हि तद्ग्राही 'तत्प्रसङ्गम्' आधाकर्मग्रहणप्रसङ्गं वर्द्धयति, तथाहि–यदा स साधुराधाकर्म्म जानानो गृह्णाति तदाऽन्येषां साधूनां दायकानां चैवं बुद्धिरुपजायते–नाऽऽधाकर्म्मभोजने कश्चनापि दोषः, कथमन्यथा स साधुर्जानानोऽपि गृही-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१११||

दीप अनुक्रम [१३३]

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ४५ ॥

तवानिति, तत एवं तेषां बुद्धयुत्पादे सन्तत्या साधूनामाधाकर्म्मभोजने दीर्घकालं षड्जीवनिकायविघातः स परमार्थतस्तेन प्रवर्त्यते, यस्तु न गृह्णाति स इत्थंभूतप्रसङ्गवृद्धिं निवारयति, प्रवृत्तेरेवाभावात्, तथा चाह—'अगिण्हमाणो उ वारेइ' ततोऽतिप्रसङ्गदोषभयात्कृतकारितदोषरहितमपि नाधाकर्म्म भुञ्जीत, अन्यच्च तदाधाकर्म्म जानानोऽपि भुञ्जानो नियमतोऽनुमोदते, अनुमोदना हि नाम अप्रतिषेधनम्, 'अप्रतिषिद्धमनुमत'मिति विद्वत्प्रवादात्, तत आधाकर्म्मभोजने नियमतोऽनुमोदनादोषोऽनिवारितप्रसरः, अपि च–एवमाधाकर्म्मभोजने कदाचिन्मनोज्ञाहारभोजनमिश्रदंष्टतया स्वयमपि पचेत्पाचयेद्वा, तस्मान्न सर्वथाऽऽधाकर्म्म भोक्तव्यमिति स्थितम् ॥ तदेवमुक्तमात्मकर्म्मेति नाम, सम्प्रति प्रतिषेवणादीनि नामानि वक्तव्यानि, तानि चात्मकर्म्मेति नामाङ्गत्वेन प्रवृत्तानि, ततस्तेषामात्मकर्म्मेति नामाङ्गत्वं परस्परं गुरुलघुचिन्तां च चिकीर्षुरिदमाह—

अत्तीकरेइ कम्मं पडिसेवाईहिं तं पुण इमेहिं । तत्थ गुरू आइपयं लहु लहु लहुगा कमेणियरे ॥ ११२ ॥

व्याख्या—तत्पुनर्ज्ञानावरणीयादिकं परकर्म्म 'आत्मीकरोति' आत्मसात्करोति 'एभिः' वक्ष्यमाणस्वरूपैः प्रतिषेवणादिभिः, ततः प्रतिषेवणादिविषयमाधाकर्म्मापि प्रतिषेवणादिनाम, तत्र तेषां प्रतिषेवणादीनां चतुर्णां मध्ये 'आदिपदं' प्रतिषेवणालक्षणं 'गुरु' महादोषं, शेषाणि तु पदानि प्रतिषेवणादीनि लघुलघुलघुकानि द्रष्टव्यानि, प्रतिषेवणाऽपेक्षया प्रतिश्रवणं लघु प्रतिश्रवणादपि संवासनं लघु संवासनादप्यनुमोदनमिति ॥ सम्प्रत्येतेषामेव प्रतिषेवणादीनां स्वरूपं दृष्टान्तांश्च प्रतिपिपादयिषुस्तद्विषयां प्रतिज्ञामाह—

पडिसेवणमाईणं दाराणऽणुमोयणावसाणाणं । जहसंभवं सरूवं सोदाहरणं पवक्खामि ॥ ११३ ॥

व्याख्या—प्रतिषेवणादीनां द्वाराणामनुमोदनापर्यवसानानां यथासम्भवं यद्यस्य सम्भवति तस्य तत्स्वरूपं 'सोदाहरणं' सह-

आधाकर्म-ग्रहणे प्रसङ्गः प्रतिषेवणादि प्रायश्चित्तं

॥ ४५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'प्रतिषेवना' स्वरुपम् एवं दृष्टांता: कथयते

ष्टान्तं प्रवक्ष्यामि, तत्र प्रथमतः प्रतिषेवणास्वरूपं वक्तव्यं, तत्रापि य आधाकर्म्म स्वयमानीय भुङ्क्ते स आधाकर्म्मप्रतिसेवी प्रतीत एव ॥ केवलमिह ये परेणोपनीतमाधाकर्म्म भुञ्जानस्य न कश्चिद्दोष इति मन्यन्ते तन्मतविकुट्टनार्थं परेणोपनीतस्याऽऽधाकर्म्मणो भोजने प्रतिषेवणादोषमाह—

अन्नेणाहाकम्मं उवणीयं असइ चोइओ भणइ । परहत्थेणंगारे कड्ढंतो जह न डज्झइ हु ॥ ११४ ॥

एवं खु अहं सुद्धो दोसो देंतस्स कूडउवमाए । समयत्थमजाणंतो मूढो पडिसेवणं कुणइ ॥ ११५ ॥

व्याख्या—'अन्येन' साधुना भक्तादिकमाधाकर्म्म 'उपनीतं' गृहस्थगृहादानीय समर्पितं तद्योऽश्नाति स प्रतिषेवणां करोतीति सम्बन्धः, स चाधाकर्म्म भुञ्जानः केनाप्यपरेण साधुना धिग्गर्हामहे यत्र तत्र भवान्विद्वानपि संयतोऽप्याधाकर्म्म भुञ्जीतेति चोदितः विक्षिप्तः सन् प्रत्युत्तरं भणति—यथा न मे कश्चिद्दोषः, स्वयंग्रहणस्याभावात्, यो हि नाम स्वयमाधाकर्म्म गृहीत्वा भुङ्क्ते तस्य दोषो, यस्तु परेणोपनीतं भुङ्क्ते तस्य न कश्चित्, तथा चात्र दृष्टान्तो यथा—परहस्तेनाङ्गारान् कर्षयन्न दह्यते, एवमहमप्याधाकर्म्मभोजी 'खु' निश्चितं शुद्ध एव, दोषः पुनर्ददतो यथा परस्य स्वहस्तेनाङ्गारानाकर्षतः, एवं 'कूटया उपमया' अलीकेन दृष्टान्तेन 'समयार्थं' भगवत्प्रवचनोपनिषदं "जस्सट्ठा आरंभो पाणिवहो होइ तस्स नियमेणं । पाणिवहे वयभंगो वयभंगे दोग्गई चेव ॥ १ ॥" इत्यादिरूपम् अजानानः, अत एव मूढः प्रतिषेवणं कुरुते ॥ तदेवमुक्तं प्रतिषेवणस्य स्वरूपं, सम्प्रति प्रतिश्रवणस्य स्वरूपमाह—

१ यस्यार्थमारम्भः प्राणिवधो भवति तस्य नियमेन । प्राणिवधे व्रतभङ्गो व्रतभङ्गे दुर्गतिरेव ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||११६||

दीप अनुक्रम [१३८]

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ ४६ ॥

उवओगंमि य लाभं कम्मग्गाहिस्स चित्तरक्खट्ठा । आलोइए सुलद्धं भणइ भणंतस्स पडिसुणणा ॥ ११६ ॥

व्याख्या—इह यो गुरुरुपयोगकरणवेलायां कर्म्मग्राहिणं आधाकर्म्मग्रहणाय प्रवृत्तस्य शिष्यस्य 'चित्तरक्षार्थं' मनोऽन्यथाभावनिवारणार्थं दाक्षिण्याद्युपेतो 'लाभं भणति' लाभ इति शब्दमुच्चारयति, तथाऽऽधाकर्म्मणि गृहस्थगृहादानीय आलोचिते श्राद्धिकयेदं करोटिकया दत्तमित्येवं निवेदिते 'सुलद्धं' शोभनं जातं यत्त्वयेदं लब्धमिति भणति तस्य गुरोरित्थं भणतः प्रतिश्रवणं नाम दोषः, सूत्रे तु स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, प्राकृते हि लिङ्गं व्यभिचारि, यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे–" लिङ्गं व्यभिचार्यपी"ति, प्रतिश्रवणं च नामाभ्युपगमः ॥ सम्प्रति संवासानुमोदनयोः स्वरूपं प्रतिपादयति—

संवासो उ पसिद्धो अणुमोयण कम्मभोयगपसंसा । एएसिमुदाहरणा एए उ कमेण नायव्वा ॥ ११७ ॥

व्याख्या—'संवासः' आधाकर्म्मभोक्तृभिः सहैकत्र संवसनरूपः प्रसिद्ध एव, अनुमोदना त्वाधाकर्म्मभोजकप्रशंसा–कृतपुण्याः सुलब्धिका एते ये इत्थं सदैव लभन्ते भुञ्जते वेत्येवंरूपा ॥ तदेवमुक्तं प्रतिषेवणादीनां चतुर्णामपि स्वरूपं, सम्प्रत्येतेषामेव प्रतिषेवणादीनां क्रमेण 'एतानि' वक्ष्यमाणस्वरूपाणि उदाहरणानि ज्ञातव्यानि, सूत्रे च उदाहरणशब्दस्य पुंलिङ्गता प्राकृतलक्षणवशात् ॥ तत्र यान्युदाहरणानि वक्तव्यानि तेषां नामानि क्रमेण प्रतिपादयति—

पडिसेवणाएँ तेणा पडिसुणणाए उ रायपुत्तो उ । संवासंमि य पल्ली अणुमोयण रायदुट्ठो य ॥ ११८ ॥

व्याख्या—प्रतिषेवणस्य स्तेना उदाहरणं, प्रतिश्रवणस्य तु राजपुत्रं, राजपुत्रोपलक्षिताः शेषाः पुरुषाः, संवासे 'पल्ली' पल्लीवास्तव्या वणिजः, अनुमोदनायां राजदुष्टो, राजदुष्टोपलक्षितास्तत्प्रशंसाकारिणः ॥ तत्र प्रथमतः प्रतिषेवणसम्बधिनं स्तेनदृष्टान्तं भावयति—

प्रतिषेवणादी दोषाः

॥ ४६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गोणीहरण सभूमी नेऊणं गोणिओ पहे भक्खे । निव्विसया परिवेसण ठियाव्वि ते कूविया घत्थे ॥ ११९ ॥

व्याख्या—इह गाथाक्षरयोजना सुगमत्वात्स्वयमेव कर्त्तव्या केवलं ' निर्विशका ' उपभोक्तारो, निष्पूर्वस्य विशेरुपभोगे वर्त्तमानत्वात्, तथा चोक्तम्–" निर्वेश उपभोगः स्यात् ', ' कूजकाः ' व्याहारकारिणः, गवां व्यावर्त्तका इत्यर्थः, 'घत्थे' इति गृहीताः, कथानकमुच्यते–इह कचिद्ग्रामे बहवो दस्यवः, ते चान्यदा कुतश्चित्सन्निवेशाद्वा अपहृत्य निजग्रामाभिमुखं प्रचलिताः, गच्छतां च तेषामपान्तराले केऽप्यन्ये दस्यवः पथिका मिलितवन्तः, ततस्तेऽपि तैः सार्द्धं व्रजन्ति, व्रजन्तश्च स्वदेशं प्राप्ताः, ततः प्राप्तः स्वदेश इति निर्भया भोजनवेलायां कतिपया गा विनाश्य भोजनाय तन्मांसं पक्तुमारब्धवन्तः, अस्मिंश्च प्रस्तावे केऽप्यन्येऽपि पथिकाः समाययुः, ततस्तेऽपि तैर्दस्युभिर्भोजनाय निमन्त्रिताः, ततो गोमांसे पक्वे केऽपि चौराः पथिकाश्च भोक्तुं प्रवृत्ताः, केऽपि गोमांसभक्षणं बहुपापमिति परिभाव्य न भोजनाय प्रवृत्ताः, केवलमन्येभ्यः परिवेषणं विदधति, अत्रान्तरे च निष्पत्याकारनिशितकरवालभीषणमूर्त्तयः समाययुः कूजकाः, ततस्तैः सर्वेऽपि भोक्तारः परिवेषकाश्च परिगृहीताः, तत्र ये पथिका अपान्तराले मिलितास्ते पथिका वयमिति ब्रुवाणा अपि चौरोपनीतगोमांसभक्षणपरिवेषणप्रवृत्ततया चौरत्वदुष्टा इति गृहीता विनाशिताश्च ॥ अमुमेवार्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—

जेऽविय परिवेसंती, भायणाणि धरंति य । तेऽवि बज्झंति तिव्वेण, कम्मुणा किमु भोइणो ? ॥ १२० ॥

व्याख्या—इह चौराणां येऽपान्तराले भोजनवेलायां वा ये मिलिताः पथिकास्तत्रापि ये परिवेषमात्रं भाजनधारणमात्रं वा कृतवन्तस्तेऽपि कूजकैरागत्य बद्धा विनाशिताश्च, एवमिहापि ये साधवोऽन्येभ्यः साधुभ्यः आधाकर्म्म परिवेषयन्ति वा धरन्ति तेऽपि ' तीव्रेण ' दुस्सहविपाकेन नरकादिगतिहेतुना कर्म्मणा बध्यन्ते, किं पुनराधाकर्म्मभोजिनः ? । तत एतद्दोषभयात्परिवेषणादिमात्रमप्याधाकर्म्मणः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

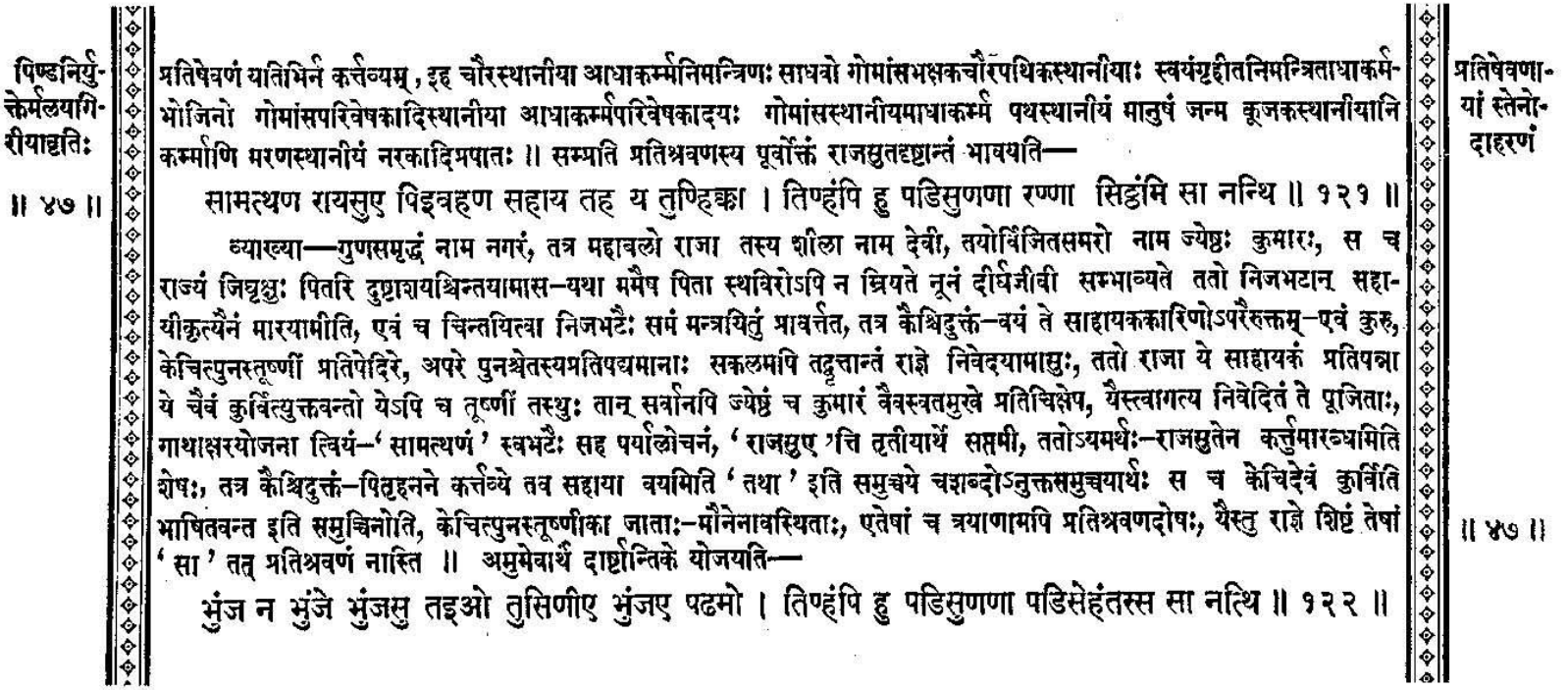

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ४७ ॥

प्रतिषेवणं यतिभिर्न कर्त्तव्यम्, इह चौरस्थानीया आधाकर्म्मनिमन्त्रिणः साधवो गोमांसभक्षकचौरपथिकस्थानीयाः स्वयंगृहीतनिमन्त्रिताधाकर्मभोजिनो गोमांसपरिवेषकादिस्थानीया आधाकर्म्मपरिवेषकादयः गोमांसस्थानीयमाधाकर्म्म पथस्थानीयं मानुषं जन्म कूजकस्थानीयानि कर्म्माणि मरणस्थानीयं नरकादिप्रपातः ॥ सम्प्रति प्रतिश्रवणस्य पूर्वोक्तं राजसुतदृष्टान्तं भावयति—

सामत्थण रायसुए पिइवहण सहाय तह य तुण्हिक्का । तिण्हंपि हु पडिसुणणा रण्णा सिट्ठंमि सा नत्थि ॥ १२१ ॥

व्याख्या—गुणसमृद्धं नाम नगरं, तत्र महाबलो राजा तस्य शीला नाम देवी, तयोर्विजितसमरो नाम ज्येष्ठः कुमारः, स च राज्यं जिघृक्षुः पितरि दुष्टाशयश्चिन्तयामास–यथा ममैष पिता स्थविरोऽपि न म्रियते नूनं दीर्घजीवी सम्भाव्यते ततो निजभटान् सहायीकृत्यैनं मारयामीति, एवं च चिन्तयित्वा निजभटैः समं मन्त्रयितुं प्रावर्त्तत, तत्र कैश्चिदुक्तं–वयं ते साहायककारिणोऽपरैरुक्तम्–एवं कुरु, केचित्पुनस्तूष्णीं प्रतिपेदिरे, अपरे पुनश्चेतस्यप्रतिपद्यमानाः सकलमपि तद्वृत्तान्तं राज्ञे निवेदयामासुः, ततो राजा ये साहायकं प्रतिपन्ना ये चैवं कुर्वित्युक्तवन्तो येऽपि च तूष्णीं तस्थुः तान् सर्वानपि ज्येष्ठं च कुमारं वैवस्वतमुखे प्रतिचिक्षेप, यैस्त्वागत्य निवेदितं ते पूजिताः, गाथाक्षरयोजना त्वियं–'सामत्थणं' स्वभटैः सह पर्यालोचनं, 'राजसुए'त्ति तृतीयार्थे सप्तमी, ततोऽयमर्थः–राजसुतेन कर्त्तुमारब्धमिति शेषः, तत्र कैश्चिदुक्तं–पितृहनने कर्त्तव्ये तव सहाया वयमिति 'तथा' इति समुच्चये चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः स च केचिदेवं कुर्विति भाषितवन्त इति समुच्चिनोति, केचित्पुनस्तूष्णीका जाताः–मौनेनावस्थिताः, एतेषां च त्रयाणामपि प्रतिश्रवणदोषः, यैस्तु राज्ञे शिष्टं तेषां 'सा' तत् प्रतिश्रवणं नास्ति ॥ अमुमेवार्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—

भुंज न भुंजे भुंजसु तइओ तुसिणीए भुंजए पढमो । तिण्हंपि हु पडिसुणणा पडिसेहंतस्स सा नत्थि ॥ १२२ ॥

प्रतिषेवणायां स्तेनोदाहरणं

॥ ४७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१२२||

दीप अनुक्रम [१४४]

व्याख्या—इह किल केनापि साधुना चत्वारः साधव आधाकर्म्मणे निमन्त्रिता यथा भुङ्क्ष्वं यूयमेनमाहारमिति, तत्रैवं निमन्त्रणे कृते प्रथमो भुङ्क्ते, द्वितीयः प्राह–नाहं भुञ्जे भुङ्क्ष्व त्वमिति, तृतीयो मौनमाश्रितः, चतुर्थः पुनः प्रतिषिद्धवान् यथा–न कल्पते साधूनामाधाकर्म्म तस्मादहं न भुञ्जे इति, तत्र त्रयाणामाद्यानां प्रतिश्रवणदोषः, चतुर्थस्य प्रतिषेधतः 'सा' तत्प्रतिश्रवणं नास्ति, अत्राह–नन्वाद्यस्याधाकर्म्म भुञ्जानस्य प्रतिषेवणलक्षण एव दोषः, कथं प्रतिश्रवणदोष उक्तः ?, उच्यते, इह यदाऽऽधाकर्म्मनिमन्त्रितः संस्तद्भोजनमभ्युपगच्छति तदा नाद्यापि प्रतिषेवणमिति प्रतिश्रवणदोषः, तत ऊर्द्धं तु प्रतिषेवणं, ततो न कश्चिद्दोषः ॥ अथामीषामेव भोजकादीनां कस्कः कायिकादिको दोषः स्याद् ?, अत आह—

आणंतभुंजगा कम्मुणा उ बीयस्स वाइओ दोसो । तइयस्स य माणसिओ तीहिं विसुद्धो चउत्थो उ ॥१२३॥

व्याख्या—इह य आधाकर्म्मणः स्वयमानेता यश्चानीतस्य निमन्त्रितः सन् भोक्ता तौ द्वावपि कर्म्मणा–आनयनभोजनरूपया कायक्रियया तुशब्दान्मनसा वाचा च दोषवन्तो, द्वितीयस्य तु भुङ्क्ष्व त्वं नाहं भुञ्जे इति ब्रुवाणस्य वाचिको दोषः, उपलक्षणमेतन्मानसिकश्च, तृतीयस्य तु तूष्णीं स्थितस्य मानसिको, यस्तु चतुर्थः स त्रिभिरपि दोषैर्विशुद्धः, तस्माच्चतुर्थकल्पेन सर्वदैव साधुना भवितव्यम् ॥ सम्प्रति दृष्टान्तोक्तस्य कुमारस्य ये दोषाः संप्रभवन्ति तानुपदर्श्याधाकर्म्मणो भोक्तरि योजयति—

पडिसेवण पडिसुणणा संवासऽणुमोयणा उ चउरोवि । पियमारग रायसुए विभासियव्वा जइजणेऽवि ॥ १२४ ॥

व्याख्या—पितृमारके राजसुते प्रतिषेवणप्रतिश्रवणसंवासानुमोदनारूपाश्चत्वारोऽपि दोषा घटन्ते, तथाहि–तस्य स्वयं पितृमारणाय प्रवृत्तत्वात्प्रतिषेवणं, वयं तव सहाया इति निजभटवचनं प्रतिपद्यमानस्य प्रतिश्रवणं, तैरेव सार्द्धमेकत्र निवसनेन संवासः, तेषु बहुमानक-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१२४||

दीप अनुक्रम [१४६]

॥ ४८ ॥

रणादनुमोदना, एवं यतिजनेऽप्याधाकर्म्मणो भोक्तरि 'विभाषितव्याः' योजनीयाः, अत्र यः स्वयमानीयान्यैः सह भुङ्क्ते तत्र प्रथमतो योज्यन्ते, तस्याऽऽधाकर्म्म गृहस्थगृहादानीय भुञ्जानस्य प्रतिषेवणं, गृहस्थेनाऽऽधाकर्म्मग्रहणाय निमन्त्रितस्य तद्ग्रहणाभ्युपगमः प्रतिश्रवणं, यस्मै तदाधाकर्म्म आनीय संविभागेन प्रयच्छति तेन सहैकत्र संवसतः संवासः, तत्रैव बहुमानकरणादनुमोदना, यश्चान्येनाऽऽनीतमाधाकर्म्म निमन्त्रितः सन् भुङ्क्ते तस्य प्रथमतो निमन्त्रणाऽनन्तरमभ्युपगच्छतः प्रतिश्रवणं, ततो भुञ्जानस्य प्रतिषेवणं, निमन्त्रकेण सहैकत्र संवसतः संवासः, तत्र बहुमानकरणादनुमोदना, तदेवं यत्र प्रतिषेवणं तत्र नियमतश्चत्वारोऽपि दोषाः, प्रतिश्रवणे च केवले त्रयः, संवासे द्वौ, अनुमोदनायां त्वनुमोदनैव केवला, अत एवादिपदं गुरु शेषाणि तु पदानि लघुलघुलघुकानीति ॥ सम्पति संवासे पल्लीदृष्टान्तं भावयति—

पल्लीवहंमि नट्ठा चोरा वणिया वयं न चोरत्ति । न पलाया पावकरत्ति काउं रन्ना उवालद्धा ॥ १२५ ॥

व्याख्या—**वसन्तपुरं** नाम नगरं, तत्रारिमर्दनो नाम राजा, तस्य प्रियदर्शना देवी, तस्य वसन्तपुरस्य प्रत्यासन्ना भीमाभिधाना पल्ली, तस्यां च बहवो भिल्लरूपा दस्यवः परिवसन्ति वणिजश्च, ते च दस्यवः सदैव स्वपल्ल्या विनिर्गत्य सकलमप्यरिमर्दनराजमण्डलमुपद्रवन्ति, न स कश्चिदस्ति राज्ञः सामन्तो माण्डलिको वा यस्तान् साधयति, ततोऽन्यदा तत्कृतं सकलमण्डलोपद्रवमाकर्ण्य महाकोपावेशपूरितमानसो राजा स्वयं महतीं सामग्रीं विधाय भिल्लान् प्रति जगाम, भिल्लाश्च पल्लिं मुक्त्वा सम्मुखीभूय सङ्ग्रामं दातुमुद्यताः, राजा प्रबलसेनापरिकलिततया तान् सर्वानप्यवगणय्य सोत्साहो हन्तुमारब्धवान्, ते चैवं हन्यमानाः केऽपि तत्रैव परासवो बभूवुः, केऽपि पुनः पलायितवन्तः, राजा च सामर्षः पल्लीं गृहीतवान्, वणिजश्च तत्रत्या न वयं चौरास्ततः किमस्माकं राजा करिष्यति ? इति बुद्ध्या नाने-

॥ ४८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शन्, राज्ञा च तेऽपि ग्राहिताः, ततस्तैर्विज्ञपयांचके यथा–देव! वयं वणिजो न चौरा इति, ततो राजाऽवादीत्–यूयं चौरेभ्योऽप्यतीवापराधकारिणो येऽस्माकमपराधकारिभिश्चौरैः सह संवसथेति, ततो निगृहीताः। गाथाक्षरयोजना तु सुगमत्वात्स्वयं कार्या। दार्ष्टान्तिके योजनां करोति—

आहाकडभोईहिं सहवासो तह य तव्विवज्जंपि। दंसणगंधपरिकहा भाविंति सुलूहविंतिपि ॥ १२६ ॥

भावना—यथा वणिजां चौरैः सहैकत्र संवासो दोषाय बभूव तथा साधूनामप्याधाकर्म्मभोक्तृभिः सहैकत्र संवासो दोषाय वेदितव्यः, यतः 'तद्विवर्जमपि' आधाकर्म्मपरिहारमपि तथा 'सुलूक्षवृत्तिमपि' सुष्ठु-अतिशयेन रूक्षा द्रव्यतो विकृत्यपरिभोगेण भावतोऽभिष्वङ्गाभावेन निःस्नेहा वृत्तिः–वर्त्तनं यस्य स तथा तमपि आधाकर्म्मसम्बन्धिन्यो दर्शनगन्धपरिकथा 'भावयन्ति' आधाकर्म्मपरिभोगवाञ्छापादनेन वासयन्ति, तथाहि—'दर्शनम्' अवलोकनं, तच्च मनोज्ञमनोज्ञतराधाकर्म्माहारविषयं नियमाद्वासयति, यतः कस्य नाम शङ्खकुन्दावदातो रसपाकनिधाननिष्णातमहासूपकारसुसंस्कृतः शाल्याद्योदनो न मनःक्षोभमुत्पादयति, गन्धोऽपि सद्यस्तापितघृतादिसम्बन्धी नासिकेन्द्रियाप्यायनशीलो बलादपि तद्भोजने श्रद्धामुपजनयति, परिकथाऽपि च विशिष्टविशिष्टतरद्रव्यनिष्पादितमोदकादिविषया विधीयमाना तदास्वादसम्पत्त्याशंसाविधौ चेत उत्साहयितुमीश्वरा, तथादर्शनात्, ततोऽवश्यमाधाकर्म्मभोक्तृभिः सह संवासो यतीनां दोषायेति ॥ अनुमोदनायां राजदुष्टदृष्टान्तं भावयति—

रायारोहऽवराहे विभूसिओ घाइओ नयरमज्झे। धन्नाधन्नत्ति कहा वहावहो कप्पडिय खोला ॥ १२७ ॥

व्याख्या—श्रीनिलयं नाम नगरं तत्र गुणचन्द्रो नाम राजा, तस्य गुणवतीप्रमुखमन्तःपुरं, तत्रैव च पुरे सुरूपो नाम वणिक्, स

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१२७||

दीप अनुक्रम [१४९]

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ४९ ॥

च निजशरीरसौन्दर्यविनिर्जितनकरध्वजलवणिमा कमनीयकामिनीनामतीव कामास्पदं स्वभावतश्च परदाराभिष्वङ्गलालसः, ततः सोऽन्यदा राजाऽन्तःपुरसन्निवेशसमीपं गच्छन्नन्तःपुरिकाभिः सस्नेहमवलोकितः, तेनापि च ताः साभिलाषमवेक्षिताः, ततो जातः परस्परमनुरागः, दूतीनिवेदितप्रयोगवशेन च ताः प्रतिदिनं तेन सेवितुमारब्धाः, राज्ञा च कथमप्ययं वृत्तान्तो ज्ञातः, ततो यदा सोऽन्तःपुरं प्राविशत्तदा निजपुरुषैर्ग्राहितो ग्राहयित्वाच्च यैरेवाभरणैरलङ्कृतोऽन्तःपुरं प्रविवेश तैरेवाभरणैर्विभूषितो नगरमध्ये चतुष्पथे सकलजनसमक्षं विचित्रकदर्थनापुरस्सरं विनिपातितो । राजा चान्तःपुरविध्वंसेनातीव दूनमनास्तस्मिन् विनाशितेऽपि न कोपाऽऽवेशं मुञ्चति, ततो हेरिकान् प्रेषयामास, यथा रे ! दुरात्मानं तं ये प्रशंसन्ति ये वा निन्दन्ति तान् द्वयानपि मह्यं निवेदय ? इति, एवं च ते प्रेषिताः कार्प्पटिकवेषधारिणः सर्वत्रापि नगरे परिभ्रमन्ति, लोकांश्च तं विनाशितं दृष्ट्वा केचन ब्रुवते, यथा अहो ! जातेन मनुजन्मनाऽवश्यं तावन्मर्त्तव्यं परं या अस्मादृशामधन्यानां दृष्टिपथमपि कदाचनापि नायान्ति ता अप्येष यथासुखं चिरकालं भुक्त्वा मृतस्तस्माद्धन्य एष इति, अपरे ब्रुवते—अधन्य एष उभयलोकविरुद्धकारी, स्वामिनोऽन्तःपुरिका हि जननीतुल्याः, ततस्तास्वप्येष सञ्चरन् कथं प्रशंसामर्हति शिष्टेभ्यः ? इति, ततस्ते द्वयेऽपि हेरिकैर्निवेदिता राज्ञो, राज्ञा च ये तस्य निन्दाकारिणस्ते सद्बुद्ध्य इतिकृत्वा पूजिताः, इतरे तु कृतान्तमुखे प्राक्षिप्यन्त, गाथाक्षरयोजना त्वेवं—राज्ञोऽवरोधं—अन्तःपुरं तद्विषयेऽपराधे यैरेवाऽऽभरणैर्विभूषितोऽन्तःपुरे प्रविष्टस्तैरेव विभूषितो नगरमध्ये घातितः, ततः कार्प्पटिकवेषधारिणः 'खोलाः' हेरिका राज्ञा नियुक्ताः, लोकानां च तद्विषया धन्याधन्यकथा, ततो धन्यकथाकारिणां विनाशः इतरेषां त्वविनाश इति, दार्ष्टान्तिकयोजना त्वेवम्—एके साधवस्तावदाधाकर्म्म भुञ्जते, तत्रापरे जल्पन्ति—धन्या एते सुखं जीवन्ति, अन्ये ब्रुवते—धिगेतान् ! ये भगवत्प्रवचनप्रतिषिद्धमाहारमश्नन्ति, तत्र ये प्रशंसिनस्ते कर्म्मणा बध्यन्ते इतरे तु न, इहान्तःपुरस्थानीयमाधाकर्म्म, अन्तः-

आधाकर्मणि अनुमोदनायां राजदुष्टोदा०

॥ ४९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

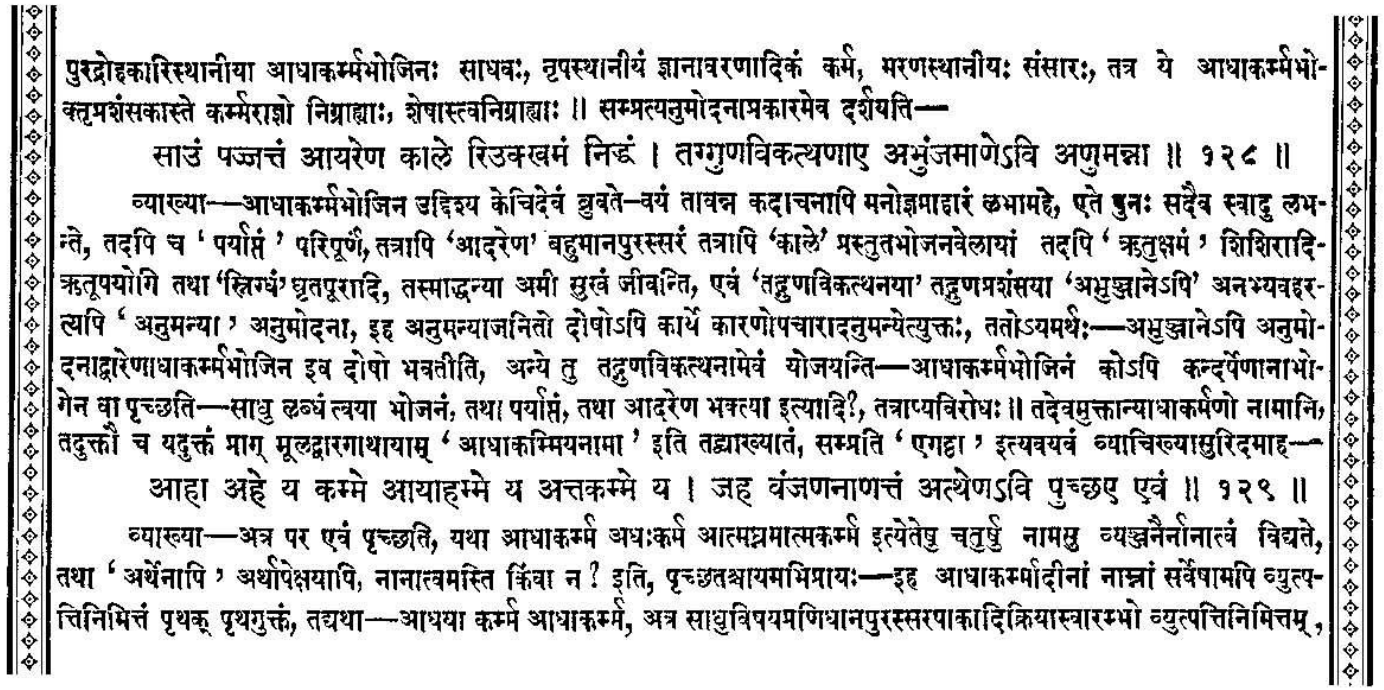

पुरद्रोहकारिस्थानीया आधाकर्म्मभोजिनः साधवः, नृपस्थानीयं ज्ञानावरणादिकं कर्म, मरणस्थानीयः संसारः, तत्र ये आधाकर्म्मभोक्तृप्रशंसकास्ते कर्म्मराज्ञो निग्राह्याः, शेषास्त्वनिग्राह्याः ॥ सम्प्रत्यनुमोदनाप्रकारमेव दर्शयति—

साउं पज्जत्तं आयरेण काले रिउक्खमं निद्धं । तग्गुणविकत्थणाए अभुंजमाणेऽवि अणुमन्ना ॥ १२८ ॥

व्याख्या—आधाकर्म्मभोजिन उद्दिश्य केचिदेवं ब्रुवते—वयं तावन्न कदाचनापि मनोज्ञमाहारं लभामहे, एते पुनः सदैव स्वादु लभन्ते, तदपि च 'पर्याप्तं' परिपूर्णं, तत्रापि 'आदरेण' बहुमानपुरस्सरं तत्रापि 'काले' प्रस्तुतभोजनवेलायां तदपि 'ऋतुक्षमं' शिशिरादिऋतूपयोगि तथा 'स्निग्धं' घृतपूरादि, तस्माद्धन्या अमी सुखं जीवन्ति, एवं 'तद्गुणविकत्थनया' तद्गुणप्रशंसया 'अभुञ्जानेऽपि' अनभ्यवहरत्यपि 'अनुमन्या' अनुमोदना, इह अनुमन्याजनितो दोषोऽपि कार्ये कारणोपचारादनुमन्येत्युक्तः, ततोऽयमर्थः—अभुञ्जानेऽपि अनुमोदनाद्वारेणाधाकर्म्मभोजिन इव दोषो भवतीति, अन्ये तु तद्गुणविकत्थनामेवं योजयन्ति—आधाकर्म्मभोजिनं कोऽपि कन्दर्पेणानाभोगेन वा पृच्छति—साधु लब्धं त्वया भोजनं, तथा पर्याप्तं, तथा आदरेण भक्त्या इत्यादि?, तत्राप्यविरोधः ॥ तदेवमुक्तान्याधाकर्मणो नामानि, तदुक्तौ च यदुक्तं प्राग् मूलद्वारगाथायाम् 'आधाकम्मियनामा' इति तद्व्याख्यातं, सम्प्रति 'एगट्ठा' इत्यवयवं व्याचिख्यासुरिदमाह—

आहा अहे य कम्मे आयाहम्मे य अत्तकम्मे य । जह वंजणनाणत्तं अत्थेणऽवि पुच्छए एवं ॥ १२९ ॥

व्याख्या—अत्र पर एवं पृच्छति, यथा आधाकर्म्म अधःकर्म आत्मघ्नमात्मकर्म्म इत्येतेषु चतुर्षु नामसु व्यञ्जनैर्नानात्वं विद्यते, तथा 'अर्थेनापि' अर्थापेक्षयापि, नानात्वमस्ति किंवा न? इति, पृच्छतश्चायमभिप्रायः—इह आधाकर्म्मादीनां नाम्नां सर्वेषामपि व्युत्पत्तिनिमित्तं पृथक् पृथगुक्तं, तद्यथा—आधया कर्म्म आधाकर्म्म, अत्र साधुविषयमणिधानपुरस्सरपाकादिक्रियास्वारम्भो व्युत्पत्तिनिमित्तम्,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ ५० ॥

अधोऽधःकर्म्म अधः कर्म्म, अत्र विशुद्धेभ्यः संयमादिस्थानेभ्योऽधोऽधस्तरामागमनम्, आत्मानं हन्तीत्यात्मघ्नामिति, अत्र चरणाद्यात्मविनाशनं, परकर्म्म आत्मकर्म्म क्रियते इत्यात्मकर्म्म, अत्र परकर्म्मण आत्मसम्बन्धितया करणं, तत्रेऽत्र संशयो, यथा व्युत्पत्तिनिमित्तं पृथक् पृथग् भिन्नमेवं प्रवृत्तिनिमित्तमपि पृथक् पृथग् भिन्नं यथा घटपटशकटादिशब्दानां, किंवा न यथा घटकलशकुम्भादीनामिति, अत्र 'आहा अहे य कम्मे' इत्यादावक्षरयोजना प्रागिव भावनीया ॥ एवं परेण प्रश्ने कृते सति शिष्यमतिप्रागल्भ्याधानाय सामान्यतो नामविषयां चतुर्भङ्गिकामाह—

एगट्ठा एगवंजण एगट्ठा णाणवंजणा चेव । णाणट्ठ एगवंजण णाणट्ठा वंजणाणाणा ॥ १३० ॥

व्याख्या—इह नामानि जगति प्रवर्त्तमानानि कानिचिदुपलभ्यन्ते एकार्थानि एकव्यञ्जनानि, कानिचिदेकार्थानि नानाव्यञ्जनानि, कानिचिन्नानार्थानि एकव्यञ्जनानि, कानिचित्पुनर्नानार्थानि नानाव्यञ्जनानि ॥ अस्या एव चतुर्भङ्गिकायाः क्रमेण लौकिकानिदर्शनानि गाथाद्वयेनोपदर्शयति—

दिट्ठं खीरं खीरं एगट्ठं एगवंजणं लोए । एगट्ठं बहुनामं दुद्ध पओ पीलु खीरं च ॥ १३१ ॥
गोमहिसिअयाखीरं णाणट्ठं एगवंजणं नेयं । घडपडकडसगडरहा होइ पिहत्थं पिहंनामं ॥ १३२ ॥

व्याख्या—इह सर्वत्रापि जातावेकवचनं, ततोऽयमर्थः—एकार्थानि एकव्यञ्जनानि नामानि लोके प्रवर्त्तमानानि दृष्टानि, यथा क्षीरं क्षीरमिति, इयमत्र भावना—एकत्र क्वचिद्गृहे गोदुग्धादिविषये क्षीरमिति नाम प्रवृत्तमुपलब्धं, तथाऽन्यत्रापि गोदुग्धादावेव विषये

आधाकर्मैकार्थाः

॥ ५० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्षीरमिति नाम प्रवर्त्तमानमुपलभ्यते, एवं ततोऽप्यन्यत्र गृहान्तरे, ततोऽमूनि सर्वाण्यपि क्षीरं क्षीरमित्येवंरूपाणि नामानि एकार्थानि एकव्यञ्जनानि, तथा एकार्थानि बहुव्यञ्जनरूपाणि नामानि यथा दुग्धं पयः पीलु क्षीरमिति, अमूनि हि नामानि सर्वाण्यपि विवक्षितगोदुग्धादिलक्षणैकार्थाभिधायितया नानापुरुषैरेककालं क्रमेणैकपुरुषेण वा प्रयुज्यमानानि एकार्थानि नानाव्यञ्जनानि च ततो द्वितीये भङ्गे निपतन्ति, नानार्थान्येकव्यञ्जनानि, यथा—गोमहिष्यजासम्बन्धिषु क्षीरं क्षीरमिति नामानि प्रवर्त्तमानानि, एतानि हि नामानि सर्वाण्यपि समानव्यञ्जनानि भिन्नभिन्नगोदुग्धमहिषीदुग्धादिरूपार्थवाचकतया भिन्नार्थानि च तत उच्यन्ते—नानार्थान्येकव्यञ्जनानि, नानार्थानि नानाव्यञ्जनानि यथा घटपटशकटरथादीनि नामानि ॥ तदेवमुक्तानि चतुर्भङ्गिकाया निदर्शनानि, साम्प्रतमिमामेव चतुर्भङ्गिकामाधाकर्म्मणि यथासम्भवं गाथाद्वयेन योजयति—

आहाकम्माईणं होइ दुरुत्ताइ पढमभंगो उ । आहाहेकम्मंति य बिइओ सक्किंद इव भंगो ॥ १३३ ॥

आहाकम्मंतरिया असणाई उ चउरो तइयभंगो । आहाकम्म पडुच्चा नियमा सुन्नो चरिमभंगो ॥ १३४ ॥

व्याख्या—आधाकर्म्मादीनां नाम्नां युगपद्बहुभिः पुरुषैरेकेन वा कालभेदेनैकस्मिन्नेव अशनादिरूपे वस्तुनि यद् 'द्विरुक्तादि' द्विरुच्चारणादि, आदिशब्दात् त्रिरुच्चारणादिपरिग्रहः, स भवति प्रथमो भङ्गः, किमुक्तं भवति ?—एकत्र वसतावशनविषये केनाप्याधाकर्म्मेति नाम प्रयुक्तं, तथाऽन्यत्रापि वसत्यन्तरेऽशनविषये एवाधाकर्म्मेति नाम प्रयुज्यते, तथा ततोऽन्यत्रापि वसत्यन्तरे, तान्यमूनि सर्वाण्याधाकर्म्मेति नामानि एकार्थानि एकव्यञ्जनानि इति प्रथमे भङ्गेऽवतरन्ति, आधाकर्म्म अधःकर्म्मेत्यादीनि तु नामानि विवक्षिताशनादिरूपैकविषये प्रवर्त्तमानानि द्वितीयो भङ्गः, एकार्थानि नानाव्यञ्जनानीत्येवंरूपद्वितीयभङ्गविषयाणि 'सक्किंद इवे'ति यथा इन्द्रः शक्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तिर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ९१ ॥

इत्येवमादीनि नामानि, तथा 'अशनादयः' अशनपानखादिमस्वादिमरूपाः चत्वार 'आधाकर्म्मान्तरिता' आधाकर्म्मशब्देन व्यवहिता यथाऽशनमाधाकर्म्म पानमाधाकर्म्मेत्येवमादि, 'तृतीयभङ्गः' तृतीयभङ्गविषयाः, अत्राप्ययं भावार्थः–यदाऽशनादयः प्रत्येकमाधाकर्म्म आधाकर्म्मेति देशभेदेन बहुभिः पुरुषैरेककालमेकेन वा पुरुषेण कालभेदेनोच्यन्ते तदा तानि आधाकर्म्म आधाकर्म्मेति नामानि नानार्थान्येकव्यञ्जनानीति तृतीये भङ्गेऽवतरन्ति, आधाकर्म्मरूपं नामाश्रित्य पुनश्चरमो भङ्गो नानार्थानि नानाव्यञ्जनानीत्येवंरूपो नियमाच्छून्य आधाकर्म्म आधाकर्म्मेत्येवमादिनाम्नां सर्वेषामपि समानव्यञ्जनत्वात्, उपलक्षणमेतत्, तेन सर्वाण्यपि नामानि प्रत्येकं चरमभङ्गे न वर्तन्ते, यदा तु कोऽप्यशनविषये आधाकर्म्मेति नाम प्रयुङ्क्ते पानविषये त्वधःकर्म्मेति खादिमविषये त्वात्मघ्नमिति खादिमविषये त्वात्मकर्म्मेति तदाऽमूनि नामानि नानार्थानि नानाव्यञ्जनानि चेति चरमोऽपि भङ्गः प्राप्यते, इह विवक्षिताशनादिरूपैकविषये प्रवर्त्तमानानि आधाकर्म्माधःकर्म्मप्रभृतीनि नामानि द्वितीयभङ्ग उक्तस्ततस्तदेव भावयति—

इंदत्थं जह सद्दा पुरंदराई उ नाइवत्तंते । अहकम्म आयहम्मा तह आहं नाइवत्तंते ॥ १३५ ॥

व्याख्या—यथा 'इन्द्रार्थम्' इन्द्रशब्दवाच्यं देवराजरूपं 'पुरन्दरादयः' पुरन्दरशक्र इत्येवमादयः शब्दा नातिवर्त्तन्ते–नातिक्रमन्ति, तथा अधःकर्म्मआत्मघ्नशब्दौ उपलक्षणमेतत् आत्मकर्म्मशब्दश्च 'आह'न्ति सूचनात्सूत्रमिति न्यायादाधाकर्म्मार्थं–आधाकर्म्मशब्दवाच्यं नातिवर्त्तन्ते, यदेव येन दोषेण दुष्टमाधाकर्म्मशब्दवाच्यमोदनादि तदेव तेनैव दोषेण दुष्टमधःकर्म्मादयोऽपि शब्दा ह्युक्ते इति भावः । एतदेव भावयति—

आहाकम्मेण अहेकरेति जं हणइ पाण भूयाइं । जं तं आययमाणो परकम्मं अत्तणो कुणइ ॥ १३६ ॥

आधाकर्मणि एकार्थादिचतुर्भङ्गीः

॥ ९१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

व्याख्या—आधाकर्म्मणा भुज्यमानेन कृत्वा यस्माद्विशुद्धेभ्यो विशुद्धतरेभ्यः संयमादिस्थानेभ्योऽवतीर्योधस्तादात्मानं करोति तेन कारणेन तदेवाधाकर्म्म अधःकर्म्मेत्युच्यते, तथा यस्मादाधाकर्म्मणा भुज्यमानेन कृत्वा स एव भोक्ता परमार्थतः 'प्राणान्' द्वीन्द्रियादीन् 'भूतान्' वनस्पतिकायान् उपलक्षणमेतत् जीवान् सत्त्वांश्च हन्ति–विनाशयति, 'जेसट्ठा आरंभो पाणिवहो होइ तस्स नियमेण' इति वचनप्रामाण्यात्, प्राणादींश्च घ्नन् नियमतः चरणादिरूपमात्मानं हन्ति, 'पाणिवहे वयभंगो' इत्यादिवचनात्तत आधाकर्म्म आत्मघ्नमित्युच्यते, तथा 'यत्' यस्मात्कारणात् 'तत्' आधाकर्म्म आददानः परस्य–पाचकादेः सम्बन्धि यत्कर्म्म–आरम्भजनितं ज्ञानावरणीयादिकमुत्पन्नमासीत् तदात्मनोऽपि करोति, ततस्तदाधाकर्म्म आत्मकर्म्मेत्युच्यते, तस्मादधःकर्म्मादीनि नामानि सर्वाण्यपि नाधाकर्म्मशब्दार्थमतिवर्त्तन्ते इति द्वितीये भङ्गेऽवतरन्ति । तदेवं मूलद्वारगाथायां 'एगट्ठा' इत्यपि व्याख्यातं, सम्प्रति 'कस्स वावि' इत्यवयवं व्याचिख्यासुराह—

कस्सत्ति पुच्छियंमी नियमा साहम्मियस्स तं होइ । साहम्मियस्स तम्हा कायव्व परूवणा विहिणा ॥ १३७ ॥

व्याख्या—'कस्य' पुरुषविशेषस्य अर्थाय कृतमाधाकर्म्म भवतीति परेण पृष्टे उत्तरमभिधीयते, नियमात्साधर्मिकस्यार्थाय कृतं 'तत्' आधाकर्म्म भवति, तस्मात्साधर्मिकस्यागमोक्तेन विधिना प्ररूपणा कर्त्तव्या ॥ प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

१ प्राणा द्वित्रिचतुः प्रोक्ता, भूतास्तु तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रियाः प्रोक्ताः, शेषाः सत्त्वा उदीरिताः ॥ १ ॥
२ यस्यार्थमारम्भः प्राणिवधः भवति तस्य नियमेन । ३ प्राणिवधात् व्रतभङ्गः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

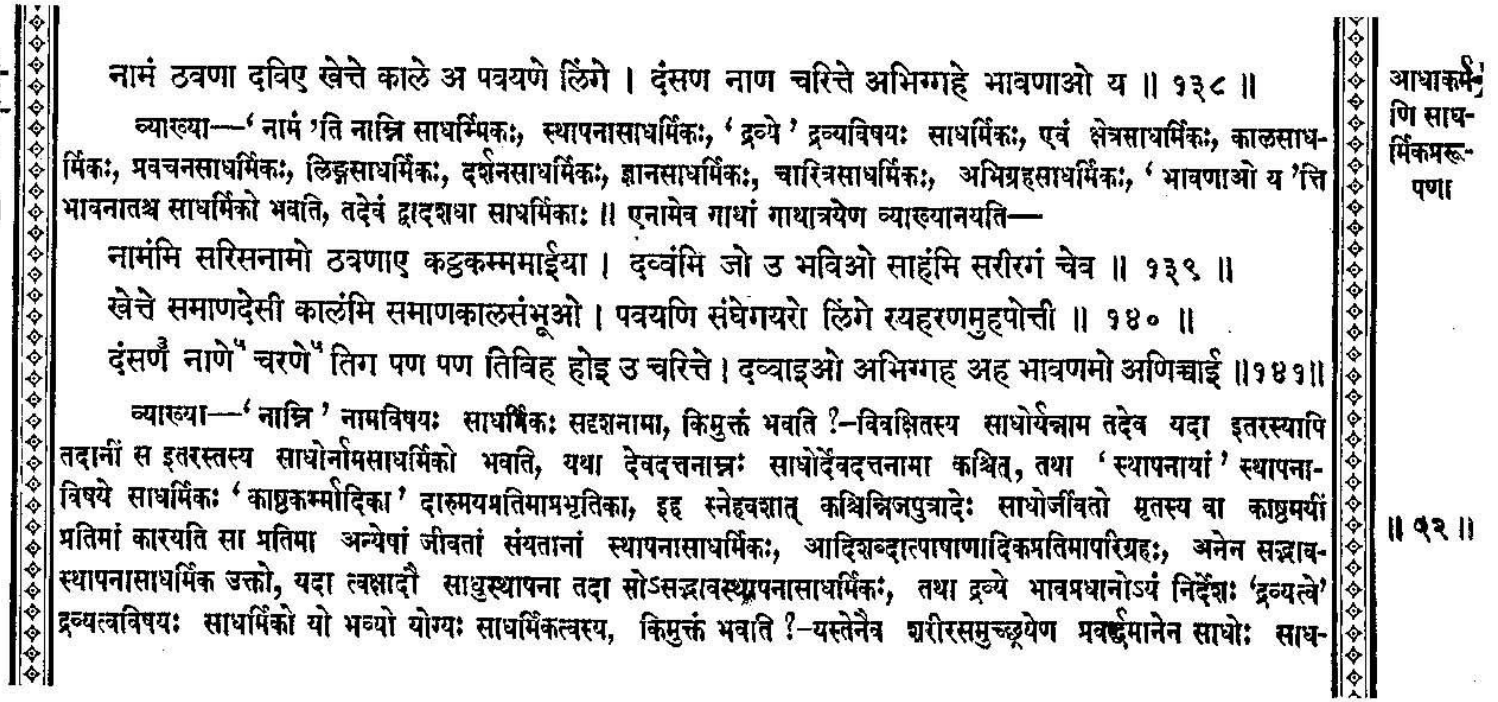

पिण्डनिर्यु-क्तेर्मलयगि-रीयावृत्तिः

॥ ९२ ॥

नामं ठवणा दविए खेत्ते काले अ पवयणे लिंगे । दंसण नाण चरित्ते अभिग्गहे भावणाओ य ॥ १३८ ॥

व्याख्या—'नामं 'ति नाम्नि साधर्म्मिकः, स्थापनासाधर्मिकः, 'द्रव्ये' द्रव्यविषयः साधर्मिकः, एवं क्षेत्रसाधर्मिकः, कालसाधर्मिकः, प्रवचनसाधर्मिकः, लिङ्गसाधर्मिकः, दर्शनसाधर्मिकः, ज्ञानसाधर्मिकः, चारित्रसाधर्मिकः, अभिग्रहसाधर्मिकः, 'भावणाओ य 'त्ति भावनातश्च साधर्मिको भवति, तदेवं द्वादशधा साधर्मिकाः ॥ एनामेव गाथां गाथात्रयेण व्याख्यानयति—

नामंमि सरिसनामो ठवणाए कट्ठकम्ममाईया । दव्वंमि जो उ भविओ साहंमि सरीरगं चेव ॥ १३९ ॥

खेत्ते समाणदेसी कालंमि समाणकालसंभूओ । पवयणि संघेगयरो लिंगे रयहरणमुहपोत्ती ॥ १४० ॥

दंसणे नाणे चरणे तिग पण पण तिविह होइ उ चरित्ते । दव्वाइओ अभिग्गह अह भावणमो अणिच्चाई ॥१४१॥

व्याख्या—'नाम्नि' नामविषयः साधर्मिकः सदृशनामा, किमुक्तं भवति ?–विवक्षितस्य साधोर्यन्नाम तदेव यदा इतरस्यापि तदानीं स इतरस्तस्य साधोर्नामसाधर्मिको भवति, यथा देवदत्तनाम्नः साधोर्देवदत्तनामा कश्चित्, तथा 'स्थापनायां' स्थापनाविषये साधर्मिकः 'काष्ठकर्म्मादिका' दारुमयप्रतिमाप्रभृतिका, इह स्नेहवशात् कश्चिन्निजपुत्रादेः साधोर्जीवतो मृतस्य वा काष्ठमयीं प्रतिमां कारयति सा प्रतिमा अन्येषां जीवतां संयतानां स्थापनासाधर्मिकः, आदिशब्दात्पाषाणादिकप्रतिमापरिग्रहः, अनेन सद्भावस्थापनासाधर्मिक उक्तो, यदा त्वक्षादौ साधुस्थापना तदा सोऽसद्भावस्थापनासाधर्मिकः, तथा द्रव्ये भावप्रधानोऽयं निर्देशः 'द्रव्यत्वे' द्रव्यत्वविषयः साधर्मिको यो भव्यो योग्यः साधर्मिकत्वस्य, किमुक्तं भवति ?–यस्तेनैव शरीरसमुच्छ्रयेण प्रवर्द्धमानेन साधोः साध-

आधाकर्मणि साधर्मिकप्ररूपणा

॥ ९२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साधर्मिकाणां द्वादश-भेदा: उच्यते

मिको भविष्यतीति स भव्य इत्यर्थः, तथा यच्च साधर्मिकशरीरं सिद्धिशिलातलादिगतमपगतजीवितं भव्यशरीररूपोऽतीतसाधर्मिकशरीररूपश्च द्रव्यसाधर्मिकः, 'क्षेत्रे' क्षेत्रविषयः साधर्मिकः, 'समानदेशी' समानदेशसम्भूतः, कालसाधर्मिकः समानकालसम्भूतः, प्रवचनसाधर्मिकः साध्वादिचतुष्टयरूपसङ्घमध्यादन्यतमः कश्चित्, लिङ्गसाधर्मिको रयहरणमुहपोत्ती इति सूचनात् सूत्रमितिन्यायात् रजोहरणमुखपोतिकाद्युपकरणवान्, 'दर्शनसाधर्मिकः' समानदर्शनः, दर्शनं च त्रिधा, तद्यथा—क्षायिकं क्षायोपशमिकमौपशमिकं च, ततो दर्शनद्वारेण यः साधर्मिकः सोऽपि त्रिधा, तद्यथा—क्षायिकदर्शनसाधर्मिकः क्षायोपशमिकदर्शनसाधर्मिक औपशमिकदर्शनसाधर्मिकश्च, तत्र क्षायिकसम्यग्दृष्टेः क्षायिकसम्यग्दृष्टिः क्षायिकदर्शनसाधर्मिक इत्यादि, 'ज्ञानसाधर्मिकः' समानज्ञानः, ज्ञानं च पञ्चधा, तद्यथा—मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्यवज्ञानं केवलज्ञानं च, ततो ज्ञानद्वारेण साधर्मिकोऽपि पञ्चधा, तद्यथा—मतिज्ञानसाधर्मिक इत्यादि, तत्र मतिज्ञानिनो मतिज्ञानी मतिज्ञानसाधर्मिक इत्यादि । चारित्रसाधर्मिकः समानचारित्रः, चारित्रमपि च पञ्चधा, तद्यथा—सामायिकं छेदोपस्थापनं परिहारविशुद्धिकं सूक्ष्मसम्परायं यथाख्यातं च, ततश्चारित्रेण साधर्मिकोऽपि पञ्चधा, तद्यथा—सामायिकचारित्रसाधर्मिकश्छेदोपस्थापनिकचारित्रसाधर्मिक इत्यादि, तत्र सामायिकचारित्रस्य योऽपरः सामायिकचारित्रः स सामायिकचारित्रसाधर्मिक इत्यादि, 'तिविह होइ उ चरित्ते' मतान्तरेण पुनश्चारित्रे—चारित्रविषयः साधर्मिकस्त्रिविधो भवति, यतश्चारित्रं मतान्तरेण त्रिधाऽत्र विवक्षितं, तद्यथा—क्षायिकं क्षायोपशमिकमौपशमिकं च, ततस्तद्वारेण यः साधर्मिकः सोऽपि त्रिधा, तद्यथा—क्षायिकचारित्रसाधर्मिक इत्यादि, तत्र क्षायिकचारित्रस्यापरः क्षायिकचारित्रः क्षायिकचारित्रसाधर्मिक इत्यादि, अभिग्रहा द्रव्यादौ–द्रव्यादिविषयाश्चतुर्विधास्तद्यथा—द्रव्याभिग्रहाः क्षेत्राभिग्रहाः कालाभिग्रहाः भावाभिग्रहाश्च तद्द्वारेण साधर्मिका अपि चतुर्विधास्तद्यथा—द्रव्याभिग्रहसाध-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

र्मिकाः क्षेत्राभिग्रहसाधर्मिका इत्यादि, तत्र द्रव्याभिग्रहस्यापरो द्रव्याभिग्रहो द्रव्याभिग्रहसाधर्मिक इत्यादि, भावना द्वादशधा, तद्यथा—अनित्यत्वभावना (१) अशरणत्वभावना (२) एकत्वभावना (३) अन्यत्वभावना (४) अशुचित्वभावना (५) संसारभावना (६) कर्माश्रवभावना (७) संवरभावना (८) निर्जरणभावना (९) लोकविस्तारभावना (१०) जिनप्रणीतधर्मभावना (११) बोधिदुर्लभत्वभावना (१२), भावनाद्वारेण साधर्मिका अपि द्वादशधा, तद्यथा—अनित्यत्वभावनासाधर्मिकोऽशरणत्वभावनासाधर्मिक इत्यादि, तत्रानित्यत्वभावनासहितस्यापरोऽनित्यत्वभावनासहितोऽनित्यत्वभावनासाधर्मिक इत्यादि, तदेवं व्याख्याताः सर्वेऽपि साधर्मिकाः । सम्प्रत्येतानेवाधिकृत्य कल्प्याकल्प्यविधिर्वक्तव्यः, तत्र नामसाधर्मिकमधिकृत्य प्रथमतः कल्प्याकल्प्यविधिं गाथाद्वयेन प्रतिपादयति—

जावंत देवदत्ता गिहीव अगिहीव तेसि दाहामि । नो कप्पई गिहीणं दाहंति विसेसिये कप्पे ॥ १४२ ॥

पासंडीसुवि एवं मीसामीसेसु होइ हु विभासा । समणेसु संजयाण उ विसरिसनामाणवि न कप्पे ॥ १४३ ॥

व्याख्या—इह कोऽपि पितरि मृते जीवति वा तन्नामानुरागतस्तन्नामयुक्तेभ्यो दानं दित्सुरेवं सङ्कल्पयति, यथा यावन्तो गृहस्था अगृहस्था वा देवदत्तास्तेभ्यो मया भक्तादिकमुपस्कृत्य दातव्यं, तत्रैवं सङ्कल्पे कृते देवदत्तास्तेभ्यो साधोर्न कल्पते, देवदत्तशब्देन तस्यापि सङ्कल्पविषयीकृतत्वात्, यदा पुनरेवं सङ्कल्पयति, यथा यावन्तो गृहस्था देवदत्तास्तेभ्यो दातव्यमिति, तदा एवं 'विशेषिते' निर्द्धारिते सति तद्योग्यमुपस्कृतं देवदत्तास्तेभ्यः साधोः कल्पते, तस्य विवक्षितसङ्कल्पविषयीकरणाभावात्, तथा पाखण्डिष्वपि मिश्रामिश्रेष्वेवं पूर्वोक्तप्रकारेण विभाषा कर्त्तव्या, इह सामान्यसङ्कल्पविषया मिश्रा उच्यन्ते, यथा यावन्तः पाखण्डिनो देवदत्ता इति, प्रति-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नियतसङ्कल्पविषयास्त्वमिश्रा यथा यावन्तः सरजस्काः पाखण्डिनो यदिवा सौगता देवदत्ता इत्यादि, तत्र यावन्तो देवदत्ताः पाखण्डिन इति मिश्रसङ्कल्पे कृते न कल्पते पाखण्डिदेवदत्तशब्दाभ्यां देवदत्ताख्यस्यापि साधोः सङ्कल्पविषयीकृतत्वात्, यदा पुनरमिश्रः सङ्कल्पो यथा यावन्तः सरजस्काः पाखण्डिनो देवदत्ता यदिवा यावन्तः सौगता देवदत्ता यद्वा साधुव्यतिरेकेण सर्वेऽपि पाखण्डिनो देवदत्तास्तेभ्यो दास्यामीति, तदा देवदत्ताख्यस्य साधोः कल्पते, तस्य सङ्कल्पविषयीकरणाभावात्, यथा च पाखण्डिषु मिश्रामिश्रेषु विभाषा कृता तथा श्रमणेष्वपि मिश्रामिश्रेषु कर्त्तव्या, श्रमणा हि शाक्यादयोऽपि भण्यन्ते, यतो वक्ष्यति—' निग्गंथसक्कतावसगेरुयआजीव पञ्चहा समणा ' । ततो यदैवं मिश्रः सङ्कल्पो यावन्तः श्रमणा देवदत्ताख्यास्तेभ्यो दास्यामीति तदा देवदत्ताख्यस्य साधोर्न कल्पते, तस्य श्रमणदेवदत्तशब्दाभ्यां सङ्कल्पविषयीकृतत्वात्, यदा पुनरेवममिश्रः सङ्कल्पो यावन्तः शाक्याः श्रमणा यदिवा आजीविका देवदत्ता यद्वा—साधुव्यतिरेकेण सर्वे श्रमणा देवदत्तास्तेभ्यो दास्यामीति तदा कल्पते, तस्य विवक्षितसङ्कल्पविषयीकरणाभावात्, संयतानां तु निर्ग्रन्थानां विसदृशनाम्नामपि सङ्कल्पे कृते देवदत्ताख्यादेः साधोर्न कल्पते, किमुक्तं भवति ?—चैत्रनाम्नोऽपि संयतस्योद्देशेन कृतं देवदत्ताख्यस्य साधोर्न कल्पते, तथा भगवदाज्ञाविजृंभणात्, यदा पुनस्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धसङ्कल्पनेन कृतं तदा कल्पते, तीर्थकरप्रत्येकबुद्धानां सङ्घातीतत्वेन सङ्घमध्यवर्त्तिभिः साधुभिः सह साधर्मिकत्वाभावात्, ' संजयाण उ विसरिसनामाणवि न कप्पे ' इति वचनाच्चार्थापत्त्या यावन्तो देवदत्ता इत्यादौ विसदृशचैत्रादिनाम्नां साधूनां कल्पत एवेति प्रतिपादितं द्रष्टव्यं । तदेवमुक्तो नामसाधर्मिकमधिकृत्य कल्प्याकल्प्यविधिः, सम्प्रति स्थापनाद्रव्यसाधर्मिकावधिकृत्य तमाह—

नीसमनीसा व कडं ठवणासाहम्मियम्मि उ विभासा । दव्वे मयतणुभत्तं न तं तु कुच्छा विवज्जेज्जा ॥१४४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

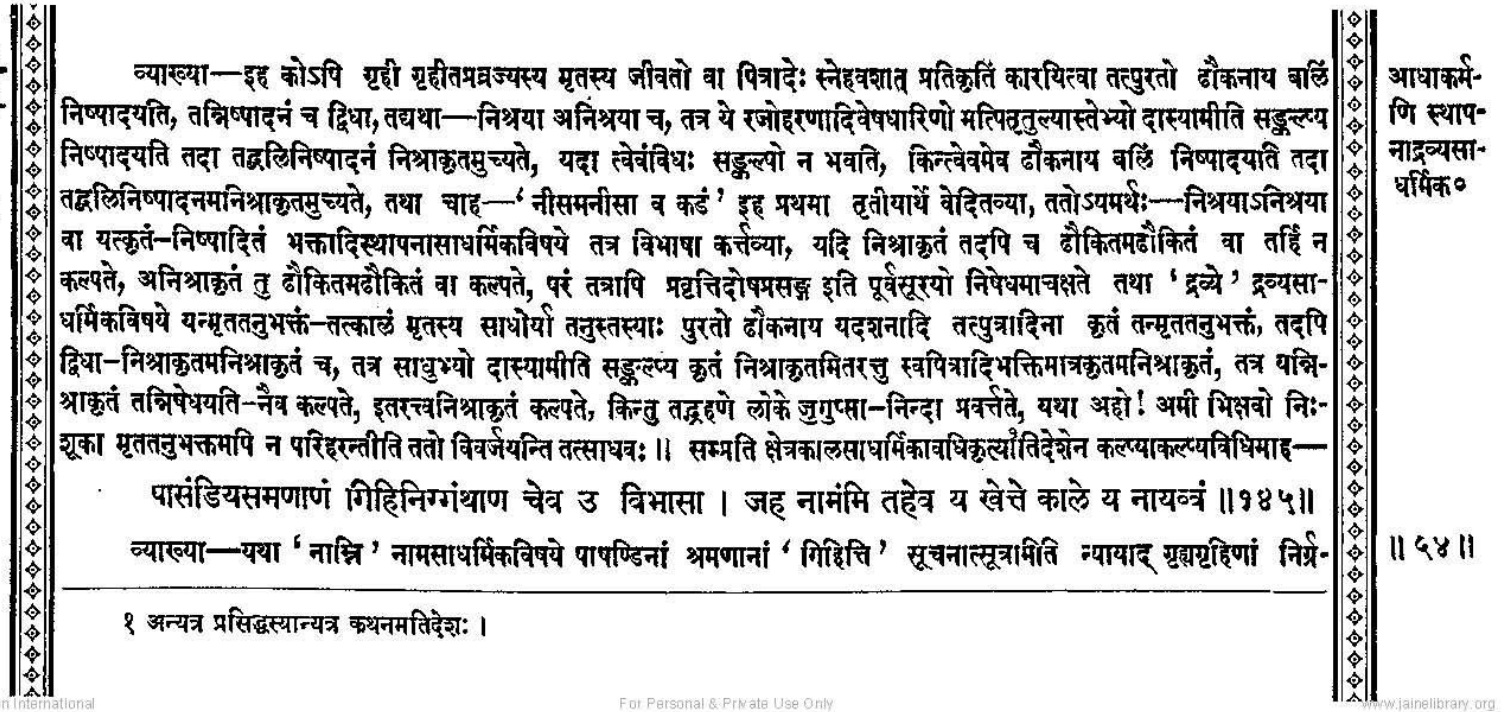

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ५४ ॥

व्याख्या—इह कोऽपि गृही गृहीतप्रव्रज्यस्य मृतस्य जीवतो वा पित्रादेः स्नेहवशात् प्रतिकृतिं कारयित्वा तत्पुरतो ढौकनाय बलिं निष्पादयति, तन्निष्पादनं च द्विधा, तद्यथा—निश्रया अनिश्रया च, तत्र ये रजोहरणादिवेषधारिणो मत्पितृतुल्यास्तेभ्यो दास्यामीति सङ्कल्प्य निष्पादयति तदा तद्बलिनिष्पादनं निश्राकृतमुच्यते, यदा त्वेवंविधः सङ्कल्पो न भवति, किन्त्वेवमेव ढौकनाय बलिं निष्पादयति तदा तद्बलिनिष्पादनमनिश्राकृतमुच्यते, तथा चाह—'नीसमनीसा व कडं' इह प्रथमा तृतीयार्थे वेदितव्या, ततोऽयमर्थः—निश्रयाऽनिश्रया वा यत्कृतं–निष्पादितं भक्तादिस्थापनासाधर्मिकविषये तत्र विभाषा कर्त्तव्या, यदि निश्राकृतं तदपि च ढौकितमढौकितं वा तर्हि न कल्पते, अनिश्राकृतं तु ढौकितमढौकितं वा कल्पते, परं तत्रापि प्रवृत्तिदोषप्रसङ्ग इति पूर्वसूरयो निषेधमाचक्षते तथा 'द्रव्ये' द्रव्यसाधर्मिकविषये यन्मृततनुभक्तं–तत्कालं मृतस्य साधोर्या तनुस्तस्याः पुरतो ढौकनाय यदशनादि तत्पुत्रादिना कृतं तन्मृततनुभक्तं, तदपि द्विधा–निश्राकृतमनिश्राकृतं च, तत्र साधुभ्यो दास्यामीति सङ्कल्प्य कृतं निश्राकृतमितरत्तु स्वपित्रादिभक्तिमात्रकृतमनिश्राकृतं, तत्र यन्निश्राकृतं तन्निषेधयति–नैव कल्पते, इतरत्त्वनिश्राकृतं कल्पते, किन्तु तद्ग्रहणे लोके जुगुप्सा–निन्दा प्रवर्त्तते, यथा अहो! अमी भिक्षवो निःशूका मृततनुभक्तमपि न परिहरन्तीति ततो विवर्जयन्ति तत्साधवः ॥ सम्मति क्षेत्रकालसाधर्मिकावधिकृत्यातिदेशेन कल्प्याकल्प्यविधिमाह—

पासंडियसमणाणं गिहिनिग्गंथाण चेव उ विभासा । जह नाममि तहेव य खेत्ते काले य नायव्वं ॥१४५॥

व्याख्या—यथा 'नाम्नि' नामसाधर्मिकविषये पाषण्डिनां श्रमणानां 'गिहित्ति' सूचनात्सूत्रमिति न्यायाद् गृह्यगृहिणां निर्ग्रे-

१ अन्यत्र प्रसिद्धस्यान्यत्र कथनमतिदेशः ।

आधाकर्मणि स्थापनाद्रव्यसाधर्मिक०

॥ ५४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

न्यानां च विभाषा कृता तथा क्षेत्रे काले च विभाषणं ज्ञातव्यं, तत्र 'क्षेत्रं' सौराष्ट्रादिकं 'कालो' दिनपौरुष्यादिकः, तत्र क्षेत्रविषये विभाषा एवं–यदि सौराष्ट्रदेशोत्पन्नेभ्यः पाषण्डिभ्यो मया दातव्यमिति सङ्कल्पः तदा सौराष्ट्रदेशोत्पन्नस्य साधोर्न कल्पते, सौराष्ट्रदेशोत्पन्नत्वेन तस्यापि सङ्कल्पविषयीकरणात्, शेषदेशोत्पन्नानां तु कल्पते, तेषां सङ्कल्पविषयीकरणाभावात्, यदि पुनः सौराष्ट्रदेशोत्पन्नेभ्यः पाषण्डिभ्यः सरजस्केभ्यो यदिवा सौगतेभ्यो यद्वा साधुव्यतिरेकेण सर्वपाषण्डिभ्यो दास्यामीति सङ्कल्पः तदा सौराष्ट्रदेशोत्पन्नस्यापि साधोः कल्पते, तस्य सङ्कल्पाक्रोडीकरणात्, एवं श्रमणेष्वपि सामान्यतः सङ्कल्पितेषु न कल्पते, साधुव्यतिरेकेण तु सङ्कल्पितेषु कल्पते, तथा गृह्यगृहिषु सामान्यतः सौराष्ट्रदेशोत्पन्नत्वेन सङ्कल्पितेषु न कल्पते, केवलेषु तु गृहिषु कल्पते, निर्ग्रन्थेषु तु सौराष्ट्रदेशोत्पन्नेष्वसौराष्ट्रदेशोत्पन्नेषु वा संकल्पितेषु सौराष्ट्रदेशोत्पन्नानामन्यदेशोत्पन्नानां वा सर्वथा न कल्पते, तदेवं क्षेत्रसाधर्मिके विभाषा भाविता, एवं कालसाधर्मिकेऽपि भावनीया, यथा विवक्षितदिनजातेभ्यः पाषण्डिभ्यो मया दातव्यमिति सङ्कल्पिते तस्यापि तद्दिनजातस्य साधोर्न कल्पते, तस्यापि तद्दिनजातत्वेन सङ्कल्पविषयीकरणात्, शेषदिनजातानां तु कल्पते, सङ्कल्पविषयीकरणाभावात्, इत्यादि सर्वं पूर्वोक्तानुसारेण भावनीयं, प्रवचनादिपदसप्तके पुनरेवं पूर्वाचार्यव्याख्या–प्रवचनलिङ्गदर्शनज्ञानचारित्राभिग्रहभावनारूपेषु सप्तसु पदेषु द्विसंयोगभङ्गा एकविंशतिः, तद्यथा–प्रवचनस्य लिङ्गेन सहैको, दर्शनेन सह द्वितीयो, ज्ञानेन सह तृतीयः, एवं यावद्भावनया सह षष्ठ इति षट् भङ्गाः, एवं लिङ्गस्य दर्शनादिभिः सह पञ्च, दर्शनस्य ज्ञानादिभिः सह चत्वारः, ज्ञानस्य चारित्रादिभिः सह त्रयः, चारित्रस्याभिग्रहभावनाभ्यां द्वौ, अभिग्रहस्य भावनया सहैक इत्येकविंशतिः, एतेषु चैकविंशतिसङ्ख्येषु भङ्गेषु प्रत्येकमेकैका चतुर्भङ्गिका, तद्यथा–प्रवचनतः साधर्मिको न लिङ्गतः, लिङ्गतः साधर्मिको न प्रवचनतः, प्रवचनतः साधर्मिको लिङ्गतश्च, न प्रवचनतो न लिङ्गतश्च, शेषेषु भङ्गेषु यथास्थानं चतुर्भङ्गिका दर्शयिष्यते ॥ तत्र प्रथमचतुर्भङ्गिकाया आद्यभङ्गद्वयोदाहरणमुपदर्शयति—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१४६||

दीप अनुक्रम [१६८]

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ ५९ ॥

दस ससिहागा सावग पवयण साहम्मिया न लिङ्गेण । लिङ्गेण उ साहम्मी नो पवयण निह्नगा सव्वे ॥१४६॥

व्याख्या—प्रवचनतः साधर्मिका न लिङ्गेन अविरतसम्यग्दृष्टेरारभ्य यावद्दशमीं श्रावकप्रतिमां प्रतिपन्ना ये श्रावकास्तेऽत्र द्रष्टव्याः, कुत इत्याह–'दस ससिहागा' इत्यत्र 'निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शन'मिति न्यायाद्धेतौ प्रथमा, ततोऽयमर्थः–यतस्ते दशमीं श्रावकप्रतिमां प्रतिपन्नाः 'सशिखाकाः' शिखासहिताः केशसहिता एवेत्यर्थः, ततस्ते प्रवचनत एव साधर्मिका भवन्ति न लिङ्गतो, ये त्वेकादशीं श्रावकप्रतिमां प्रतिपन्नास्ते निष्केशा इत्यादिना लिङ्गतोऽपि साधर्मिका भवन्तीति तद्विवर्जनम्, एतेषां चार्थाय यत्कृतं तत्साधूनां कल्पते, तथा लिङ्गतः साधर्मिका न प्रवचनतो निह्नवाः, तेषां प्रवचनबहिर्भूतत्वेन प्रवचनतः साधर्मिकत्वाभावात्, लिङ्गं तु तेषामपि रजोहरणादिकं विद्यते इति लिङ्गतः साधर्मिकाः, तेषामप्यर्थाय कृतं साधूनां कल्पते, निह्नवाश्च द्विधा–लोके निह्नवत्वेन ज्ञाता अज्ञाताश्च, तत्र ये ज्ञातास्ते इह ग्राह्याः, अज्ञातानां लोके साधुत्वेन व्यवहरणभावतः प्रवचनान्तर्वर्त्तित्वात्, इहाद्यभङ्गद्वयेन उदाहृते शेषमुत्तरं भङ्गद्वयं स्वयमेव श्रोतारोऽवगोत्स्यन्ते इति बुद्ध्या निर्युक्तिकृन्नोदाहृतवान्, अनेनैव च कारणेन शेषाणामपि चतुर्भङ्गिकाणामाद्यमेव भङ्गद्वयमुदाहरिष्यति नोत्तरं भङ्गद्वयं, वयं तु सुखावबोधायोदाहरिष्यामः, तत्रास्यामेव प्रथमचतुर्भङ्गिकायां प्रवचनतः साधर्मिका लिङ्गतश्चेति तृतीयभङ्गे उदाहरणं साधवः एकादशीं प्रतिमां प्रतिपन्नाः श्रावका वा, तत्र साधूनामर्थाय कृतं न कल्पते श्रावकाणा त्वर्थाय कृतं कल्पते, न प्रवचनतः साधर्मिका नापि लिङ्गतस्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धाः, तेषां प्रवचनलिङ्गातीतत्वात्, तेषामर्थाय कृतं कल्पते, द्वितीया चतुर्भङ्गिका प्रवचनतः साधर्मिका न दर्शनतो, दर्शनतः साधर्मिका न प्रवचनतः, प्रवचनतः साधर्मिका दर्शनतश्च, न प्रवचनतो न दर्शनतः, तत्राद्यभङ्गद्वयोदाहरणमाह—

आधाकर्मणि साधर्मिकचतुर्भङ्गचः ॥ ५९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आधाकर्मणि साधर्मिकाणां चतुर्भङ्गी कथयते

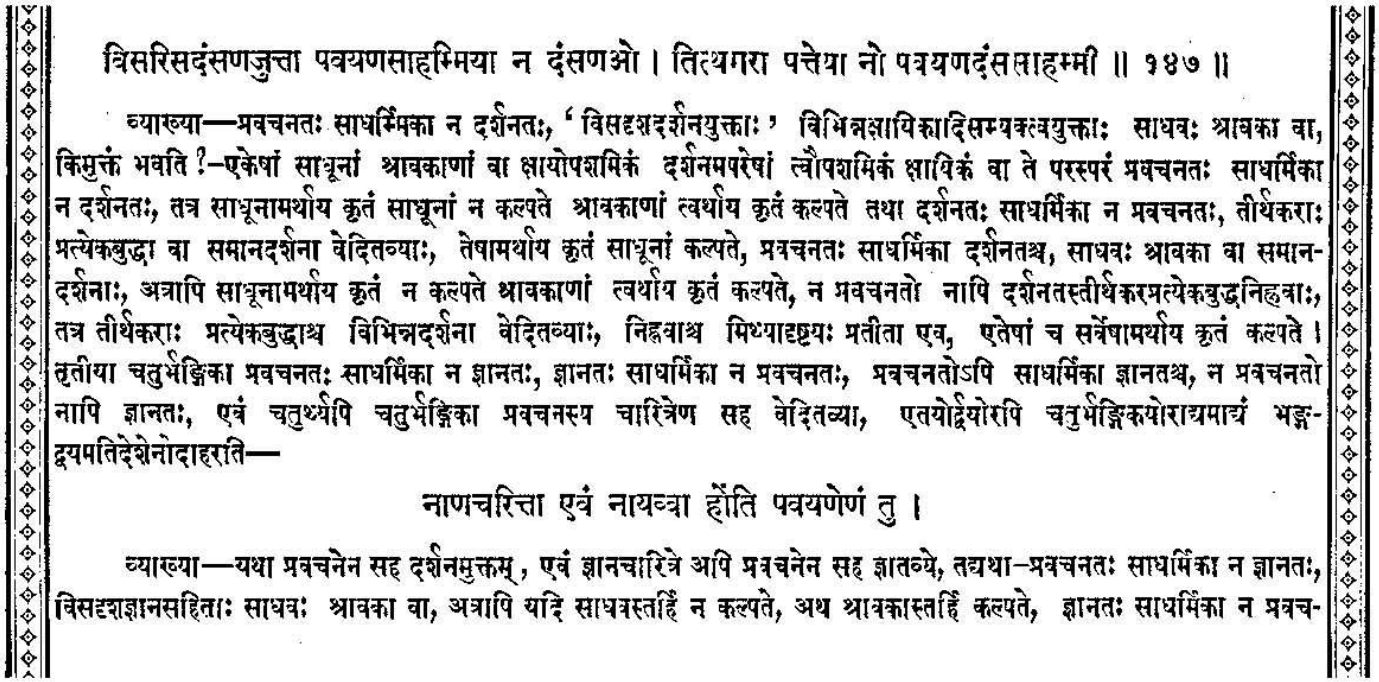

विसरिसदंसणजुत्ता पवयणसाहम्मिया न दंसणओ। तित्थगरा पत्तेया नो पवयणदंसणसाहम्मी ॥ १४७ ॥

व्याख्या—प्रवचनतः साधर्मिका न दर्शनतः, 'विसदृशदर्शनयुक्ताः' विभिन्नक्षायिकादिसम्यक्त्वयुक्ताः साधवः श्रावका वा, किमुक्तं भवति ?–एकेषां साधूनां श्रावकाणां वा क्षायोपशमिकं दर्शनमपरेषां त्वौपशमिकं क्षायिकं वा ते परस्परं प्रवचनतः साधर्मिका न दर्शनतः, तत्र साधूनामर्थाय कृतं साधूनां न कल्पते श्रावकाणां त्वर्थाय कृतं कल्पते तथा दर्शनतः साधर्मिका न प्रवचनतः, तीर्थकराः प्रत्येकबुद्धा वा समानदर्शना वेदितव्याः, तेषामर्थाय कृतं साधूनां कल्पते, प्रवचनतः साधर्मिका दर्शनतश्च, साधवः श्रावका वा समानदर्शनाः, अत्रापि साधूनामर्थाय कृतं न कल्पते श्रावकाणां त्वर्थाय कृतं कल्पते, न प्रवचनतो नापि दर्शनतस्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धनिह्नवाः, तत्र तीर्थकराः प्रत्येकबुद्धाश्च विभिन्नदर्शना वेदितव्याः, निह्नवाश्च मिथ्यादृष्टयः प्रतीता एव, एतेषां च सर्वेषामर्थाय कृतं कल्पते। तृतीया चतुर्भङ्गिका प्रवचनतः साधर्मिका न ज्ञानतः, ज्ञानतः साधर्मिका न प्रवचनतः, प्रवचनतोऽपि साधर्मिका ज्ञानतश्च, न प्रवचनतो नापि ज्ञानतः, एवं चतुर्थ्यपि चतुर्भङ्गिका प्रवचनस्य चारित्रेण सह वेदितव्या, एतयोर्द्वयोरपि चतुर्भङ्गिकयोराद्यमाद्यं भङ्गद्वयमतिदेशेनोदाहरति—

नाणचरित्ता एवं नायव्वा होंति पवयणेणं तु।

व्याख्या—यथा प्रवचनेन सह दर्शनमुक्तम्, एवं ज्ञानचारित्रे अपि प्रवचनेन सह ज्ञातव्ये, तद्यथा–प्रवचनतः साधर्मिका न ज्ञानतः, विसदृशज्ञानसहिताः साधवः श्रावका वा, अत्रापि यदि साधवस्तर्हि न कल्पते, अथ श्रावकास्तर्हि कल्पते, ज्ञानतः साधर्मिका न प्रवच-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ५६ ॥

नतः, तीर्थकराः प्रत्येकबुद्धा वा समानज्ञानाः, तेषामर्थाय कृतं कल्पते, प्रवचनतः साधर्मिका ज्ञानतश्च, साधवः श्रावका वा समानज्ञानाः, अत्रापि साध्वर्थं कृतं न कल्पते, श्रावकाणां त्वर्थाय कृतं कल्पते, न प्रवचनतो नापि ज्ञानतस्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धनिह्नवाः, तत्र तीर्थकराः प्रत्येकबुद्धाश्च विभिन्नज्ञाना वेदितव्याः, निह्नवास्तु मिथ्यादृष्टित्वादज्ञानिनः प्रतीता एव, एतेषां सर्वेषामप्यर्थाय कृतं कल्पते, तथा प्रवचनतः साधर्मिका न चारित्रतः साधवः श्रावकाश्च, तत्र साधवो विसदृशचारित्रसहिता वेदितव्याः, श्रावकाणां त्वविरतसम्यग्दृष्टीनां सर्वथा विरत्यभावेन देशविरतानां तु देशचारित्रतया चारित्रतः साधर्मिकत्वाभावः सुप्रतीतः, साध्वर्थं चेत्कृतं न कल्पते श्रावकार्थं चेत्तर्हि कल्पते, चारित्रतः साधर्मिका न प्रवचनतः, तीर्थकरप्रत्येकबुद्धाः समानचारित्राः, तेषामर्थाय कृतं कल्पते, प्रवचनतः साधर्मिकाश्चारित्रतश्च साधवः समानचारित्राः, तेषामर्थाय कृतं न कल्पते, न प्रवचनतो नापि चारित्रतस्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धनिह्नवाः, तत्र तीर्थकरप्रत्येकबुद्धा विसदृशचारित्रा वेदितव्याः, निह्नवास्त्वचारित्रिण एव, एतेषां च सर्वेषामप्यर्थाय कृतं कल्पते ॥ पञ्चमी चतुर्भङ्गिका प्रवचनतः साधर्मिका नाभिग्रहतः, अभिग्रहतः साधर्मिका न प्रवचनतः, प्रवचनतोऽपि साधर्मिका अभिग्रहतश्च, न प्रवचनतोऽपि नाप्यभिग्रहतश्च, एवं षष्ठ्यपि चतुर्भङ्गिका प्रवचनस्य भावनया सह वेदितव्या, एतयोर्द्वयोरपि चतुर्भङ्गिकयोः प्रत्येकमाद्यं भङ्गद्वयमुदाहरति—

पवयणओ साहम्मी नाभिग्गह सावगा जइणो ॥ १४८ ॥

साहम्मऽभिग्गहेणं नोपवयण निण्ह तित्थ पत्तेया । एवं पवयणभावण एत्तो सेसाण वोच्छामि ॥ १४९ ॥

व्याख्या—प्रवचनतः साधर्मिका नाभिग्रहतः श्रावका यतयश्च विसदृशाभिग्रहसहिताः, तत्र श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न साधू-

आधाकर्मणि साधर्मिकचतुर्भङ्ग्यः

॥ ५६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नाम्, अभिग्रहेण साधर्मिका न प्रवचनेन, निह्नवतीर्थकरप्रत्येकबुद्धाः, एतेषां चार्थाय कृतं कल्पते, प्रवचनतः साधर्मिका अभिग्रहतश्च साधवः श्रावकाश्च समानाभिग्रहाः, अत्रापि श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न साधूनां, न प्रवचनतो नाप्यभिग्रहतः, तीर्थकरप्रत्येकबुद्धनिह्नवा विसदृशाभिग्रहकलिता निरभिग्रहा वा, तेषामर्थाय कृतं कल्पते, 'एवं पवयणभावण'त्ति एवं–पूर्वोक्तेन प्रकारेण प्रवचनभावनेति–प्रवचनभावनाचतुर्भङ्गिका भावनीया, तद्यथा–प्रवचनतः साधर्मिका न भावनातः, साधवः श्रावका वा विसदृशभावनाकाः, अत्रापि श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न साधूनां, भावनातः साधर्मिका न प्रवचनतः, निह्नवतीर्थकरप्रत्येकबुद्धास्तेषामर्थाय कृतं कल्पते, प्रवचनतः साधर्मिका भावनातश्च, साधवः श्रावकाश्च समानभावनाकाः, तत्र श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न साधूनां, न प्रवचनतो नापि भावनातः तीर्थकरप्रत्येकबुद्धनिह्नवा विसदृशभावनाकाः, एतेषामर्थाय कृतं कल्पते, तदेवमुक्तानि प्रवचनाश्रितानां पण्णां चतुर्भङ्गिकानामुदाहरणानि, 'एत्तो सेसाण वोच्छामि'त्ति इत ऊर्ध्वं शेषाणां चतुर्भङ्गिकाणामुदाहरणानि वक्ष्ये। प्रतिज्ञातमेवातिदेशेन निर्वाहयति—

लिंगाईहिवि एवं एक्केक्केणं तु उवरिमा नेया । जेऽनन्ने उवरिल्ला ते मोत्तुं सेसए एवं ॥ १५० ॥

व्याख्या—'लिङ्गाईहिवि' इत्यत्र सप्तम्यर्थे तृतीया ततोऽयमर्थः–एवं–पूर्वोक्तेन प्रकारेण लिङ्गादिष्वपि–लिङ्गदर्शनप्रभृतिष्वपि पदेषु एकैकेन लिङ्गादिना पदेन 'उपरितनानि' दर्शनज्ञानप्रभृतीनि पदानि नयेत्, किमुक्तं भवति ?–लिङ्गदर्शनप्रभृतिषु पदेषु दर्शनज्ञानादिभिः पदैः सह याश्चतुर्भङ्गिकास्ताः पूर्वोक्तानुसारेणोदाहरेत्, अतीवेदं सङ्क्षिप्ततरमुक्तम्, अतो न्यक्षेण विवक्षुरिदमाह—'जेऽनन्ने' इत्यादि, ये अनन्ये–उदाहरणापेक्षया अन्यादृशा न भवन्ति भङ्गाः तान्मुक्त्वा शेषकान् भङ्गकान् एवं–वक्ष्यमाणप्रकारेण जानीत, इयमत्र भावना–इह लिङ्गदर्शनयोर्ये चत्वारो भङ्गाः सोदाहरणा वक्ष्यन्ते—तादृशा एव प्राय उदाहरणापेक्षया लिङ्गज्ञानलिङ्ग-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

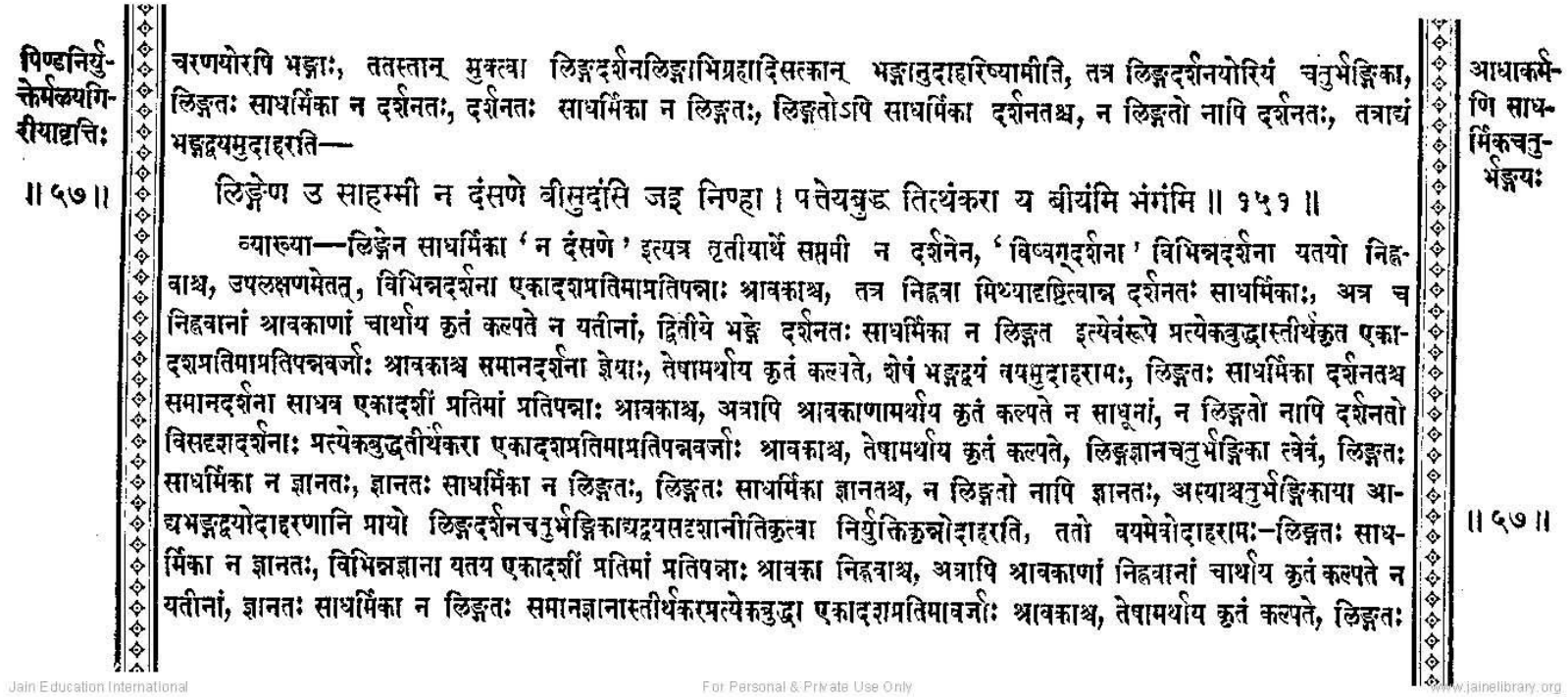

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ५७ ॥

चरणयोरपि भङ्गाः, ततस्तान् मुक्त्वा लिङ्गदर्शनलिङ्गाभिग्रहादिसत्कान् भङ्गानुदाहरिष्यामीति, तत्र लिङ्गदर्शनयोरियं चतुर्भङ्गिका, लिङ्गतः साधर्मिका न दर्शनतः, दर्शनतः साधर्मिका न लिङ्गतः, लिङ्गतोऽपि साधर्मिका दर्शनतश्च, न लिङ्गतो नापि दर्शनतः, तत्राद्यं भङ्गद्वयमुदाहरति—

लिङ्गेण उ साहम्मी न दंसणे बीयदंसि जइ निण्हा । पत्तेयबुद्ध तित्थंकरा य बीयंमि भंगंमि ॥ १५१ ॥

व्याख्या—लिङ्गेन साधर्मिका 'न दंसणे' इत्यत्र तृतीयार्थे सप्तमी न दर्शनेन, 'विष्वग्दर्शना' विभिन्नदर्शना यतयो निह्नवाश्च, उपलक्षणमेतत्, विभिन्नदर्शना एकादशप्रतिमाप्रतिपन्नाः श्रावकाश्च, तत्र निह्नवा मिथ्यादृष्टित्वान्न दर्शनतः साधर्मिकाः, अत्र च निह्नवानां श्रावकाणां चार्थाय कृतं कल्पते न यतीनां, द्वितीये भङ्गे दर्शनतः साधर्मिका न लिङ्गत इत्येवंरूपे प्रत्येकबुद्धास्तीर्थकृत एकादशप्रतिमाप्रतिपन्नवर्जाः श्रावकाश्च समानदर्शना ज्ञेयाः, तेषामर्थाय कृतं कल्पते, शेषं भङ्गद्वयं वयमुदाहरामः, लिङ्गतः साधर्मिका दर्शनतश्च समानदर्शना साधव एकादशीं प्रतिमां प्रतिपन्नाः श्रावकाश्च, अत्रापि श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न साधूनां, न लिङ्गतो नापि दर्शनतो विसदृशदर्शनाः प्रत्येकबुद्धतीर्थंकरा एकादशप्रतिमाप्रतिपन्नवर्जाः श्रावकाश्च, तेषामर्थाय कृतं कल्पते, लिङ्गज्ञानचतुर्भङ्गिका त्वेवं, लिङ्गतः साधर्मिका न ज्ञानतः, ज्ञानतः साधर्मिका न लिङ्गतः, लिङ्गतः साधर्मिका ज्ञानतश्च, न लिङ्गतो नापि ज्ञानतः, अस्याश्चतुर्भङ्गिकाया आद्यभङ्गद्वयोदाहरणानि प्रायो लिङ्गदर्शनचतुर्भङ्गिकाद्यद्वयसदृशानीतिकृत्वा निर्युक्तिकृन्नोदाहरति, ततो वयमेवोदाहरामः—लिङ्गतः साधर्मिका न ज्ञानतः, विभिन्नज्ञाना यतय एकादशीं प्रतिमां प्रतिपन्नाः श्रावका निह्नवाश्च, अत्रापि श्रावकाणां निह्नवानां चार्थाय कृतं कल्पते न यतीनां, ज्ञानतः साधर्मिका न लिङ्गतः समानज्ञानास्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धा एकादशप्रतिमावर्जाः श्रावकाश्च, तेषामर्थाय कृतं कल्पते, लिङ्गतः

आधाकर्मणि साधर्मिकचतुर्भङ्गयः

॥ ५७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१५१||

दीप अनुक्रम [१७३]

साधर्मिका ज्ञानतश्च समानज्ञानाः साधव एकादशीं प्रतिमां प्रतिपन्नाः श्रावकाश्च, अत्रापि श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनां, न लिङ्गतो नापि ज्ञानतो, विभिन्नज्ञानाः प्रत्येकबुद्धतीर्थकरा एकादशप्रतिमाप्रतिपन्नवर्जाः श्रावकाश्च, एतेषामर्थाय कृतं कल्पते, लिङ्गचरणयोरियं चतुर्भङ्गिका, लिङ्गतः साधर्मिका न चरणतः, चरणतः साधर्मिका न लिङ्गतो, लिङ्गतः साधर्मिकाश्चरणतश्च, न लिङ्गतो नापि चरणतः, अस्या अपि चतुर्भङ्गिकाया उदाहरणानि प्रायः पूर्वसदृशानीतिकृत्वा निर्युक्तिकृन्नोदाहृतवान् ततोऽहमेवोदाहरामि, लिङ्गतः साधर्मिका न चरणतो विभिन्नचारित्रा यतयः, एकादशीं प्रतिमां प्रतिपन्नाः श्रावका निह्नवाश्च, अत्र श्रावकाणां निह्नवानां चार्थाय कृतं कल्पते न यतीनां, चरणतः साधर्मिका न लिङ्गतः, प्रत्येकबुद्धास्तीर्थकृतश्च समानचारित्राः, तेषामर्थाय कृतं साधूनां कल्पते, लिङ्गतः साधर्मिकाश्चरणतश्च समानचारित्रा यतयः, तेषामर्थाय कृतं न कल्पते, न लिङ्गतो नापि चरणतो विसदृशचरणाः प्रत्येकबुद्धतीर्थकरा एकादशप्रतिमावर्जाः श्रावकाश्च, तेषामर्थाय कृतं कल्पते ॥ लिङ्गाभिग्रहयोश्चतुर्भङ्गिका इयं–लिङ्गतः साधर्मिका नाभिग्रहतः, अभिग्रहतः साधर्मिका न लिङ्गतो, लिङ्गतः साधर्मिका अभिग्रहतश्च, न लिङ्गतो नाप्यभिग्रहतः, तत्राद्यं भङ्गद्वयमुदाहरति—

लिंगेण उ नाभिग्गह अणभिग्गह वीसुऽभिग्गही चेव । जइ सावग बीयभंगे पत्तेयबुहा य तित्थयरा ॥ १५२ ॥

व्याख्या—लिङ्गेन साधर्मिका नाभिग्रहतोऽनभिग्रहाः, यद्वा 'विष्वगभिग्रहिणो' विभिन्नाभिग्रहकलिता यतय एकादशीं प्रतिमां प्रतिपन्नाः श्रावकाश्च वेदितव्याः, उपलक्षणमेतन्निह्नवाश्च, अत्रापि निह्नवानां श्रावकाणां चार्थाय कृतं कल्पते न यतीनाम् १, अभिग्रहतः साधर्मिका न लिङ्गत इत्येवंरूपे द्वितीये भङ्गे प्रत्येकबुद्धास्तीर्थकराश्चशब्दादेकादशप्रतिमावर्जाः श्रावकाश्च समानाभिग्रहा द्रष्टव्याः, एतेषामर्थाय कृतं कल्पते २, लिङ्गतः साधर्मिका अभिग्रहतश्च समानाभिग्रहाः साधव एकादशीं प्रतिमां प्रतिपन्नाः श्रावका निह्नवाश्च, अत्रापि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ५८ ॥

श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनां ३, न लिङ्गतो नाप्यभिग्रहतश्च विसदृशाभिग्रहास्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धैकादशप्रतिमावर्जश्रावकाः, एतेषामर्थाय कृतं कल्पते ॥ लिङ्गभावनयोरियं चतुर्भङ्गिका–लिङ्गतः साधर्मिका न भावनातः भावनातः साधर्मिका न लिङ्गतो लिङ्गतः साधर्मिका भावनातश्च न लिङ्गतो नापि भावनातः, तत्रास्या उदाहरणान्यतिदेशेनाह—

एवं लिङ्गेण भावण ।

व्याख्या—यथा लिङ्गे अभिग्रहेण भङ्गेषूदाहृतमेवं भावनयाऽऽप्युदाहर्त्तव्यं । तच्चैवम्–लिङ्गतः साधर्मिका न भावनातः, भावनारहिता विष्वग्भावना वा यतय एकादशीं प्रतिमां प्रतिपन्नाः श्रावका निह्नवाश्च, अत्र श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृतं कल्पते न साधूनामर्थाय १, भावनातः साधर्मिका न लिङ्गतः, प्रत्येकबुद्धास्तीर्थकृत एकादशीं प्रतिमां प्रतिपन्नाः श्रावकाश्च समानभावनाकाः, एतेषामर्थाय कृतं कल्पते २, लिङ्गतः साधर्मिका भावनातश्च समानभावनाकाः साधव एकादशीं प्रतिमां प्रतिपन्नाः श्रावका निह्नवाश्च, अत्रापि श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनां ३, न लिङ्गतो नापि भावनातो विसदृशभावनाकास्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धैकादशप्रतिमावर्जश्रावकाः, एतेषामर्थाय कृतं कल्पते ॥ तदेवं लिङ्गविषया पञ्च चतुर्भङ्गिका उक्ताः, सम्प्रति दर्शनस्य ज्ञानादिभिः सह वक्तव्याः, तत्र दर्शनज्ञानयोरियं चतुर्भङ्गिका— दर्शनतः साधर्मिका न ज्ञानतः ज्ञानतः साधर्मिका न दर्शनतः दर्शनतोऽपि साधर्मिका ज्ञानतश्च न दर्शनतो नापि ज्ञानतः, तत्राद्यं भङ्गद्वयमुदाहरति—

दंसणनाणे य पढम भंगो उ । जइ सावग वीसुनाणी एवं चिय बिइयभंगोऽवि ॥ १५३ ॥

आधाकर्मणिसाधर्मिकचतुर्भङ्ग्यः

॥ ५८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—'दर्शनज्ञाने' दर्शनज्ञानविषयायां 'चः' समुच्चये, प्रथमो भङ्गो दर्शनतः साधर्मिका न ज्ञानत इत्येवंरूपः 'विष्वग्-ज्ञानिनः' विभिन्नज्ञानाः समानदर्शना यतयः श्रावकाश्च वेदितव्याः, तत्र श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनामर्थाय कृतम्। एवमेव ज्ञानतः साधर्मिका न दर्शनत इत्येवंरूपो द्वितीयो भङ्गोऽपि ज्ञातव्यः, तत्रापि यतयः श्रावकाश्च वेदितव्या इत्यर्थः, केवलं विभिन्नदर्शनाः समानज्ञानाः, अत्रापि कल्प्याकल्प्यविधिः प्रागिव, ज्ञानतः साधर्मिका दर्शनतश्च समानज्ञानाः समानदर्शना यतयः श्रावकाश्च, अत्रापि कल्प्याकल्प्यविधिः प्राग्वत्, न ज्ञानतो नापि दर्शनतो विसदृशज्ञानदर्शनाः साधवः श्रावका निह्नवाश्च, अत्र श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृतं कल्पते न साधनां॥ दर्शनचरणयोश्चतुर्भङ्गिका त्वियं–दर्शनतः साधर्मिका न चरणतः चरणतः साधर्मिका न दर्शनतः दर्शनतोऽपि साधर्मि-काश्चरणतश्च न दर्शनतो नापि चरणतः, तत्राद्यं भङ्गद्वयमुदाहरति—

दंसणचरणे पढमो सावग जइणो य बीयभंगो उ। जइणो विसरिसदंसी दंसे य अभिग्गहे वोच्छं॥ १५४॥

व्याख्या—'दर्शनचरणे' दर्शनचरणचतुर्भङ्गिकायां प्रथमो भङ्गो दर्शनतः साधर्मिका न चरणत इत्येवंरूपः समानदर्शनाः श्रावका विसदृशचरणा यतयश्च, अत्र श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनामर्थाय कृतं १, द्वितीयो भङ्गः पुनश्चरणतः साधर्मिका न दर्श-नत इत्येवंरूपो विसदृशदर्शनाः समानचारित्रा यतयः, एतेषामर्थाय कृतं न कल्पते २, दर्शनतः साधर्मिकाश्चरणतश्च समानदर्शनचरणा यतयः, अत्रापि न कल्पते ३, न दर्शनतो नापि चरणतो निह्नवा विसदृशदर्शनाः श्रावका विसदृशदर्शनचरणा यतयश्च, तत्र निह्नवश्राव-काणामर्थाय कृतं कल्पते न यतीना, दर्शनाभिग्रहयोरियं चतुर्भङ्गिका–दर्शनतः साधर्मिका नाभिग्रहतः, अभिग्रहतः साधर्मिका न दर्शनतः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

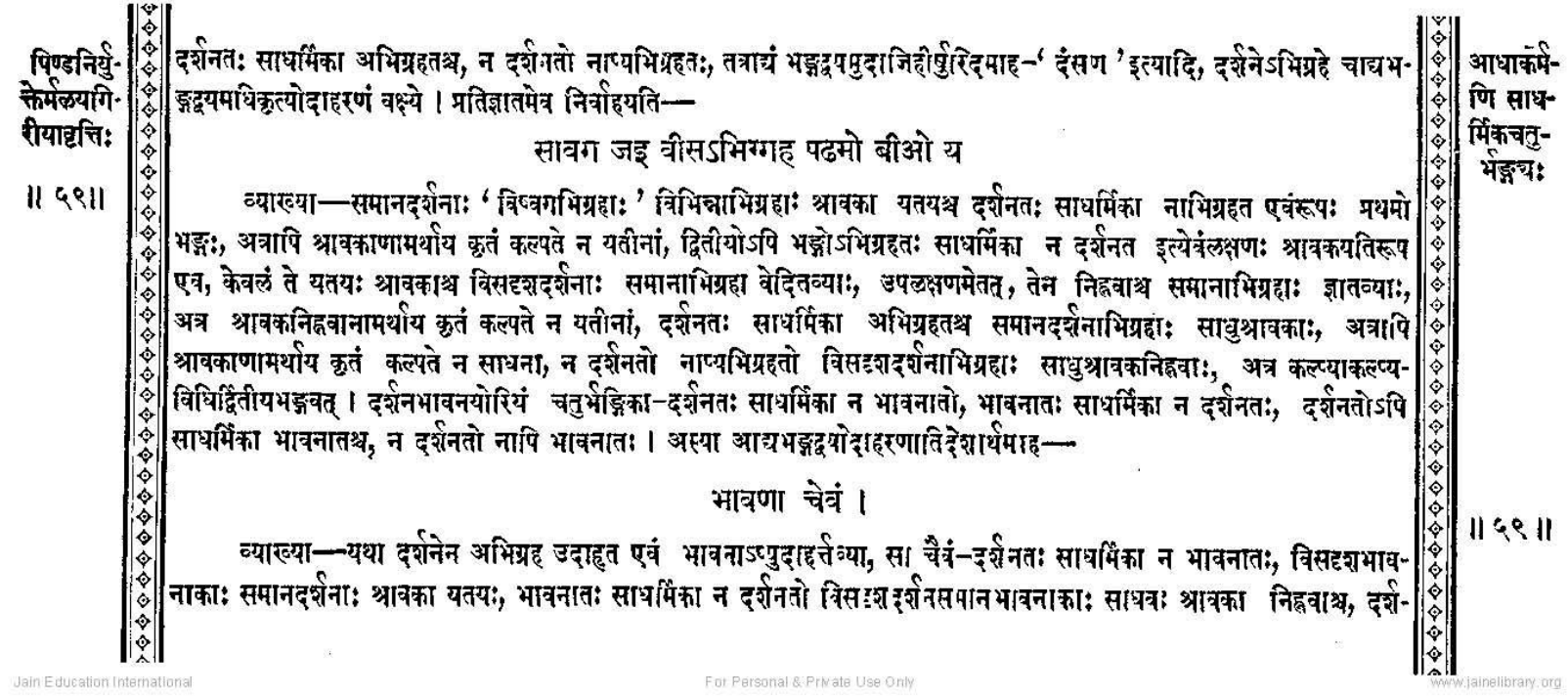

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ५९॥

दर्शनतः साधर्मिका अभिग्रहतश्च, न दर्शनतो नाप्यभिग्रहतः, तत्राद्यं भङ्गद्वयमुदाजिहीर्षुरिदमाह–' दंसण ' इत्यादि, दर्शनेऽभिग्रहे चाद्यभङ्गद्वयमधिकृत्योदाहरणं वक्ष्ये । प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

सावग जइ वीसऽभिग्गह पढमो बीओ य

व्याख्या—समानदर्शनाः ' विष्वगभिग्रहाः ' विभिन्नाभिग्रहाः श्रावका यतयश्च दर्शनतः साधर्मिका नाभिग्रहत एवंरूपः प्रथमो भङ्गः, अत्रापि श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनां, द्वितीयोऽपि भङ्गोऽभिग्रहतः साधर्मिका न दर्शनत इत्येवंलक्षणः श्रावकयतिरूप एव, केवलं ते यतयः श्रावकाश्च विसदृशदर्शनाः समानाभिग्रहा वेदितव्याः, उपलक्षणमेतत्, तेन निह्नवाश्च समानाभिग्रहाः ज्ञातव्याः, अत्र श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनां, दर्शनतः साधर्मिका अभिग्रहतश्च समानदर्शनाभिग्रहाः साधुश्रावकाः, अत्रापि श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न साधना, न दर्शनतो नाप्यभिग्रहतो विसदृशदर्शनाभिग्रहाः साधुश्रावकनिह्नवाः, अत्र कल्प्याकल्प्यविधिर्द्वितीयभङ्गवत् । दर्शनभावनयोरियं चतुर्भङ्गिका–दर्शनतः साधर्मिका न भावनातो, भावनातः साधर्मिका न दर्शनतः, दर्शनतोऽपि साधर्मिका भावनातश्च, न दर्शनतो नापि भावनातः । अस्या आद्यभङ्गद्वयोदाहरणातिदेशार्थमाह—

भावणा चेवं ।

व्याख्या—यथा दर्शनेन अभिग्रह उदाहृत एवं भावनाऽप्युदाहर्त्तव्या, सा चैवं–दर्शनतः साधर्मिका न भावनातः, विसदृशभावनाकाः समानदर्शनाः श्रावका यतयः, भावनातः साधर्मिका न दर्शनतो विसदृशदर्शनसमानभावनाकाः साधवः श्रावका निह्नवाश्च, दर्श-

आधाकर्मणि साधर्मिकचतुर्भङ्गयः

॥ ५९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१५५||

दीप अनुक्रम [१७७]

नतः साधर्मिका भावनातश्च समानदर्शनभावनाकाः साधुश्रावकाः, न दर्शनतो नापि भावनातो विसदृशदर्शनभावनाकाः साधुश्रावकनिह्नवाः, अत्र चतुर्ष्वपि भङ्गेषु कल्प्याकल्प्यविधिः प्रागिव । तदेवं दर्शनविषया अपि चतस्रश्चतुर्भङ्गिका उक्ताः, सम्प्रति ज्ञानस्य चारित्रादिभिः सह वक्तव्याः, ताश्चातिदेशेनाह—

नाणेणऽवि नेज्जेवं

व्याख्या—यथा दर्शनेन सह चतस्रश्चतुर्भङ्गिका उक्ताः एवं ज्ञानेनापि सह चारित्रादीनि पदान्यधिकृत्य तिस्रश्चतुर्भङ्गिका भावनीयाः । अतीवेदं सङ्क्षिप्तमुक्तमतः स्पष्टं विविच्यते—ज्ञानचरणयोरियं चतुर्भङ्गिका, ज्ञानतः साधर्मिका न चरणतः, चरणतः साधर्मिका न ज्ञानतः, ज्ञानतोऽपि साधर्मिकाश्चरणतश्च, न ज्ञानतोऽपि नापि चरणतः । तत्र ज्ञानतः साधर्मिका न चरणतः, समानज्ञानाः श्रावका विसदृशचरणसमानज्ञाना यतयश्च, अत्र श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनां १, चरणतः साधर्मिका न ज्ञानतो विसदृशज्ञानाः समानचरणा यतयः, अत्र न कल्पते २, ज्ञानतः साधर्मिकाश्चरणतश्च समानज्ञानचरणा यतयः, अत्रापि न कल्पते ३, न ज्ञानतो नापि चरणतो विसदृशज्ञानचरणा यतयो विसदृशज्ञानाः श्रावका निह्नवाश्च, अत्र श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनां ४, ज्ञानाभिग्रहयोरियं चतुर्भङ्गिका–ज्ञानतः साधर्मिका नाभिग्रहतः, अभिग्रहतः साधर्मिका न ज्ञानतः, ज्ञानतोऽपि साधर्मिका अभिग्रहतश्च, न ज्ञानतो नाप्यभिग्रहतः । तत्र ज्ञानतः साधर्मिका नाभिग्रहतः समानज्ञाना विसदृशाभिग्रहाः साधुश्रावकाः, अत्र श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न साधूनाम् १, अभिग्रहतः साधर्मिका न ज्ञानतो विसदृशज्ञानाः समानाभिग्रहाः साधुश्रावकाः समानाभिग्रहा निह्नवाश्च, अत्रापि श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृतं कल्पते न साधूनां २, ज्ञानतः साधर्मिका अभिग्रहतश्च समानज्ञानाभिग्रहाः साधुश्रावकाः, अत्र कल्प्याकल्प्यविधिः प्रथमभङ्ग इव ३,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१५५||

दीप अनुक्रम [१७७]

न ज्ञानतो नाप्यभिग्रहतो विसदृशज्ञानाभिग्रहाः साधुश्रावका विसदृशाभिग्रहा निह्नवाश्च, अत्र द्वितीयभङ्गे इव कल्प्याकल्प्यभावना ४, ज्ञानभावनयोरियं चतुर्भङ्गिका–ज्ञानतः साधर्मिका न भावनातः, भावनातः साधर्मिका न ज्ञानतः, ज्ञानतोऽपि साधर्मिका भावनातश्च, न ज्ञानतो नापि भावनातः। तत्र ज्ञानतः साधर्मिका न भावनातः समानज्ञाना विसदृशभावनाकाः साधुश्रावकाः १, भावनातः साधर्मिका न ज्ञानतो विसदृशज्ञानाः समानभावनाकाः साधुश्रावकाः समानभावना निह्नवाश्च २, ज्ञानतः साधर्मिका भावनातश्च समानज्ञानभावनाकाः साधुश्रावकाः ३, न ज्ञानतो नापि भावनातो विसदृशभावनाः साधुश्रावका विसदृशभावना निह्नवाश्च ४, अत्र चतुर्ष्वपि भङ्गकेषु कल्प्याकल्प्यभावना प्रागिव। तदेवं ज्ञानविषया अपि तिस्रश्चतुर्भङ्गिका उक्ताः, सम्प्रति चरणेन सह यच्चतुर्भङ्गिकाद्वयं तदुदाहर्तुमाह—

एत्तो चरणेण वोच्छामि ॥ १५५ ॥

व्याख्या—इत ऊर्द्धं चरणेन सह ये द्वे चतुर्भङ्गिके तदुदाहरणानि वक्ष्ये तत्र चरणाभिग्रहयोरियं चतुर्भङ्गिका–चरणतः साधर्मिका नाभिग्रहतः, अभिग्रहतः साधर्मिका न चरणतः, चरणतोऽपि साधर्मिका अभिग्रहतश्च, न चरणतो नाप्यभिग्रहतः। तत्राद्यं भङ्गद्वयमुदाजिहीर्षुराह—

जइणो वीसाभिग्गह पढमो बिय निण्हसावगजइणो उ (ईणो)।

व्याख्या—चरणतः साधर्मिका नाभिग्रहत इत्येवंरूपः प्रथमो भङ्गः, समानचरणा 'विष्वगभिग्रहाः' विभिन्नाभिग्रहा यतयः, अत्र न कल्पते, अभिग्रहतः साधर्मिका न चरणतः इत्येवंरूपो द्वितीयो भङ्गः समानाभिग्रहा निह्नवाः श्रावका विभिन्नचरणा यतयश्च, अत्र

॥ ६० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रावकाणां निह्नवानां चार्थाय कृतं कल्पते न यतीनां २, चरणतः साधर्मिका अभिग्रहतश्च समानचरणाभिग्रहा यतयः, अत्र न कल्पते ३, न चरणतो नाप्यभिग्रहतः विसदृशाभिग्रहचरणाः साधवो विसदृशाभिग्रहाः श्रावकानिह्नवाश्च, अत्र कल्प्याकल्प्यभावना द्वितीयभङ्ग इव ४, चरणभावनयोरियं चतुर्भङ्गिका–चरणतः साधर्मिका न भावनातः भावनातः साधर्मिका न चरणतः चरणतः साधर्मिका भावनातश्च न चरणतो नापि भावनातः, अस्या उदाहरणान्यतिदेशत आह—

एवं तु भावणासुऽवि

व्याख्या—यथा चरणेन सहाभिग्रहे उदाहृतम् एवं भावनास्वप्युदाहर्त्तव्यं, तच्चैवं–चरणतः साधर्मिका न भावनातः समानचरण-विभिन्नभावना यतयः १, भावनातः साधर्मिका न चरणतः समानभावना निह्नवाः श्रावका विभिन्नचरणा यतयश्च २, चरणतः साधर्मिका भावनातश्च समानचरणभावना यतयः ३, न चरणतो नापि भावनातो विसदृशचरणभावनाः साधवो विसदृशभावनाः श्रावका निह्नवाश्च ४, अत्र चतुर्ष्वपि भङ्गकेषु कल्प्याकल्प्यविधिः प्रागिव । तदेवं चरणविषयेऽपि द्वे चतुर्भङ्गिके उक्ते, सम्प्रत्यभिग्रहभावनयो-श्चतुर्भङ्गिकां वक्तुकाम आह—

वोच्छं दोण्हंतिमाणित्तो ॥ १५६ ॥

व्याख्या—इत ऊर्ध्वं द्वयोरन्तिमयोः–अभिग्रहभावनालक्षणयोः पदयोश्चतुर्भङ्गिकामुदाहरणतो वक्ष्ये । तत्र तयोरियं चतुर्भङ्गिका–अभिग्रहतः साधर्मिका न भावनातः, भावनातः साधर्मिका नाभिग्रहतः, भावनातः साधर्मिका अभिग्रहतश्च, नाभिग्रहतो नापि भावनातः । तत्राद्यं भङ्गद्वयमुदाजिहीर्षुराह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१५७||

दीप अनुक्रम [१७९]

जइणो सावगा निण्हव पढमे बिइए य हुंति भंगे य ।

व्याख्या—अभिग्रहतः साधर्मिका न भावनात इत्येवंरूपे प्रथमे भङ्गे भावनातः साधर्मिका नाभिग्रहत इत्येवंरूपे द्वितीये च भङ्गे यतयः श्रावका निह्नवाश्च भवन्ति, केवलं प्रथमभङ्गे समानाभिग्रहा विसदृशभावना वेदितव्याः, द्वितीये भङ्गे पुनः समानभावना विसदृशाभिग्रहाः, अभिग्रहतः साधर्मिका भावनातश्च समानभावनाभिग्रहाः साधुश्रावकनिह्नवाः, नाभिग्रहतो नापि भावनातो विसदृशभावनाभिग्रहाः साधुश्रावकनिह्नवाः । अत्र चतुर्ष्वपि भङ्गेषु श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृतं कल्पते न साधूनामिति । तदेवमुक्ता एकविंशतिरपि चतुर्भङ्गिकाः, सम्प्रति सामान्यकेवलिनं तीर्थकरं चाधिकृत्य कल्प्याकल्प्यविधिं कथयति—

केवलनाणे तित्थंकरस्स नो कप्पइ कयं तु ॥ १५७ ॥

व्याख्या—'केवलज्ञाने' केवलज्ञानिनः सामान्यसाधोः, उपलक्षणमेतत्, तेन तीर्थकरप्रत्येकबुद्धवर्जानां शेषसाधूनामित्यर्थः, तीर्थकरस्य, तीर्थकरग्रहणमुपलक्षणं तेन प्रत्येकबुद्धस्य चार्थाय कृतं यथाक्रमं न कल्पते, तुशब्दस्यानुक्तार्थसमुच्चायकत्वात् कल्पते च, इयमत्र भावना—तीर्थकरप्रत्येकबुद्धवर्जशेषसाधूनामर्थाय कृतं न कल्पते, तीर्थकरप्रत्येकबुद्धानां त्वर्थाय कृतं कल्पते, तथाहि—तीर्थकरनिमित्तं सुरैः कृतेऽपि समवसरणे तत्र साधूनां देशनाश्रवणार्थमुपवेशनादि कल्पते, एवं भक्तायपि, एवं प्रत्येकबुद्धस्यापि । सम्प्रति यानाश्रित्य पूर्वोक्ता भङ्गाः सम्भवन्ति स्म तान् प्रतिपादयति—

पत्तेयबुद्ध निण्हव उवासए केवलीवि आसज्ज । खइयाइए य भावे पडुच्च भंगे उ जोएज्जा ॥ १५८ ॥

व्याख्या—प्रत्येकबुद्धान् निह्नवान् 'उपासकान्' श्रावकान् 'केवलिनः' तीर्थकरान् अपिशब्दाच्छेषसाधूंश्चाश्रित्य तथा 'क्षायि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कादीन् भावान्' क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकानि दर्शनानि, चशब्दाद्विचित्राणि ज्ञानानि चरणानि अभिग्रहान् भावनाश्च प्रतीत्य भङ्गान् योजयेत्, ते च तथैव योजिताः । तत्र प्रथमचतुर्भङ्गिकां प्रवचनलिङ्गविषयामधिकृत्य विशेषतः कल्प्याकल्प्यविधिमाह—

जत्थ उ तइओ भंगो तत्थ न कप्पं तु सेसए भयणा । तित्थंकरकेवलिणो जहकप्पं नो य सेसाणं ॥ १५९ ॥

व्याख्या—यत्र साधर्मिके तृतीयो भङ्गः प्रवचनतः साधर्मिका लिङ्गतश्चेत्येवंरूपस्तत्र न कल्पते, यतः प्रवचनतो लिङ्गतश्च साधर्मिकाः प्रत्येकबुद्धतीर्थकरवर्जा यतयः ततस्तेषामर्थाय कृतं न कल्पते, तुशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, स च श्रावकस्यैकादशीं प्रतिमां प्रतिपन्नस्य तृतीयभङ्गभाविनोऽप्यर्थाय कृतं कल्पते इति समुच्चिनोति, केचिदाहुः–एकादशीं प्रतिमां प्रतिपन्नः साधुकल्प इति तस्याप्यर्थाय कृतं न कल्पते, तदयुक्तं, मूलटीकायामस्यार्थस्यासम्मतत्वात्, मूलटीकायां हि लिङ्गाभिग्रहचतुर्भङ्गिकाविषये कल्प्याकल्प्यविधिरेवमुक्तः—" लिङ्गे नो अभिग्गहे जइ साहू न कप्पइ गिहत्थनिण्हवे कप्पइ "त्ति इह लिङ्गयुता गृहस्था एकादशीं प्रतिमां प्रतिपन्नाः श्रावका एव लभ्यन्ते, ततस्तेषामर्थाय कृतं कल्प्यमुक्तं, ' सेसए भयण 'त्ति शेषके भङ्गकत्रये ' भजना ' विकल्पना क्वचित् कथञ्चित्कल्पते क्वचिन्न, भङ्गचतुष्टयमप्यधिकृत्य सामान्यत उदाहरति–' तित्थंकरे 'त्यादि, यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः तीर्थकरकेवलिनोऽर्थाय कृतं कल्पते, इह तीर्थकर उत्पन्नकेवलज्ञान एव प्रायः सर्वत्रापि भूमण्डले प्रतीतो भवति, प्रतीतस्य च तीर्थकरस्यार्थाय कृतं कल्पते नाप्रतीतस्य ततः केवलिग्रहणं, यदा पुनश्छद्मस्थावस्थायामपि तीर्थकरत्वेन प्रतीतो भवति तदा तस्यामप्यवस्थायां तन्निमित्तं कृतं कल्पते, तीर्थकरग्रहणं च प्रत्येकबुद्धानामुपलक्षणं, तेन तेषामप्यर्थाय कृतं कल्पते, ' नो य सेसाणं 'ति शेषसाधूनामर्थाय कृतं न कल्पते, इदं च सामान्यत उक्तं, ततोऽमुमेवार्थमुपजीव्य तृतीयवर्जे शेषे भङ्गत्रये भजना स्पष्टमुपदर्श्यते–प्रवचनतः साधर्मिका न लिङ्गतः, एकादशप्रतिमाप्रतिपन्नवर्जाः शेषश्रावकास्ते-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

षामर्थाय कृतं कल्पते, ये तु चौरादिमुषितरजोहरणादिलिङ्गाः साधवस्तेषामर्थाय कृतं न कल्पते, द्रव्यलिङ्गापेक्षया साधर्मिकत्वाभावेऽपि भावतश्चरणसाधर्मिकत्वात्, लिङ्गतः साधर्मिका न प्रवचनतो निह्नवाः ते यदि लोके निह्नवत्वेन ख्यातास्ततस्तेषामर्थाय कृतं कल्पते, अन्यथा न, न प्रवचनतो न लिङ्गतः तीर्थकरप्रत्येकबुद्धास्तेषामर्थाय कृतं कल्पते, तदेवं प्रथमचतुर्भङ्गिकामधिकृत्य कल्प्याकल्प्यविधिरुक्तः, एतदनुसारेण च शेषास्वपि चतुर्भङ्गिकासु विज्ञेयः, स च प्रागेव प्रत्येकं दर्शितः। सर्वत्राप्ययं तात्पर्यार्थोऽवधारणीयः–यदि तीर्थकराः प्रत्येकबुद्धा निह्नवाः श्रावका वा तर्हि तेषामर्थाय कृतं कल्पते साधूनामर्थाय कृतं न कल्पते। तदेवमुक्तः कल्प्याकल्प्यविधिः, तदुक्तौ च 'आहाकम्मियनामे'त्यादिमूलद्वारगाथायां 'कस्स वावी'ति व्याख्यातं, सम्प्रति 'किं वावी'ति व्याचिख्यासुराह—

किं तं आहाकम्मंति पुच्छिए तस्सरूवकहणत्थं। संभवपदरिसणत्थं च तस्स असणाइयं भणइ ॥ १६० ॥

व्याख्या—किं तदाधाकर्म्म इति शिष्येण पृष्टे 'तत्स्वरूपकथनार्थम्' आधाकर्म्मस्वरूपकथनार्थं 'तस्य' आधाकर्म्मणः सम्भवप्रदर्शनार्थं च 'अशनादिकम्' अशनपानखादिमस्वादिमं गुरुर्भणति, इयमत्र भावना–अशनादिस्वरूपमाधाकर्म्म–अशनादावेव चाधाकर्म्मणः सम्भवः, ततो गुरुः किमाधाकर्म्म इति पृष्टः सन्नशनादिकमेव वक्ति, तथा च शय्यम्भवसूरिराधाकर्म्म दर्शयन् पिण्डैषणाध्ययनेऽशनादिकमभिधत्ते, तद्यथा–" असणं पाणगं चेव, खाइमं साइमं तहा। जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, समणट्ठा पगडं इमं ॥ १ ॥ तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं। देंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ २ ॥" इति। सम्प्रत्यशनादिकमेव व्याचष्टे—

१ अशनं पानकमेव खाद्यं स्वाद्यं तथा। यज्जानीयाच्छृणुयाद्वा श्रमणार्थं प्रकृतमिदम् ॥ १ ॥
तद्भवेद्भक्तपानं तु संयतानामकल्पिकम्। ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम् ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साल्यादिकमशनम्, अवट इति वापिकूपतडागाद्युपलक्षणं, ततः कूपवापीतडागादौ यज्जलं तत्पानं, तथा 'फलादि' फलं–नालिकेरादि, आदिशब्दाच्चिञ्चिणिकापुष्पादिपरिग्रहस्तत् खादिमं, शुण्ठ्यादिकं स्वादिमं, तत्र शुण्ठी प्रतीता, आदिशब्दात् हरीतक्यादिपरिग्रहः। तदेवं व्याख्यातान्यशनादीनि, सम्प्रत्येतेष्वेवाधाकर्म्मरूपेषु प्रत्येकं भङ्गचतुष्टयमाह—

तस्स कडनिट्ठियंमी सुद्धमसुद्धे य चत्तारि ॥ १६१ ॥

व्याख्या—तस्येति प्रस्तावात् साधोरर्थाय 'कृतमि'त्यत्र बुद्ध्यादिकर्मविवक्षायां क्तप्रत्ययः, ततोऽयमर्थः–कर्तुं प्रारब्धं, तथा तस्य साधोरर्थाय 'निष्ठितं' सर्वथा प्रासुकीकृतमिति, अत्र विषये 'चत्वारि' इति चत्वारो भङ्गा भवन्ति, तत्र प्रथम एष एव भङ्गः–तस्य कृतं तस्य निष्ठितं, द्वितीयस्तस्य कृतमन्यस्य निष्ठितं, तृतीयोऽन्यस्य कृतं तस्य निष्ठितं, चतुर्थोऽन्यस्य कृतमन्यस्य निष्ठितं। तत्र प्रथमो व्याख्यातो द्वितीयादीनां तु भङ्गानामयमर्थः–पूर्वं तावत्तस्य साधोरर्थाय कर्तुमारब्धं ततो दातुः साधुविषयदानपरिणामाभावतोऽन्यस्य–आत्मनः स्वपुत्रादेर्वाऽर्थाय निष्ठां नीतं, तथा प्रथमतोऽन्यस्य–पुत्रादेरात्मनो वाऽर्थाय कर्तुमारब्धं ततः साधुविषयदानपरिणामभावतः साधोरर्थाय निष्ठां नीतं, तथा प्रथमत एवान्यस्य निमित्तं कर्तुमारब्धमन्यस्यैव च निमित्तं निष्ठां नीतम्, एवमशने पाने खादिमे स्वादिमे च प्रत्येकं चत्वारश्चत्वारो भङ्गा भवन्ति, तत्र 'सुद्धमसुद्धे य'त्ति आर्षत्वात् शुद्धावशुद्धौ चेति द्रष्टव्यं, तत्र शुद्धौ–साधोरासेवनायोग्यौ, तौ च द्वितीयचतुर्थभङ्गौ, तथाहि–क्रियाया निष्ठा प्रधाना, ततो यद्यपि प्रथमतः साध्वर्थनिमित्तं क्रिया प्रारब्धा तथापि निष्ठामन्यनिमित्तं नीतेति द्वितीयो भङ्गः साधोः कल्पते, चतुर्थस्तु भङ्गः शुद्ध एव, न तत्र विवादः, अशुद्धौ–अकल्पनीयौ, तौ च प्रथमतृतीयौ, तत्र प्रथम एकान्तेनाशुद्ध एव साध्वर्थ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१६१||

दीप अनुक्रम [१८३]

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ ६३ ॥

प्रारब्धत्वान्निष्ठितत्वाच्च, तृतीये तु भङ्गे यद्यपि पूर्वं न साधुनिमित्तं पाकादिक्रियाऽऽरम्भस्तथापि सा साधुनिमित्तं निष्ठां नीता, निष्ठा च प्रधानेति न कल्पते। तदेवमाधाकर्म्मस्वरूपमुक्तं, साम्प्रतमशनादिरूपस्याधाकर्म्मणः सम्भवं प्रतिपिपादयिषुः कथानकं रूपकषट्केनाह—

कोद्दवरालगगामे वसही रमणिज्ज भिक्खसज्झाए । खेत्तपडिलेहसंजय सावयपुच्छुज्जुए कहणा ॥ १६२ ॥
जुज्जइ गणस्स खेत्तं नवरि गुरूणं तु नत्थि पाउग्गं । सालित्ति कए रुंपण परिभायग नियगगेहेसु ॥ १६३ ॥
वोलिंता ते व अन्ने वा, अडंता तत्थ गोयरं । सुणंति एसणाजुत्ता, बालादिजणसंकहा ॥ १६४ ॥
एए ते जेसिमो रद्धो, सालिकूरो घरे घरे । दिन्नो वा से सयं देमि, देहि वा बिंति वा इमं ॥ १६५ ॥
थक्के थक्कावडियं, अभत्तए सालिभत्तयं जायं । मज्झ य पइस्स मरणं, दियरस्स य से मया भज्जा ॥ १६६ ॥
चाउलोदगंपि से देहि, सालीआयामकंजियं । किमेयंति कयं नाउं, वज्जंतऽन्नं वयंति वा ॥ १६७ ॥

व्याख्या—इह **सङ्कुलो** नाम ग्रामः, तत्र **जिनदत्त**नामा श्रावकः, तस्य भार्या **जिनमति**:,तत्र च ग्रामे कोद्रवा रालकाश्च प्राचुर्येणोत्पद्यन्ते इति तेषामेव कूरं गृहे २ भिक्षार्थमटन्तः साधवो लभन्ते, वसतिरपि स्त्रीपशुपण्डकविवर्जिता समभूतलादिगुणैरतिरमणीया कल्पनीया च प्राप्यते,स्वाध्यायोऽपि तत्र वसतामविघ्नमभिवर्द्धते, केवलं शाल्योदनो न प्राप्यते इति न केचनापि सूरयो भेण तत्रावतिष्ठन्ते । अन्यदा च सङ्कुलग्रामप्रत्यासन्ने **भद्रिला**भिधाने ग्रामे केचित्सूरयः समाजग्मुः, तैश्च सङ्कुलग्रामे क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाय साधवः प्रेष्यन्ते, साधवोऽपि तत्रागत्य यथागमं जिनदत्तस्य पार्श्वे वसतिमयाचिषत, जिनदत्तेनापि च साधुदर्शनसमुच्छलितप्रमोदभरसमुद्विन्नरोमाञ्चकञ्चु-

आधाकर्मणि संभवस्तस्य

॥ ६३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१६७||

दीप अनुक्रम [१८९]

कितगात्रेण तेभ्यो वसतिः कल्पनीया उपादेशि, साधवश्च तत्र स्थिताः, ययागमं भिक्षाप्रवेशनेन बहिर्भूमौ स्थण्डिलनिरीक्षणेन च सकलमपि ग्रामं प्रत्युपेक्षितवन्तः, जिनदत्तोऽपि च श्रावको वसतावागत्य यथाविधि साधून् वन्दित्वा महत्तरं साधुमपृच्छत्—भगवन् ! रुचितमिदं युष्मभ्यं क्षेत्रं ?, सूरयोऽत्र निजसमागमेनास्माकं प्रसादमाधास्यन्ति ?, ततः स ज्येष्ठः साधुरवादीत्–वर्त्तमानयोगेन, ततो ज्ञातं जिनदत्तेन–यथा न रुचितमिदमेतेभ्यः क्षेत्रमिति, चिन्तयति च—अन्येऽपि साधवोऽत्र समागच्छन्ति परं न केचिदवतिष्ठन्ते, तन्न जानामि किमत्र कारणमिति, ततः कारणपरिज्ञानाय तेषां साधूनामन्यतमं कमपि साधुमृजुं ज्ञात्वा पप्रच्छ, स च यथावस्थितमुक्तवान्, यथाऽत्र सर्वेऽपि गुणा विद्यन्ते, गच्छस्यापि च योग्यमिदं क्षेत्रं, केवलमत्राचार्यस्य प्रायोग्यः शाल्योदनो न लभ्यते इति नावस्थीयते । तत एवं कारणं परिज्ञाय तेन जिनदत्तश्रावकेणापरस्माद्ग्रामात् शालीबीजमानीय निजग्रामक्षेत्रभूमिषु वापितं, ततः सम्पन्नो भूयान् शालिः, अन्यदा च यथाविहारक्रमं ते वाऽन्ये वा साधवः समायासिषुः, श्रावकश्च चिन्तयामास–यथैतेभ्यो मया शाल्योदनो दातव्यो येन सूरीणामिदं योग्यं क्षेत्रमिति परिभाव्य साधवोऽमी सूरीनानयन्ति, तत्र यदि निजगृह एव दास्यामि ततोऽन्येषु गृहेषु कोद्रवरालकूरं लभमानानामेतेषामाधाकर्म्मशङ्कोत्पत्स्यते तस्मात्सर्वेष्वपि स्वजनगृहेषु शालिं प्रेषयामीति,तथैव च कृतं,स्वजनांश्चोक्तवान् यथा स्वयमप्यमुं शालिं पक्त्वा भुञ्जत, साधुभ्योऽपि च ददत, एष च वृत्तान्तः सर्वोऽपि बालादिभिरवजग्मे, साधवश्च भिक्षार्थमटन्तो यथाऽऽगममेषणासमितिसमिता बालादीनामुक्तानि शृण्वन्ति, तत्र कोऽपि बालको वक्ति–एते ते साधवो येषामर्थाय गृहे शाल्योदनो निरपादि, अन्यो भाषते–साधुसम्बन्धी शाल्योदनो मह्यं जनन्या ददे, दात्री वा कश्चिदेवं भाषते–दत्तः परकीयः शाल्योदनः सम्प्रत्यात्मीयं किमपि ददामि, गृहनायकोऽपि कोऽपि ब्रूते–दत्तः शाल्योदनः परकीयः सम्प्रत्यात्मीयं किमपि देहि, बालकोऽपि कोऽप्यनभिज्ञो जननीं ब्रूते–अम साधुसम्बन्धिन'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शाल्योदनं देहीति, अन्यस्त्वीषद्दरिद्रः सहर्षं भाषते–अहो! थक्के थक्कावडियमस्माकं सम्पन्नं, इह यद् अवसरेऽवसरानुरूपमाप-तति तत् थक्केथक्कावडियमित्युच्यते, ततः स एवमाह–येनाभक्ते भक्ताभावेऽस्माकं शालिभक्तमुदपादि । अत्रैवार्थे स लौकिकं दृष्टान्तमुदाहरति, सूरग्रामे यशोधराभिधाना काचिदाभीरी तस्या योगराजो नाम भर्त्ता, वत्सराजो नाम देवरः, तस्य भार्या योधनी, अन्यदा च मरणपर्यवसानो जीवलोको मरणं चानियतहेतुकमनियतकालमिति योधनीयोगराजौ समकालं मरणमुपागतौ, ततो यशोधरा देवरं वत्सराजमयाचत—तव भार्याऽहं भवामीति, देवरोऽपि च ममापि भार्या न विद्यते इति विचिन्त्य प्रतिपन्नवान्, ततः सा चिन्तयामास–अहो! अवसरेऽवसरापतितमस्माकमजायत, यस्मिन्नेवावसरे मम पतिः पञ्चत्वमुपागमत् तस्मिन्नेवावसरे मम देवरस्यापि भार्या मृत्युमगच्छत्, ततोऽहं देवरेण भार्यात्वेन प्रतिपन्ना, अन्यथा न प्रतिपद्येत । तथा क्वापि बालको जननीमाचष्टे—मातः! शालितण्डुलोदकमपि साधुभ्यो देहि, अन्यस्त्वाह–शालिकाङ्क्षिकं, तत एवमादीनि बालादिजनजल्पितानि श्रुत्वा किमेतादिति पृच्छन्ति, पृष्टे च सति ये ऋजवस्ते यथावत्कथितवन्तो यथा युष्माकमर्थायेदं कृतमिति, ये तु मायाविनः श्रावकेण वा तथा प्रज्ञापितास्ते न कथयन्ति, केवलं परस्परं निरीक्षन्ते, तत एवं नूनमिदमाधाकर्म्मेति परिज्ञाय तानि सर्वाण्यपि गृहाणि परिहृत्यान्येषु भिक्षार्थमटन्ति स्म, ये च तत्र न निर्वहन्ति स्म ते तत्रानिर्वहन्तः प्रत्यासन्ने ग्रामे भिक्षार्थमगच्छन्, एवमन्यत्राप्याधाकर्म्म सम्भवति, तच्च बालादिजल्पितवि-शेषैरवगत्य कथानकोक्तसाधुभिरिव नियमतो निष्कलङ्कसंयममिच्छुना परिहर्त्तव्यं, सूत्रं तु सकलमपि सुगमं, नवरं 'रुंपण 'त्ति रोपणं 'परिभायण'त्ति गृहे परिभाजनं 'से' इति एतेभ्यः 'अन्नं 'ति अन्यं ग्रामम् । तदेवमुक्तोऽशनस्याधाकर्म्मणः सम्भवः, सम्प्रति पानस्याह—

लोणागडोदए एवं, खाणित्तु महुरोदगं । ढक्किएणऽच्छते ताव, जाव साहुत्ति आगया ॥ १६८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—यथाऽशनस्याधाकर्म्मणः कथानकसूचनेन सम्भव उक्तस्तथा पानस्याप्याधाकर्म्मणो वेदितव्यः, कथानकमपि तथैव, केवलमयं विशेषः–क्वचिद्ग्रामे सर्वेऽपि कूपाः क्षारोदका आसीरन्, क्षारोदका नामामलकोदका विज्ञेयाः, न त्वत्यन्तक्षारजलाः, तथा सति ग्रामस्याप्यवस्थानानुपपत्तेः, ततस्तस्मिन् लवणावटे क्षेत्रे क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाय साधवः समागच्छन्, परिभावयन्ति स्म च यथाऽऽगमं सकलमपि क्षेत्रं, ततस्तन्निवासिना श्रावकेण सादरमुपरुध्यमाना अपि साधवो नावतिष्ठन्ते, ततस्तन्मध्यवर्त्ती कोऽपि ऋजुकोऽनवस्थानकारणं पृष्टः, स च यथावस्थितं तस्मै कथयामास–यथा विद्यन्ते सर्वेऽप्यत्र गुणाः, केवलं क्षारं जलमिति नावतिष्ठन्ते, ततो गतेषु तेषु साधुषु स मधुरोदकं कूपं खानितवान्, तं खानयित्वा लोकप्रवृत्तिजनितपापभयाद् फलकादिना स्थगितमुखं कृत्वा तावदास्ते यावत्ते वाऽन्ये वा साधवः समाययुः, समागतेषु च साधुषु मा मम गृहे केवले आधाकर्म्मिकशङ्का भूदिति प्रतिगृहं तन्मधुरमुदकं भाजितवान्, ततः पूर्वोक्तकथानकप्रकारेण साधवो बालादीनामुल्लापानाकर्ण्याधाकर्म्मेति च परिज्ञाय तं ग्रामं परिहृतवन्तः, एवमन्यत्राप्याधाकर्म्मपानीयसम्भवो द्रष्टव्यः, तेऽपि च बालाद्युल्लापविशेषैः परिकलय्य कथानकोक्तसाधव इव परिहरेयुरिति। सूत्रं सुगमम्। सम्प्रति खादिमस्वादिमयोराधाकर्म्मणोः सम्भवमाह—

कक्कडिय अंबगा वा दाडिम दक्खा य बीयपूराई। खाइमऽहिगरणकरणंति साइमं तिगडुगाईयं ॥ १६९ ॥

व्याख्या—'कर्कटिका' चिर्भटिका 'आम्रकाणि' चूतफलानि, दाडिमानि द्राक्षाश्च प्रतीताः, बीजपूरकादिकम्, आदिशब्दात्कपित्थादिपरिग्रहः, एतानाश्रित्य खादिमविषये 'अधिकरणकरणं भवेत्' पापकरणं भवेत्, एतानि साधनां शालनकादिकार्येषु प्रयुज्यन्ते इति तेषां वपनादि कुर्यादिति भावः। तथा 'त्रिकटुकादिकं' सुण्ठीपिप्पलीमरिचकादिकमाश्रित्य स्वादिमे अधिकरणकरणं भवेत्, साधू-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नामौषधाद्यर्थममूनि कल्पन्ते इति तेषां रोपणादि कुर्यादिति भावः । सम्प्रति यदुक्तं प्राक् 'तस्स कडनिट्ठियम्मी' त्यादि, तत्र कृतनिष्ठितशब्दयोरर्थमाह—

असणाईण चउण्हवि आमं जं साहुगहणपाउग्गं । तं निट्ठियं वियाणसु उवक्खडं तू कडं होइ ॥ १७० ॥

व्याख्या—अशनादीनां चतुर्णामपि मध्ये यत् 'आमम्' अपरिणतं सत् साधुग्रहणप्रायोग्यं कृतं, प्रासुकीकृतमित्यर्थः, तं निष्ठितं विजानीत, उपस्कृतं तु अत्रापि बुद्धावादिकर्म्मविवक्षायां क्तप्रत्ययः ततोऽयमर्थः—उपस्कर्तुमारब्धमिति भावः, कृतं भवति ज्ञातव्यम् । एतदेव विशेषतो भावयति—

कंडिय तिगुणुक्कंडा उ निट्ठिया नेगदुगुणउक्कंडा । निट्ठियकडो उ कूरो आहाकम्मं दुगुणमाहु ॥ १७१ ॥

व्याख्या—इह ये तण्डुलाः प्रथमतः साध्वर्थमुप्ताः ततः क्रमेण करटयो जातास्ततः कण्डिताः, कथंभूताः कण्डिताः ? इत्याह—'त्रिगुणोत्कण्डाः' त्रिगुणं—त्रीन् वारान् यावत् उत्—प्राबल्येन कण्डनं—छटनं येषां ते त्रिगुणोत्कण्डाः, त्रीन् वारान् कण्डिता इत्यर्थः, ते निष्ठिता उच्यन्ते, ये पुनर्वपनादारभ्य यावदेकगुणोत्कण्डा द्विगुणोत्कण्डा वा कृता वर्त्तन्ते ते कृताः, अथवा मा भूवन् साध्वर्थमुप्ताः केवलं ये करटयः सन्तः साध्वर्थं त्रिगुणोत्कण्डकण्डितास्ते निष्ठिता उच्यन्ते, ये त्वेकगुणोत्कण्डं द्विगुणोत्कडं वा कण्डितास्ते कृताः, अत्र क्षुद्रसम्प्रदायः—इह यद्येकं वारं द्वौ वा वारौ साध्वर्थं कण्डितास्तृतीयं तु वारमात्मनिमित्तं कण्डिता राद्धाश्च ते साधूनां कल्पन्ते, यदि पुनरेकं द्वौ वा वारौ साध्वर्थं कण्डितास्तृतीयं वारं स्वनिमित्तमेव कण्डिता राद्धास्तु आत्मनिमित्तं ते केषाञ्चिदादेशेनैकेनान्यस्मै दत्तास्तेनाप्यन्य-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्मायित्येवं यावत्सहस्रसङ्ख्ये स्थाने गताः, ततः परं गताः कल्पन्ते नार्वाक्, अपरेषां स्वादेशेन न कदाचिदपि, यदि पुनरेकं द्वौ वा वारौ साधुनिमित्तमात्मनिमित्तं वा कण्डितास्तृतीयं तु वारमात्मनिमित्तं राद्धाः पुनः साध्वर्थं ते न कल्पन्ते, यदि पुनरेकं द्वौ वा वारौ साधुनिमित्तमात्मनिमित्तं वा कण्डितास्तृतीयं तु वारं साध्वर्थमेव, तैरेव च तण्डुलैः साधुनिमित्तं निष्पादितः क्रूरः स निष्ठितकृत उच्यते, निष्ठितैराधाकर्मतंडुलैः कृतो–निष्पादितो राद्ध इत्यर्थः निष्ठितकृतः, स साधूनां सर्वथा न कल्पते, कुतः? इत्याह—'आहाकम्मं' इत्यादि, आधाकर्म्म प्रतीतं द्विगुणमाहुस्तीर्थकरादयस्तं निष्ठितकृतं क्रूरं, तत्रैकमाधाकर्म्मनिष्ठिततण्डुलरूपं द्वितीयं तु पाकक्रियारूपं, तदेवमुक्तो निष्ठितकृतशब्दयोरर्थः, सम्प्रति चतुर्ष्वप्यशनादिषु कृतनिष्ठितता भाव्यते–तत्र वपनादारभ्य यावद्वारद्वयं कण्डनं तावत्कृतत्वं, तृतीयवारं तु कण्डनं निष्ठितत्वम्, एतच्चानन्तरमेवोक्तं पाने कूपादिकं साधुनिमित्तं खनितं, ततो जलमाकृष्टं, ततो यावत् प्रासुकीक्रियमाणं नाद्यापि सर्वथा प्रासुकीभवति तावत्कृतं, प्रासुकीभूतं च निष्ठितं, खादिमे कर्कटिकादयः साधुनिमित्तमुप्ताः क्रमेण निष्पन्ना यावदात्रादिना खण्डिताः, तानि च खण्डानि यावन्नाद्यापि प्रासुकीभवन्ति तावत्कृतत्वमवसेयं, प्रासुकीभूतानि च तानि निष्ठितानि । एवं स्वादिमेऽपि विज्ञेयं । सर्वत्रापि च द्वितीयचतुर्थभङ्गौ शुद्धौ, प्रथमतृतीयौ त्वशुद्धाविति । सम्प्रति खादिमस्वादिममाश्रित्य मतान्तरं प्रतिचिक्षिप्सुराह—

छायंपि विवज्जंती केई फलहेउगाइवुत्तस्स । तं तु न जुज्जइ जम्हा फलंपि कप्पं बिइयभंगे ॥ १७२ ॥

व्याख्या—इह 'फलहेतुकादेः' फलहेतोः पुष्पहेतोरन्यस्माद्वा हेतोः साध्वर्थमुप्तस्य वृक्षस्य 'केचिद्' अगीतार्थाश्छायामप्याधाकर्म्मिकवृक्षसम्बन्धिनीतिकृत्वा 'विवर्जयन्ति' परिहरन्ति, तत्तु छायाविवर्जनं न युज्यते, यस्मात्फलमपि यदर्थं स वृक्ष आरोपितस्तत आधाकर्म्मिकवृक्षसम्बन्धिद्वितीये भङ्गे तस्य कृतमन्यार्थं निष्ठितमित्येवंरूपे वर्त्तमानं सत् कल्पते, किमुतं भवति?–साध्वर्थमारोपितेऽपि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कदल्यादौ वृक्षे यदा फलं निष्पद्यमानं साधुसत्तायां अपनीयात्मसत्तासम्बन्धि करोति त्रोटयति च तदा तदपि कल्पते, किं पुनश्छाया ?, सा हि सर्वथा न साधुसत्तासम्बन्धिनी विवक्षिता, न हि साधुच्छायानिमित्तं स वृक्ष आरोपितस्तत्कथं न कल्पते ? ॥

परपच्चइया छाया न वि सा रुक्खोव्व वट्टिया कत्ता । नट्ठच्छाए उ दुमे कप्पइ एवं भणंतस्स ॥ १७३ ॥

व्याख्या—सा छाया 'परप्रत्ययिका' सूर्यहेतुका, न वृक्षमात्रनिमित्ता, तस्मिन् सत्यपि सूर्याभावे अभावात्, तथाहि–छायानाम पार्श्वतः सर्वत्रातपपरिवेष्टितप्रतिनियतदेशवर्त्ती श्यामपुद्गलात्मक आतपाभावः, इत्थंभूता च छाया सूर्यस्यैव अन्वयव्यतिरेका, चतुर्विधत्वेन द्रुमस्य, द्रुमस्तु केवलं तस्या निमित्तमात्रं, न चैतावता सा दुष्यति, छायापुद्गलानां द्रुमपुद्गलेभ्यो भिन्नत्वात्, न च 'वृक्ष इव' तरुरिव 'कर्त्रा' वृक्षारोपकेण वृद्धिं नीता, तद्विषयतथारूपसङ्क्लृप्तस्यैवाभावात्, ततो नाधाकर्म्मिकी छाया । किं च—यद्याधाकर्म्मिकी छायेति न तस्यामवस्थानं कल्पते तत एवं परस्य भणतो यदा घनपटलैराच्छादितं गगनमण्डलं भवति तदा तस्मिन् द्रुमे नष्टच्छाये सति तस्याधः शीतभयादिनाऽवस्थानं कल्पते इति प्राप्तं, न चैतद्युक्तं, तस्मात्स एव द्रुम आधाकर्म्मिकस्तत्संस्पृष्टाश्चाधः कतिपयप्रदेशाः पूतिरिति प्रतिपत्तव्यं, न तु च्छायाऽऽधाकर्मिकीति । पुनरपि परेषां दूषणान्तरमाह—

वड्ढइ हायइ छाया तत्थिक्कं पूइयंपि व न कप्पे । न य आहाय सुविहिए निव्वत्तयई रविच्छायं ॥ १७४ ॥

व्याख्या—इह छाया तथातथासूर्यगतिवशाद्वर्द्धते हीयते च ततो रवेरस्तमयसमये प्रातःसमये चातिद्राघीयसी विवर्द्धमाना छाया सकलमपि ग्राममभिव्याप्य वर्तते, अतस्तत्स्पृष्टं सकलमपि ग्रामसम्बन्धि वसत्यादिकं 'पूतिकमिव' तृतीयोद्गमदोषदुष्टमशनादिकमिव न

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१७५||

दीप अनुक्रम [१९७]

कल्पते, न चैतदागमोपदिष्टं, तन्नाधाकर्म्मिकी वृक्षस्य छाया, अपि च—प्रागेवैतदुक्तं सूर्यमत्यया सा छाया न वृक्षहेतुका, न च सूर्यः सुविहितानाधाय छायां निर्वर्त्तयति ततः कथमाधाकर्मिकी ? । यदि पुनराधाकर्मिकी भवेत्, तर्हि—

अघणघणचारिगगणे छाया नट्ठा दिया पुणो होइ । कप्पइ निरायवे नाम आयवे तं विवज्जेउं ॥ १७५ ॥

व्याख्या—अघना—विरला घना–मेघाः चारिणः–परिभ्रमणशीला यत्र इत्थंभूते गगने, विरलविरलेषु नभसि मेघेषु परिभ्रमत्सु इत्यर्थः, छाया नष्टापि सती दिवा पुनरपि भवति, ततो मेघैरन्तरिते सूर्ये 'निरातपे' आतपाभावे तस्य वृक्षस्याधस्तनं प्रदेशं सेवितुं कल्पते, आतपे तु तं वर्जयितुं, न चायं विषयविभागः सूत्रेऽपदिश्यते न च पूर्वपुरुषाचीर्णो नापि परेषां सम्मतः, तस्मादसदेतत्परोक्तमिति । इह पूर्वं वृक्षसम्बन्धित्वेन छायामाधाकर्मिकीमाशङ्क्य 'नट्ठच्छाए उ दुमे कप्पइ' इत्याद्युक्तम्, इदानीं तु रविकृतत्वेनाधाकर्म्मिकीमाशङ्क्य 'कप्पइ निरायवे नाम' इत्याद्युक्तम्, अतो न पुनरुक्तता । सम्प्रति छायानिर्दोषतानिगमनमगीतार्थधार्मिकाणां परेषां किञ्चिदाश्वासनं च विवक्षुराह—

तम्हा न एस दोसो संभवइ कम्मलक्खणविहूणो । तंपि य हु अइधिणिल्ला वज्जेमाणा अदोसिल्ला ॥ १७६ ॥

व्याख्या—यस्मात्फलमपि द्वितीये भङ्गे कल्पते तथा रविहेतुका छाया इत्यादि चोक्तं तस्मादाधाकर्म्मिकी छायेति यो दोष उच्यते स एष दोषो न सम्भवति, कुतः ? इत्याह—'कर्म्मलक्षणविहीन' इति, अत्र हेतौ प्रथमा, कर्म्मेति च आधाकर्म्मेति द्रष्टव्यं, ततोऽयमर्थः—यत आधाकर्म्मलक्षणविहीन एष दोषः, न हि तरुरिव छायापि कर्त्रा वृद्धिं नीता इत्यादि, तस्मान्नैष दोषः सम्भवति, अथवा 'तामपि' आधाकर्म्मिकवृक्षच्छायां 'हुः' निश्चितम् 'अतिघृणावन्तः' अतिशयेन दयालवो विवर्जयन्तः परेऽदोषवन्तः । तदे-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वमुक्तमानुषङ्गिकं, तदुक्तौ च 'आहाकम्मियनाम' इत्यादिमूलद्वारगाथायां 'किं वावि?' इति व्याख्यातं, सम्प्रति 'परपक्खो य सपक्खो' इति द्वारद्वयं व्याख्यानयन् प्रसङ्गतो निष्ठितकृतयोः स्वरूपं ताभ्यामुत्पन्नं भङ्गचतुष्टयं चाह—

परपक्खो उ गिहत्था समणो समणीउ होइ उ सपक्खो । फासुकडं रद्धं वा निट्ठियमियरं कडं सव्वं ॥ १७७ ॥

तस्स कडनिट्ठियंमी अन्नस्स कडंमि निट्ठिए तस्स । चउभंगो इत्थ भवे चरमदुगे होइ कप्पं तु ॥ १७८ ॥

व्याख्या—इह परपक्षः 'गृहस्थाः' श्रावकादयः, तेषामर्थाय कृतं साधूनामाधाकर्म्म न भवति, स्वपक्षः 'श्रमणाः' साधवः 'समणीउ'त्ति श्रमण्यो व्रतिन्यः, तेषामर्थाय कृतं साधूनामाधाकर्म्म वेदितव्यं, तथा प्रासुकं कृतं करव्यादिकं सचेतनं सत् साध्वर्थं निश्चेतनीकृतं यच्च स्वयमचेतनमपि तण्डुलादिकं कूरत्वेन निष्पादितं तन्निष्ठितमित्युच्यते, इतरत्पुनरेकगुणद्विगुणकण्डिततण्डुलादिकं सर्वं कृतमिति । अत्र च कृतनिष्ठितविषये तस्य साधोरर्थाय कृते निष्ठिते च तथा अन्यस्याप्यर्थाय कृते तस्य साधोरर्थाय निष्ठिते भक्तादौ चतुर्भङ्गिका भवति, तत्र प्रथमतृतीयभङ्गौ साक्षादर्शितौ द्वितीयचतुर्थौ तु गम्यौ, तौ चैवं—तस्य कृतमन्यस्य निष्ठितमन्यस्य कृतमन्यस्य निष्ठितं, तत्रोपात्तयोर्द्वयोर्भङ्गयोः चरमौ–अनुक्तौ पाश्चात्यौ द्वौ भङ्गौ, द्वि(तीय) चतुर्थावित्यर्थः, प्रथमस्य हि द्वितीयः पाश्चात्यस्तृतीयस्य तु चतुर्थः, तत उपात्तप्रथमतृतीयभङ्गापेक्षया चरमौ द्वितीयचतुर्थौ लभ्येते, तस्मिंश्चरमद्विके भवति कल्प्यमशनादि, एतच्च यद्यपि प्रागेवोक्तं तथापि विस्मरणशीलानां स्मरणाय भूयोऽप्युक्तमिति न कश्चिद्दोषः । उक्तं परपक्षस्वपक्षरूपं द्वारद्वयं, सम्प्रति 'चउरो' इति व्याचिख्यासुराह—

चउरो अइक्कमवइक्कमा य अइयार तह अणायारो । निद्दरिसणं चउण्हवि आहाकम्मे निमंतणया ॥ १७९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—आधाकर्म्मणि विषये केनाप्यभिनवेन श्राद्धेन निमन्त्रणे कृते चत्वारो दोषाः सम्भवन्ति, तद्यथा—अतिक्रमो व्यतिक्रमोऽतीचारोऽनाचारश्च, एते चत्वारोऽपि स्वयमेव सूत्रकृता व्याख्यास्यन्ते, एतेषां च चतुर्णामपि ' निदर्शनं ' दृष्टान्तो भावनीयः, तमपि च वक्ष्यति ॥ तत्र प्रथमत आधाकर्म्मनिमन्त्रणं भावयति—

सालीघयगुलगोरस नवेसु वल्लीफलेसु जाएसुं । दाणे अहिगमसड्ढे आहायकए निमंतेइ ॥ १८० ॥

व्याख्या—' शालिषु ' शाल्योदनेषु तथा घृतगुडगोरसेषु साधूनाधाय षट्कायोपमर्दनेन निष्पादितेषु नवेषु च वल्लीफलेषु जातेषु साधुनिमित्तमचित्तीकृतेषु 'दाने' दानविषये कोऽप्यभिनवश्राद्धः–अव्युत्पन्नश्रावको निमन्त्रयते, यथा भगवन् ! प्रतिगृह्णीत यूयमस्मद्गृहे शाल्योदनादिकमिति । ततश्च—

आहाकम्मग्गहणे अइक्कमाईसु वट्टए चउसु । नेउरहारिगहत्थी चउतिगदुगएगचलणेणं ॥ १८१ ॥

व्याख्या—आधाकर्म्मग्रहणे अतिक्रमादिषु चतुर्षु दोषेषु वर्त्तते, स च यथा यथा उत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन् दोषे वर्त्तते तथा तथा तद्दोषजनितात्पापादात्मानं महता कष्टेन व्यावर्त्तयितुमीशः, अत्र दृष्टान्तमाह—' नेउरे ' त्यादि इह नूपुरपण्डितायाः कथानकमतिप्रसिद्धत्वाद् बृहत्त्वाच्च न लिख्यते, किन्तु धर्मोपदेशमालाविवरणादेरवगन्तव्यं, तत्र नूपुरं–मञ्जीरं तस्य हारो–हरणं श्वशुरकृतं तेन या प्रसिद्धा सा नूपुरहारिका, आगमे चान्यत्र नूपुरपण्डितेति प्रसिद्धा, तस्याः कथानके यो हस्ती राजपत्नीं सञ्चारयन् प्रसिद्धः स नूपुरहारिकाहस्ती स यथा ' चउतिगदुगएगचलणेणं 'ति पश्चानुपूर्व्या योजना, एकेन द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिश्चरणैराकाशस्थैर्महता महत्तरेण कष्टेनात्मानं व्यावर्त्तयितुमीशः तथाऽऽधाकर्म्मग्राह्यपि, इयमत्र भावना—नूपुरहारिकाकथानके राज्ञा हस्ती स्वपत्नीमिण्ठाभ्यां सह छिन्नटङ्के समारो-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ ६८ ॥

पितः, ततोऽपि भिण्डेन छिन्नटङ्कपर्वताग्रभागे व्यवस्थाप्याग्रेतनमेकं कंचिच्चरणमाकाशे कारितः, स च तथाकारितः सन् स्तोकेनैव क्लेशेन तं चरणं व्यावर्त्य तत्रैव पर्वते आत्मानं स्थापयितुं शक्नोति, एवं च साधुरपि कश्चिदतिक्रमाख्यं दोषं प्राप्तः सन् स्तोकेनैव शुभाध्यवसायेन तं दोषं विशोध्यात्मानं संयमे स्थापयितुमीशः, यथा च स हस्ती चरणद्वयमग्रेतनमाकाशस्थं क्लेशेन व्यावर्त्तयितुं शक्नोति, एवं च साधुरपि व्यतिक्रमाख्यं दोषं विशिष्टेन शुभेनाध्यवसायेन विशोधयितुमीष्टे, यथा च स हस्ती चरणत्रयमाकाशस्थमेकेन केनापि पाश्चात्येन चरणेन स्थितो गुरुतरेण कष्टेन व्यावर्त्तयितुं क्षमः, तथा साधुरप्यतीचारदोषं विशिष्टतरेण शुभेनाध्यवसायेन विशोधयितुं प्रभुः, यथा च स हस्ती चरणचतुष्टयमाकाशस्थितं सर्वथा न व्यावर्त्तयितुमीशः, किन्तु नियमतो भूमौ निपत्य विनाशमाविशति, एवं साधुरप्यनाचारे वर्त्तमानो नियमतः संयमात्मानं विनाशयति । इह दृष्टान्ते चरणचतुष्टयं हस्तिना नोत्पाटितं, किन्तु दार्ष्टान्तिके योजनानुरोधात् सम्भावनामङ्गीकृत्य प्रतिपादितम् । सम्प्रत्यतिक्रमादीनां स्वरूपमाह—

आहाकम्मनिमंतण पडिसुणमाणे अइक्कमो होइ । पयभेयाइ वइक्कम गहिए तइएयरो गिलिए ॥ १८२ ॥

व्याख्या—आधाकर्म्मनिमन्त्रणे सति तत् आधाकर्म्म 'प्रतिशृण्वति' अभ्युपगच्छति अतिक्रमो भवति, स च पात्रोद्ग्रहणादारभ्य तावत् यावन्नाद्याप्युपयोगकरणानन्तरं ग्रहणाय प्रचलति, 'पदभेदादौ' च पदस्य–चरणस्य भेदः—उत्पाटनं तदादौ, आदिशब्दाद्गमने गृहप्रवेशने करोटिकोत्पाटने ग्रहणाय पात्रप्रसारणे च व्यतिक्रमो दोषः, गृहीते त्वाधाकर्म्मणि तृतीयोऽतीचारलक्षणो दोषः, स च तावद्यावद्गृसतावागत्य गुरुसमक्षमालोच्य स्वाध्यायं कृत्वा गले तदाधाकर्म्म नाद्यापि प्रक्षिपति, गिलिते त्वाधाकर्म्मणि 'इतरः' चतुर्थो दोषः—अनाचारलक्षणः । तदेवं 'चउरो' इति व्याख्यातं, सम्प्रति 'गहणे य आणाई' इति व्याख्यानयन्नाह—

आधाकर्मणि अतिक्रमाद्याः नूपुरहारिका हस्तिपदोपनयः ॥ ६८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आणाइणो य दोसा गहणे जं भणियमह इमे ते उ । आणाभंगऽणवत्था मिच्छत्त विराहणा चेव ॥ १८३ ॥

व्याख्या—यदुक्तम् 'आधाकम्मियनामे' त्यादिमूलद्वारगाथायामाधाकर्म्मग्रहणे 'आज्ञादयः' आज्ञाभङ्गादयो दोषाः ते इमे, तद्यथा—आज्ञाभङ्गोऽनवस्था मिथ्यात्वं विराधना च ॥ तत्र प्रथमत आज्ञाभङ्गदोषं भावयति—

आणं सव्वजिणाणं गिण्हंतो तं अइक्कमइ लुद्धो । आणं च अइकमंतो करसाएसा कुणइ सेसं ? ॥ १८४ ॥

व्याख्या—'तद्' आधाकर्म्मिकमशनादिकं लुब्धः सन् गृह्णानः सर्वेषामपि जिनानामाज्ञामतिक्रामति, जिना हि सर्वेऽप्येतदेव ब्रुवन्ति स्म—यदुत मा गृह्णीत मुमुक्षवो ! भिक्षव आधाकर्म्मिकां भिक्षामिति, ततस्तददादानो जिनाज्ञामतिक्रामति, तां चातिक्रामन् कस्य नाम ! आदेशाद्—आज्ञायाः 'शेषं' केशश्मश्रुलुञ्चनभूशयनमलिनवासोधारणप्रत्युपेक्षणाद्यनुष्ठानं करोति ?, न कस्यापीति भावः, सर्वस्यापि सर्वज्ञाऽऽज्ञाभङ्गकारिणोऽनुष्ठानस्य नैष्फल्यात् ॥ अनवस्थादोषं भावयति—

एक्केण कयमकज्जं करेइ तप्पच्चया पुणो अन्नो । सायाबहुलपरंपर वोच्छेओ संजमतवाणं ॥ १८५ ॥

व्याख्या—इह प्रायः सर्वेऽपि प्राणिनः कर्मगुरुतया दृष्टमात्रसुखाभिलाषिणो न दीर्घसुखदर्शिनः तत एकेनापि साधुना यदाऽऽधाकर्म्मपरिभोगादिलक्षणमकार्यमासेव्यते तदा तत्प्रत्ययात् तेनापि साधुना तत्त्वं विदुषाऽपि सेवितमाधाकर्म्म ततो वयमपि किं न सेविष्यामहे ? इत्येवं तमालम्बनीकृत्यान्योऽप्यासेवते तमप्यालम्ब्यान्यः सेवते, इत्येवं सातबहुलानां प्राणिनां परम्परया सर्वथा व्यवच्छेदः प्राप्नोति संयमतपसां, तद्व्यवच्छेदे च तीर्थव्यवच्छेदो, यश्च भगवत्तीर्थविलोपकारी स महाऽऽशातनाभागित्यनवस्थादोषभयान्न कदाचनाप्याधाकर्म्म सेवनीयं ॥ मिथ्यात्वदोषं भावयति—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ ६९ ॥

जो जहवायं न कुणइ मिच्छदिट्ठी तओ हु को अन्नो ? । वड्ढेइ य मिच्छत्तं परस्स संकं जणेमाणो ॥१८६॥

व्याख्या—इह यद् देशकालसंहननानुरूपं यथाशक्ति यथावदनुष्ठानं तत्सम्यक्त्वं, यत उक्तमाचारसूत्रे—" जं मोणंति पासहा तं सम्मंति पासहा, जं सम्मंति पासहा तम्मोणंति पासहा " इति, ततो यो देशकालसंहननानुरूपं शक्त्यनिगूहनेन यथागमेऽभिहितं तथा न करोति ततः सकाशात्कोऽन्यो मिथ्यादृष्टिः?, नैव कश्चित्, किन्तु स एव मिथ्यादृष्टीनां धुरि युज्यते, महामिथ्यादृष्टित्वात्, कथं तस्य मिथ्यादृष्टिता ? इत्यत आह–' वड्ढेइ ' इत्यादि, चशब्दो हेतौ यस्मात्स यथावादमकुर्वन् परस्य शङ्कामुत्पादयति, यथा (तथाहि)–यदि यत्प्रवचनेऽभिधीयते तत्तच्चं तर्हि किमयं तत्त्वं जानानोऽपि तथा न करोति ?, तस्माद्वितथमेतत्प्रवचनोक्तमिति, एवं च परस्य शङ्कां जनयन् मिथ्यात्वं सन्तानेन वर्द्धयति, तथा च प्रवचनस्य व्यवच्छेदः, शेषास्तु मिथ्यादृष्टयो नैवं प्रवचनस्य मालिन्यमापाद्य परम्परया व्यवच्छेदमाधातुमीशाः, ततः शेषमिथ्यादृष्टयपेक्षयाऽसौ यथावादमकुर्वन् महामिथ्यादृष्टिरिति ॥ अन्यच्च—

वड्ढेई तप्पसंगं गेही अ परस्स अप्पणो चेव । सजियंपि भिन्नदाढो न मुयइ निद्धंधसो पच्छा ॥ १८७ ॥

व्याख्या—साधुराधाकर्म्म गृह्णानः परस्य ' एकेण कयमकज्जं ' इत्यादिरूपया पूर्वोक्तनीत्या ' तत्प्रसङ्गम् ' आधाकर्म्मग्रहणप्रसङ्गं वर्द्धयति आत्मनोऽपि, तथाहि—सकृदपि चेदाधाकर्म्म गृह्णाति तर्हि तद्गतमनोज्ञरसास्वादलाम्पट्यतो भूयोऽपि तद्ग्रहणे प्रवर्त्तते, तत एवमेकदाऽप्याधाकर्म्म गृह्णन् परस्यात्मनश्च तत्प्रसङ्गं वर्द्धयति, तत्प्रसङ्गवृद्धौ च कालेन गच्छता परस्यात्मनश्च वृद्धिः—अत्यन्तमासक्तिः

१ यन्मौनमिति पश्यत तत्सम्यक्त्वमिति पश्यत, यत्सम्यक्त्वमिति पश्यत तन्मौनमिति पश्यत ।

आधाकर्मणि अज्ञानवस्थामिथ्यात्वविराधनः ॥ ६९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१८७||

दीप अनुक्रम [२०९]

उपजायते, ततो विशिष्टविशिष्टतरमनोज्ञरसास्वादनेन भिन्नदंष्ट्राको 'निद्धन्धसः' अगतसर्वथादयावासनाको भूत्वा पश्चात्स्वयं परो वा 'सजीवमपि' सचेतनमपि चूतफलादिकं न मुञ्चति, तदमोचने च दूरं दूरतरमपसर्प्पन्नपगतसर्वथाजिनवचनपरिणामो मिथ्यात्वमपि गच्छतीति ॥ सम्प्रति विराधनादोषं भावयति—

खद्धे निद्धे य सया सुत्ते हाणी तिगिच्छणे काया । पडियरगाणवि हाणी कुणइ किलेसं किलिस्संतो ॥ १८८ ॥

व्याख्या—आधाकर्म्म प्रायः प्राघूर्णकस्यैव गौरवेण क्रियते, ततस्तत्स्वादु स्निग्धं च भवति, तस्मिंश्च 'खद्धे' प्रचुरे 'स्निग्धे' बहुस्नेहे भक्षिते 'रुजा' रोगो ज्वरविसूचिकादिरूपः प्रादुर्भवति, इयमात्मविराधना, ततो रुजापीडितस्य 'सूत्रे' सूत्रग्रहणमुपलक्षणं अर्थस्य च हानिः, तथा यदि चिकित्सां न कारयति तर्हि चिरकालसंयमपरिपालनभ्रंशः, अथ कारयति तर्हि चिकित्सने क्रियमाणे 'कायाः' तेजस्कायादयो विनाशमाविशन्ति, तथा च सति संयमविराधना, तथा 'प्रतिचारकाणामपि' परिपालकानामपि साधूनां तद्वैयावृत्त्यव्याकृततया सूत्रार्थहानिः, षट्कायोपमर्दकारणानुमोदनाभ्यां च संयमस्यापि हानिः, तथा प्रतिचारकास्तदुक्तं यावन्न प्रपारयन्ति तावत्सः 'क्लिश्यमानः' पीडां सोढुमशक्नुवन् तेभ्यः कुप्यति, कुप्यंश्च तेषामपि मनसि क्लेशमुत्पादयति, अथवा क्लिश्यमानो–दीर्घकालं क्लेशमनुभवन् प्रतिचारकाणामपि जागरणतः क्लेशं–रोगमुत्पादयति, ततस्तेषामपि चिकित्साविधौ षट्कायविराधना । तदेवं व्याख्याता सकलाऽपि 'आहाकम्मियनाम' इत्यादिका मूलद्वारगाथा, सम्प्रत्याधाकर्म्मण एवाकरूप्यविधिं विभणिषुः सम्बन्धमाह—

जह कम्मं तु अकप्पं तच्छिक्कं वाऽवि भायणठियं वा । परिहरणं तस्सेव य गहियमदोसं च तह भणइ ॥ १८९ ॥

व्याख्या—यथा 'कर्म्म' आधाकर्म्म अकरूप्यम्, अभोज्यं' यथा च तेनाधाकर्म्मणा सृष्टमकरूप्यं यथा च 'भाजनस्थितं'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१८९||

दीप अनुक्रम [२११]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ ७० ॥

यस्मिन् भाजने तदाधाकर्म्म प्रक्षिप्तं तस्मिन्नाधाकर्म्मपरित्यागानन्तरमकृतकल्पत्रयप्रक्षालने यत् क्षिप्तं शुद्धमशनादि तदपि यथा न कल्प्यं यथा च तस्याधाकर्म्मणः परिहारो विध्यविधिरूपो यथा च गृहीतं सद्धक्तमदोषं भवति तथा गुरुर्भणति । अनेन यथैवागमे पिण्डविशुद्धिरभाणि तथैवाहमपि भणामीत्यावेदितं द्रष्टव्यम्, अनया च गाथया पञ्च द्वाराणि प्रतिपाद्यान्युक्तानि ॥ सम्प्रति तान्येव सविशेषं प्रतिपाद्यत्वेनाह—

अब्भोज्जे गमणाइ य पुच्छा दव्वकुलदेसभावे य । एव जयंते छलणा दिट्ठंता तत्थिमे दोन्नि ॥ १९० ॥

व्याख्या—यथा साधूनामाधाकर्म्म तत्स्पृष्टं कल्पत्रयाप्रक्षालितभाजनस्थं वा अभोज्यं तथा भणनीयं, तथा अविधिपरिहारे गमनादिकाः कायक्लेशादिलक्षणा दोषा वक्तव्याः, तथा विधिपरिहारे कर्त्तव्ये यथा द्रव्यकुलदेशभावे पृच्छा कर्त्तव्या चशब्दाद्यथा च न कर्त्तव्या तथा वक्तव्यम्, एवं यतमाने प्रायश्छलनाया असम्भवो, यदि पुनरेवमपि यतमाने ' छलना ' अशुद्धभक्तादिग्रहणरूपा भवेत् ततस्तत्र दृष्टान्तावमौ वक्तव्यौ । इह ' अभोज्ये ' इत्यनेन पूर्वगाथाया द्वारत्रयं परामृष्टं ' गमणाइ य पुच्छा दव्वकुलदेसभावे य ' इत्यनेन तु परिहरणस्य विशेषो वक्तव्य उक्तः, उत्तरार्द्धेन तु ' गहियमदोसं ' चेत्यस्य विशेषः । सम्प्रति प्रथमं द्वारमाधाकर्म्मणोऽकल्प्यतालक्षणं व्याचिख्यासुराह—

जह वंतं तु अभोज्जं भत्तं जइविय सुसक्कयं आसि । एवमसंजमवमणे अणेसणिज्जं अभोज्जं तु ॥ १९१ ॥

व्याख्या—इह यद्यपि वमनकालादर्व्वाग् ' भक्तम् ' ओदनादिकं ' सुसंस्कृतं ' शोभनद्रव्यसम्पर्ककृतोपस्कारमासीत् तथापि यथा तद्वान्तमभोज्यम्, एवमसंयमवमने कृते साधोरप्यनेषणीयमभोज्यमेव, ' तुः ' एवकारार्थः, इयमत्र भावना–संयमप्रतिपत्तौ हि पूर्वमसंयमो

आधाकर्मणि तत्स्पृष्टाकल्प्यता

॥ ७० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वान्तः, असंयमरूपं चाधाकर्म्म, षट्कायोपमर्दनेन तस्य निष्पन्नत्वात्, न च वान्तमभ्यवहर्त्तुमुचितं विवेकिनाम्, अतः साधोरनेषणीयमभोज्यमिति । पुनरप्याधाकर्म्मण एवाभोज्यतां दृष्टान्तान्तरेण समर्थयमानो गाथाद्वयमाह—

मज्जारखइयमंसा मंसासित्थि कुणिमं सुणयवंतं । वच्चाइ अन्नउप्पाइयंपि किं तं भवे भोज्जं ? ॥ १९२ ॥

केई भणंति पहिए उट्ठाणे मंसपेसि वोसिरणं । संभारिय परिवेसण वारेइ सुओ करे घेत्तुं ॥ १९३ ॥

व्याख्या—वक्रपुरं नाम पुरं, तत्र वसत्युग्रतेजाः पदातिः, तस्य भार्या रुक्मिणी, अन्यदा च उग्रतेजसो ज्येष्ठभ्राता सोदासाभिधानः प्रत्यासन्नपुरात् प्राघूर्णकः समाययौ, उग्रतेजसा च भोजनाय क्वापि मांसं कृत्वा रुक्मिण्यै समर्प्यामासे, तस्याश्च रुक्मिण्या गृहव्यापारव्यापृतायास्तन्मांसं मार्जारोऽवभक्षत् , इतश्च सोदासोग्रतेजसोर्भोजनार्थमागमनवेला, ततः सा व्याकुलीबभूव, अत्रान्तरे च क्वापि कस्यापि मृतस्य कार्पटिकस्य शुना मांसं भक्षयित्वा तद्गृहप्राङ्गणप्रदेशे तस्याः साक्षात्पश्यन्त्याः पुरतः कथमपि वातसंक्षोभादिवशादुद्वमितं, ततः साऽचिन्तयत्–यदि नाम कुतोऽपि विपणेरन्यन्मांसं क्रीत्वा समानेष्यामि तर्हि महदुत्सूरं लगिष्यति, प्राप्ता च समीपं पतिज्येष्ठयोर्भोजनवेला, तस्मादेतदेव मांसं जलेन सम्यक् प्रक्षाल्य वेसवारेणोपस्करोमि, तथैव च कृतं, समागतौ सोदासोग्रतेजसौ उपविष्टौ च भोजनार्थं, परिवेषितं तयोस्तन्मांसं, ततो गन्धविशेषेणोग्रतेजसा विज्ञे यथा वान्तमेतदिति, ततस्तेन साक्षेपं भुवमुत्पाट्य रुक्मिणी पप्रच्छे, सा च साटोपभ्रूत्क्षेपदर्शनतो विभ्यती पवनधुतवृक्षशाखेव कम्पमानवपुर्यथाऽवस्थितं कथितवती, ततः परित्यज्य तन्मांसं साक्षेपं निर्भर्त्स्य भूयोऽन्यन्मांसं पाचिता, तदुक्तं । प्रथमगाथाक्षरयोजना त्वेवं–मार्जारेण खादितं–भक्षितं मांसं यस्याः सा मार्जारखादितमांसा मांसाशिन उग्रतेजसः स्त्री–महेला अन्यन्मांसमप्राप्नुवती श्वान्तं कुणपं–मांसं गृहीतवती, तच्च वेसवारोपस्कारेण वर्णादिभिरन्यदिवोत्पादितमपि किं भवति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ ७१ ॥

भोज्यं ?, नैव भवतीति भावः, एवमाधाकर्म्मापि संयमिनामभोज्यं । केचित्पुनरत्रैव कथानके एवमाहुः, तस्या रुक्मिण्या गृहे कोऽप्यतीसारेण पीडितो दुष्प्रभनामा कार्पटिकः किञ्चिद्विविक्तं स्थानं याचितवान्, स चातीसारेण मांसखण्डानि व्युत्सृजति, ततः सोदासे साधूंके समागते सति भर्त्रा च समानीते मांसे मार्जारेण च तस्मिन् भक्षिते रुक्मिणी प्रत्यासन्ना समागता भोजनवेलेति भयभीता अन्यन्मांसमप्राप्नुवती तान्येवातीसारव्युत्सृष्टानि मांसखण्डानि गृहीत्वा जलेन प्रक्षाल्य वेसवारेण चोपस्कृत्य भोजनायोपविष्टयोः पतिज्येष्ठयोः परिवेषितवती, अथ च सा तानि मांसखण्डानि गृह्णन्ती मृतसपत्नीपुत्रेणोग्रतेजसो जातेन गुणमित्रेण दृष्टे, न च तदानीं तेन किमपि भयाद्वक्तुं शक्तं, ततो भोजनकाले तौ द्वावपि पितृपितृव्यौ तेन करे गृहीत्वा निवारितौ, यथा कार्पटिकातीसारसत्कान्यमूनि मांसखण्डानि तन्मा यूयं विभक्षत, तत उग्रतेजसा सा दूरं निर्भर्त्सयामासे, तत्त्यजे च तन्मांसं । द्वितीयगाथाक्षरयोजना त्वेवं–केचिद्भणन्ति 'पथिके' पथिकस्य 'उट्ठाणे' अतीसारोत्थाने मांसपेशीव्युत्सर्जनं, ततस्तन्मांसपेशीरादाय तासां 'सम्भृत्य' वेसवारेणोपस्कृत्य परिवेषणे कृते सुतः करेण गृहीत्वा तौ पितृपितृव्यौ भोजनान्न वारयति स्म, ततो यथा पुरीषमांसमभोज्यं विवेकिनामेवमाधाकर्म्मापि साधूनामिति । किंच—

अविलाकरहीखीरं लहसण पलंडू सुरा य गोमंसं । वेयसमएवि अमयं किंचि अभोज्जं अपिज्जं च ॥ १९४ ॥

व्याख्या—'अविला' ऊरणी 'करभी' उष्ट्री तयोः क्षीरं, तथा लशुनं पलाण्डु सुरा गोमांसं च वेदे यथायोगं शेषेषु च 'समयेषु' निर्द्धर्मपणीतेषु 'अमतम्' असम्मतं भोजने पाने च, तथा जिनशासनेऽपि किञ्चिदाधाकर्म्मिकादिरूपमभोज्यमपेयं च वेदितव्यं, इयमत्र भावना–पूर्वमिह संयमप्रतिपत्तावसंयमवमनेनाधाकर्म्मापि साधुभिर्वान्तं, पुरीषमिवोत्सृष्टं वा, न च वान्तं पुरीषं वा भोक्तुमुचितं विवेकिनामिति युक्तिवशाद्भोज्यमुक्तमाधाकर्म्म, अथवा सा भूत् युक्तिः, केवलं वचनप्रामाण्याद्भोज्यमवसेयं, तथा च मिथ्यादृष्टयोऽपि

आधाकर्मणिं वान्तानादाने उग्रतेजउदा०

॥ ७१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वेदेषु यथायोगमन्येष्वपि समयेषु गोमांसादिकं करभीक्षीरादिकं चाभिधीयमानं वचनप्रामाण्याभ्युपगमतस्तथेति प्रतिपद्यन्ते, तद्यदि मिथ्यादृष्टयः स्वसमयप्रामाण्याभ्युपगमतस्तथेति प्रतिपन्नाः ततः साधुभिर्भगवति सर्वज्ञे प्रत्ययदार्ढ्यमवलम्बमानैर्विशेषतो भगवत्प्रणीते वचस्यभिधीयमानमाधाकर्म्मादिकमभोज्यमपेयं च तथेति प्रतिपत्तव्यम् । सम्प्रति तत्सृष्टस्याकल्प्यतामाह—

वन्नाइजुयावि बली सपललफलसेहरा असुइनत्था । असुइस्स विप्पुसेणवि जह छिक्काओ अभोज्जाओ ॥ १९५ ॥

व्याख्या—यथा वर्णादियुतोऽपि 'बलिः' उपहारः 'सपललफलशेखरः' इह पललं–तिलक्षोद उच्यते फलं–नालिकेरादि तत्सहितः शेखरः–शिखा यस्य स तथा, आस्तामनेवंविध इत्यपिशब्दार्थः, एतेनास्य प्राधान्यमुक्तं, स एवंविधोऽपि यदा अशुचौ न्यस्तः–पुरीषस्योपरि स्थापितः सन् अशुचेः 'विप्रुषाऽपि' लवेनापि, आस्तां स्तवकादिनेत्यपिशब्दार्थः, सृष्टो भवति तदा अभोज्यो भवति, एवं निर्दोषतया भोज्योऽप्याहार आधाकर्म्मावयवसंस्पृष्टतया साधूनामभोज्यो वेदितव्यः । भोजनस्थितस्याकल्प्यतां भावयति—

एमेव उज्झियंमिवि आहाकम्मंमि अकयए कप्पे । होइ अभोज्जं भाणे जत्थ व सुद्धेऽवि तं पडियं ॥ १९६ ॥

व्याख्या—यथा आधाकर्म्मावयवेन संस्पृष्टमभोज्यम् एवं यस्मिन् भाजने तदाधाकर्म गृहीतं तस्मिन्नाधाकर्म्मण्युज्झितेऽपि 'अकृते कल्पे' वक्ष्यमाणप्रकारेण कल्पत्रयेणाप्रक्षालिते यद्वा यत्र भाजने पूर्वं शुद्धेऽपि भक्ते गृहीते आधाकर्म्म स्तोकमात्रं पतितं तस्मिन् भाजने पूर्वगृहीते शुद्धे आधाकर्म्मणि च सर्वात्मना त्यक्ते पश्चादकृतकल्पे–वक्ष्यमाणप्रकारेणाकृतकल्पत्रये यद् भूयः शुद्धमपि प्रक्षिप्यते तदभोज्यमवसेयं, न खलु लोकेऽपि यस्मिन् भाजने पुरीषं न्यपतत्तस्मिन्नशुचिपरित्यागानन्तरमप्रक्षालिते यद्वा यस्मिन् भाजने भक्तादिना पूर्णेऽपि तदुपरि पुरीषं निपतितं भवेत् तस्मिन् पूर्वपरिगृहीतभक्तादिपुरीषपरित्यागानन्तरमप्रक्षालिते भूयः प्रक्षिप्तमशनादिकं भोज्यं भवति, पुरी-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

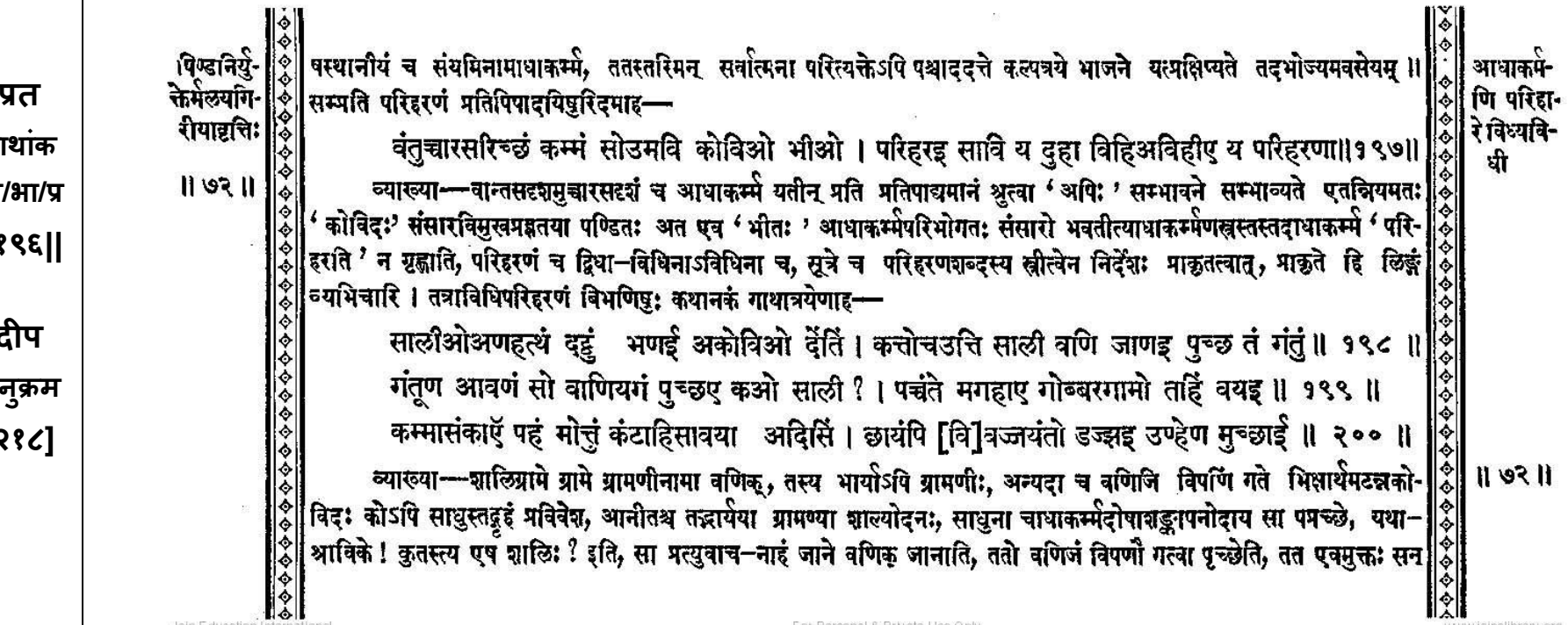

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ ७२ ॥

षस्थानीयं च संयमिनामाधाकर्म्म, ततस्तस्मिन् सर्वात्मना परित्यक्तेऽपि पश्चाददत्ते कल्पत्रये भाजने यत्प्रक्षिप्यते तदभोज्यमवसेयम् ॥ सम्प्रति परिहरणं प्रतिपिपादयिषुरिदमाह—

वंतुच्चारसरिच्छं कम्मं सोउमवि कोविओ भीओ । परिहरइ सावि य दुहा विहिअविहीए य परिहरणा॥१९७॥

व्याख्या—वान्तसदृशमुच्चारसदृशं च आधाकर्म्म यतीन् प्रति प्रतिपाद्यमानं श्रुत्वा 'अपिः' सम्भावने सम्भाव्यते एतन्नियमतः 'कोविदः' संसारविमुखप्रज्ञतया पण्डितः अत एव 'भीतः' आधाकर्म्मपरिभोगतः संसारो भवतीत्याधाकर्म्मणस्त्रस्तस्तदाधाकर्म्म 'परिहरति' न गृह्णाति, परिहरणं च द्विधा–विधिनाऽविधिना च, सूत्रे च परिहरणशब्दस्य स्त्रीत्वेन निर्देशः प्राकृतत्वात्, प्राकृते हि लिङ्गं व्यभिचारि । तत्राविधिपरिहरणं विभणिषुः कथानकं गाथात्रयेणाह—

सालीओअणहत्थं दट्ठुं भणई अकोविओ देंतिं । कत्तोचउत्ति साली वणि जाणइ पुच्छ तं गंतुं॥ १९८ ॥
गंतूण आवणं सो वाणियगं पुच्छए कओ साली ? । पच्चंते मगहाए गोब्बरगामो तहिं वयइ ॥ १९९ ॥
कम्मासंकाएँ पहं मोत्तुं कंटाहिसावया अदिसिं । छायंपि [वि]वज्जयंतो डज्झइ उण्हेण मुच्छाई ॥ २०० ॥

व्याख्या—शालिग्रामे ग्रामे ग्रामणीनामा वणिक्, तस्य भार्याऽपि ग्रामणीः, अन्यदा च वणिजि विपणिं गते भिक्षार्थमटन्नकोविदः कोऽपि साधुस्तद्गृहं प्रविवेश, आनीतश्च तद्भार्यया ग्रामण्या शाल्योदनः, साधुना चाधाकर्म्मदोषाशङ्कापनोदाय सा पप्रच्छे, यथा–श्राविके ! कुतस्त्य एष शालिः ? इति, सा प्रत्युवाच–नाहं जाने वणिक् जानाति, ततो वणिजं विपणौ गत्वा पृच्छेति, तत एवमुक्तः सन

आधाकर्मणि परिहारे विध्यविधी

॥ ७२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स साधुस्तं शाल्यादनमपहाय वणिजं विपणौ गत्वा पृष्टवान्, वणिजाऽप्युक्तं–मगधजनपदप्रत्यन्तवर्त्तिनो गोबरग्रामादागतः शालिरेष इति, ततः स तत्र गन्तुं प्रावर्त्तत, तत्रापि साधुनिमित्तं केनापि श्रावकेणायं पन्थाः कृतो भविष्यतीत्याधाकर्म्मशङ्कया पन्थानं विमुच्योत्पथेन व्रजति, उत्पथेन च व्रजन्नहिकण्टकश्वापदादिभिरभिद्रूयते, नापि काञ्चन दिशं जानाति, तथा आधाकर्म्मशङ्कया वृक्षच्छायामपि परिहरन् मूर्द्धि सूर्यकरनिकरप्रपातेन तप्यमानो मूर्च्छामगमत्, क्लेशं च महान्तं प्रापेति.।

इय अविहीपरिहरणा नाणाईणं न होइ आभागी । दव्वकुलदेसभावे विहिपरिहरणा इमा तत्थ ॥ २०१ ॥

व्याख्या—'इति' एवमुक्तेन प्रकारेणाविधिना परिहरणात् ज्ञानादीनामाभागी न भवति, तस्माद्विधिना परिहरणं कर्त्तव्यं, तच्च विधिपरिहरणम् 'इदं' वक्ष्यमाणं द्रव्यकुलदेशभावानाश्रित्य 'तत्र' आधाकर्म्मणि विषये द्रष्टव्यम् । तत्र प्रथमतो द्रव्यादीन्येव गाथाद्वयेनाह—

ओयणसमिइमसत्तुगकुम्मासाई उ होंति दव्वाइं । बहुजणमप्पजणं वा कुलं तु देसो सुरट्ठाई ॥ २०२ ॥

आयरऽणायर भावे सयं व अन्नेण वाऽवि दावणया । एएसिं तु पयाणं चउपयतिपया व भयणा उ ॥ २०३ ॥

व्याख्या—'ओदनः' शाल्यादिकूरः 'समितिमाः' माण्डादिकाः सक्तवः कुल्माषाश्च प्रतीताः, आदिशब्दान्मुद्गादिपरिग्रहः, अमूनि भवन्ति द्रव्याणि, कुलमल्पजनं बहुजनं वा, 'देशः' सौराष्ट्रादिकः, भावे आदरोऽनादरो वा, एतावेव स्वरूपतो व्याख्यानयति–स्वयं वाऽन्येन वा–कर्म्मकरादिना यद् दापनं तौ यथासङ्ख्यमादरानादरौ, एतेषां च पदानां 'भजना' विकल्पना चतुष्पदा त्रिपदा वा स्यात्, किमुक्तं भवति ?–कदाचिच्चत्वार्यपि पदानि सम्भवन्ति कदाचित् त्रीणि, तत्र यदा चत्वार्यपि द्रव्यादीनि प्राप्यन्ते तदा चतु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

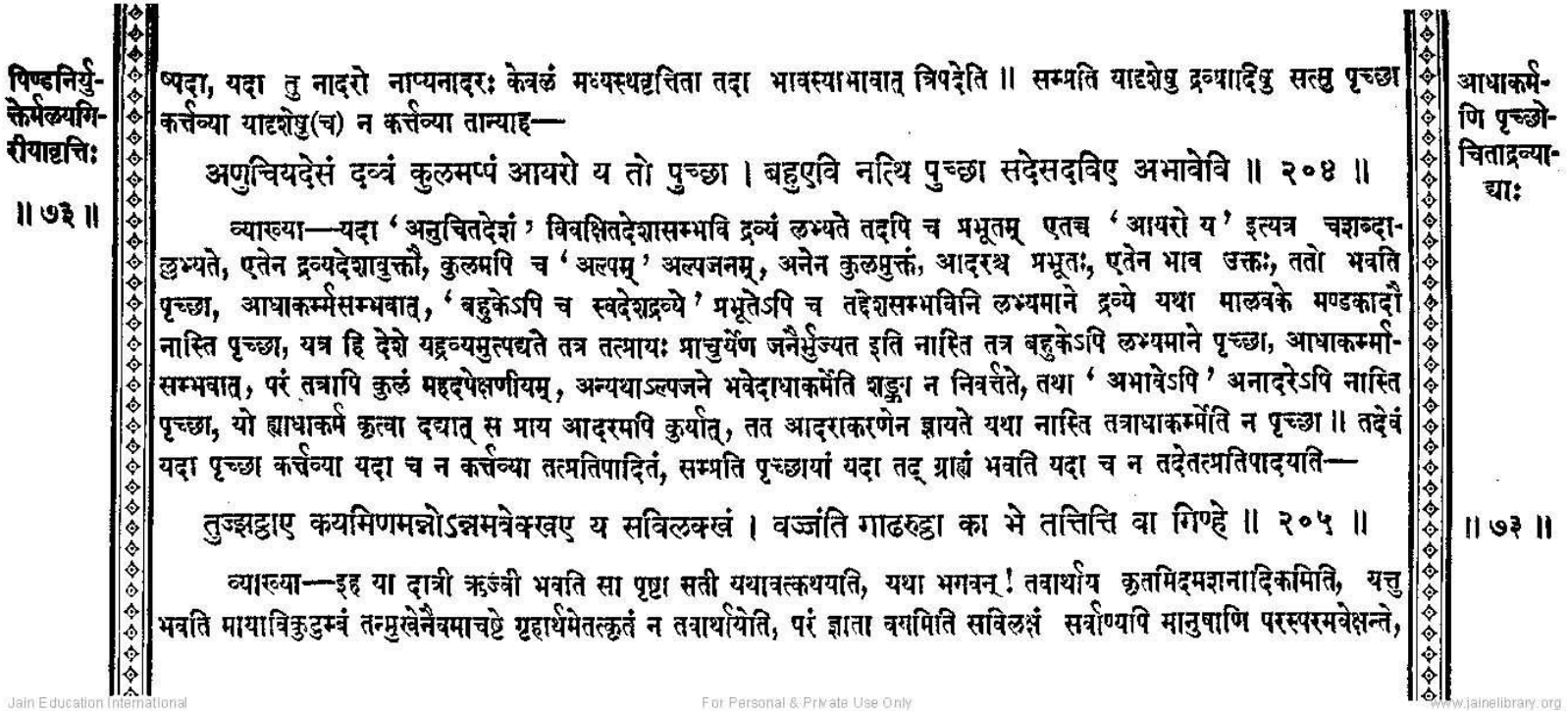

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ ७३ ॥

ष्पदा, यदा तु नादरो नाप्यनादरः केवलं मध्यस्थवृत्तिता तदा भावस्याभावात् त्रिपदेति ॥ सम्प्रति यादृशेषु द्रव्यादिषु सत्सु पृच्छा कर्त्तव्या यादृशेषु(च) न कर्त्तव्या तान्याह—

अणुचियदेसं दव्वं कुलमप्पं आयरो य तो पुच्छा । बहुएवि नत्थि पुच्छा सदेसदविए अभावेवि ॥ २०४ ॥

व्याख्या—यदा 'अनुचितदेशं' विवक्षितदेशासम्भवि द्रव्यं लभ्यते तदपि च प्रभूतम् एतच्च 'आयरो य' इत्यत्र चशब्दाल्लभ्यते, एतेन द्रव्यदेशावुक्तौ, कुलमपि च 'अल्पम्' अल्पजनम्, अनेन कुलमुक्तं, आदरश्च प्रभूतः, एतेन भाव उक्तः, ततो भवति पृच्छा, आधाकर्म्मसम्भवात्, 'बहुकेऽपि च स्वदेशद्रव्ये' प्रभूतेऽपि च तद्देशसम्भविनि लभ्यमाने द्रव्ये यथा मालवके मण्डकादौ नास्ति पृच्छा, यत्र हि देशे यद्द्रव्यमुत्पद्यते तत्र तत्प्रायः प्राचुर्येण जनैर्भुज्यत इति नास्ति तत्र बहुकेऽपि लभ्यमाने पृच्छा, आधाकर्म्मासम्भवात्, परं तत्रापि कुलं महदपेक्षणीयम्, अन्यथाऽल्पजने भवेदाधाकर्मेति शङ्का न निवर्त्तते, तथा 'अभावेऽपि' अनादरेऽपि नास्ति पृच्छा, यो ह्याधाकर्म कृत्वा दद्यात् स प्राय आदरमपि कुर्यात्, तत आदराकरणेन ज्ञायते यथा नास्ति तत्राधाकर्मेति न पृच्छा ॥ तदेवं यदा पृच्छा कर्त्तव्या यदा च न कर्त्तव्या तत्प्रतिपादितं, सम्प्रति पृच्छायां यदा तद् ग्राह्यं भवति यदा च न तदेतत्प्रतिपादयति—

तुज्झट्ठाए कयमिणमन्नोऽन्नमवेक्खए य सविलक्खं । वज्जंति गाढरुट्ठा का भे तत्तित्ति वा गिण्हे ॥ २०५ ॥

व्याख्या—इह या दात्री ऋजुर्भवति सा पृष्टा सती यथावत्कथयति, यथा भगवन्! तवार्थाय कृतमिदमशनादिकमिति, यत्तु भवति मायाविकुटुम्बं तन्मुखेनैवमाचष्टे गृहार्थमेतत्कृतं न तवार्थायेति, परं ज्ञाता वयमिति सविलक्षं सर्वाण्यपि मानुषाणि परस्परमवेक्षन्ते,

आधाकर्मणि पृच्छोचितद्रव्याद्याः

॥ ७३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कपोलोद्भेदमात्रं च हसन्ति, ततो यदा तवार्थायेदं कृतमिति जल्पति यद्वा 'सविलक्षं' सलज्जमन्योऽन्यमवेक्षन्ते चशब्दात् हसन्ति वा तदा साधवस्तदेयमाधाकर्म्मेति परिज्ञाय वर्जयन्ति, यदा तु कस्यार्थायेदं कृतमिति पृष्टा सती गाढं सत्यवृत्त्या रुष्टा भवति, यथा का'मे'भट्टारक! तव तप्तिः? इति तदा नैवाधाकर्म्मेति निःशङ्कं गृह्णीत ॥ सम्प्रति 'गहियमदोसं' चेत्यवयवं व्याचिख्यासुः परं प्रश्नयति—

गूढायारा न करेंति आयरं पुच्छियावि न कहेंति । थोवंति व नो पुट्ठा तं च असुद्धं कहं तत्थ? ॥ २०६ ॥

व्याख्या—इह ये श्रावकाः श्राविकाश्चातीव भक्तिपरवशगा गूढाचाराश्च ते नादरमतिशयेन कुर्वन्ति, मा भून्न ग्रहीष्यतीति, नापि पृष्टाः सन्तो यथावत्कथयन्ति, यथा तवार्थायेदं कृतमिति, अथवा स्तोकमितिकृत्वा ते साधुना न पृष्टाः, अथ च तदेयं वस्तु 'अशुद्धम्' आधाकर्म्मदोषदुष्टम्, अतः कथं तत्र साधोः शुद्धिर्भविष्यति? इति ॥ एवं परेणोक्ते गुरुराह—

आहाकम्मपरिणओ फासुयभोईवि बंधओ होइ । सुद्धं गवेसमाणो आहाकम्मेवि सो सुद्धो ॥ २०७ ॥

व्याख्या—इह प्रासुकग्रहणेन एषणीयमुच्यते सामर्थ्यात्, तथाहि–साधूनामयं कल्पः–ग्लानादिप्रयोजनेऽपि प्रथमतस्तावदेषणीयमेषितव्यं, तदभावेऽनेषणीयमपि श्रावकादिना कारयित्वा, श्रावकाभावे स्वयमपि कृत्वा भोक्तव्यं, न तु कदाचनापि प्रासुकाभावेऽप्रासुकमिति, ततः कदाचिदप्यप्रासुकभोजनासम्भवे 'फासुयभोईवि' इति वाक्यमनुपपद्यमानमर्थात्प्रासुकशब्दमेषणीये वर्त्तयति, ततोऽयमर्थः–'प्रासुकभोज्यपि' एषणीयभोज्यपि यद्याधाकर्म्मपरिणतस्तर्हि सोऽशुभकर्म्मणां बन्धको भवति, अशुभपरिणामस्यैव वस्तुस्थित्या बन्धकारणत्वात्, 'शुद्धम्' उद्गमादिदोषरहितं पुनर्गवेषयन् आधाकर्म्मण्यपि गृहीते भुक्ते च शुद्धो वेदितव्यः, शुद्धपरिणामयुक्तत्वात्। एतदेव कथानकाभ्यां भावयति—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२०८||

दीप अनुक्रम [२३०]

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ ७४ ॥

संघुद्दिट्ठं सोउं एइ दुयं कोइ भाइए पत्तो । दिन्नंति देहि मज्झंतिगाउ साउं तओ लग्गो ॥ २०८ ॥

व्याख्या—शतमुखं नाम पुरं, तत्र गुणचन्द्रः श्रेष्ठी, चन्द्रिका तस्य भार्या, श्रेष्ठी च जिनप्रवचनानुरक्तो हिमगिरिशिखरानुकारि जिनमन्दिरं कारयित्वा तत्र युगादिजिनप्रतिमां प्रतिष्ठापितवान्, ततः सङ्घभोज्यं दापयितुमारब्धम् । इतश्च प्रत्यासन्ने कस्मिंश्चिद् ग्रामे कोऽपि साधुवेषविडम्बकः साधुर्वर्त्तते, तेन च जनपरम्परया शुश्रुवे यथा शतमुखपुरे गुणचन्द्रः श्रेष्ठी सङ्घभोज्यमद्य ददातीति, ततः स तद्ग्रहणाय सत्वरमाजगाम, सङ्घभक्तं च सर्वं दत्तं, तेन च श्रेष्ठी याचितो यथा मह्यं देहि, श्रेष्ठिना च चन्द्रिकाऽभ्यधायि, देहि साधवेऽस्मै भक्तमिति, सा प्रत्युवाच–दत्तं सर्व्वं न किमपीदानीं वर्त्तते, ततः श्रेष्ठिना सा पुनरप्यभाणि–देहि निजरसवतीमध्यात्परिपूर्णमस्मायिति, ततः सा शाल्योदनमोदकादिपरिपूर्णमदात्, साधुश्च सङ्घभक्तमिति बुद्ध्या परिगृह्य स्वोपाश्रये भुक्तवान्, ततः स शुद्धमपि भुञ्जान आधाकर्म्मग्रहणपरिणामवशादाधाकर्म्मपरिभोगजनितेन कर्म्मणा बद्धः । एवमन्योऽपि वेदितव्यः, सूत्रं सुगमं, नवरं 'देहि मज्झंतिगाउ'त्ति भार्यया दत्तमित्युक्ते श्रेष्ठी बभाण–देहि 'मम मध्यात्' मदीयभोजनमध्यात्, दत्ते च स्वादु मिष्टमिदं सङ्घभक्तमिति भुञ्जानो विचिन्तयति, ततो 'लग्नः' आधाकर्म्मपरिभोगजनितकर्मणा बद्धः ॥ तदेवम् 'आधाकम्मपरिणओ' इत्यादि कथानकेन भावितं, सम्प्रति 'सुद्धं गवेसमाणो' इत्यादि कथानकेन भावयति—

मासियपारणगट्ठा गमणं आसन्नगामगे खमगे । सड्ढी पायसकरणं कयाइ अज्जेज्जिही खमओ ॥ २०९ ॥
खेल्लगमल्लगलेच्छारियाणि डिंभग निभच्छणं च रुंटणया । हंदि समणत्ति पायस घयगुलजुय जावणट्ठाए ॥२१०॥

आधाकर्मणि परिणतेर्दोषादोषौ अशुद्धशुद्धसाधुदा०

॥ ७४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२११||

दीप अनुक्रम [२३३]

एगंतमवक्कमणं जइ साहू इज्ज होज्ज तिन्नोमि । तणुकोट्ठंमि अमुच्छा भुत्तंमि य केवलं नाणं ॥ २११ ॥

व्याख्या—**पोतन**पुरं नाम नगरं, तत्र पञ्चभिः साधुशतैः परिवृता यथागमं विहरन्तो **रत्नाकर**नामानः सूरयः समाययुः, तस्याश्च साधुपञ्चशत्या मध्ये **प्रियङ्कुरो** नाम क्षपकः, स च मासमासपर्यन्ते पारणकं विदधाति, ततो मासक्षपणपर्यन्ते मा कोऽपि मदीयं पारणकमवबुध्याधाकर्म्मादिकं कार्षीदित्यज्ञात एव प्रत्यासन्ने ग्रामे पारणार्थं व्रजामीति चेतसि विचिन्त्य प्रत्यासन्ने कचिद् ग्रामे जगाम । तत्र च **यशोमति**र्नाम श्राविका, तया च तस्य क्षपकस्य मासक्षपणकं पारणकदिनं च जनपरम्परया श्रुतं, ततस्तया तस्मिन् पारणकदिने कदाचिदद्य स क्षपकोऽत्र पारणककरणाय समागच्छेदितिबुद्ध्या परमभक्तिवशतो विशिष्टशालितण्डुलैः पायसमपच्यत, घृतगुडादीनि चोपबृंहकद्रव्याणि प्रत्यासन्नीकृतानि, ततो मा साधुः पायसमुत्तमं द्रव्यमितिकृत्वाऽऽधाकर्म्मशङ्कां कार्षीदिति मातृस्थानतो वटादिपत्रैः कृतेषु शरावाकारेषु भाजनेषु डिम्भयोग्या स्तोका स्तोका क्षैरेयी प्रक्षिप्ता, भणिताश्च डिम्भा यथा रे बालकाः ! यदा क्षपकः साधुरीदृशस्तादृशो वा समायाति तदा यूयं भणत–हे अम्ब ! प्रभूताऽस्माकं क्षैरेयी परिवेषिता ततो न शक्नुमो भोक्तुम्, एवं चोक्तेऽहं युष्मान्निर्भर्त्सयिष्यामि, ततो यूयं भणत–किं दिने दिने पायसमुपस्क्रियते ?, एवं च बालकेषु शिक्षितेषु तस्मिन्नेव प्रस्तावे स क्षपको भिक्षामटन् कथमपि तस्या एव गृहे प्रथमतो जगाम, ततः सा यशोमतिरन्तःसमुल्लसत्परमभक्तिर्मा साधोः काऽपि शङ्का भूदिति बहिरादरमकुर्वती यथास्वभावमवतिष्ठते, बालकाश्च यथाशिक्षितं भणितुं प्रवृत्ताः, तथैव च तया निर्भर्त्सिताः, ततः सरुषेवानादरपरया क्षपकोऽपि तया बभणे, यथाऽमी मत्ता बालकाः पायसमपि नैतेभ्यो रोचते, ततो यदि युष्मभ्यमपि रोचते तर्हि गृह्णीत क्षौरेयीं नो चेत् व्रजतेति, तत एवमुक्ते स क्षपकसाधुर्निःशङ्को भूत्वा पायसं प्रतिग्रहीतुमुद्यतः, सापि परमभक्तिमुद्वहन्ती परिपूर्णभाजनभरणं पायसं घृतगुडादिकं च दत्तवती, साधुश्च

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

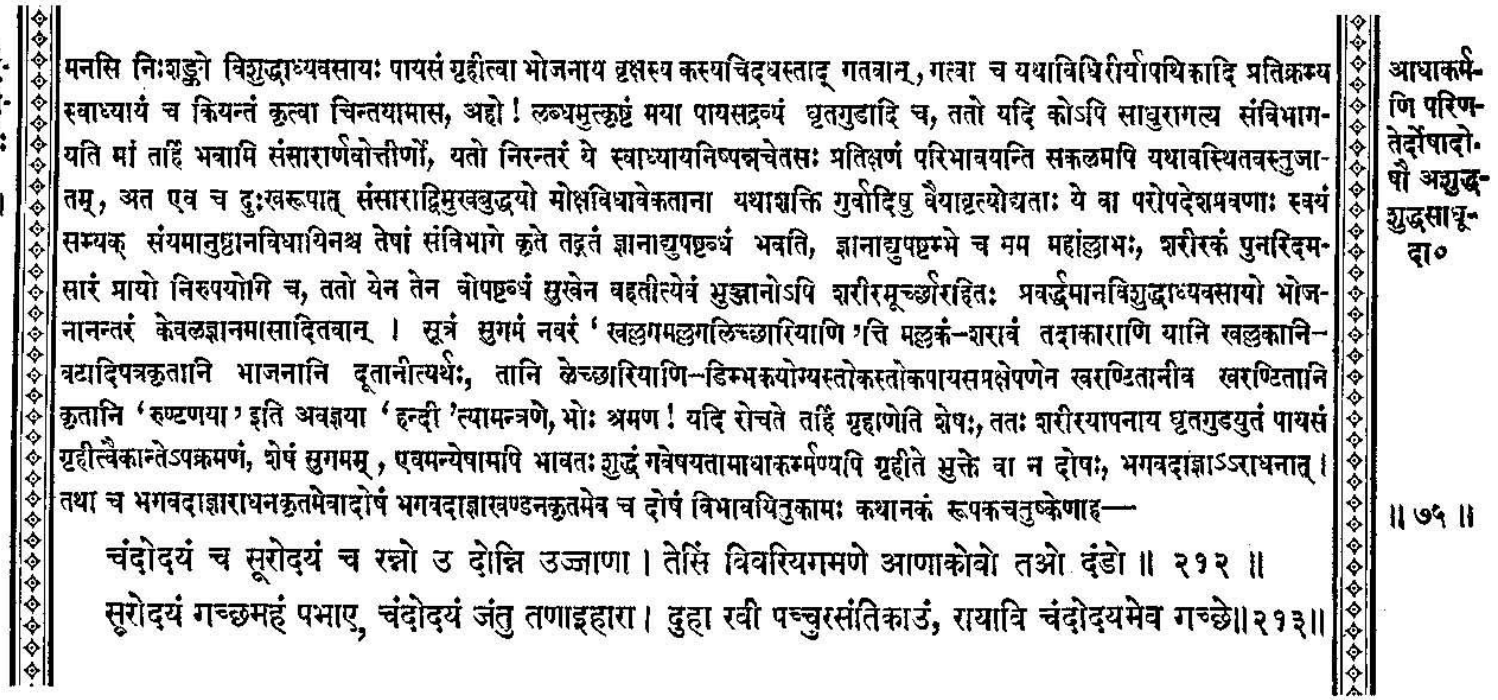

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ७५ ॥

मनसि निःशङ्को विशुद्धाध्यवसायः पायसं गृहीत्वा भोजनाय वृक्षस्य कस्यचिदधस्ताद् गतवान्, गत्वा च यथाविधिरीर्यापथिकादि प्रतिक्रम्य स्वाध्यायं च कियन्तं कृत्वा चिन्तयामास, अहो! लब्धमुत्कृष्टं मया पायसद्रव्यं घृतगुडादि च, ततो यदि कोऽपि साधुरागत्य संविभागयति मां तर्हि भवामि संसारार्णवोत्तीर्णो, यतो निरन्तरं ये स्वाध्यायनिष्पन्नचेतसः प्रतिक्षणं परिभावयन्ति सकलमपि यथावस्थितवस्तुजातम्, अत एव च दुःखरूपात् संसाराद्विमुखबुद्धयो मोक्षविधावेकताना यथाशक्ति गुर्वादिषु वैयावृत्त्योद्यताः ये वा परोपदेशप्रवणाः स्वयं सम्यक् संयमानुष्ठानविधायिनश्च तेषां संविभागे कृते तद्दत्तं ज्ञानाद्युपष्टम्भं भवति, ज्ञानाद्युपष्टम्भे च मम महांल्लाभः, शरीरकं पुनरिदमसारं प्रायो निरुपयोगि च, ततो येन तेन वोपष्टम्भं सुखेन वहतीत्येवं भुञ्जानोऽपि शरीरमूर्च्छारहितः प्रवर्द्धमानविशुद्धाध्यवसायो भोजनानन्तरं केवलज्ञानमासादितवान्। सूत्रं सुगमं नवरं 'खल्लगमल्लगलिच्छारियाणि'त्ति मल्लकं–शरावं तदाकाराणि यानि खल्लकानि–वट्यादिपत्रकृतानि भाजनानि दूतानीत्यर्थः, तानि लेच्छारियाणि–डिम्भकयोग्यस्तोकस्तोकपायसप्रक्षेपणेन खरण्टितानीव खरण्टितानि कृतानि 'रुण्टणया' इति अवज्ञया 'हन्दी'त्यामन्त्रणे, भोः श्रमण! यदि रोचते तर्हि गृहाणेति शेषः, ततः शरीरयापनाय घृतगुडयुतं पायसं गृहीत्वैकान्तेऽपक्रमणं, शेषं सुगमम्, एवमन्येषामपि भावतः शुद्धं गवेषयतामाधाकर्मण्यपि गृहीते भुक्ते वा न दोषः, भगवदाज्ञाऽऽराधनात्। तथा च भगवदाज्ञाराधनकृतमेवादोषं भगवदाज्ञाखण्डनकृतमेव च दोषं विभावयितुकामः कथानकं रूपकचतुष्केणाह—

चंदोदयं च सूरोदयं च रन्नो उ दोन्नि उज्जाणा। तेसिं विवरियगमणे आणाकोवो तओ दंडो ॥ २१२ ॥

सूरोदयं गच्छमहं पभाए, चंदोदयं जंतु तणाइहारा। दुहा रवी पच्चुरसंतिकाउं, रायावि चंदोदयमेव गच्छे॥२१३॥

आधाकर्मणि परिणतेर्दोषादौ अशुद्धशुद्धसाधुदा०

॥ ७५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पत्तलदुमसालगया दच्छामु निवंगणत्तिदुच्चित्ता । उज्जाणपालएहिं गहिया य हया य बद्धा य ॥ २१४ ॥

सहस पइट्ठा दिट्ठा इयरेहि निवंगणत्ति तो बद्धा । नितस्स य अवरण्हे दंसणमुभओ वहविसग्गा ॥ २१५ ॥

व्याख्या—**चन्द्रानना** नाम पुरी,तत्र **चन्द्रावतंसो** राजा, तस्य त्रिलोकरेखाप्रभृतयोऽन्तःपुरिकाः,राज्ञश्च द्वे उद्याने,तद्यथा– एकं पूर्वस्यां दिशि सूर्योदयाभिधानं, द्वितीयं पश्चिमायां चन्द्रोदयाभिधानं, तत्र चान्यदा प्राप्ते वसन्तमासे कस्मिंश्चिद्दिने राजा निजान्तःपुरक्रीडाकौतुकार्थी जनानां पटहं दापितवान्,यथा भोः शृणुत जनाः ! प्रभाते राजा सूर्योदयोद्याने निजान्तःपुरिकाभिः सह स्वेच्छं विहरिष्यति, ततो मा तत्र कोऽपि यासीत् सर्वेऽपि तृणकाष्ठाहारादयश्चन्द्रोदयं गच्छन्त्विति, एवं पटहे दापिते तस्य सूर्योदयोद्यानस्य रक्षणाय पदातीन्निरूपितवान्, यथा न तत्र कस्यापि प्रवेशो दातव्य इति, राजा च निशि चिन्तयामास, सूर्योदयमुद्यानं गच्छतामपि प्रभाते सूर्यः प्रत्युरसं भवति, ततः प्रतिनिवर्त्तमानानामपि मध्याह्ने, प्रत्युरसं च सूर्यो दुःखावहः, तस्माच्चन्द्रोदयं गमिष्यामीति, एवं च चिन्तयित्वा प्रातस्तथैव कृतवान्, इतश्च पटहश्रवणानन्तरं केऽपि दुर्वृत्ताश्चिन्तयामासुर्यथा न कदाचिदपि वयं राजान्तःपुरिका द्रष्टवन्तः, प्रातश्च राजा सूर्योदये सान्तःपुरः समागमिष्यति, अन्तःपुरिकाश्च यथेच्छं विहरिष्यन्ति, ततः पत्रबहुलतरुशाखासु लीनाः केनाप्यलक्षिता वयं ताः परिभावयामः, एवं च चिन्तयित्वा ते तथैव कृतवन्तः, तत उद्यानरक्षकैः कथमपि ते शाखास्वन्तर्लीना दृष्टाः, ततो गृहीता लकुटादिभिश्च हता रज्ज्वादिभिश्च बद्धाः, ये चान्ये तृणकाष्ठाहारादयो जनास्ते सर्वेऽपि चन्द्रोदयं गताः, तैश्च सहसाप्रविष्टैरग्रे यथेच्छं राज्ञान्तःपुरिकाः क्रीडन्त्यो दृष्टाः, ततस्तेऽपि राजपुरुषैर्बद्धाः, ततो नगराभिमुखमुद्यानान्निर्गच्छतो राज्ञ उद्यानपालकैः पुरुषैर्द्वेष्येऽपि बद्धा दर्शिताः, कथितश्च

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

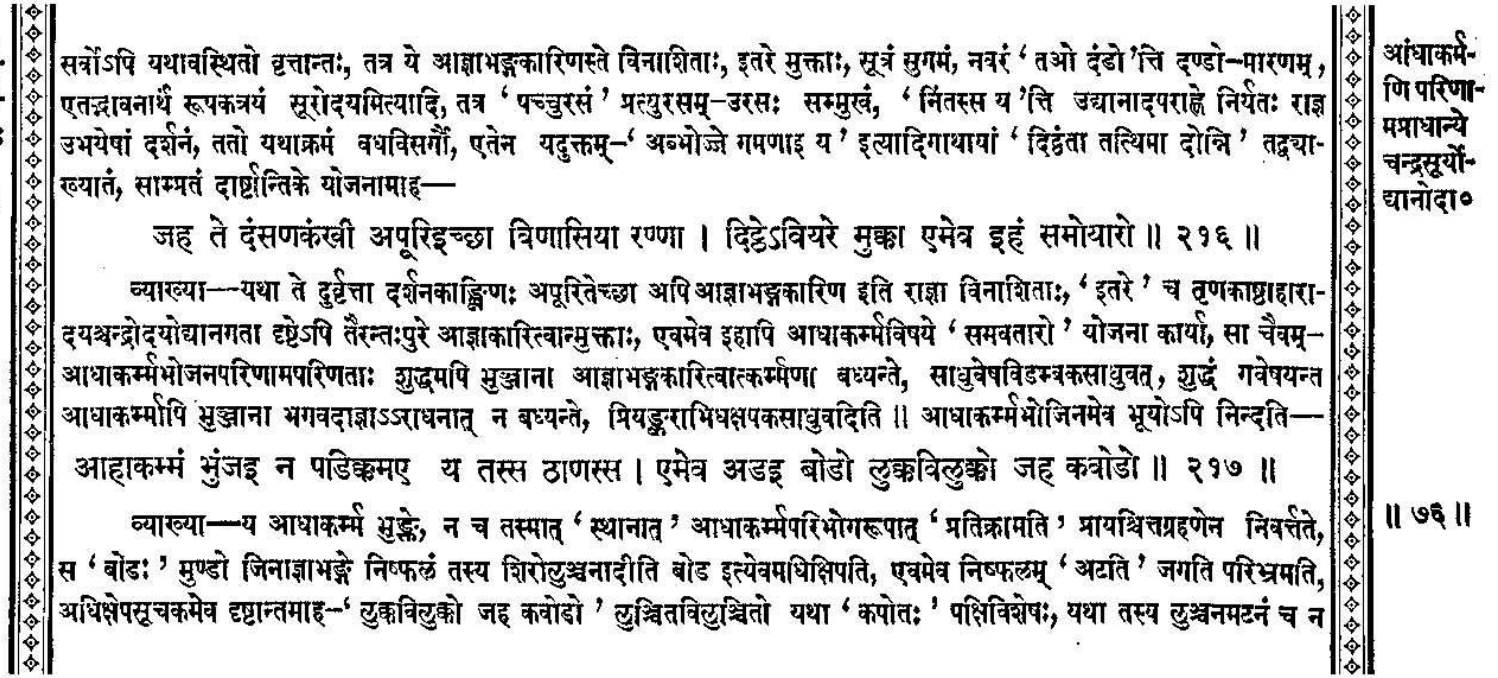

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ७६ ॥

सर्वोऽपि यथावस्थितो वृत्तान्तः, तत्र ये आज्ञाभङ्गकारिणस्ते विनाशिताः, इतरे मुक्ताः, सूत्रं सुगमं, नवरं 'तओ दंडो'त्ति दण्डो–मारणम्, एतद्भावनार्थं रूपकत्रयं सूरोदयमित्यादि, तत्र 'पच्चुरसं' प्रत्युरसम्–उरसः सम्मुखं, 'निंतस्स य'त्ति उद्यानादपराह्णे निर्यतः राज्ञ उभयेषां दर्शनं, ततो यथाक्रमं वधविसर्गौ, एतेन यदुक्तम्–'अब्भोज्जे गमणाइ य' इत्यादिगाथायां 'दिट्ठंता तत्थिमा दोन्नि' तद्व्याख्यातं, साम्प्रतं दार्ष्टान्तिके योजनामाह—

जह ते दंसणकंखी अपूरिइच्छा विणासिया रण्णा । दिट्ठेऽवियरे मुक्का एमेव इहं समोयारो ॥ २१६ ॥

व्याख्या—यथा ते दुर्दृत्ता दर्शनकाङ्क्षिणः अपूरितेच्छा अपि आज्ञाभङ्गकारिण इति राज्ञा विनाशिताः, 'इतरे' च तृणकाष्ठाहारादयश्चन्द्रोदयोद्यानगता दृष्टेऽपि तैरन्तःपुरे आज्ञाकारित्वान्मुक्ताः, एवमेव इहापि आधाकर्म्मविषये 'समवतारो' योजना कार्या, सा चैवम्–आधाकर्म्मभोजनपरिणामपरिणताः शुद्धमपि भुञ्जाना आज्ञाभङ्गकारित्वात्कर्म्मणा बध्यन्ते, साधुवेषविडम्बकसाधुवत्, शुद्धं गवेषयन्त आधाकर्म्मापि भुञ्जाना भगवदाज्ञाऽऽराधनात् न बध्यन्ते, प्रियङ्करामिधक्षपकसाधुवदिति ॥ आधाकर्म्मभोजिनमेव भूयोऽपि निन्दति—

आहाकम्मं भुंजइ न पडिक्कमए य तस्स ठाणस्स । एमेव अडइ बोडो लुक्कविलुक्को जह कवोडो ॥ २१७ ॥

व्याख्या—य आधाकर्म्म भुङ्क्ते, न च तस्मात् 'स्थानात्' आधाकर्म्मपरिभोगरूपात् 'प्रतिक्रामति' प्रायश्चित्तग्रहणेन निवर्त्तते, स 'बोडः' मुण्डो जिनाज्ञाभङ्गे निष्फलं तस्य शिरोलुञ्चनादीति बोड इत्येवमधिक्षिपति, एवमेव निष्फलम् 'अटति' जगति परिभ्रमति, अधिक्षेपसूचकमेव दृष्टान्तमाह–'लुक्कविलुक्को जह कवोडो' लुञ्चितविलुञ्चितो यथा 'कपोतः' पक्षिविशेषः, यथा तस्य लुञ्चनमटनं च न

आधाकर्मणि परिणामप्राधान्ये चन्द्रसूर्योद्यानोदा०

॥ ७६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धर्माय तथा साधोरप्याधाकर्म्मभोजिन इत्यर्थः, तत्र सामान्यतो लुञ्चनं विच्छित्त्या विशवरं वा लुञ्चनं विलुञ्चनम् ॥ सम्प्रत्याधाकर्म्मद्वारमुपसञ्जिहीर्षुरौदेशिकं च द्वारं व्याचिख्यासुराह—

आहाकम्मद्दारं भणियमियाणिं पुरा समुद्दिट्ठं । उद्देसियंति वोच्छं समासओ तं दुहा होइ ॥ २१८ ॥

व्याख्या—भणितमाधाकर्म्मद्वारम्, इदानीं 'पुरा' पूर्वम् औदेशिकमिति यद्वारं समुद्दिष्टं तद्वक्ष्ये । तच्च समासतो द्विधा भवति, द्वाविध्यमाह—

ओहेण विभागेण य ओहे ठप्पं तु बारस विभागे । उद्दिट्ठ कडे कम्मे एक्केक्कि चउक्कओ भेओ ॥ २१९ ॥

व्याख्या—द्विविधमौदेशिकं, तद्यथा–ओघेन विभागेन च, तत्र 'ओघः' सामान्यं 'विभागः' पृथक्करणम्, इयं चात्र भावना–नादत्तमिह किमपि लभ्यते ततः कतिपया भिक्षा दद्म इति बुद्ध्या कतिपयाधिकतण्डुलादिप्रक्षेपेण यन्निर्वृत्तमशनादि तदोघौदेशिकम्, 'ओघेन' सामान्येन स्वपरपृथग्विभागकरणाभावरूपेणौदेशिकमोघौदेशिकमिति व्युत्पत्तेः, तथा वीवाहप्रकरणादिषु यदुद्धरितं तत् पृथक्कृत्वा दानाय कल्पितं सत् विभागौदेशिकं, विभागेन–स्वसत्ताया उत्तार्य पृथक्करणेनौदेशिकं विभागौदेशिकमिति व्युत्पत्तेः, तत्र यत् 'ओघे' ओघविषयमौदेशिकं तत्स्थाप्यं, नात्र व्याख्येयं किन्त्वग्रे व्याख्यास्यते इति भावः, यत्तु 'विभागे' विभागविषयं तत् 'बारस'त्ति 'सूचनात्सूत्र'मिति न्यायात् द्वादशधा–द्वादशप्रकारं । द्वादशप्रकारतामेव सामान्यतः कथयति–'उद्दिट्ठ' इत्यादि, प्रथमतस्त्रिधा विभागौदेशिकं, तद्यथा–उद्दिष्टं कृतं कर्म च, तत्र स्वार्थमेव निष्पन्नमशनादिकं भिक्षाचराणां दानाय यत् पृथक्कल्पितं तदुद्दिष्टं, यत्पुनरुद्धरितं सत् शाल्यो-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दनादिकं भिक्षादानाय करम्बादिरूपतया कृतं तत्कृतमित्युच्यते, यत्पुनर्विवाहप्रकरणादावुद्धरितं मोदकचूर्ण्यादि तद्भूयोऽपि भिक्षाचराणां दानाय गुडपाकदानादिना मोदकादि कृतं तत्कर्म्मेत्यभिधीयते । एकैकस्मिंश्च उद्दिष्टादिके भेदे 'चतुष्कको' वक्ष्यमाणश्चतुःसङ्ख्यो भेदो भवति, त्रयश्चतुर्भिर्गुणिता द्वादश, ततो विभागौद्देशिकं द्वादशधा । सम्प्रत्योघौद्देशिकस्य पूर्वं स्थाप्यतया मुक्तस्य प्रथमतः सम्भवमाह—

जीवामु कहवि ओमे निययं भिक्खावि कइवई देमो । हंदि हु नत्थि अदिन्नं भुज्जइ अकयं न य फलेई ॥२२०॥

व्याख्या—इह दुर्भिक्षानन्तरं केचिद्गृहस्था एवं चिन्तयन्ति–'कथमपि' महता कष्टेन जीविताः 'अवमे' दुर्भिक्षे ततः 'नियतं' प्रतिदिवसं कतिपया भिक्षा दद्मो यतः 'हु' निश्चितं 'हन्दी'ति स्वसम्बोधने नास्त्येतद् यदुत भवान्तरेऽदत्तमिह जन्मनि भुज्यते, नापीह भवेऽकृतं शुभं कर्म्म परलोके फलति, तस्मात्परलोकाय कतिपयभिक्षादानेन शुभं कर्मोपार्जयाम इत्योघौद्देशिकसम्भवः । सम्प्रत्योघौद्देशिकस्वरूपं कथयति—

सा उ अविसेसियं चिय मियंमि भत्तंमि तंडुले छुहइ । पासंडीण गिहीण व जो एहिइ तस्स भिक्खट्ठा ॥२२१॥

व्याख्या—सा तु गृहनायिका योषित् प्रतिदिवसं यावत्प्रमाणं भक्तं पच्यते तावत्प्रमाण एव भक्ते पक्तुमारभ्यमाणे पाखण्डिनां गृहिणां वा मध्ये यः कोऽपि समागमिष्यति तस्य 'भिक्षार्थं' भिक्षादानार्थम् 'अविशेषितमेव' एतावत्स्वार्थमेतावच्च भिक्षादानार्थमित्येवं विभागरहितमेव तण्डुलान् अधिकतरान् प्रक्षिपति, एतदोघौद्देशिकम् । अत्र परस्य पूर्वपक्षमाशङ्क्योत्तरमाह—

छउमत्थोघुद्देसं कहं वियाणाइ चोइए भणइ । उवउत्तो गुरु एवं गिहत्थसद्दाइचिट्ठाए ॥ २२२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—'छद्मस्थः' अकेवली कथमोघौदेशिकं–पूर्वोक्तस्वरूपं विजानाति ?, न ह्येवं छद्मस्थेन ज्ञातुं शक्यते, यथा नात्र स्वार्थमारभ्यमाणे पाके भिक्षादानाय कतिपयतण्डुलप्रक्षेप आसीदिति, एवं 'चोदिते' प्रेरणे कृते गुरुर्भणति–'एवं' वक्ष्यमाणप्रकारेण गृहस्थशब्दादिचेष्टायामुपयुक्तो–दत्तावधानो जानातीति । एतदेव भावयति—

दिन्नाउ ताउ पंचवि रेहाउ करेइ देइ व गणंति । देहि इओ मा य इओ अवणेह य एत्तिया भिक्खा ॥ २२३ ॥

व्याख्या—यदि नाम भिक्षादानसङ्कल्पतः प्रथमत एवाधिकतण्डुलप्रक्षेपः कृतो भवेत् तर्हि प्राय एवं गृहस्थानां चेष्टाविशेषा भवेयुः, यथा दत्तास्ताः पञ्चापि भिक्षाः, इयमत्र भावना–कापि गृहे भिक्षार्थं प्रविष्टाय साधवे तत्स्वामी निजभार्यया भिक्षां दापयति, सा च साधोः शृण्वत एवेत्थं प्रत्युत्तरं ददाति–यथा ताः प्रतिदिवसं सङ्कल्पिताः पञ्चापि भिक्षा अन्यभिक्षाचरेभ्यो दत्ता इति, यद्वा–भिक्षां ददती दत्तभिक्षापरिगणनाय भित्त्यादिषु रेखाः करोति, अथवा प्रथमेयं भिक्षा द्वितीयेयं भिक्षेत्येवं गणयन्ती ददाति, यदिवा काचित् कस्या अपि सम्मुखमेवं भणति–यथाऽस्मादुद्दिष्टदत्तिसत्कपिटकादेर्मध्यादेहि, मा च इत इति, अथवा प्रथमतः साधौ विवक्षिते गृहे भिक्षार्थं प्रविष्टे काचित्कस्याः सम्मुखमेवमाह–'अपनय' पृथक्कुरु विवक्षितात् स्थानादेतावतीर्भिक्षा भिक्षाचरेभ्यो दानायेति, तत एवमुल्लापश्रवणे रेखाकर्षणादिदर्शने च छद्मस्थेनाप्योघौद्देशिकं ज्ञातुं शक्यते, ज्ञात्वा च परिहियते, ततो न कश्चिद्दोषः । अत्र चायं वृद्धसम्प्रदायः–सङ्कल्पितासु दत्तिषु दत्तासु पृथगुद्धृतासु वा शेषमशनादिकं कल्प्यमवसेयमिति । इहोपयुक्तः सन् शुद्धमशुद्धं वाऽऽहारं ज्ञातुं शक्नोति, नानुपयुक्तः, ततो गोचरविषयां सामान्यत उपयुक्ततां प्रतिपादयति—

सद्दाइएसु साहू मुच्छं न करेज्ज गोयरगओ य । एसणजुत्तो होज्जा गोणीवच्छो गवत्तिव्व ॥ २२४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ ७८ ॥

व्याख्या—इह साधुः 'गोचरगतः' भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् 'शब्दादिषु' शब्दरूपरसादिषु मूर्च्छां न कुर्यात्, किन्त्वेषणायुक्त उद्गमादिदोषगवेषणाभियुक्तो भवेत्, यथा गोवत्सः 'गवत्तिव्व 'त्ति गोभक्त इव ॥ गोवत्सदृष्टान्तमेव गाथाद्वयेन भावयति—

ऊसव मंडणवग्गा न पाणियं वच्छए न वा चारि । वणियागम अवरण्हे वच्छगरडणं खरंटणया ॥ २२५ ॥

पंचविहविसयसोक्खक्खणी वहू समहियं गिहं तं तु । न गणेइ गोणिवच्छो मुच्छिय गढिओ गवत्तंमि ॥ २२६ ॥

व्याख्या—गुणालयं नाम नगरं, तत्र सागरदत्तो नाम श्रेष्ठी तस्य भार्या श्रीमती नाम्ना, श्रेष्ठिना च पूर्वतरं जीर्णमन्दिरं भङ्क्त्वा प्रधानतरं मन्दिरं कारयामासे, तस्य च चत्वारस्तनयाः, तद्यथा—गुणचन्द्रो गुणसेनो गुणचूडो गुणशेखरश्च, एतेषां च तनयानां क्रमेण चतस्र इमा वध्वः, तद्यथा—प्रियङ्गुलतिका प्रियङ्गुरुचिका प्रियङ्गुसुन्दरी प्रियङ्गुसारिका च, कालेन च गच्छता श्रेष्ठिनो भार्या मरणमुपजगाम, ततः श्रेष्ठिना प्रियङ्गुलतिकैव सर्वगृहतन्त्रे निरोपिता, गृहे च सवत्सा गौर्विद्यते, तत्र गौर्दिवसे बहिर्गत्वा चरति, वत्सस्तु गृह एव बद्धोऽवतिष्ठते, तस्मै च चारिं पानीयं च चतस्रोऽपि वध्वो यथायोगं प्रयच्छन्ति । अन्यदा च गुणचन्द्रप्रियङ्गुलतिकापुत्रस्य गुणसागरस्य विवाहदिवस उपतस्थे, ततस्ताः सर्वा अपि वध्वस्तस्मिन् दिने सविशेषमाभरणविभूषिताः स्वपरमण्डनादिकरणव्यापृता अभूवन्, ततो वत्सस्तासां विस्मृतिं गतो, न कयाचिदपि तस्मै पानीयादि दौकितं, ततो मध्याह्ने श्रेष्ठी यत्र प्रदेशे वत्सो वर्त्तते तत्र कथमपि समायातः, वत्सोऽपि च श्रेष्ठिनमायान्तं पश्यन्नारटितुमारब्धवान्, ततो जज्ञे श्रेष्ठिना—यथाऽद्यापि वत्सो बुभुक्षितस्तिष्ठतीति, ततः कुपितेन तेन ताः सर्वा अपि पुत्रवध्वो निर्भर्त्सयामासिरे, ततस्त्वरितं प्रियङ्गुलतिका अन्या च यथायोगं चारिं पानीयं च गृहीत्वा वत्साभिमुखं चचाल,

औद्देशिके एषणोपयोगे गोवत्सोदा०

॥ ७८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वत्सश्च ताभिः सुरसुन्दरीभिरिव समलङ्कृतमपि तादृशं गृहं नावलोकते, नापि ताः सरागदृष्ट्या वधूः परिभावयति, किन्तु तामेव केवलां चारिं पानीयं वा समानीयमानं सम्यक् परिभावयति । सूत्रं सुगमं, नवरं 'पञ्चविह' इत्यादि, पञ्चविधविषयसौख्यस्य खनय इव खनयो या वध्वस्ताभिः 'समधिकम्' अतिशयेन रमणीयतया अधिकतरं तद्गृहं 'न गणयति' न दृष्ट्या परिभावयति, नापि ता वधूः, एवं साधुरपि भिक्षार्थमटन्न रमणीया रमणीरवलोकयेत्, नापि गीतादिषु चित्तं निबध्नीयात्, किन्तु भिक्षामात्रानयनदानाद्युपयुक्तो भवेत्, तथा च सति ज्ञास्यति शुद्धमशुद्धं वा भिक्षादिकम् । तथा चाह—

गमणागमणुक्खेवे भासिय सोयाइइंदियाउत्तो । एसणमणेसणं वा तह जाणइ तम्मणो समणो ॥ २२७ ॥

व्याख्या—'गमनं' साधोर्भिक्षादानार्थं भिक्षानयनाय दात्रा व्रजनम् 'आगमनं' भिक्षां गृहीत्वा साधोरभिमुखं चलनम् 'उत्क्षेपः' भाजनादीनामूर्ध्वमुत्पाटनम्, उपलक्षणमेतत्, तेन निक्षेपपरिग्रहः, ततो गमनादिपदानां समाहारो द्वन्द्वः तस्मिन्, तथा 'भाषितेषु' जल्पितेषु देहि भिक्षामस्मै साधवे इत्यादिरूपेषु श्रोत्रादिभिरिन्द्रियैरुपयुक्तः, तथा वत्स इव 'तन्मनाः' स्वयोग्यभक्तपानीयपरिभावनमनाः सन् श्रमण एषणामनेषणां वा सम्यग् जानाति, ततो न कश्चिद्दोषः । उक्तमोघौद्देशिकं, सम्प्रति विभागौद्देशिकं विभणिषुः प्रथमतस्तावत्तस्य सम्भवमाह—

महईए संखडीए उव्वरियं कूरवंजणाईयं । पउरं दट्ठूण गिही भणइ इमं देहि पुण्णट्ठा ॥ २२८ ॥

व्याख्या—इह सङ्खडिर्नाम विवाहादिकं प्रकरणं, सङ्खंड्यन्ते–व्यापाद्यन्ते प्राणिनोऽस्यामिति सङ्खडिरिति व्युत्पत्तेः, तस्यां सङ्खड्यां यदुद्धरितं 'कूरव्यञ्जनादिकं' शाल्योदनदध्यादिकं प्रचुरं, तद्दृष्ट्वा गृही भणति स्वकुटुम्बतत्पिकारकं मानुषं–यथेदं देहि पुण्यार्थं भिक्षाच-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रेभ्यः। तत्र यदा यथैवास्ति तथैव ददाति तदा तदुद्दिष्टं, यदा तु तदेयं करम्बादिकं करोति तदा तत्कृतं,यदा तु मोदकादिचूर्णं भूयोऽपि गुडपाकदानादिना मोदकादि करोति तदा तत्कर्म, एवं विभागौद्देशिकस्य सम्भवः। तथा चाह भाष्यकृत्—

तत्थ विभागुद्देसियमेवं संभवइ पुव्वमुद्दिट्ठं। सीसगणहियट्ठाए तं चेव विभागओ भणइ ॥ ३२ ॥ (भा०) भा० २३

व्याख्या—तत्रोद्धरिते प्रचुरकूरादौ 'एवं' पूर्वोक्तेन प्रकारेण विभागौद्देशिकं पूर्वमुद्दिष्टं सम्भवति। सम्प्रति तदेव विभागौद्देशिकं विभागतो भेदेन शिष्यगणहितार्थं ग्रन्थकारो भणति—

उद्देसियं समुद्देसियं च आएसियं समाएसं। एवं कडे य कम्मे एक्केक्कि चउक्कओ भेओ ॥ २२९ ॥

व्याख्या—'उद्दिष्टं' विभागौद्देशिकं चतुर्द्धा, तद्यथा–औद्देशिकं समुद्देशिकमादेशं समादेशं च, एवं कृते च कर्म्मणि च एकैकस्मिन् 'चतुष्कः' चतुःसङ्ख्यो भेदो दृष्टः, सर्वसङ्ख्यया द्वादशधा विभागौद्देशिकम्॥ सम्प्रत्यौद्देशिकादिकं व्याचिख्यासुराह—

जावंतियमुद्देसं पासंडीणं भवे समुद्देसं। समणाणं आएसं निग्गंथाणं समाएसं ॥ २३० ॥

व्याख्या—इह यत् उद्दिष्टं कृतं कर्म वा यावन्तः केऽपि भिक्षाचराः समागमिष्यन्ति पाखण्डिनो गृहस्था वा तेभ्यः सर्वेभ्योऽपि दातव्यमिति सङ्कल्पितं भवति तदा तदौद्देशिकमुच्यते, पाखण्डिनां देयत्वेन कल्पितं समुद्देशं, श्रमणानामादेशं, निर्ग्रन्थानां समादेशं। सम्प्रत्यमीषामेव द्वादशानां भेदानामवान्तरभेदानाह—

छिन्नमछिन्नं दुविहं दव्वे खेत्ते य काल भावे य। निप्फाइयनिप्फन्नं नायव्वं जं जहिं कमइ ॥ २३१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२३१||

दीप अनुक्रम [२५४]

व्याख्या—उद्दिष्टमुद्देशादिकं प्रत्येकं द्विधा, तद्यथा–छिन्नमच्छिन्नं च, छिन्नं नियमितम् अच्छिन्नमनियमितं, पुनरपि छिन्नमच्छिन्नं च चतुर्द्धा, तद्यथा–द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे च, एवं यथा उद्दिष्टमौद्देशिकादि प्रत्येकमष्टधा तथा निष्पादितनिष्पन्नमिति निष्पादितेन–गृहिणा स्वार्थं कृतेन निष्पन्नं यत् करम्बादि मोदकादि वा तन्निष्पादितनिष्पन्नमित्युच्यते, ततो यन्निष्पादितनिष्पन्नं यत्र कृते कर्मणि वा 'क्रामति' घटते, यथा यदि करम्बादि तर्हि कृते अथ मोदकादि तर्हि कर्मणि, तत्प्रत्येकमौद्देशिकादिभेदभिन्नं छिन्नमच्छिन्नं चेत्यादिना प्रकारेणाष्टधा ज्ञातव्यम् ॥ सम्प्रत्येतमुमेव गाथार्थं व्याचिख्यासुः प्रथमतो द्रव्याद्यच्छिन्नं व्याख्याति—

भत्तुव्वरियं खलु संखडीए तद्दिवसमन्नदिवसे वा । अंतो बहिं च सव्वं सव्वदिणं देहि अच्छिन्नं ॥ २३२ ॥

व्याख्या—यत् सङ्खडयां भक्तमुद्धरितं प्रायः प्राप्यते इति सङ्खडिग्रहणम्, अन्यथा त्वन्यदाऽपि यथासम्भवं द्रष्टव्यं, तद्दिवसमिति 'व्यत्ययोऽप्यासा'मिति प्राकृतलक्षणवशात् सप्तम्यर्थे प्रथमा, ततोऽयमर्थः–यस्मिन् दिवसे सङ्खडिः तस्मिन्नेव दिवसे, यद्वा–अन्यस्मिन् दिवसे गृहनायको भार्यादिना दापयति, यथा यदन्तर्गृहस्य यच्च बहिः, अनेन क्षेत्राच्छिन्नमुक्तं, तत् सर्वं–समस्तम्, अनेन द्रव्याच्छिन्नमुक्तं 'सर्वदिनं' सकलमपि दिनं यावद्, उपलक्षणमेतत् तेन कर्म्मरूपं मोदकादि प्रभूतान्यपि दिनानि यावदिति द्रष्टव्यम्, अनेन कालाच्छिन्नमुक्तम्, अच्छिन्नम्–अनवरतं देहि, भावाच्छिन्नं तु स्वयमभ्यूह्यं, तच्चैवं–यदि तव रोचते यदिवा न रोचते तथाप्यवश्यं दातव्यमिति । सम्प्रति द्रव्यादिच्छिन्नमाह—

देहि इमं मा सेसं अंतो बाहिरगयं व एगयरं । जाव अमुगत्तिवेला अमुगं वेलं च आरब्भ ॥ २३३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—इदं शाल्योदनादिकमुद्धरितं देहि मा 'शेषं' कोद्रवकूरादि, अनेन द्रव्यच्छिन्नमुक्तं, तदपि च शाल्योदनादिकमन्तर्व्यवस्थितं बहिर्व्यवस्थितं वा एकतरं न शेषम्, अनेन क्षेत्रच्छिन्नमुक्तं, तथाऽमुकस्या वेलाया आरभ्य यावदमुका वेला, यथा प्रहरादारभ्य यावत्प्रहरद्वयं तावद्देहि, अनेन कालच्छिन्नमुक्तं, भावच्छिन्नं तु स्वयमभ्यूह्यं, तच्चैवं–यावत्तव रोचते तावद्देहि मा स्वरुचिमतिक्रम्यापि। सम्प्रत्युद्दिष्टमधिकृत्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह—

दव्वाईछिन्नंपि हु जइ भणई आरओऽवि मा देह। नो कप्पइ छिन्नंपि हु अच्छिन्नकडं परिहरंति ॥ २३४ ॥

व्याख्या—इह यद् द्रव्यक्षेत्रादिभिः पृथग्निर्धारितं तदतिरिच्य शेषं समस्तमपि कल्पते, तस्य दानार्थं सङ्कल्पितत्वाभावात्, केवलं द्रव्यादिच्छिन्नमपि–द्रव्यक्षेत्रादिभिः पृथग्निर्धारितमपि 'हु:' निश्चितं यदि गृहस्वामी आरत एव–देयस्य वस्तुनो नियतादवधेर्बाह्यमपि भणति, यथा मा इत ऊर्ध्वं कस्मायपि देहीति, यथा प्रहरद्वयं यावत्पूर्वं किञ्चिद्दातुं निरोपितं, ततो दानपरिणामाभावादबाह्यमेव निषेधति–'मा इत ऊर्ध्वं दद्या'दिति तदा तच्छिन्नमपि कल्पते, तस्य सम्प्रत्यात्मीयसत्ताकीकृतत्वात्, यत्पुनरच्छिन्नकृतमच्छिन्नम्–अनिर्द्धारितं कृतं वर्त्तते तत्परिहरन्ति, अकल्प्यत्वात्, इत्थमेव भगवदाज्ञाविजृम्भणात्, यदा त्वच्छिन्नमपि पश्चाद्दानपरिणामाभावादबाह्यमेवात्मार्थीकृतं भवति तदा तत्कल्पते। सम्प्रति सम्प्रदानविभागमधिकृत्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह—

अमुगाणंति व दिज्जउ अमुकाणं मित्ति एत्थ उ विभासा। जत्थ जईण विसिट्ठो निद्देसो तं परिहरंति ॥ २३५ ॥

व्याख्या—अमुकेभ्यो दद्यात् माऽमुकेभ्य इत्येवं सम्प्रदानविशेषविषये सङ्कल्पे कृते विभाषा द्रष्टव्या, कदाचित्कल्पते कदाचिन्न,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्र यदा कल्पते यदा च न तदाह–'जत्थे'त्यादि, यत्र देये वस्तुनि यतीनामप्यविशेषेण निर्देशो भवति, यथा ये केचन गृहस्था अगृहस्था वा भिक्षाचरा यदिवा ये केचित्पाखण्डिनो यद्वा ये केचन श्रमणास्तेभ्यो दातव्यमिति तत्परिहरन्ति, यत्र तु यतीनामेव विशेषेण निर्देशो यथा यतिभ्यो दातव्यमिति तत्परिहरन्त्येव नात्र कश्चित्सन्देह इति तत्पृथग्विशेषेण नोक्तं, यदि पुनर्गृहस्थेभ्य एव दीयतां, यदिवा चरकादिभ्य एव पाखण्डिभ्यो न शेषेभ्यस्तदा कल्पते, अपि च—

संदिरसंतं जो सुणइ कप्पए तस्स सेसए ठवणा । संकलिय साहणं वा करेंति असुए इमा मेरा ॥ २३६ ॥

व्याख्या—यन्नाद्याप्यौद्देशिकं जातं वर्त्तते केवलं तदानीमेवोद्दिश्यमानं वर्त्तते, यथा इदं देहि मा शेषमित्यादि, तत्सन्दिश्यमानम्-अर्थिभ्यो दानाय वचनेन सङ्कल्प्यमानं यः साधुः शृणोति तस्य तत्कल्पते तदैव, दोषाभावात्, तदपि च उद्दिष्टौद्देशिकादि द्रष्टव्यं, न कृतं कर्म च, यत उक्तं मूलटीकायाम्—" अत्र चायं विधिः—संदिस्संतं जो सुणइ साहू उद्देसुद्देसयं पडुच्च, न य कडकम्माइं, तं कप्पए तदैव दोषाभावा"दिति । यस्तु सन्दिश्यमानं न शृणोति तस्य न कल्पते, कुतः? इत्याह—'ठवण'त्ति स्थापनादोषात्, स च निर्गतः सन्नन्येभ्यः साधुभ्यो निवेदयति, तथा चाह–'सङ्कलिए'त्यादि 'अश्रुते' शेषसाधुभिरनाकर्णिते इयं पूर्वपुरुषाचीर्णा मर्यादा, यदुत सङ्कलिकया एकः सङ्घाटकोऽन्यस्मै कथयति सोऽप्यन्यस्मायित्येवंरूपया 'साहणं' कथनं करोति, वाशब्दो यदि साधवो बहुप्रमाणास्त-दैकस्यावस्थानमिति सूचनार्थः, स सर्वेभ्यो निवेदयति, यथा माऽस्मिन् गृहे व्राजिषुः, अनेषणा वर्त्तत इति । एवमपि यैः सङ्घाटकैः कथमपि न ज्ञातं भवति तेषां परिज्ञानोपायमाह—

मा एयं देहि इमं पुट्ठे सिट्ठंमि तं परिहरंति । जं दिन्नं तं दिन्नं मा संपइ देहि गेण्हंति ॥ २३७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२३७||

दीप अनुक्रम [२६०]

॥ ८१ ॥

व्याख्या—साधुनिमित्तं कुतोऽपि स्थानाद् भिक्षामाददती कयाचिन्निषिध्यते—मैतदेहि, किन्त्विदं विवक्षितभाजनस्थं देहि, तत एवं कृते निषेधिते साधुः पृच्छति—किमेतन्निषिध्यते ?, किंवा इदं दाप्यते ? इति, ततः सा प्राह–इदमेव दानाय कल्पितं, नेदमिति । तत एवं 'शिष्टे' कथिते साधवस्तत्परिहरन्ति, यदि पुनर्यदत्तं तदत्तं मा शेषं सम्प्रति दद्यादिति निषिध्यात्मार्थंकृतमौद्देशिकं भवति तदा तत्कल्पते इतिकृत्वा गृह्णन्ति, तदेवमुक्तमुद्दिष्टौद्देशिकं । सम्प्रति कृतौद्देशिकस्य सम्भवहेतून् स्वरूपं च प्रतिपादयति—

रसभायणहेउं वा मा कुच्छिहिई सुहं व दाहामि । दहिमाई आयत्तं करेइ कूरं कडं एयं ॥ २३८ ॥

मा काहंति अवण्णं परिकट्टलियं व दिज्जइ सुहं तु । वियडेण फाणिएण व निद्धेण समं तु वट्टंति ॥२३९॥

व्याख्या—'रसेन' दध्यादिना रुद्धमिदं भाजनं तस्मादेतेन दध्यादिना यदुद्धरितं शाल्योदनादि तत् करम्बीकृत्य रिक्तमिदं भाजनं करोमि येनान्यत्प्रयोजनमनेन क्रियते इति रसभाजनहेतोः, यद्वा–इदं दध्यादिनाऽमिश्रितं कोथिष्यति, न च कुथितं पाखण्डिभ्यो दातुं शक्यते, यद्वा–दध्यादिसम्मिश्रमेकेनैव प्रयासेन सुखं दीयते, इत्यादिना कारणजातेन 'दध्याद्यायत्तं' दध्यादिसम्मिश्रं करोति 'कूरम्' ओदनम्, एतत् कृतं ज्ञातव्यं, तथा यदि भिन्नभिन्नमोदकाशोकवट्यादिचूर्णीर्दास्यामि ततो मे पाखण्डिप्रादयः 'अवर्णम्' अश्लाघां करिष्यन्ति, यद्वा—'परिकट्टलितम्' एकत्र पिण्डीकृतं सुखेन दीयते, अन्यथा क्रमेण मोदकाशोकवट्यादिचूर्णीः स्वस्वस्थानादानीयानीय दाने भूयान् गमनागमनप्रयासो भवति, अपान्तराले वा सा चूर्णिर्हस्तात् क्षरित्वा पतति, ततो 'विकटेन' मद्येन देशविशेषापेक्षमेतत्, यद्वा—'फाणितेन' कक्कवादिना यद्वा 'स्निग्धेन' घृतादिना मोदकचूर्णादि सर्वं 'वर्त्तयन्ति' पिण्डतया बध्नन्ति । अत्र द्वयोरपि गाथयोः पूर्वार्द्धाभ्यां सम्भवहेतव उक्ताः, उत्तरार्द्धाभ्यां तु स्वरूपम् । सम्प्रति कर्मौद्देशिकस्य सम्भवहेतून् स्वरूपं चातिदेशेनाह—

॥ ८१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एमेव य कम्मंमिऽवि उण्हवणे नवरि तत्थ नाणत्तं । तावियविलीणएणं मोयगचुन्नीकएणं ॥ २४० ॥

व्याख्या—यथा कृतस्य सम्भवः स्वरूपं चोक्तम् एवं कर्म्मण्यपि द्रष्टव्यं, नवरं तत्र कर्म्मणि 'उष्णापने' उष्णीकरणे 'नानात्वं' विशेषः, तथाहि—'तापितविलीनेन' तापितेन विलीनेन च गुडादिना मोदकचूर्ण्याः पुनर्मोदकत्वेन करणं नान्यथा, तथा तुवर्यादिभक्तमपि रात्र्युषितं द्वितीयदिने भूयः संस्कारापादनेन कर्षतया निष्पाद्यमानं नाग्निमन्तरेण निष्पाद्यते ततोऽवश्यं कर्म्मण्युष्णापने नानात्वम् । सम्प्रत्यत्रैव कल्प्याकल्प्यविधिमाह—

अमुगंति पुणो रद्धं दाहमकप्पं तमारओ कप्पं । खेत्ते अंतो बाहिं काले सुइव्वं परेव्वं वा ॥ २४१ ॥

व्याख्या—भिक्षार्थं प्रविष्टं साधुं प्रति यदि गृहस्थो भणति–यथाऽन्यस्मिन् गृहे विहृत्य व्यावर्त्तमानेन त्वया भूयोऽपि मद्गृहे समागन्तव्यं, यतोऽहम् 'अमुकं' मोदकचूर्ण्यादि भूयोऽपि राद्धं गुडपाकादिदानेन मोदकादि कृत्वा दास्यामि, एवमुक्ते तथाकृत्वा चेद्दाति तर्हि तन्न कल्पते, कर्म्मौद्देशिकत्वात्, 'आरात्' भूयः पाकारम्भादर्वाक् पुनः कल्प्यं, दोषाभावात्, तथा क्षेत्रेऽन्तर्बहिर्वा काले श्वस्तनं परतरदिनभवं वाऽकल्प्यमारतः कल्प्यम्, इयमत्र भावना–यद् गृहस्यान्तर्बहिर्वा मोदकचूर्णादिकं मोदकादितयोपस्करिष्यामि कालविवक्षायां यदद्य श्वः परतरे वा दिने भूयोऽपि पक्ष्यामि तत्तुभ्यं दास्यामीत्युक्ते तथैव चेत्कृत्वा ददाति ततो न कल्पते, भूयोऽपि पाकाद्, आरतस्त्वसंसक्तं कल्पते । तथा चाह—

जं जह व कयं दाहं तं कप्पइ आरओ तहा अकयं । कयपाकमणिट्ठत्ति ठियंपि जावत्तियं मोत्तुं ॥२४२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२४२|| दीप अनुक्रम [२६६] | पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

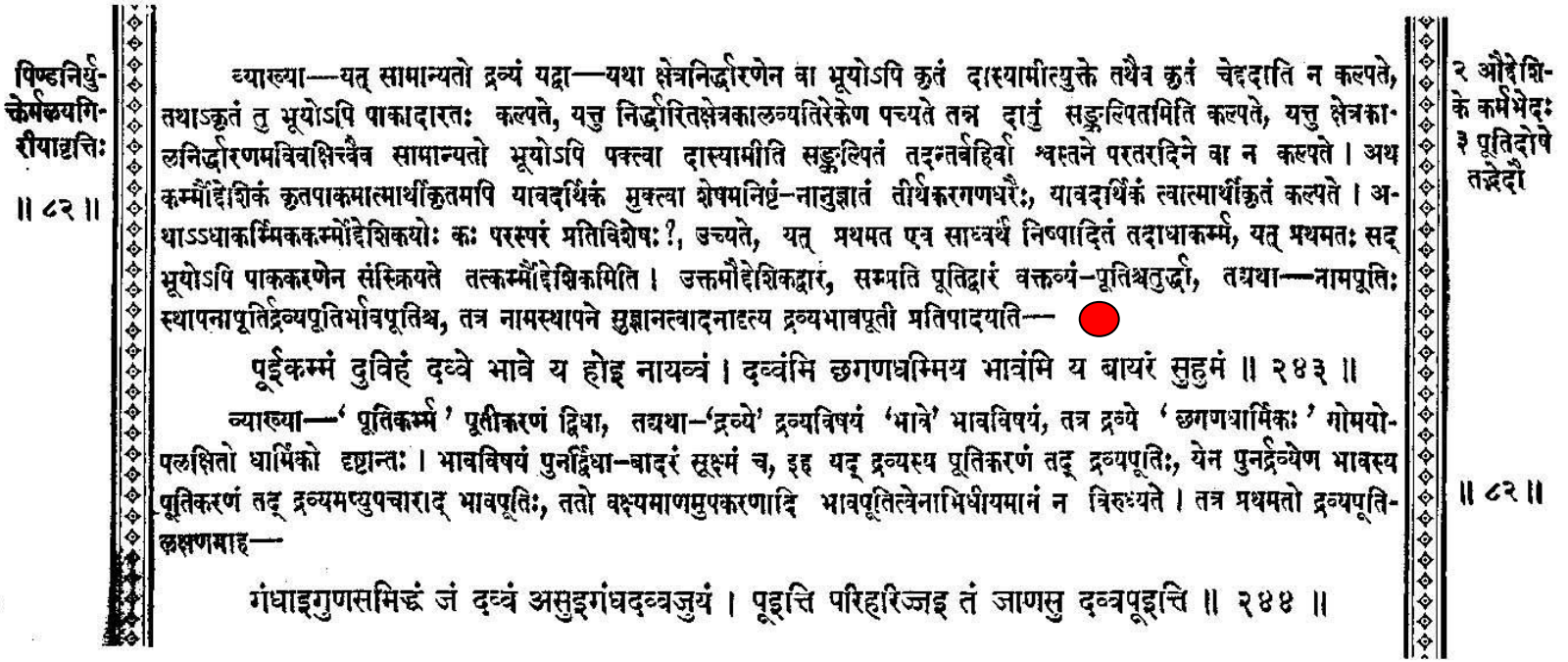

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ ८२ ॥

व्याख्या—यत् सामान्यतो द्रव्यं यद्वा—यथा क्षेत्रनिर्द्धारणेन वा भूयोऽपि कृतं दास्यामीत्युक्ते तथैव कृतं चेददाति न कल्पते, तथाऽकृतं तु भूयोऽपि पाकादारतः कल्पते, यत्तु निर्द्धारितक्षेत्रकालव्यतिरेकेण पच्यते तन्न दातुं सङ्कल्पितमिति कल्पते, यत्तु क्षेत्रकालनिर्द्धारणमविवक्षित्वैव सामान्यतो भूयोऽपि पक्त्वा दास्यामीति सङ्कल्पितं तद्दन्तर्बहिर्वा श्वस्तने परतरदिने वा न कल्पते। अथ कर्म्मौद्देशिकं कृतपाकमात्मार्थीकृतमपि यावदर्थिकं मुक्त्वा शेषमनिष्टं–नानुज्ञातं तीर्थकरगणधरैः, यावदार्थिकं त्वात्मार्थीकृतं कल्पते। अथाऽऽधाकर्म्मिककर्म्मौद्देशिकयोः कः परस्परं प्रतिविशेषः?, उच्यते, यत् प्रथमत एव साध्वर्थं निष्पादितं तदाधाकर्म्म, यत् प्रथमतः सद् भूयोऽपि पाककरणेन संस्क्रियते तत्कर्म्मौद्देशिकमिति। उक्तमौद्देशिकद्वारं, सम्प्रति पूतिद्वारं वक्तव्यं–पूतिश्चतुर्द्धा, तद्यथा—नामपूतिः स्थापनापूतिर्द्रव्यपूतिर्भावपूतिश्च, तत्र नामस्थापने सुज्ञानत्वादनादृत्य द्रव्यभावपूती प्रतिपादयति— ●

पूईकम्मं दुविहं दव्वे भावे य होइ नायव्वं। दव्वंमि छगणधम्मिय भावंमि य बायरं सुहुमं ॥ २४३ ॥

व्याख्या—'पूतिकर्म्म' पूतीकरणं द्विधा, तद्यथा–'द्रव्ये' द्रव्यविषयं 'भावे' भावविषयं, तत्र द्रव्ये 'छगणधार्मिकः' गोमयोपलक्षितो धार्मिको दृष्टान्तः। भावविषयं पुनर्द्विधा–बादरं सूक्ष्मं च, इह यद् द्रव्यस्य पूतिकरणं तद् द्रव्यपूतिः, येन पुनर्द्रव्येण भावस्य पूतिकरणं तद् द्रव्यमप्युपचाराद् भावपूतिः, ततो वक्ष्यमाणमुपकरणादि भावपूतित्वेनाभिधीयमानं न विरुध्यते। तत्र प्रथमतो द्रव्यपूतिलक्षणमाह—

गंधाइगुणसमिद्धं जं दव्वं असुइगंधदव्वजुयं। पूइत्ति परिहरिज्जइ तं जाणसु दव्वपूइत्ति ॥ २४४ ॥

२ औद्देशिकके कर्मभेदः ३ पूतिदोषे तद्भेदौ

॥ ८२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	●अत्र एका प्रक्षेप-गाथा वर्तते. सा मया संपादित: 'आगमसुत्ताणि' मूलं वा सटीकं पुस्तके वर्तते *** अथ पुतिकर्म-दोषस्य वर्णनं आरभ्यते

व्याख्या—इह यत् पूर्वं स्वरूपतो 'गन्धादिगुणविशिष्टं' सुरभिगन्धादिगुणविशिष्टमपि, अपिरत्र सामर्थ्याद्गम्यते, पश्चादशुचिगन्धद्रव्ययुक्तं सत् पूतिरिति परिहियते तद्द्रव्यं जानीहि द्रव्यपूतिरिति। अत्रार्थे गाथाद्वयेनोदाहरणमाह—

गोट्ठिनिउत्तो धम्मी सहाऍ आसन्नगोट्ठिभत्ताए। समियसुरवल्लमीसं अजिन्न सन्ना महिसिपोहो॥ २४५॥

संजायलित्तभत्ते गोट्ठिगगंधोत्ति वल्लवणिआयो। उक्खणिय अन्न छगणेण लिंपणं दव्वपूई उ॥ २४६॥

व्याख्या—समिल्लं नाम पुरं, तत्र बहिरुद्याने सभाकलितदेवकुलिकायां माणिभद्रो नाम यक्षः, अन्यदा च तस्मिन् पुरे शीतलकाभिधमशिवमुपतस्थे, ततः कैश्चित्तस्य यक्षस्यौपयाचितकमिष्टं यद्यस्मादशिवाद्वयं निस्तरामस्ततस्तवैकं वर्षमष्टम्यादिषूद्यापनिकां करिष्यामः, ततो निस्तीर्णाः कथमपि तस्मादशिवात्, जातश्च तेषां चेतसि चमत्कारो यथा नूनमयं सप्रातिहार्यो यक्ष इति, ततो देवशर्माभिधो भाटकप्रदानेन पूजाकारको बभणे, यथा वर्षमेकं यावदष्टम्यादिषु प्रातरेव यक्षसभां गोमयेनोपलिम्पेः, येन तत्र पवित्रीभूतायां वयमागत्योद्यापनिकां कुर्मः, तथैव तेन प्रतिपन्नं, ततः कदाचिदद्योद्यापनिका भविष्यतीतिकृत्वा सभोपलेपनार्थमनुद्गत एव सूर्ये कस्यापि कुटुम्बिनो गोपाटके छगणग्रहणाय प्रविवेश, तत्र च केनापि कर्म्मकरेण रात्रौ मण्डकवल्लसुराद्यभ्यवहारतो जातार्जीर्णेन पश्चिमरात्रीभागे तस्मिन्नेव गोपाटके क्वचित्प्रदेशे दुर्गन्धमजीर्णं पुरीषं व्युदसर्जि तस्य चोपरि कथमपि महिषी समागत्य छगणपोहं मुक्तवती, ततस्तेन स्थगितं तदजीर्णं पुरीषं देवशर्मणा न ज्ञातमिति देवशर्मा तं छगणपोहं सकलमपि तथैव गृहीत्वा तेन सभामुपलिप्तवान्, उद्यापनिकाकारिणश्च जना नानाविधमोदनादिकं भोजनमानीय यावद् भोजनार्थं तत्रोपविशन्ति तावत्तेषामतीव दुरभिगन्धः समायातः, ततः पृष्टो देवशर्मा, यथा कुतोऽयमशुचिगन्धः समायाति? इति, तेनोक्तं–न जाने, ततस्तैः सम्यक् परिभावयद्भिरुपलेपनामध्ये वल्लाद्यवयवा ददृशिरे सुरागन्धश्च निर्ज्ञातः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ८३ ॥

ततो जज्ञे यदुपलेपनमध्ये पुरीषमवतिष्ठते इति, ततः सर्वं भोजनमशुचीतिकृत्वा परित्यक्तम्, उपलेपनं च समूलमुत्खातम्, अन्येन च गोमयेन सभोपलेपिता, भोजनादिकं चान्यत् पक्त्वा भुक्तमिति । सूत्रं सुगमं, नवरं 'धर्मी' धार्मिकः, 'समिय'त्ति मण्डकाः 'सञ्ज्ञा' पुरीषम्, अत्र यदुपलेपनं यच्च तत्र न्यस्तं भोजनादिकं तत्सर्वं द्रव्यपूतिः ॥ उक्ता द्रव्यपूतिः, अथ भावपूतिमाह—

उग्गमकोडिअवयवमित्तेणवि मीसियं सुसुद्धंपि । सुद्धंपि कुणइ चरणं पूइं तं भावओ पूई ॥ २४७ ॥

व्याख्या—'उद्गमस्य' उद्गमदोषजालस्य या कोट्योऽवयवः विभागा आधाकर्म्मादिरूपा भेदा इत्यर्थः, ताश्च द्विधा—विशोधयोऽविशोधयश्च, तत्रेहाविशोधयो ग्राह्याः, तासामविशोधिरूपाणामुद्गमकोटीनामवयवमात्रेणापि मिश्रितमशनादिकं स्वरूपतः 'सुशुद्धमपि' उद्गमादिदोषरहितमपि सत् यद् भुज्यमानं चरणं 'शुद्धमपि' निरतिचारमपि पूतिं करोति, तदशनादिकं भावपूतिः । 'उग्गमकोडी' इत्युक्तं, ततस्ता एवोद्गमकोटीरभिधित्सुराह—

आहाकम्मुद्देसिय मीसं तह बायरा य पाहुडिया । पूई अज्झोयरओ उग्गमकोडी भवे एसा ॥ २४८ ॥

व्याख्या—आधाकर्म्म सकलं तथा औद्देशिकं यावदर्थिकं मुक्त्वा शेषं कर्मौद्देशिकं 'मिश्रं' पाखण्डिसाधुमिश्रजातं बादरा च प्राभृतिका 'पूतिः' भावपूतिः अध्यवपूरकश्चोत्तरभेदद्वयात्मकः, एषा भवति उद्गमकोटिरविशोधिकोटिरूपा, तदेवं भावपूतिं स्वरूपत उपदर्श्य सम्प्रति भेदत आह—

बायर सुहुमं भावे उ पूइयं सुहुममुवरि वोच्छामि । उवगरण भत्तपाणे दुविहं पुण बायरं पूइं ॥ २४९ ॥

३ पूतिदोषे सभोपलेपतोदा० उद्गमकोटीचे

॥ ८३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—'भावे' भावविषया पूतिर्द्विधा, तद्यथा—बादरा सूक्ष्मा च, सूत्रे च नपुंसकनिर्देशः प्राकृतत्वात्, तत्र सूक्ष्मां भावपूतिमुपरि वक्ष्ये, बादरा पुनर्द्विधा, तद्यथा 'उपकरणे' उपकरणविषया 'भक्तपाने' भक्तपानविषया, तत्र भक्तपानपूतिं सामान्यतो व्याचिख्यासुराह—

चुल्लुक्खलिया डोए दव्वीछूढे य मीसगं पूइं । डाए लोणे हिंगू संकामण फोडणे धूमे ॥ २५० ॥

व्याख्या—'चुल्ली' प्रतीता, 'उखा' स्थाली 'डोयः' बृहद्दारुहस्तकः, महांश्चडुक इत्यर्थः, 'दव्वी' लघीयान् दारुहस्तकः, एतानि च सर्वाण्याधाकर्म्मादिरूपाणि द्रष्टव्यानि, सर्वत्रापि च तृतीयार्थे सप्तमी, ततोऽयमर्थः—एतैः सम्मिश्रं शुद्धमपि यदशनादि तत् पूतिः, तत्र चुल्लयुखाभ्यां मिश्रिताभ्यां कृत्वा रन्धनेन यद्वा तत्र स्थापनेन, तथा 'डायं' शाकं लवणं हिङ्गु च प्रतीतम्, एतैराधाकर्मिकैः सम्मिश्रं पूतिः, तथा 'संक्रामणस्फोटनधूमैः' इति, तत्र संक्रामणम्—आधाकर्म्मभक्तादिखरण्टिते स्थाल्यादौ शुद्धस्याशनादेः पचनं मोचनं वा, यद्वा दारुहस्तेनाधाकर्म्मणाऽन्यत्र स्थाल्यां सञ्चारणं, स्फोटनम्—आधाकर्म्मणा राजिकादिना संस्कारकरणं धूमः—हिङ्ग्वादिसत्को वघारः ॥ एनामेव गाथां व्याचिख्यासुः प्रथमत उपकरणशब्दं व्याख्यानयति—

सिज्झंतस्सुवयारं दिज्जंतस्स व करेइ जं दव्वं । तं उवकरणं चुल्ली उक्खा दव्वी य डोयाई ॥ २५१ ॥

व्याख्या—यच्चुल्यादिकं सिद्ध्यतोऽन्नस्य, यद्वा यद्दर्व्यादिकं दीयमानस्य भक्तस्योपकारं करोति तच्चुल्यादिकं दर्व्यादिकं च 'उपकरणम्' इत्युच्यते, उपक्रियते अनेनेत्युपकरणमितिव्युत्पत्तेः । तत्र चुल्लयुखयोः स्थितमशनादिकमाश्रित्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ८४ ॥

चुल्लुक्खा कम्माई आइमभंगेसु तीसुवि अकप्पं । पडिकुट्ठं तत्थत्थं अन्नत्थगयं अणुन्नायं ॥ २५२ ॥

व्याख्या—इह चुल्ल्युखे कदाचिद् द्वे अप्याधाकर्म्मिके आधाकर्मिककर्दमसम्मिश्रे वा भवेतां, कदाचिदेकतरा काचित्, तत्र च भङ्गाश्चत्वारः, तद्यथा—चुल्ली आधाकर्मिकी उखा च १ चुल्ली आधाकर्मिकी नोखा २ उखा आधाकर्मिकी न चुल्ली ३ नोखा आधाकर्मिकी नापि चुल्ली ४ । तत्रादिमेषु त्रिष्वपि भङ्गेषु रन्धनेनावस्थानमात्रेण वा स्थितमकल्प्यं पूतिदोषात् । अकल्प्यस्यापि तस्य विषयविभागेन कल्प्यतामकल्प्यतां चाह—' तत्र ' चुल्ल्यादौ रन्धनेनान्यतो वाऽऽनीय स्थापनेन स्थितं सत् ' प्रतिकुष्टं ' निराकृतम्, अन्यत्र गतं पुनस्तदेवानुज्ञातं तीर्थकरादिभिः, इयमत्र भावना–यदि तत्र राद्धमथवाऽन्यतः समानीय स्थापितं ततो यदि तदेवान्यत्र स्वयोगेन नीतं भवति न साध्वर्थं तर्हि कल्पते । तदेवं चुल्ल्युखास्थितस्य कल्प्याकल्प्यविधिमुपदर्श्य सम्प्रति चुल्ल्याद्युपकरणानां पूतिभावं दिदर्शयिषुः ' चुल्लुक्खलिया डोए ' इति पूर्वोक्तगाथावयवं व्याख्यानयति—

कम्मियकद्दममिस्सा चुल्ली उक्खा य फड्डगजुया उ । उवगरणपूइमेयं डोए दंडे व एगयरे ॥ २५३ ॥

व्याख्या—आधाकर्म्मिकेन कर्दमेन या मिश्रा, किमुक्तं भवति ?—कियता शुद्धेन कियता चाधाकर्मिकेण या निष्पादिता चुल्ली उखा च सा आधाकर्मिककर्दममिश्रा, कथम् ? इति, आह—' फड्डगजुया उ 'त्ति, अत्र हेतौ प्रथमा ततोऽयमर्थः–यतः फड्डगेन–आधाकर्मिकेन कर्दमसूचकेन युता तत आधाकर्मिककर्दममिश्रा, सा इत्थंभूता उपकरणपूतिः, तथा ' डोए ' इति देशे समुदायशब्दोपचारात् डोय इत्युक्ते डोयस्याग्रभागो गृह्यते, तस्मिन् यद्वा दण्डे एकतरस्मिन्नाधाकर्मणि स दारुहस्तकः पूतिर्भवति, एवमनया दिशा अन्यस्याप्युपकर-

३ पूतिदोष स्वरूपभेदौ

॥ ८४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२५३||

दीप अनुक्रम [२७७]

णस्य पूतित्वं भावनीयं, तत्र चुल्ह्युखाविषये कल्प्याकल्प्यविधिरनन्तरमेवोक्तो दारुहस्तके चाधाकर्मणि पूतिरूपे वा स्वयोगेन स्थाल्या बहिष्कृते स्थाल्यां स्थितमशनादि कल्पते, न तु तेन सम्मिश्रमिति। सम्प्रति 'दव्वी छूढे य' इति व्याचिख्यासुराह—

दव्वीछूढेत्ति जं वुत्तं, कम्मदव्वीए जं दए। कम्मं घट्टिय सुद्धं तु, घट्टए हारपूइयं ॥ २५४ ॥

व्याख्या—'दव्वी छूढे' इति यत् प्रागुक्तं, तस्यायमर्थः—'कर्म्मदर्व्या' आधाकर्म्मिकदर्व्या यत् शुद्धमप्यशनादिकं घट्टयित्वा ददाति तद् 'आहारपूतिः' भक्तपूतिः। सा चेद्दर्वी स्थाल्याः सकाशान्निष्काशिता तर्हि स्थाल्याः सत्कं कल्पते, यद्वा मा भूदाधाकर्म्मिकी दर्व्वी, केवलं शुद्धयाऽपि दर्व्या यदि पूर्वमाधाकर्मिकं 'घट्टयित्वा' चालयित्वा पश्चादाधाकर्मावयवखरण्टितया यदपरं शुद्धमपि भक्तादिकं घट्टयति घट्टयित्वा च ददाति तदप्याहारपूतिः। अस्यां च दर्व्यां स्थाल्या निष्काशितायामपि पाश्चात्यं स्थालीभक्तं न कल्पते, आधाकर्म्मावयवमिश्रितत्वात्। 'डाए' इत्याद्युत्तरार्द्धं व्याचिख्यासुराह—

अत्तट्ठिय आयाणे डायं लोणं च कम्म हिंगुं वा। तं भत्तपाणपूई फोडण अन्नं व जं छुहइ ॥ २५५ ॥

संकामेउं कम्मं सिद्धं जं किंचि तत्थ छूढं वा। अंगारधूमि थाली वेसण हेट्ठा मुणीहि धूमो ॥ २५६ ॥

व्याख्या—आत्मार्थम् 'आदाने' तक्रादिपाकारम्भकरणरूपे सति यदाधाकर्मिकं 'डायं' शाकं यदिवा लवणं यद्वा हिङ्गुः अन्यद्वा स्फोटनं राजिकाजीरकादि तत् तक्रादिकं तेन सम्मिश्रं भक्तपानपूतिः, एतेन 'डाए लोणे हिंगू फोडणं' इति व्याख्यातं। तथा यस्यां स्थाल्यां राद्धमाधाकर्म्म तदन्यत्र संक्रमय्य–प्रतिक्षिप्य तस्यामेव स्थाल्यामकृतकल्पत्रयायां यदात्मार्थं सिद्धं किञ्चित् यद्वा तत्र प्रक्षिप्तं तदपि भक्तपान-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२५६||

दीप अनुक्रम [२८०]

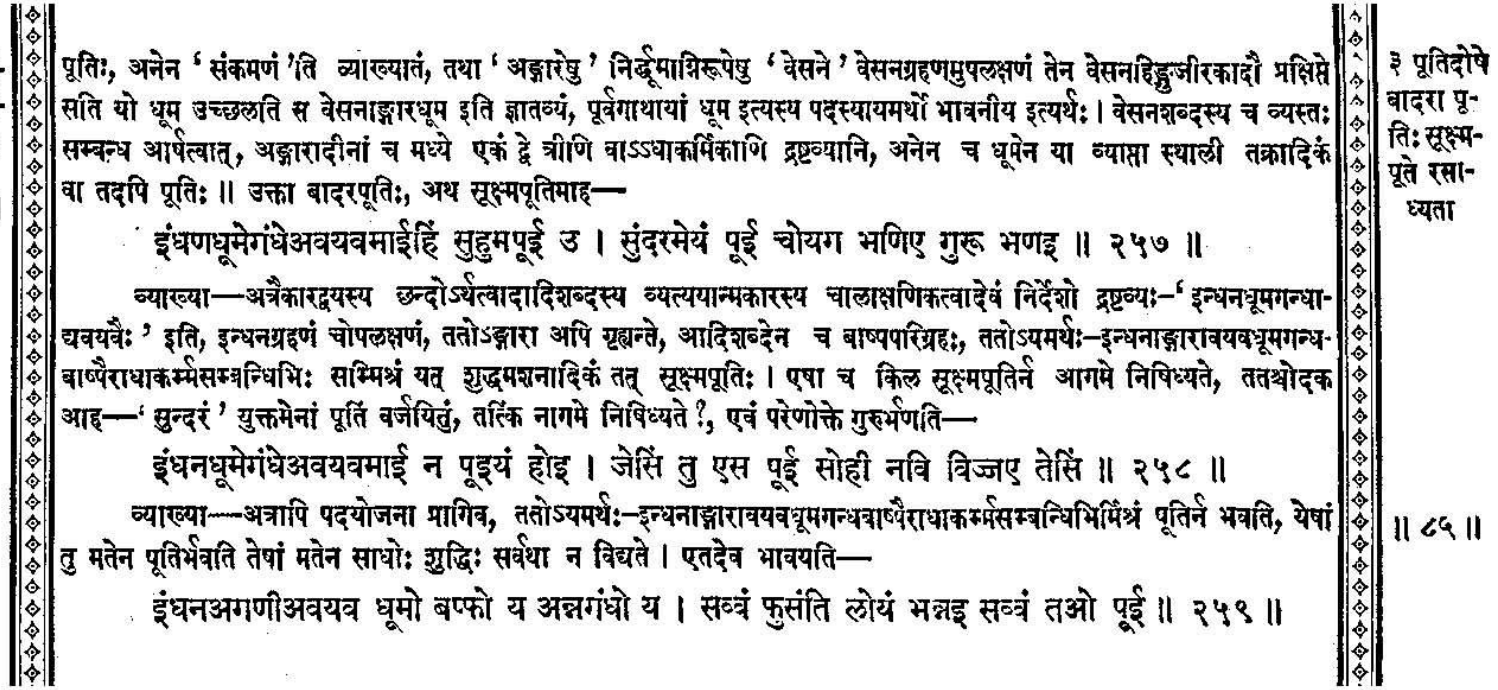

पिण्डनिर्युक्तिमलयगिरीयावृत्तिः

॥ ८५ ॥

पूतिः, अनेन 'संकमणं'ति व्याख्यातं, तथा 'अङ्गारेषु' निर्द्धूमाग्निरूपेषु 'वेसने' वेसनग्रहणमुपलक्षणं तेन वेसनादिङ्गुजीरकादौ प्रक्षिप्ते सति यो धूम उच्छलति स वेसनाङ्गारधूम इति ज्ञातव्यं, पूर्वगाथायां धूम इत्यस्य पदस्यायमर्थो भावनीय इत्यर्थः। वेसनशब्दस्य च व्यस्तः सम्बन्ध आर्षत्वात्, अङ्गारादीनां च मध्ये एकं द्वे त्रीणि वाऽऽधाकर्मिकाणि द्रष्टव्यानि, अनेन च धूमेन या व्याप्ता स्थाली तक्रादिकं वा तदपि पूतिः॥ उक्ता बादरपूतिः, अथ सूक्ष्मपूतिमाह—

इंधणधूमेगंधेअवयवमाईहिं सुहुमपूई उ। सुंदरमेयं पूई चोयग भणिए गुरू भणइ ॥ २५७ ॥

व्याख्या—अत्रैकारद्वयस्य छन्दोऽर्थत्वादादिशब्दस्य व्यत्ययान्मकारस्य चालाक्षणिकत्वादेवं निर्देशो द्रष्टव्यः–'इन्धनधूमगन्धावयवैः' इति, इन्धनग्रहणं चोपलक्षणं, ततोऽङ्गारा अपि गृह्यन्ते, आदिशब्देन च बाष्पपरिग्रहः, ततोऽयमर्थः–इन्धनाङ्गारावयवधूमगन्धबाष्पैराधाकर्म्मसम्बन्धिभिः सम्मिश्रं यत् शुद्धमशनादिकं तत् सूक्ष्मपूतिः। एषा च किल सूक्ष्मपूतिर्न आगमे निषिध्यते, ततश्चोदक आह—'सुन्दरं' युक्तमेनां पूतिं वर्जयितुं, तत्किं नागमे निषिध्यते?, एवं परेणोक्ते गुरुर्भणति—

इंधनधूमेगंधेअवयवमाई न पूइयं होइ। जेसिं तु एस पूई सोही नवि विज्जए तेसिं ॥ २५८ ॥

व्याख्या—अत्रापि पदयोजना प्रागिव, ततोऽयमर्थः–इन्धनाङ्गारावयवधूमगन्धबाष्पैराधाकर्म्मसम्बन्धिभिर्मिश्रं पूतिर्न भवति, येषां तु मतेन पूतिर्भवति तेषां मतेन साधोः शुद्धिः सर्वथा न विद्यते। एतदेव भावयति—

इंधनअगणीअवयव धूमो बप्फो य अन्नगंधो य। सव्वं फुसंति लोयं भन्नइ सव्वं तओ पूई ॥ २५९ ॥

३ पूतिदोषे बादरा पूतिः सूक्ष्मपूते रसाध्यता

॥ ८५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

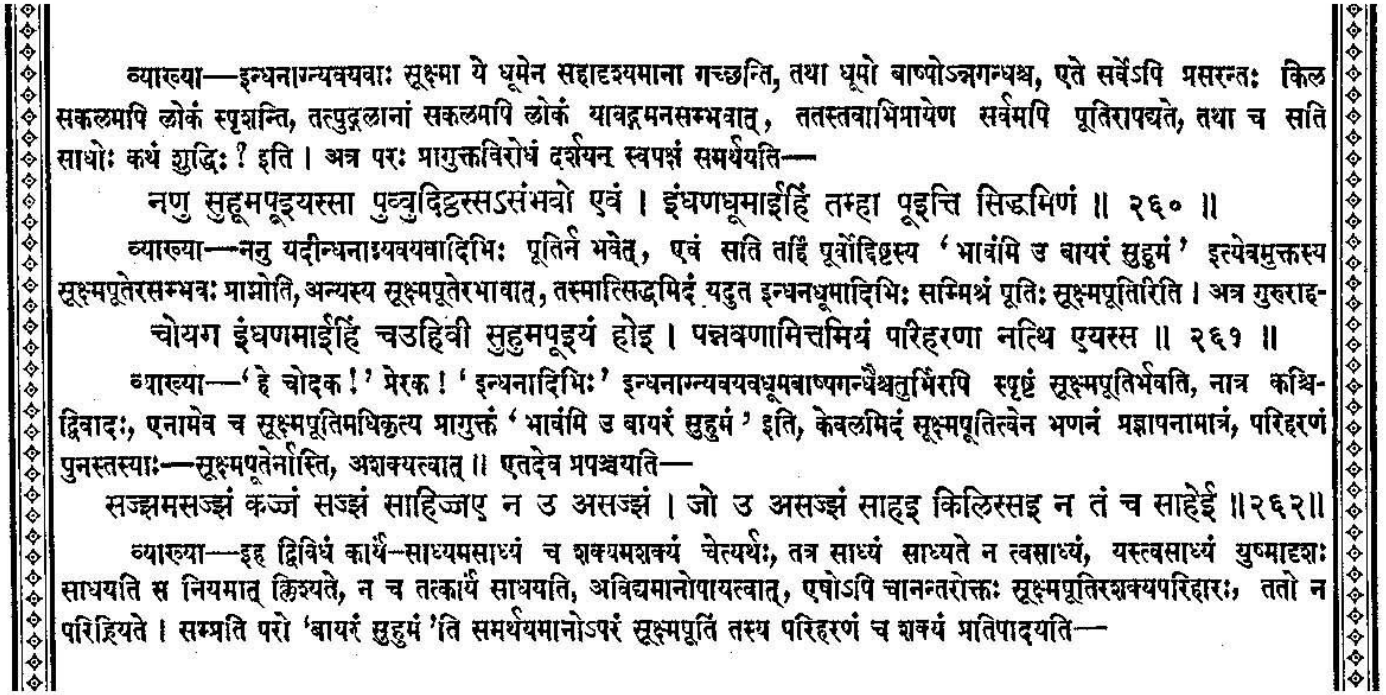

व्याख्या—इन्धनाग्न्यवयवाः सूक्ष्मा ये धूमेन सहादृश्यमाना गच्छन्ति, तथा धूमो बाष्पोऽभ्रगन्धश्च, एते सर्वेऽपि प्रसरन्तः किल सकलमपि लोकं स्पृशन्ति, तत्पुद्गलानां सकलमपि लोकं यावद्गमनसम्भवात्, ततस्तवाभिप्रायेण सर्वमपि पूतिरापद्यते, तथा च सति साधोः कथं शुद्धिः ? इति । अत्र परः प्रागुक्तविरोधं दर्शयन् स्वपक्षं समर्थयति—

नणु सुहूमपूइयस्सा पुव्वुदिट्ठस्सऽसंभवो एवं । इंधणधूमाईहिं तम्हा पूइत्ति सिद्धमिणं ॥ २६० ॥

व्याख्या—ननु यदीन्धनाग्न्यवयवादिभिः पूतिर्न भवेत्, एवं सति तर्हि पूर्वोदिष्टस्य 'भावंमि उ बायरं सुहुमं' इत्येवमुक्तस्य सूक्ष्मपूतेरसम्भवः प्राप्नोति, अन्यस्य सूक्ष्मपूतेरभावात्, तस्मात्सिद्धमिदं यदुत इन्धनधूमादिभिः सम्मिश्रं पूतिः सूक्ष्मपूतिरिति । अत्र गुरुराह-

चोयग इंधणमाईहिं चउहिवी सुहुमपूइयं होइ । पन्नवणामित्तमियं परिहरणा नत्थि एयस्स ॥ २६१ ॥

व्याख्या—'हे चोदक !' प्रेरक ! 'इन्धनादिभिः' इन्धनाग्न्यवयवधूमबाष्पगन्धैश्चतुर्भिरपि स्पृष्टं सूक्ष्मपूतिर्भवति, नात्र कश्चिद्विवादः, एनामेव च सूक्ष्मपूतिमधिकृत्य प्रागुक्तं 'भावंमि उ बायरं सुहुमं' इति, केवलमिदं सूक्ष्मपूतित्वेन भणनं प्रज्ञापनामात्रं, परिहरणं पुनस्तस्याः—सूक्ष्मपूतेर्नास्ति, अशक्यत्वात् ॥ एतदेव प्रपञ्चयति—

सज्झमसज्झं कज्जं सज्झं साहिज्जए न उ असज्झं । जो उ असज्झं साहइ किलिस्सइ न तं च साहेई ॥२६२॥

व्याख्या—इह द्विविधं कार्यं—साध्यमसाध्यं च शक्यमशक्यं चेत्यर्थः, तत्र साध्यं साध्यते न त्वसाध्यं, यस्त्वसाध्यं युष्मादृशः साधयति स नियमात् क्लिश्यते, न च तत्कार्यं साधयति, अविद्यमानोपायत्वात्, एषोऽपि चानन्तरोक्तः सूक्ष्मपूतिरशक्यपरिहारः, ततो न परिह्रियते । सम्प्रति परो 'बायरं सुहुमं' ति समर्थयमानोऽपरं सूक्ष्मपूतिं तस्य परिहरणं च शक्यं प्रतिपादयति—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ८६ ॥

आहाकम्मियभायणपक्फोडण काय अकयए कप्पे । गहियं तु सुहुमपूई धोवणमाईहिं परिहरणा ॥ २६३ ॥

व्याख्या—यत्र भाजने गृहीतमाधाकर्म्म तस्मिन् भाजने आधाकर्म्मपरित्यागानन्तरं 'प्रस्फोटनं कृत्वा' हस्तेनास्फालनादिना सर्वानप्याधाकर्म्मावयवानपसार्य अकृते 'कल्पे' कल्पत्रये यद् गृहीतं तत्सूक्ष्मपूतिर्भवति, कतिपयोद्धरितसूक्ष्माधाकर्मावयवमिश्रणसम्भवात्, तस्य च सूक्ष्मपूतेः परिहरणं धावनादिभिः, किमुक्तं भवति ?–पात्रस्याधाकर्मिकपरित्यागानन्तरं कल्पत्रयधावनेन प्रक्षालनं क्रियते तर्हि सूक्ष्मपूतिर्न भवति, तत एवं सूक्ष्मपूतेः परिहरणमपि घटते, तस्मादिदमेव सूक्ष्मपूतिस्वरूपमुच्यतामिति भावः, तदेतदयुक्तं, यत इयं बादरपूतिरेव, तथाहि–गृहीतोऽस्ति तस्याधाकर्मणः सत्कैः स्थूलैः सिक्थाद्यवयवैः, । तन्मिश्रं सत्कथं स सूक्ष्मपूतिः ? । किञ्च—

धोयंपि निरावयवं न होइ आहच्च कम्मगहणंमि । न य अदव्वा उ गुणा भन्नई सुद्धी कओ एवं ? ॥ २६४ ॥

व्याख्या—कदाचित् 'कर्मग्रहणे' आधाकर्मिकग्रहणे सति तत्परित्यागानन्तरं पश्चात् 'धौतमपि' प्रक्षालितमपि पात्रं सर्वथा न निरवयवं भवति, पश्चादपि गन्धस्योपलभ्यमानत्वात्, अथ गन्ध एव केवल उपलभ्यते न तु तद्वयवः कश्चिदस्तीति ब्रूषे, तत आह—न च 'अद्रव्याः' द्रव्यरहिताः 'गुणाः' गन्धादयः सम्भवन्ति, ततो गन्धोपलम्भादवश्यं तत्र धौतेऽपि केचन सूक्ष्मा अवयवा द्रष्टव्याः, ततो भण्यते–'एवमपि' अपिरत्र सामर्थ्याद्गम्यते भवत्परिकल्पितप्रकारेणापि कृतः सूक्ष्मपूतेः 'शुद्धिः' परिहारो ?, नैव कथञ्चन इति भावः, तस्मात्पूर्वोक्त एव सूक्ष्मपूतिः, तस्य च प्रज्ञापनामात्रं, न तु परिहरणं कर्तुं शक्यमिति स्थितं । ननु यदि स परमार्थतः सूक्ष्मपूतिस्ततस्तस्यापरिहारे नियमादशुद्धिः प्राप्नोति, सोऽपि च सूक्ष्मपूतिः सकललोकव्यापीष्यते, गन्धादिपुद्गलानां क्रमेण सकललोकव्यापनसम्भ-

३ पूतिदोषे सूक्ष्मपूते रशक्यपरिहार्यता

॥ ८६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वात्, ततो यदा तदा वा काप्याधाकर्मसम्भवे सर्वेषामपि साधूनामशुद्धिः प्राप्नोतीति, नैष दोषो, गन्धादिपुद्गलानां चरणभ्रंशापादनसामर्थ्ययोगात्, न चैतदनुपपन्नं, लोकेऽपि तथा दर्शनात्, तथाहि—

लोएवि असुइगंधा विपरिणया दूरओ न दूसंति। नय मारंति परिणया दूरगयाओ(अवि) विसावयवा ॥ २६५ ॥

व्याख्या—लोकेऽपि 'अशुचिगन्धाः' अशुचिसत्का गन्धपुद्गला दूरत आगता विपरिणताः सन्तः स्पृष्टा अपि 'न दुष्यन्ति' न स्पृष्टिदोषमशुचिस्पर्शनरूपं लोकप्रसिद्धं जनयन्ति, न च विषावयवा अपि दूरगताः सन्तः 'परिणताः' पर्यायान्तरमापन्ना मारयन्ति, तथेहाप्याधाकर्मणः सम्बन्धिनो गन्धादिपुद्गला दूरतः समागच्छन्तो विपरिणता न चरणप्राणान् विनाशयितुमीशाः, नाप्याधाकर्मसंस्पर्शलक्षणं दोषं जनयन्तीति। तदेवमिन्धनाद्यवयवापेक्षया यः सूक्ष्मपूतिस्तमपरिहार्यं प्रतिपाद्य सम्प्रति शेषद्रव्यपूतिं परिहार्यं प्रतिपादयति—

सेसेहि उ दव्वेहिं जावइयं फुसइ तत्तियं पूई। लेवेहिँ तिहि उ पूई कप्पइ कप्पे कए तिगुणे ॥ २६६ ॥

व्याख्या—'शेषैः' इन्धनाद्यवयवव्यतिरिक्तैः शाकलवणादिभिर्यावत्स्थाल्यादिपरिमितं द्रव्यं स्पृष्टं भवति तावत्प्रमाणं पूतिः, तथा त्रिभिर्लेपैः पूतिः, इयमत्र भावना–स्थाल्यां किलाधाकर्म राद्धं, ततस्तस्या अपनीतम्, अपनीते च तस्मिन् या पाश्चात्या खरण्टिः सा एको लेपः, ततस्तस्यामेव स्थाल्यामकृतकल्पत्रयायां शुद्धं राद्धं पूतिः, एवं वारद्वयमन्यदपि राद्धं पूतिः, चतुर्थे तु वारे राद्धं न पूतिः, अथात्मयोगेन यदि गृहस्थाः तस्याः स्थाल्याः निःशेषावयवापगमाय कल्पत्रयं ददाति तर्हि का वार्त्ता ?, तत आह–कल्पते तस्यां स्थाल्यां शुद्धमशनादि राद्धं, यदि 'कल्पे' प्रक्षालने 'त्रिगुणे' त्रिसङ्ख्ये कृते सति राध्यति, न शेषकालम्। एतदेव भावयति—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२६७||

दीप अनुक्रम [२९१]

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ८७ ॥

इंधणमाइं मोत्तुं चउरो सेसाणि होंति दव्वाइं । तेसिं पुण परिमाणं तयप्पमाणाउ आरब्भ ॥ २६७ ॥

व्याख्या—इन्धनादयश्चत्वारि पूर्वोक्तानि मुक्त्वा शेषाणि 'द्रव्याणि' अशनादीनि पूतिकरणप्रवणानि ज्ञातव्यानि, तेषां च शुद्धाशनादिपूतिकरणविषये परिमाणं त्वक्प्रमाणादारभ्य द्रष्टव्यम्, इयमत्र भावना–तण्डुलादीनामाधाकर्मणां गन्धादिचतुष्टयं परिहृत्य शेषं त्वगवयवमात्रमप्यादौ कृत्वा यद्वर्त्तते तेन स्पृष्टं शुद्धमप्यशनादि पूतिर्भवतीति । सम्प्रति दातृगृहं साधुपात्रं चाश्रित्य पूतिविषयं कल्प्याकल्प्यविधिमाह—

पढमदिवसंमि कम्मं तिन्नि उ दिवसाणि पूइयं होइ । पूईसु तिसु न कप्पइ कप्पइ तइओ जया कप्पो ॥ २६८ ॥

व्याख्या—इह यस्मिन् दिने यत्र गृहे कृतमाधाकर्म तत्र तस्मिन् दिने 'कर्म' आधाकर्म व्यक्तमेतत्, शेषाणि तु त्रीणि दिनानि पूतिर्भवति, तद्गृहं पूतिदोषवद्भवतीत्यर्थः, तत्र च 'पूतिषु' पूतिदोषवत्सु त्रिषु दिनेषु आधाकर्मादिने च सर्वसङ्ख्यया चत्वारि दिनानि यावन्न कल्पते, साधुपात्रे च पूतिभूते तदा शुद्धमशनादि ग्रहीतुं कल्पते यदा तृतीयः कल्पो दत्तो भवति, न शेषकालं, पूतिदोषसम्भवात् । सम्प्रत्याधाकर्म पूतिं च वैविक्त्येन प्रतिपादयन्नुपसंहरति—

समणकडाहाकम्मं समणाणं जं कडेण मीसं तु । आहार उवहि वसही सव्वं तं पूइयं होइ ॥ २६९ ॥

व्याख्या—श्रमणानामर्थाय कृतमाहारोपधिवसत्यादिकं यत् तत्सर्वमाधाकर्म, यत्पुनः श्रमणानामर्थाय कृतेनाधाकर्मणा मिश्रमाहारादि तत्सर्वं पूतिर्भवति । सम्प्रति परिज्ञानोपायमाह—

३ पूतिदोषे परिहार्यपूतिः पूतिकालो गृहपात्रयोः

॥ ८७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

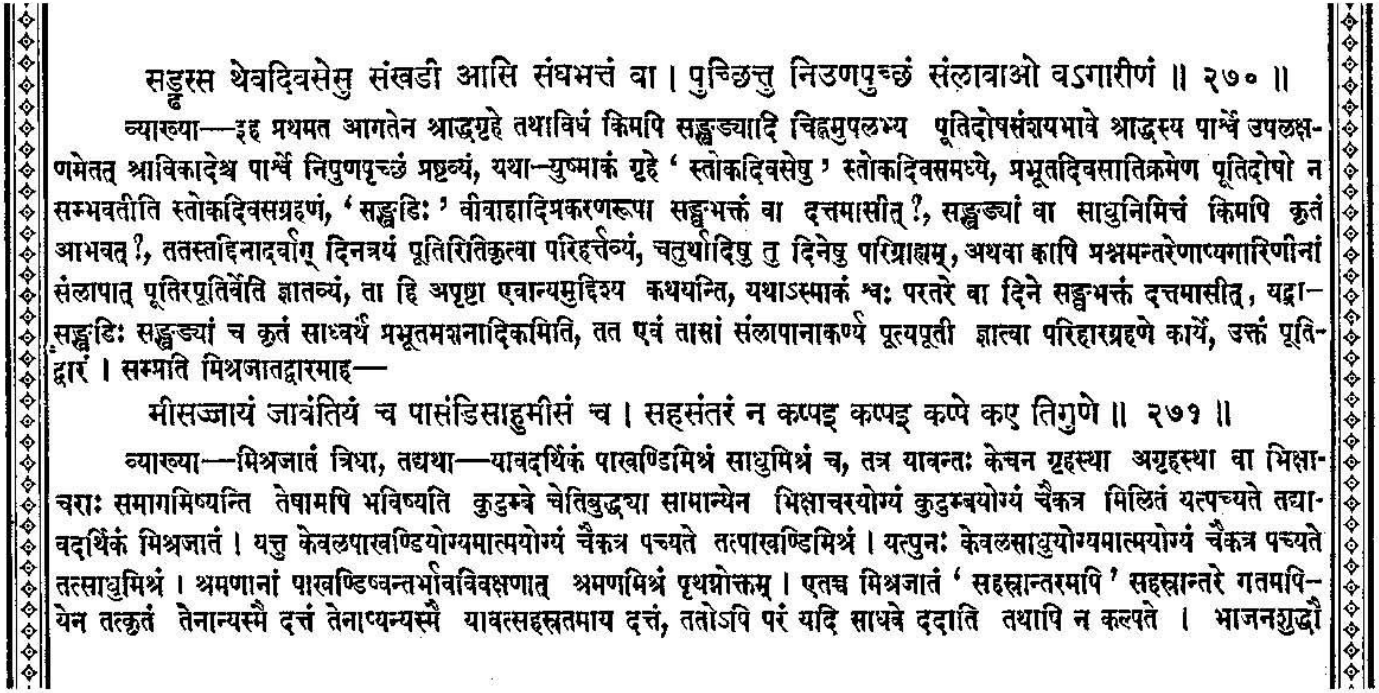

सङ्घस्स थेवदिवसेसु संखडी आसि संघभत्तं वा। पुच्छित्तु निउणपुच्छं संलावाओ वऽगारीणं ॥ २७० ॥

व्याख्या—इह प्रथमत आगतेन श्राद्धगृहे तथाविधं किमपि सङ्घभक्त्यादि चिह्नमुपलभ्य पूतिदोषसंशयभावे श्राद्धस्य पार्श्वे उपलक्षणमेतत् श्राविकादेश्च पार्श्वे निपुणपृच्छं प्रष्टव्यं, यथा—युष्माकं गृहे 'स्तोकदिवसेषु' स्तोकदिवसमध्ये, प्रभूतदिवसातिक्रमेण पूतिदोषो न सम्भवतीति स्तोकदिवसग्रहणं, 'सङ्घडिः' वीवाहादिप्रकरणरूपा सङ्घभक्तं वा दत्तमासीत्?, सङ्घभक्त्यां वा साधुनिमित्तं किमपि कृतं आभवत्?, ततस्तदिनादर्वाग् दिनत्रयं पूतिरितिकृत्वा परिहर्त्तव्यं, चतुर्थादिषु तु दिनेषु परिग्राह्यम्, अथवा क्वापि प्रश्नमन्तरेणाप्यगारिणीनां संलापात् पूतिरपूतिर्वेति ज्ञातव्यं, ता हि अपृष्टा एवान्यमुद्दिश्य कथयन्ति, यथाऽस्माकं श्वः परतरे वा दिने सङ्घभक्तं दत्तमासीत्, यद्वा—सङ्घडिः सङ्घभक्त्यां च कृतं साध्वर्थं प्रभूतमशनादिकमिति, तत एवं तासां संलापानाकर्ण्य पूत्यपूती ज्ञात्वा परिहारग्रहणे कार्ये, उक्तं पूतिद्वारं। सम्प्रति मिश्रजातद्वारमाह—

मीसज्जायं जावंतियं च पासंडिसाहुमीसं च। सहसंतरं न कप्पइ कप्पइ कप्पे कए तिगुणे ॥ २७१ ॥

व्याख्या—मिश्रजातं त्रिधा, तद्यथा—यावदर्थिकं पाखण्डिमिश्रं साधुमिश्रं च, तत्र यावन्तः केचन गृहस्था अगृहस्था वा भिक्षाचराः समागमिष्यन्ति तेषामपि भविष्यति कुटुम्बे चेतिबुद्ध्या सामान्येन भिक्षाचरयोग्यं कुटुम्बयोग्यं चैकत्र मिलितं यत्पच्यते तद्यावदर्थिकं मिश्रजातं। यत्तु केवलपाखण्डियोग्यमात्मयोग्यं चैकत्र पच्यते तत्पाखण्डिमिश्रं। यत्पुनः केवलसाधुयोग्यमात्मयोग्यं चैकत्र पच्यते तत्साधुमिश्रं। श्रमणानां पाखण्डिष्वन्तर्भावविवक्षणात् श्रमणमिश्रं पृथग्नोक्तम्। एतच्च मिश्रजातं 'सहस्रान्तरमपि' सहस्रान्तरे गतमपियेन तत्कृतं तेनान्यस्मै दत्तं तेनाप्यन्यस्मै यावत्सहस्रतमाय दत्तं, ततोऽपि परं यदि साधवे ददाति तथापि न कल्पते। भाजनशुद्धौ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२४||

दीप अनुक्रम [२९६]

॥ ८८ ॥

विधिमाह—येन भाजनेन तन्मिश्रं गृहीतं तस्मिन् भाजने मिश्रपरित्यागानन्तरं 'कल्पे' प्रक्षालने त्रिगुणे कृतेऽन्यत् शुद्धं ग्रहीतुं कल्पते, नान्यथा । एनामेव गाथां भाष्यकृद्व्याचिख्यासुः प्रथमतो मिश्रजातस्य सम्भवमाह—

दुग्गासे तं समइच्छिउं व अद्धाणसीसए जत्ता । सड्ढी बहुभिक्खयरे मीसज्जायं करे कोई ॥ ३३ ॥ (भा०)

भा० २४

व्याख्या—दुःखेन ग्रासो यत्र तद् दुर्ग्रासं–दुर्भिक्षं तस्मिन् भिक्षाचरसत्त्वानुकम्पया, यद्वा तद् दुर्भिक्षं समतिक्रान्तः कश्चिद् बुभुक्षाकष्टं महत्परिज्ञाय यदिवा 'अध्वशीर्षके' कान्तारादिनिर्गमरूपे प्रवेशरूपे खिन्नभिक्षाचरानुकम्पया यद्वा 'यात्रायां' तीर्थयात्रादिरूपे उत्सवविशेषे दानश्रद्धया कोऽपि 'श्रद्धी' श्रद्धावान् बहून् भिक्षाचरानुपलभ्य 'मिश्रजातं' पूर्वोक्तशब्दार्थं करोति । सम्प्रति यावदर्थिकस्य मिश्रजातस्य परिज्ञानोपायमाह—

जावंतट्ठा सिद्धं नेयं तं देह कामियं जइणं । बहुसु व अपहुप्पंते भणाइ अन्नंपि रंधेह ॥ २७२ ॥

व्याख्या—काचित् किमपि साधवे ददती कयाचित्प्रतिषिध्यते–नेदं दीयमानं यावदर्थं सिद्धं–यावन्तः केचनापि भिक्षाचराः समागमिष्यन्ति तेषामर्थाय सिद्धं, किन्तु विवक्षितं, तस्मात्तद्देहि यतिभ्यः कामितं यावद्गृह्णन्ति तावत्प्रमाणं, यद्वा प्रचुरेषु भिक्षाचरेषु समागच्छत्सु अग्रेतनप्रमाणे राध्यमाने 'अप्रभवति' अपूर्यमाणे गृहनायको भणति–नैतावता राद्धेन सरिष्यति ततोऽन्यदप्यधिकं प्रक्षिप्य राध्नुहि, एवं श्रुते यावदर्थिकं मिश्रं परिज्ञायते, ज्ञात्वा च परिहर्त्तव्यमिति । सम्प्रति पाखण्डिमिश्रसाधुमिश्रे प्रतिपादयति—

अत्तट्ठा रंधंते पासंडीणंपि बिइयओ भणइ । निग्गंथट्ठा तइओ अत्तट्ठाएऽवि रंधंते ॥ २७३ ॥

॥ ८८ ॥

४ मिश्रजाते भेदाः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२७३||

दीप अनुक्रम [२९८]

व्याख्या—'आत्मार्थं' कुटुम्बार्थं गृहिण्या 'राध्यमाने' पच्यमाने गृहनायको यावदर्थिकमिश्रप्रवर्त्तकगृहनायकापेक्षया द्वितीयो भणति, यथा पाखण्डिनामप्यर्थायाधिकं प्रक्षिप। तथाऽऽत्मार्थमेव राध्यमाने तृतीयो गृहनायको ब्रूते, यथा–निर्ग्रन्थानामर्थायाधिकं प्रक्षिपेति। तत एवं श्रुते पाखण्डिमिश्रसाधुमिश्रयोरपि परिज्ञानं भवति। सम्प्रति यदुक्तमेतत् 'मिश्रजातं पुरुषसहस्रान्तरगतमपि न कल्पते' इति, तद्दृष्टान्तेन भावयति—

विसघाइय पिसियासी मरइ तमन्नोवि खाइउं मरइ। इय पारंपरमरणे अणुमरइ सहस्ससो जाव ॥ २७४ ॥

व्याख्या—इह कोऽपि वेधकेन विषेण घातितः, तस्य पिशितं योऽश्नाति सोऽपि म्रियते, तस्यापि मांसं यो भक्षयति सोऽपि म्रियते, एवं परम्परया मरणे तावद् 'अनु' पाश्चात्यः पाश्चात्यो म्रियते, यावत्ते म्रियमाणाः सङ्ख्यया सहस्रशो भवन्ति। इत्थं सहस्रवेधकस्य विषस्य प्रभावः यत्सहस्रान्तरगतमपि मारयतीति भावः।

एवं मीसज्जायं चरणप्पं हणइ साहु सुविसुद्धं। तम्हा तं नो कप्पइ पुरिससहस्संतरगयंपि ॥ २७५ ॥

व्याख्या—'एवं' सहस्रवेधकविषमिव यावदर्थिकपाखण्डिसाधुविषयं मिश्रजातमप्येकेनान्यस्मै दत्तं तेनाप्यन्यस्मायित्येवं परम्परया पुरुषसहस्रान्तरगतमपि साधोः सुविशुद्धं चरणात्मानं हन्ति, तस्मान्न कल्पते साधूनां सहस्रान्तरगतमपि मिश्रं। सम्प्रति साधुविषयं विधिमाह–

निच्छोडिए करीसेण वावि उव्वट्टिए तओ कप्पा। सुक्कावित्ता गिण्हइ अन्न चउत्थे असुक्केऽवि ॥ २७६ ॥

व्याख्या—मिश्रे कथमपि गृहीते पश्चात्तस्मिंस्त्यक्ते सति भाजने 'निच्छोटिते' अङ्गुल्यादिना निरवयवे कृते यद्वा 'करीषेण'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

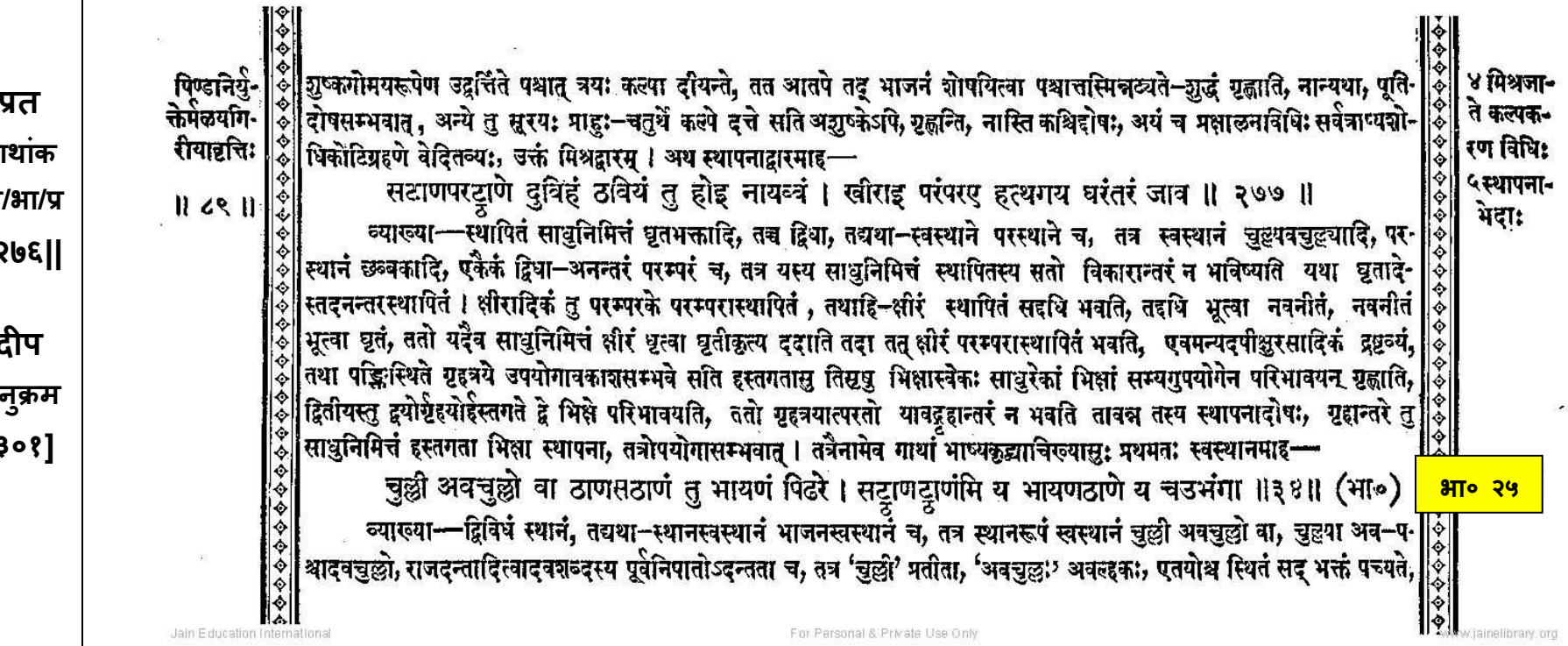

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ८९ ॥

शुष्कगोमयरूपेण उद्वर्त्तिते पश्चात् त्रयः कल्पा दीयन्ते, तत आतपे तद् भाजनं शोषयित्वा पश्चात्तस्मिन्नव्यते–शुद्धं गृह्णाति, नान्यथा, पूतिदोषसम्भवात्, अन्ये तु सूरयः प्राहुः–चतुर्थे कल्पे दत्ते सति अशुष्केऽपि, गृह्णन्ति, नास्ति कश्चिद्दोषः, अयं च प्रक्षालनविधिः सर्वत्राप्यशोधिकोटिग्रहणे वेदितव्यः, उक्तं मिश्रद्वारम् । अथ स्थापनाद्वारमाह—

सट्ठाणपरट्ठाणे दुविहं ठवियं तु होइ नायव्वं । खीराइ परंपरए हत्थगय घरंतरं जाव ॥ २७७ ॥

व्याख्या—स्थापितं साधुनिमित्तं घृतभक्तादि, तच्च द्विधा, तद्यथा–स्वस्थाने परस्थाने च, तत्र स्वस्थानं चुल्लयवचुल्ल्यादि, परस्थानं छब्बकादि, एकैकं द्विधा–अनन्तरं परम्परं च, तत्र यस्य साधुनिमित्तं स्थापितस्य सतो विकारान्तरं न भविष्यति यथा घृतादेस्तदनन्तरस्थापितं । क्षीरादिकं तु परम्परके परम्परास्थापितं , तथाहि–क्षीरं स्थापितं सदधि भवति, तदधि भूत्वा नवनीतं, नवनीतं भूत्वा घृतं, ततो यदैव साधुनिमित्तं क्षीरं घृत्वा घृतीकृत्य ददाति तदा तत् क्षीरं परम्परास्थापितं भवति, एवमन्यदपीक्षुरसादिकं द्रष्टव्यं, तथा पङ्क्तिःस्थिते गृहत्रये उपयोगावकाशसम्भवे सति हस्तगतासु तिसृषु भिक्षास्वेकः साधुरेकां भिक्षां सम्यगुपयोगेन परिभावयन् गृह्णाति, द्वितीयस्तु द्वयोर्गृहयोर्हस्तगते द्वे भिक्षे परिभावयति, ततो गृहत्रयात्परतो यावद्गृहान्तरं न भवति तावन्न तस्य स्थापनादोषः, गृहान्तरे तु साधुनिमित्तं हस्तगता भिक्षा स्थापना, तत्रोपयोगासम्भवात् । तत्रैनामेव गाथां भाष्यकृद्व्याचिख्यासुः प्रथमतः स्वस्थानमाह—

चुल्ली अवचुल्लो वा ठाणसठाणं तु भायणं पिढरे । सट्ठाणट्ठाणंमि य भायणठाणे य चउभंगा ॥३४॥ (भा०)

भा० २५

व्याख्या—द्विविधं स्थानं, तद्यथा–स्थानस्वस्थानं भाजनस्वस्थानं च, तत्र स्थानरूपं स्वस्थानं चुल्ली अवचुल्लो वा, चुल्लया अव–पश्चादवचुल्लो, राजदन्तादित्वादवशब्दस्य पूर्वनिपातोऽदन्तता च, तत्र 'चुल्ली' प्रतीता, 'अवचुल्लः' अवलेहकः, एतयोश्च स्थितं सद् भक्तं पच्यते,

४ मिश्रजाते कल्पकरण विधिः

५ स्थापनाभेदाः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ 'स्थापना' दोषस्य वर्णनं आरभ्यते

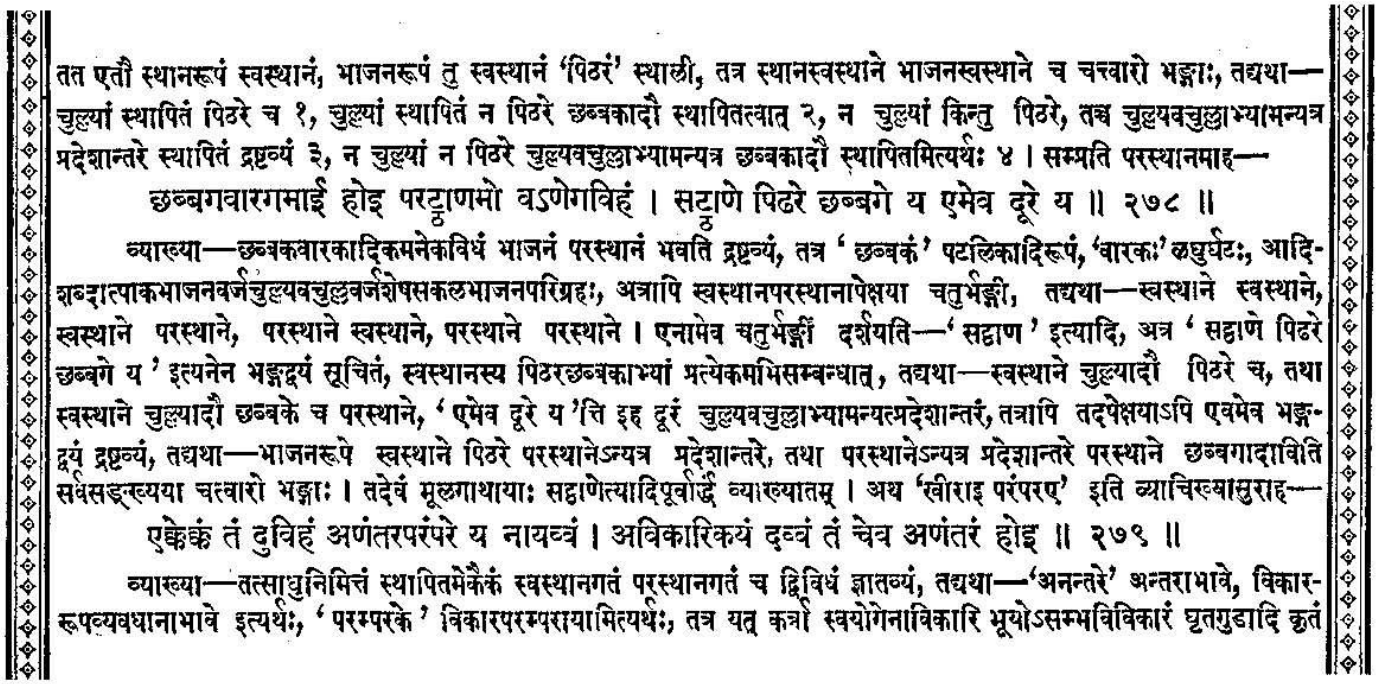

तत एतौ स्थानरूपं स्वस्थानं, भाजनरूपं तु स्वस्थानं 'पिठरं' स्थाली, तत्र स्थानस्वस्थाने भाजनस्वस्थाने च चत्वारो भङ्गाः, तद्यथा—चुल्ल्यां स्थापितं पिठरे च १, चुल्ल्यां स्थापितं न पिठरे छब्बकादौ स्थापितत्वात् २, न चुल्ल्यां किन्तु पिठरे, तच्च चुल्लयवचुल्लाभ्यामन्यत्र प्रदेशान्तरे स्थापितं द्रष्टव्यं ३, न चुल्ल्यां न पिठरे चुल्लयवचुल्लाभ्यामन्यत्र छब्बकादौ स्थापितमित्यर्थः ४ । सम्प्रति परस्थानमाह—

छब्बगवारगमाई होइ परट्ठाणमो वऽणेगविहं । सट्ठाणे पिठरे छब्बगे य एमेव दूरे य ॥ २७८ ॥

व्याख्या—छब्बकवारकादिकमनेकविधं भाजनं परस्थानं भवति द्रष्टव्यं, तत्र 'छब्बकं' पटलिकादिरूपं, 'वारकः' लघुर्घटः, आदिशब्दात्पाकभाजनवर्जचुल्लयवचुल्लवर्जशेषसकलभाजनपरिग्रहः, अत्रापि स्वस्थानपरस्थानापेक्षया चतुर्भङ्गी, तद्यथा—स्वस्थाने स्वस्थाने, स्वस्थाने परस्थाने, परस्थाने स्वस्थाने, परस्थाने परस्थाने । एनामेव चतुर्भङ्गीं दर्शयति—'सट्ठाण' इत्यादि, अत्र 'सट्ठाणे पिठरे छब्बगे य' इत्यनेन भङ्गद्वयं सूचितं, स्वस्थानस्य पिठरछब्बकाभ्यां प्रत्येकमभिसम्बन्धात्, तद्यथा—स्वस्थाने चुल्ल्यादौ पिठरे च, तथा स्वस्थाने चुल्ल्यादौ छब्बके च परस्थाने, 'एमेव दूरे य'त्ति इह दूरं चुल्लयवचुल्लाभ्यामन्यत्प्रदेशान्तरं, तत्रापि तदपेक्षयाऽपि एवमेव भङ्गद्वयं द्रष्टव्यं, तद्यथा—भाजनरूपे स्वस्थाने पिठरे परस्थानेऽन्यत्र प्रदेशान्तरे, तथा परस्थानेऽन्यत्र प्रदेशान्तरे परस्थाने छब्बगादाविति सर्वसङ्ख्यया चत्वारो भङ्गाः । तदेवं मूलगाथायाः सट्ठाणेत्यादिपूर्वार्द्धं व्याख्यातम् । अथ 'खीराइ परंपरए' इति व्याचिख्यासुराह—

एक्केक्कं तं दुविहं अणंतरपरंपरे य नायव्वं । अविकारिकयं दव्वं तं चेव अणंतरं होइ ॥ २७९ ॥

व्याख्या—तत्साधुनिमित्तं स्थापितमेकैकं स्वस्थानगतं परस्थानगतं च द्विविधं ज्ञातव्यं, तद्यथा—'अनन्तरे' अन्तराभावे, विकाररूपव्यवधानाभावे इत्यर्थः, 'परम्परके' विकारपरम्परायामित्यर्थः, तत्र यत् कर्त्रा स्वयोगेनाविकारि भूयोऽसम्भविविकारं घृतगुडादि कृतं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

न हि तस्य भूयोऽपि विकारः सम्भवति तत्साधुनिमित्तं स्थापितमनन्तरम्–अनन्तरस्थापितं, उपलक्षणमेतत्, तेन क्षीरादिकमपि यस्मिन् दिने साधुनिमित्तं स्थापितं यदि तस्मिन्नेव दिने ददाति तर्हि तदपि दध्यादिरूपं विकारान्तरमनापद्यमानमनन्तरस्थापितं द्रष्टव्यं, तदेव तु क्षीरं साधुनिमित्तं घृतं सदध्यादिरूपतया परिकर्म्यमाणं परम्परास्थापितं भवति, एवमिक्षुरसादिकमपि तस्मिन्नेव दिने स्थापितं दीयमानमनन्तरस्थापितं, कक्कवादिरूपतया तु परिकर्म्यमाणं परम्परास्थापितमिति । सम्प्रति विकारीतराणि द्रव्याणि प्रतिपादयति—

उच्छुकुखीराईयं विगारि अविगारि घयगुलाईयं । परियावज्जणदोसा ओयणदहिमाइयं वावि ॥ २८० ॥

व्याख्या—इक्षुक्षीरादिकं विकारि तस्य कक्कवादिदध्यादिविकारसम्भवात्, घृतगुडादिकं त्वविकारि तस्य भूयोऽपि विकारासम्भवात्, तथा 'ओदनदध्यादिकमपि' करम्बादिरूपं विकारि, कुत इत्याह—पर्यापादनदोषात्, करम्बादिकं हि ध्रियमाणं नियमात् पर्यापद्यते—कोथमायातीत्यर्थः, ततस्तदपि विकारि द्रव्यं । तदेवं विकारीतराणि द्रव्याण्यभिहितानि, सम्प्रति क्षीरादिकं परम्परास्थापितं भावयति—

उब्भट्टपरिन्नायं अन्नं लद्धं पओयणे घेत्थी । रिणभीया व अगारी दहित्ति दाहं सुए ठवणा ॥ २८१ ॥

नवणीय मंथुतक्कं व जाव अत्तट्ठिया व गिण्हंति । देसूणा जाव घयं कुसणंपि य जत्तियं कालं ॥ २८२ ॥

व्याख्या—'उब्भट्ट'त्ति केनापि साधुना कस्याश्चिदगारिण्याः सकाशे क्षीरमभ्यर्थितं, ततस्तया प्रतिज्ञातं–क्षणान्तरे दास्यामि, साधुना चान्यत्रान्यत् क्षीरं लब्धं, ततः पूर्वमभ्यर्थितयाऽगारिण्या दुग्धसम्प्राप्तौ सत्यां साधुं प्रति प्रत्यपादि–गृहाण भगवन्निदं दुग्धमिति,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२८२||

दीप अनुक्रम [३०८]

साधुना चोक्तं–लब्धमन्यत्र मया दुग्धं, ततो यदि भूयोऽपि प्रयोजनं भविष्यति तर्हि 'घेत्थी'ग्रहीष्यामि, एवमुक्तें साऽगारिणी ऋणभीतेव स्वयं नोपबुभुजे, किन्त्वेवं चिन्तयामास–'श्वः' कल्ये दधि कृत्वा दास्यामीति, तत एवं चिन्तयित्वा स्थापयति, ततो द्वितीयदिने दधि जातं तदपि साधुना न गृहीतं, ततो नवनीतं तक्रं च जातं, नवनीतमपि घृतं कृतं, इह क्षीरादिकं सकलमपि स्थापनादोषदुष्टत्वात् साधूनां न कल्पते, यद्वा क्षीरादिकं यावन्नवनीतं मस्तु तक्रं वा तावदेतानि सर्वाण्यप्यात्मार्थीकृतानि मा गृह्णीयात् साधुः कुटुम्बे भविष्यतीत्येवमात्मसत्ताकीकृतानि साधवो गृह्णन्ति । घृतं त्वात्मार्थीकृतमपि तेजःकायाऽऽरम्भादाधाकर्मेति न कल्पते, घृतं च स्थापितं सत् तावद् घटते यावदेशोना पूर्वकोटी, तथाहि—पूर्वकोट्यायुषा केनापि साधुना वर्षाष्टकप्रमाणेन कस्याश्चित्पूर्वकोट्यायुषोऽगारिण्याः पार्श्वे घृतं ययाचे, तयोक्तं—क्षणान्तरे दास्यामि, साधुना चान्यत्र घृतं लब्धं, ततः सा ऋणभीतेव तावद् घृतं धृतवती यावत् साधोरायुः, ततो मृते साधौ तदन्यत्रोपयुक्तमिति नास्ति स्थापना, इह वर्षाष्टकस्याधः पूर्वकोटेरुपरि च चारित्रं न भवति, चारित्रिणं चाधिकृत्य स्थापनादोषः, ततो देशोना पूर्वकोटीत्युक्तम् । एवं गुडादेरप्यविनाशिनो द्रव्यस्य यथायोगं स्थापनाकालपरिमाणं द्रष्टव्यं । 'कुसुणियंपि'त्ति कुसुणितमपि करम्बादिरूपतया कृतमपि यावन्तं कालमविनाशि तावत्कालं तस्य स्थापना द्रष्टव्या, परतस्तु कुथितत्वादुज्झ्यते एवेति भावः ॥ तदेवं क्षीरादिकं परम्परास्थापितमुक्तं, साम्प्रतमिक्षुरसादिकमपि परम्परास्थापितमाह—

रस ककव पिंडगुला मच्छंडिय खंडसक्कराणं च । होइ परंपरठवणा अन्नत्थ व जुज्जए जत्थ ॥ २८३ ॥

व्याख्या—इह केनापि साधुना किमपि प्रयोजनमुद्दिश्य कोऽपीक्षुरसं याचितः, स च प्रतिज्ञातवान्–क्षणान्तरे दास्यामि, साधुना चान्यत्रेक्षुरसो लब्धः, पूर्वमभ्यर्थितश्च ऋणभीत इव तमिक्षुरसं कक्कवं करोति यावत् शर्करेति, एषां चेक्षुरसकक्कवादीनामुत्तरोत्तरपिण्ड-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गुल्यादिपर्यायापादनपुरस्सरं म्रियमाणानां स्थापना परम्परास्थापना, एवमन्यत्रापि द्रव्यान्तरे यत्रैवं परम्परया स्थापना घटते तत्र परम्परास्थापना द्रष्टव्या। यावच्च स्थापितस्य नाधाकर्मसम्भवस्तावदात्मार्थीकृतं कल्पते, कृतपाकारम्भं तु न कल्पते। सम्प्रति 'हत्थगय घरंतरं जाव' इति व्याचिख्यासुराह—

भिक्खागाही एगत्थ कुणइ बिइओ उ दोसु उवओगं। तेण परं उक्खित्ता पाहुडिया होइ ठवणा उ ॥ २८४ ॥

व्याख्या—भिक्षाग्राही एकत्रोपयोगं करोति, द्वितीयस्तु द्वयोर्गृहयोः, तत्र त्रिषु गृहेषूपयोगसम्भवे स्थापनादोषो न भवति, गृहत्रयात्परं साध्वर्थमुत्पाटिता भिक्षा प्राभृतिका स्थापना भवति ॥ उक्तं स्थापनाद्वारं, सम्प्रति प्राभृतिकाद्वारमभिधित्सुराह—

पाहुडियावि हु दुविहा बायर सुहुमा य होइ नायव्वा। ओस्सक्कणमुस्सक्कण कब्बट्टीए समोसरणे ॥ २८५ ॥

व्याख्या—द्विविधा प्राभृतिका, तद्यथा—बादरा सूक्ष्मा च, एकैकापि द्विधा, तद्यथा—अवष्वष्कणेनोत्ष्वष्कणेन च, सूत्रे चात्र विभक्तिलोप आर्षत्वात्, तत्र 'अवष्वष्कणं' स्वयोगप्रवृत्तनियतकालावधेर्वाकरणम् 'उत्ष्वष्कणं' परतः करणं, तत्र बादरप्राभृतिकाविषयमाह—'कब्बट्टीए समोसरणे' इह समयपरिभाषया कब्बट्टी लघ्वी दारिका भण्यते तस्याः सत्कस्य, उपलक्षणमेतत्, पुत्रादेश्च सत्कस्य वीवाहस्यावष्वष्कणमुत्ष्वष्कणं वा 'समवसरणे' साधुसमुदायविषये, इयमत्र भावना—साधुसमुदायं यथाविहारक्रममायातं दृष्ट्वा कोऽपि श्रावकश्चिन्तयति, यथा—ज्योतिर्विदोपदिष्टे विवाहदिने यदि विवाहः क्रियते ततोऽर्वागेव सुविहितजनो विहारक्रमेण गमिष्यति ततो न किमपि मदीयं विवाहसम्भवं मोदकादिकं तण्डुलधावनादि वोपकरिष्यते, तत एवं चिन्तयित्वाऽर्वाग् विवाहं करोति, यदिवा भूयान् सुविहितजनो यथाविहारक्रममागच्छन् श्रूयते वीवाहश्च तदागमनादर्वाक् ततो न किमपि तेषां मदीयमुपकरिष्यतीति, तत

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एवं विचिन्त्य परतो वीवाहं करोति, इदं च विवाहस्यावष्वष्कणमुत्ष्वष्कणं वा कृत्वा यदुपस्क्रियते भक्तादि सा बादरा प्राभृतिका ॥ सम्प्रत्यपसर्पणरूपां सूक्ष्मप्राभृतिकां भाष्यकृद्गाथाद्वयेनाह—

कन्तामि ताव पेलुं तो ते देहामि पुत्त! मा रोव । तं जइ सुणेइ साहू न गच्छए तत्थ आरंभो ॥ ३५ ॥ (भा०) भा० २६

अन्नट्ठ उट्ठिया वा तुब्भवि देमित्ति किंपि परिहरति । किह दाणि न उट्ठिहिसी? साहुपभावेण लब्भामो ॥३६॥ (भा०) भा० २७

व्याख्या—काचित्कर्त्तनं कुर्वती भोजनं याचमानं बालकं प्रति वदति—कृणन्मि तावदिदं 'पेलुं' रूतपूणिकां, कृणन्मीति 'कृदुपवेष्टने' इत्यस्य रौधादिकस्य प्रयोगः, ततः पश्चात् 'ते' तुभ्यं दास्यामीति मा रोदीः, अत्रान्तरे च साधुरागतो यदि शृणोति तर्हि तत्र गृहे न गच्छति, न तत्र भिक्षां गृह्णातीत्यर्थः, मा भूत्साधुनिमित्त आरम्भो बालकभोजनदानतदनन्तरहस्तधावनादिरूपः, सा हि साध्वर्थमुत्थिता सती बालकस्यापि भोजनं ददाति, ततो हस्तधावनादिनाऽप्कायादिकं च विनाशयति, इह रूतपूणिकाकर्त्तनसमाप्त्यनन्तरं दातव्यतया बालकाय प्रतिज्ञाते भोजने साधुनिमित्तमर्वागुत्थानेन यदर्वागेव बालस्य भोजनदानं तदवसर्पणम्, अथवा गृहस्था कर्त्तनं कुर्वती भोजनं याचमानं पुत्रं प्रति वदति—'अन्यार्थम्' अन्येन प्रयोजनेनोत्थिता सती 'तवापि' तुभ्यमपि किमपि खादिमादि दास्यामि, अत्रान्तरे च साधुरागत एवं श्रुते परिहरति, अथवा तथाभूतगृहस्थावचनानाकर्णनेऽपि साधौ समागते बालको जननीं वदति—कथमिदानीं नोत्थास्यसि?, समागतो ननु साधुस्ततोऽवश्यमुत्थातव्यं त्वया, तथा च सति साधुप्रभावेण वयमपि लप्स्यामहे, तत एवं बालकवचनं श्रुत्वा तया दीयमानं परिहरति, मा भूदवसर्पणरूपसूक्ष्मप्राभृतिकादोषः । सम्प्रत्युत्सर्पणरूपां सूक्ष्मप्राभृतिकां गाथाद्वयेनाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मा ताव झंख पुत्तय! परिवाडीए इहेहि सो साहू । एयस्स उट्ठिया ते दाहं सोउं विवज्जेइ ॥ २८६ ॥

अहवा—अंगुलियाए घेत्तुं कड्ढइ कप्पट्ठओ घरं जत्तो । किंति कहिए न गच्छइ पाहुडिया एस सुहुमा उ॥ २८७ ॥

व्याख्या—इह काचिद्गृहस्था भोजनं याचमानं पुत्रं प्रतिपादयति–हे पुत्रक! मा तावज्झष–वारं वारं जल्प, इह परिपाट्या साधुरागमिष्यति ततस्तस्यार्थमुत्थिता सती 'ते' तुभ्यं दास्यामि, अत्रान्तरे च साधुरागत इदं वचः श्रुत्वा विवर्जयति, मा भूदुत्सर्पणरूपसूक्ष्मप्राभृतिकादोषः, अत्रावाग् विवक्षितस्य भोजनदानस्य साधुभिक्षादानेन समं परतः करणमुत्सर्पणम् , अथवा प्राक्तने जनन्योक्ते बालकेन श्रुते सति स 'कप्पट्ठओ' बालकस्तं साधुमङ्गुल्या गृहीत्वा यतो निजगृहं ततः समाकर्षति, ततः साधुस्तं बालकं पृच्छति–यथा किं मामाकर्षसि ?, ततः स यथावस्थितं कथयति, बालकत्वेन ऋजुत्वात् , ततः कथिते तत्र न गच्छति, मा भूदुत्सर्पणरूपसूक्ष्मप्राभृतिकादोषसम्पर्कः, एषा सर्वाऽप्यनन्तरोक्ता सूक्ष्मप्राभृतिका । सम्प्रति 'कड्ढट्टीए समोसरणे' इत्यवयवं व्याचिख्यासुः प्रथमतोऽवष्वष्कणरूपां बादरप्राभृतिकामाह—

पुत्तस्स विवाहदिणं ओसरणे अइच्छिए मुणिय सड्ढी । ओसक्कंतोसरणे संखडिपाहेणगदवट्टा ॥ २८८ ॥

व्याख्या—पुत्रस्य, उपलक्षणमेतत् पुत्रिकादेश्च, विवाहदिनं ज्योतिर्विदा 'अवसरणे' साधुसमुदाये यथाविहारक्रममतिक्रान्तेऽन्यत्र गते सत्युपदिश्यमानं श्रुत्वा श्रद्धी विवाहमवष्वष्कते, अर्वागुदिनं दृष्ट्वा विवाहं करोति, किमर्थम् ?, इत्याह—'समवसरणे' षष्ठीसप्तम्योरर्थे प्रत्यभेदात्समवसरणस्य–साधुसमुदायस्य विवाहरूपायां सङ्कल्प्यां प्रहेणकं–मोदकादि द्रवं–तण्डुलधावनादि तदर्थं–तद्दानार्थं, भावना च प्रथमगाथायामेव कृता ॥ उत्सर्पणरूपां बादरप्राभृतिकामाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ 'प्राभृतिका' दोषस्य वर्णनं आरभ्यते

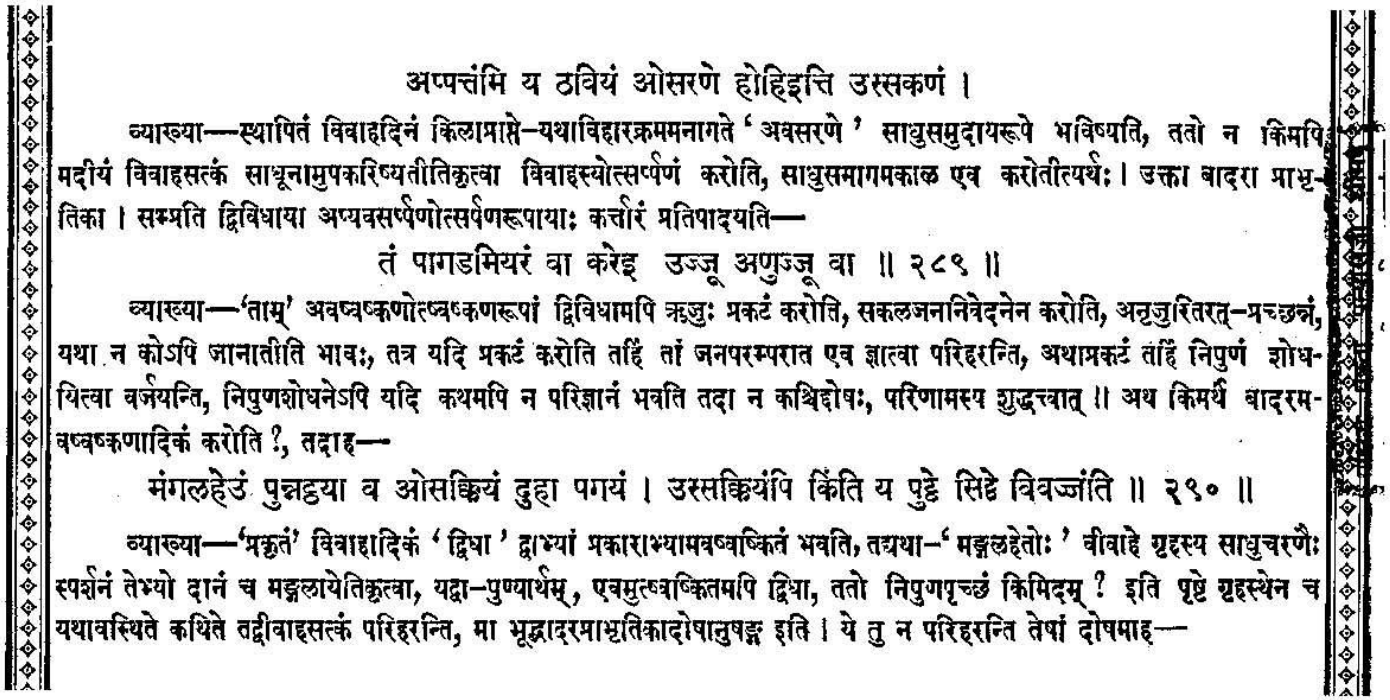

अप्पत्तंमि य ठवियं ओसरणे होहिइत्ति उस्सकणं ।

व्याख्या—स्थापितं विवाहदिनं किलाप्राप्ते–यथाविहारक्रममनागते 'अवसरणे' साधुसमुदायरूपे भविष्यति, ततो न किमपि मदीयं विवाहसत्कं साधूनामुपकरिष्यतीतिकृत्वा विवाहस्योत्सर्पणं करोति, साधुसमागमकाल एव करोतीत्यर्थः । उक्ता बादरा प्राभृतिका । सम्प्रति द्विविधाया अप्यवसर्पणोत्सर्पणरूपायाः कर्त्तारं प्रतिपादयति—

तं पागडमियरं वा करेइ उज्जू अणुज्जू वा ॥ २८९ ॥

व्याख्या—'ताम्' अवष्वष्कणोत्ष्वष्कणरूपां द्विविधामपि ऋजुः प्रकटं करोति, सकलजननिवेदनेन करोति, अनृजुरितरत्–प्रच्छन्नं, यथा न कोऽपि जानातीति भावः, तत्र यदि प्रकटं करोति तर्हि तां जनपरम्परात एव ज्ञात्वा परिहरन्ति, अथाप्रकटं तर्हि निपुणं शोधयित्वा वर्जयन्ति, निपुणशोधनेऽपि यदि कथमपि न परिज्ञानं भवति तदा न कश्चिद्दोषः, परिणामस्य शुद्धत्वात् ॥ अथ किमर्थं बादरमवष्वष्कणादिकं करोति ?, तदाह—

मंगलहेउं पुन्नट्ठया व ओसक्कियं दुहा पगयं । उस्सक्कियंपि किंति य पुट्ठे सिट्ठे विवज्जंति ॥ २९० ॥

व्याख्या—'प्रकृतं' विवाहादिकं 'द्विधा' द्वाभ्यां प्रकाराभ्यामवष्वष्कितं भवति, तद्यथा–'मङ्गलहेतोः' वीवाहे गृहस्थ साधुचरणैः स्पर्शनं तेभ्यो दानं च मङ्गलायेतिकृत्वा, यद्वा–पुण्यार्थम्, एवमुत्ष्वष्कितमपि द्विधा, ततो निपुणपृच्छं किमिदम् ? इति पृष्टे गृहस्थेन च यथावस्थिते कथिते तद्वीवाहसत्कं परिहरन्ति, मा भूद्बादरप्राभृतिकादोषानुषङ्ग इति । ये तु न परिहरन्ति तेषां दोषमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२९१|| दीप अनुक्रम [३१९] | पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

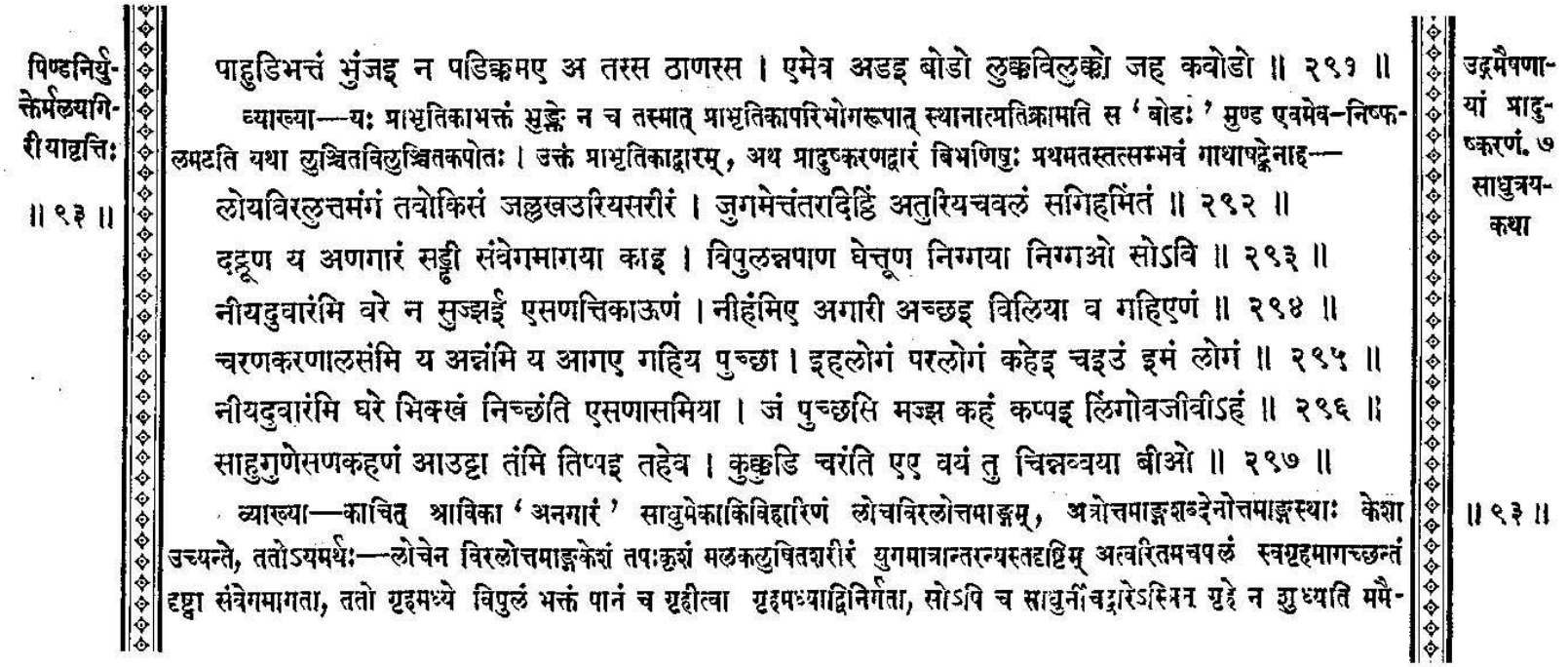

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ ९३ ॥

पाहुडिभत्तं भुंजइ न पडिक्कमए अ तस्स ठाणस्स । एमेव अडइ बोडो लुक्कविलुक्को जह कवोडो ॥ २९१ ॥

व्याख्या—यः प्राभृतिकाभक्तं भुङ्क्ते न च तस्मात् प्राभृतिकापरिभोगरूपात् स्थानात्प्रतिक्रामति स 'बोडः' मुण्ड एवमेव–निष्फलमटति यथा लुञ्चितविलुञ्चितकपोतः । उक्तं प्राभृतिकाद्वारम्, अथ प्रादुष्करणद्वारं विभणिषुः प्रथमतस्तत्सम्भवं गाथाषट्केनाह—

लोयविरलुत्तमंगं तवोकिसं जल्लखउरियसरीरं । जुगमेत्तंतरदिट्ठिं अतुरियचवलं सगिहमिंतं ॥ २९२ ॥
दट्ठूण य अणगारं सड्ढी संवेगमागया काइ । विपुलन्नपाण घेत्तूण निग्गया निग्गओ सोऽवि ॥ २९३ ॥
नीयदुवारंमि घरे न सुज्झई एसणत्तिकाऊणं । नीहंमिए अगारी अच्छइ विलिया व गहिएणं ॥ २९४ ॥
चरणकरणालसंमि य अन्नंमि य आगए गहिय पुच्छा । इहलोगं परलोगं कहेइ चइउं इमं लोगं ॥ २९५ ॥
नीयदुवारंमि घरे भिक्खं निच्छंति एसणासमिया । जं पुच्छसि मज्झ कहं कप्पइ लिंगोवजीवीऽहं ॥ २९६ ॥
साहुगुणेसणकहणं आउट्टा तंमि तिप्पइ तहेव । कुक्कुडि चरंति एए वयं तु चिन्नव्वया बीओ ॥ २९७ ॥

व्याख्या—काचित् श्राविका 'अनगारं' साधुमेकाकिविहारिणं लोचविरलोत्तमाङ्गम्, अत्रोत्तमाङ्गशब्देनोत्तमाङ्गस्थाः केशा उच्यन्ते, ततोऽयमर्थः—लोचेन विरलोत्तमाङ्गकेशं तपःकृशं मलकलुषितशरीरं युगमात्रान्तरन्यस्तदृष्टिम् अत्वरितमचपलं स्वगृहमागच्छन्तं दृष्ट्वा संवेगमागता, ततो गृहमध्ये विपुलं भक्तं पानं च गृहीत्वा गृहमध्याद्विनिर्गता, सोऽपि च साधुर्नीचद्वारेऽस्मिन् गृहे न शुध्यति ममै-

उद्गमैषणायां प्रादुष्करणं. ७ साधुत्रयकथा

॥ ९३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	अथ 'प्रादुष्करणत' दोषस्य वर्णनं आरभ्यते

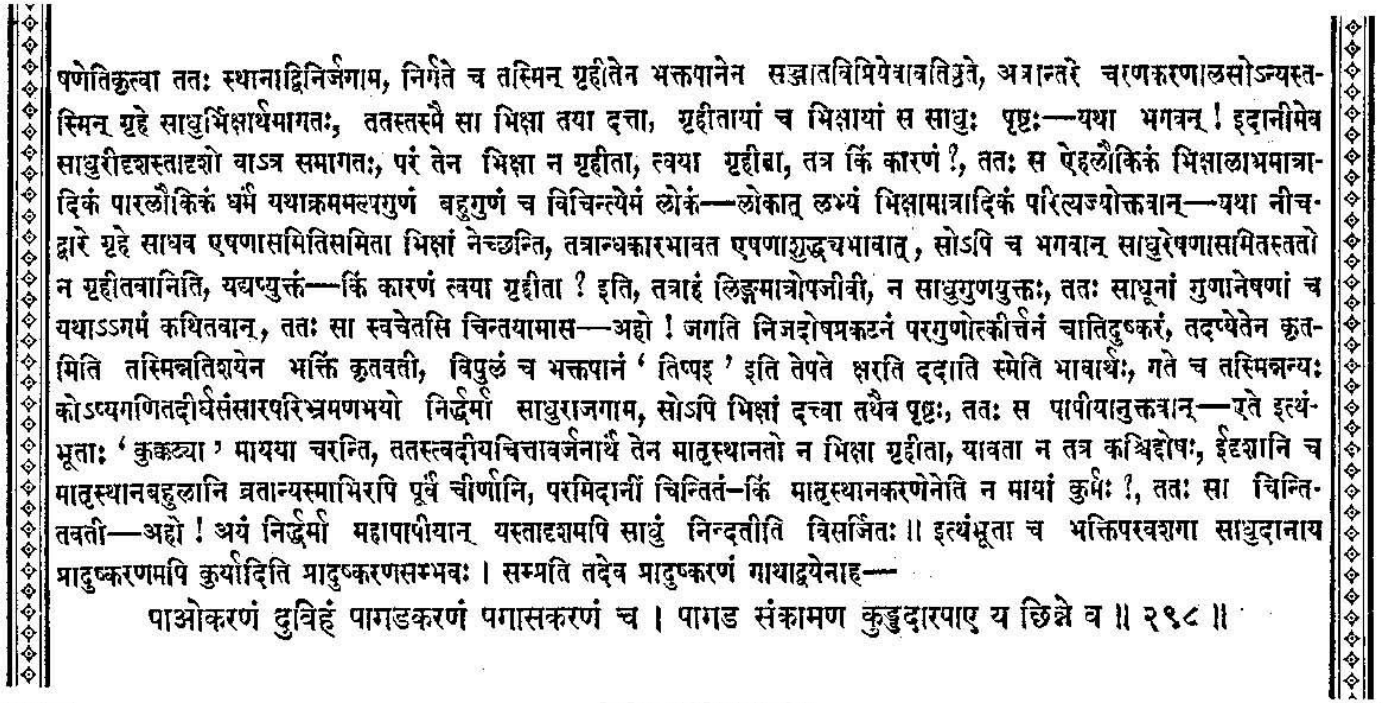

षणेतिकृत्वा ततः स्थानाद्विनिर्जगाम, निर्गते च तस्मिन् गृहीतेन भक्तपानेन सञ्जातविप्रियेवावतिष्ठते, अत्रान्तरे चरणकरणालसोऽन्यस्तस्मिन् गृहे साधुर्भिक्षार्थमागतः, ततस्तस्मै सा भिक्षा तया दत्ता, गृहीतायां च भिक्षायां स साधुः पृष्टः—यथा भगवन्! इदानीमेव साधुरीदृशस्तादृशो वाऽत्र समागतः, परं तेन भिक्षा न गृहीता, त्वया गृहीता, तत्र किं कारणं?, ततः स ऐहलौकिकं भिक्षालाभमात्रादिकं पारलौकिकं धर्मं यथाक्रममल्पगुणं बहुगुणं च विचिन्त्येमं लोकं—लोकात् लभ्यं भिक्षामात्रादिकं परित्यज्योक्तवान्—यथा नीचद्वारे गृहे साधव एषणासमितिसमिता भिक्षां नेच्छन्ति, तत्रान्धकारभावत एषणाशुद्धचभावात्, सोऽपि च भगवान् साधुरेषणासमितस्ततो न गृहीतवानिति, यद्यप्युक्तं—किं कारणं त्वया गृहीता ? इति, तत्राहं लिङ्गमात्रोपजीवी, न साधुगुणयुक्तः, ततः साधूनां गुणानेषणां च यथाऽऽगमं कथितवान्, ततः सा स्वचेतसि चिन्तयामास—अहो ! जगति निजदोषप्रकटनं परगुणोत्कीर्त्तनं चातिदुष्करं, तदप्येतेन कृतमिति तस्मिन्नतिशयेन भक्तिं कृतवती, विपुलं च भक्तपानं ' तिप्पइ ' इति तेपते क्षरति ददाति स्मेति भावार्थः, गते च तस्मिन्नन्यः कोऽप्यगणितदीर्घसंसारपरिभ्रमणभयो निर्द्धर्मा साधुराजगाम, सोऽपि भिक्षां दत्त्वा तथैव पृष्टः, ततः स पापीयानुक्तवान्—एते इत्थंभूताः ' कुकट्या ' मायया चरन्ति, ततस्त्वदीयचित्तावर्जनार्थं तेन मातृस्थानतो न भिक्षा गृहीता, यावता न तत्र कश्चिद्दोषः, ईदृशानि च मातृस्थानबहुलानि व्रतान्यस्माभिरपि पूर्वं चीर्णानि, परमिदानीं चिन्तितं—किं मातृस्थानकरणेनेति न मायां कुर्मः ?, ततः सा चिन्तितवती—अहो ! अयं निर्द्धर्मा महापापीयान् यस्तादृशमपि साधुं निन्दतीति विसर्जितः ॥ इत्थंभूता च भक्तिपरवशगा साधुदानाय प्रादुष्करणमपि कुर्यादिति प्रादुष्करणसम्भवः । सम्प्रति तदेव प्रादुष्करणं गाथाद्वयेनाह—

पाओकरणं दुविहं पागडकरणं पगासकरणं च । पागड संकामण कुड्डदारपाए य छिन्ने व ॥ २९८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

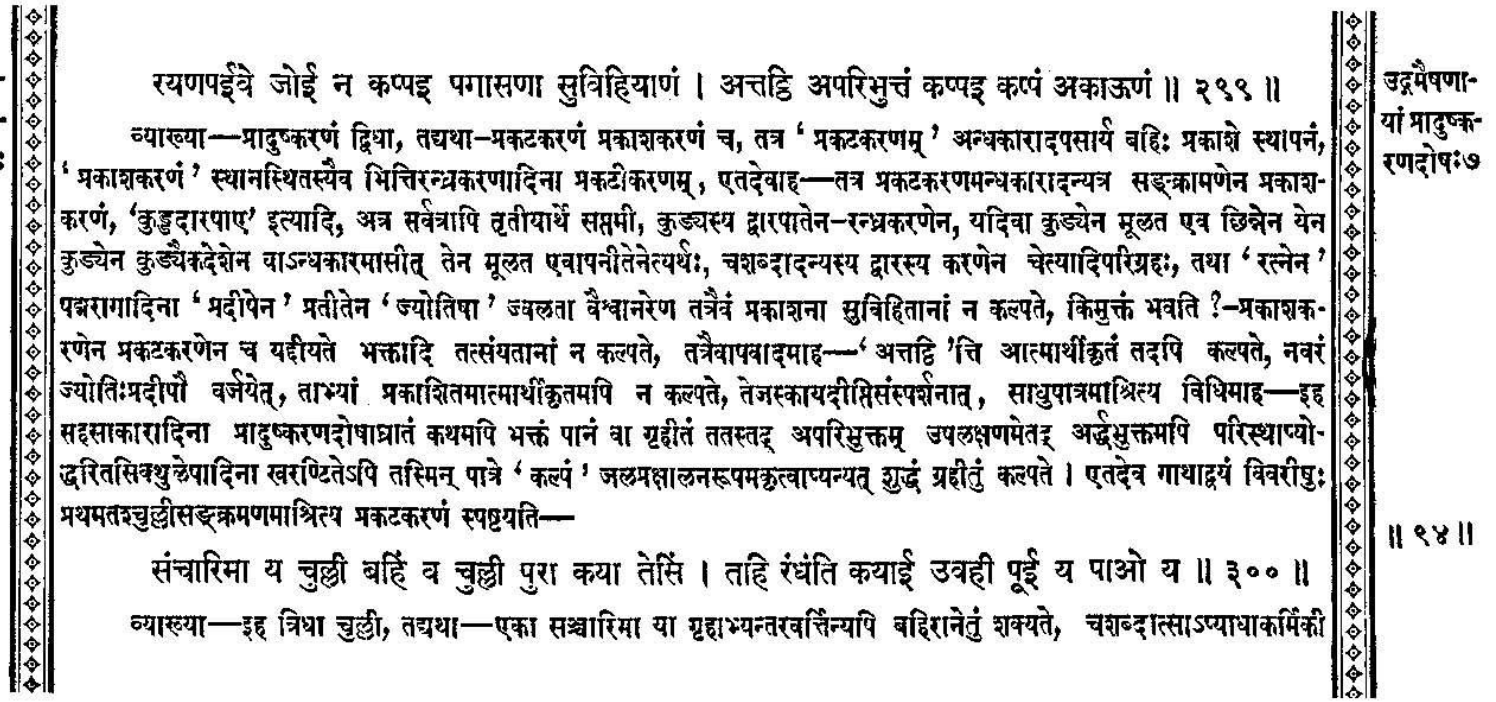

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ ९४ ॥

रयणपईवे जोई न कप्पइ पगासणा सुविहियाणं । अत्तट्ठि अपरिभुत्तं कप्पइ कप्पं अकाऊणं ॥ २९९ ॥

व्याख्या—प्रादुष्करणं द्विधा, तद्यथा–प्रकटकरणं प्रकाशकरणं च, तत्र 'प्रकटकरणम्' अन्धकारादपसार्य बहिः प्रकाशे स्थापनं, 'प्रकाशकरणं' स्थानस्थितस्यैव भित्तिरन्ध्रकरणादिना प्रकटीकरणम्, एतदेवाह—तत्र प्रकटकरणमन्धकारादन्यत्र सङ्क्रामणेन प्रकाशकरणं, 'कुड्डदारपाए' इत्यादि, अत्र सर्वत्रापि तृतीयार्थे सप्तमी, कुड्यस्य द्वारपातेन–रन्ध्रकरणेन, यदिवा कुड्येन मूलत एव छिन्नेन येन कुड्येन कुड्यैकदेशेन वाऽन्धकारमासीत् तेन मूलत एवापनीतेनेत्यर्थः, चशब्दादन्यस्य द्वारस्य करणेन चेत्यादिपरिग्रहः, तथा 'रत्नेन' पद्मरागादिना 'प्रदीपेन' प्रतीतेन 'ज्योतिषा' ज्वलता वैश्वानरेण तत्रैवं प्रकाशना सुविहितानां न कल्पते, किमुक्तं भवति ?–प्रकाशकरणेन प्रकटकरणेन च यदीयते भक्तादि तत्संयतानां न कल्पते, तत्रैवापवादमाह—'अत्तट्ठि'त्ति आत्मार्थीकृतं तदपि कल्पते, नवरं ज्योतिःप्रदीपौ वर्जयेत्, ताभ्यां प्रकाशितमात्मार्थीकृतमपि न कल्पते, तेजस्कायदीप्तिसंस्पर्शनात्, साधुपात्रमाश्रित्य विधिमाह—इह सदसाकारादिना प्रादुष्करणदोषाघ्रातं कथमपि भक्तं पानं वा गृहीतं ततस्तद् अपरिभुक्तम् उपलक्षणमेतद् अर्द्धभुक्तमपि परिस्थाप्योद्धरितसिक्थुलेपादिना खरण्टितेऽपि तस्मिन् पात्रे 'कल्पं' जलप्रक्षालनरूपमकृत्वाप्यन्यत् शुद्धं ग्रहीतुं कल्पते । एतदेव गाथाद्वयं विवरीषुः प्रथमतश्चुल्लीसङ्क्रमणमाश्रित्य प्रकटकरणं स्पष्टयति—

संचारिमा य चुल्ली बहिं व चुल्ली पुरा कया तेसिं । तहि रंधंति कयाई उवही पूई य पाओ य ॥ ३०० ॥

व्याख्या—इह त्रिधा चुल्ली, तद्यथा—एका सञ्चारिमा या गृहाभ्यन्तरवर्त्तिन्यपि बहिरानेतुं शक्यते, चशब्दात्साऽप्याधाकर्मिकी

उद्गमैषणायां प्रादुष्करणदोषः७

॥ ९४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्रष्टव्या, द्वितीया बहिरेव तेषां साधूनां निमित्तं चुल्ली पुरा कृता आसीत्, चशब्दात्तदानीं वा साधुनिमित्तं बहिश्चुल्ली कृता वेदितव्या, सा च तृतीया। ततो यदि कदाचित्तत्र तिसृणां चुल्लीनामन्यतमस्यां गृहस्था राध्यन्ति ततो द्वौ दोषौ, तद्यथा—उपकरणपूतिः प्रादुष्करणं च, यदा च चुल्ल्याः पृथक्कृतं तदेयं वस्तु तदा प्रादुष्करणरूप एवैकः केवलो दोषः, पूतिदोषस्तूत्तीर्णः, यदा चुल्ल्योऽपि शुद्धास्तदापि प्रादुष्करणरूप एवैको दोषः। यदर्थं प्रादुष्करणं गृहस्था कृतवती तं भिक्षायै गृहमागच्छन्तं दृष्ट्वा यदृजुत्वेन भाषते तदाह—

नेच्छह तमिसंमि तओ बाहिरचुल्लीएँ साहु सिद्धण्णे। इय सोउं परिहरए पुट्ठे सिट्ठंमिवि तहेव ॥ ३०१ ॥

व्याख्या—हे साधो! त्वं 'तमिस्रे' अन्धकारे भिक्षां नेच्छसि ततो बहिश्चुल्ल्यां सिद्धं पक्वम् 'अन्न'मिति अस्माभिर्भक्तमिति श्रुत्वा तया दीयमानं परिहरति, प्रादुष्करणदोषदुष्टत्वात्, तथा प्रादुष्करणशङ्कायां किमर्थमयमाहारोऽद्य गृहस्य बहिस्तात्पक्वः ?, इत्येवं पृष्टे तया ऋजुतया यथावस्थिते कथिते तथैव परिहरति, एतेनाद्यगाथायां 'संकामण' इत्यवयवो व्याख्यातः। नन्वयं सङ्क्रामणकृत आहारः केनापि प्रकारेण कल्पते? किं वा न ? इति, उच्यते, आत्मार्थीकृतः कल्पते, कथमस्यात्मार्थीकरणसम्भव ? इति चेदत आह—

मच्छियघम्मा अंतो बाहि पवायं पगासमासन्नं। इय अत्तट्ठियगहणं पागडकरणे विभासेयं ॥ ३०२ ॥

व्याख्या—साध्वर्थं पूर्वं बहिश्चुल्ल्यादि कृत्वा काचिदेवं चिन्तयति—गृहस्यान्तर्मक्षिका घर्मश्च, उपलक्षणमेतत्, तेनान्धकारं दूरं च पाकस्थानाद्भोजनस्थानमित्यादिपरिग्रहः, बहिश्च प्रवातं तेन मक्षिकादयो न भवन्ति, तथा प्रकाशमासन्नं च पाकस्थानाद्भोजनस्थानं, ततो वयमत्रैवात्मनिमित्तमपि सदैव पक्ष्याम इत्येवमात्मार्थीकृते ग्रहणं, कल्पते इति भावः। इयं प्रकटकरणे कल्प्याकल्प्यविषया विभाषा, सम्प्रति प्रकाशकरणं स्पष्टयन् 'कुड्डदारपाए' इत्यादि व्याचिख्यासुराह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ॥३०३॥ दीप अनुक्रम [३३१]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

कुड्डस्स कुणइ छिड्डं दारं वड्ढेइ कुणइ अन्नं वा । अवणेइ छायणं वा ठावइ रयणं व दिप्पंतं ॥ ३०३ ॥
जोइ पइवे कुणइ व तहेव कहणं तु पुट्ठ दुट्ठे वा । अत्तट्ठिए उ गहणं जोइ पइवे उ वज्जित्ता ॥ ३०४ ॥

व्याख्या—प्रकाशकरणार्थं कुड्यस्य छिद्रं करोति, यद्वा द्वारं लघु सद् 'वर्द्धयति' बृहत्तरं करोति, यदिवाऽन्यद्वितीयं द्वारं करोति, अथवा गृहस्योपरितनं छादनं स्फेटयति, यदिवा दीप्यमानं रत्नं स्थापयति, यद्वा—ज्योतिः प्रदीपं वा करोति, तथैवानन्तरोक्तेन प्रकारेण स्वयमेव यदिवा पृष्टे सति प्रादुष्करणे कथिते यद्भक्तादि प्रादुष्करणदोषदुष्टं तत् साधूनां न कल्पते। यदि पुनः प्राक्तनेन प्रकारेणात्मार्थीकरोति तदा ग्रहणं कल्पते इति भावः। ज्योतिःप्रदीपाभ्यां प्रकाशमात्मार्थीकृतमपि न कल्पते, तेजस्कायसंस्पर्शात्। सम्प्रति 'अपरिभुत्तं कप्पइ कप्पं अकाऊणं' इति व्याचिख्यासुराह—

पागडपयासकरणे कयंमि सहसा व अहवऽणाभोगा। गहियं विगिंचिऊणं गेण्हइ अन्नं अकयकप्पे ॥ ३०५ ॥

व्याख्या—प्रकटकरणे प्रकाशकरणे वा कृते सति यत् सहसाऽनाभोगतो वा गृहीतं तद् 'विगिंचिऊणं' परिष्ठाप्य तस्मिन् पात्रे उज्झिते लेशमात्रखरण्टितेऽपि 'अकृतकल्पे' जलप्रक्षालनरूपकल्पदानाभावेऽप्यन्यत् शुद्धं गृह्णाति, नास्ति कश्चिद्दोषो, विशोधिकोटित्वात् ॥ उक्तं प्रादुष्करणद्वारम्, अथ क्रीतद्वारमाह—

कीयगडंपि य दुविहं दव्वे भावे य दुविहमेक्केक्कं । आयकियं च परकियं परदव्वं तिविह चित्ताई ॥ ३०६ ॥

व्याख्या—क्रयणं क्रीतं तेन कृतं–निष्पादितं क्रीतकृतं, क्रीतमित्यर्थः, तदपि आस्तां प्रादुष्करणमित्यपिशब्दार्थः, 'द्विविधं' द्विप-

॥ ९५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	अथ 'क्रीत' दोषस्य वर्णनं आरभ्यते

कारं, तद्यथा—'दव्वे भावे य' अत्र तृतीयार्थे सप्तमी, ततोऽयमर्थः—द्रव्येण क्रीतं भावेन च क्रीतमित्यर्थः, पुनरप्येकैकं द्रव्यक्रीतं भावक्रीतं च प्रत्येकं द्विधा, तद्यथा—आत्मक्रीतं परक्रीतं च, आत्मद्रव्यक्रीतमात्मभावक्रीतं च परद्रव्यक्रीतं परभावक्रीतं चेत्यर्थः, तत्रात्मनास्वयमेव द्रव्येणोज्जयन्तभगवत्प्रतिमाशेषादिरूपेण प्रदानतः परमावर्ज्य यद्भक्तादि गृह्यते तदात्मद्रव्यक्रीतं, यत्पुनरात्मना स्वयमेव भक्ताद्यर्थं धर्मकथादिना परमावर्ज्य भक्तादि ततो गृह्यते तदात्मभावक्रीतं, तथा यत् परेण साधुनिमित्तं द्रव्येण क्रीतं तत्परद्रव्यक्रीतं, यत्पुनः परेण साध्वर्थं निजविज्ञानप्रदर्शनेनापरमावर्ज्य ततो गृहीतं तत्परभावक्रीतं, तत्र 'विचित्रा सूत्रगतिः'रिति प्रथमतः परद्रव्यक्रीतस्य स्वरूपमाह—परद्रव्यं–गृहस्थसत्कं द्रव्यं त्रिविधं, तद्यथा–'चित्तादि' सचित्तमचित्तं मिश्रं च, तेन परेण साध्वर्थं यत्क्रीतं तत्परद्रव्यक्रीतम् ॥ उक्तं परद्रव्यक्रीतं, सम्प्रति शेषं भेदत्रयं सामान्यतः कथयति—

आयकियं पुण दुविहं दव्वे भावे य दव्व चुन्नाई । भावंमि परस्सट्ठा अहवावी अप्पणा चेव ॥ ३०७ ॥

व्याख्या—आत्मक्रीतं पुनर्द्विविधं, तद्यथा–'दव्वे भावे य'त्ति अत्रापि तृतीयार्थे सप्तमी, ततोऽयमर्थः–आत्मनाऽपि क्रीतं द्विधा, तद्यथा–द्रव्येण भावेन च, तत्र द्रव्येण–चूर्णादिना वक्ष्यमाणेन, भावेन पुनः परस्य–साधोरर्थाय यन्निजविज्ञानप्रदर्शनादिनोपार्ज्यते तद्भावक्रीतं, परभावक्रीतमित्यर्थः, अथवा भावेन यदात्मना स्वयमेवाहारार्थं धर्मकथादिना परमावर्ज्य ततो गृह्यते तद्भावक्रीतम्, आत्मभावक्रीतमित्यर्थः । तदेवं सामान्यतस्त्रयोऽपि भेदा उक्ताः, सम्प्रत्यात्मद्रव्यक्रीतं सप्रपञ्चं विवरीषुरिदमाह—

निम्मल्लगंधगुलिया वन्नय पोत्ताइ आयकय दव्वे । गेलन्ने उड्डाहो पउणे चउगारि अहिगरणं ॥ ३०८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—'निर्माल्यं' तीर्थादिगतसप्रभावप्रतिमाशेषा 'गन्धाः' पटवासादयः 'गुलिका' मुखे प्रक्षेपकस्य स्वरूपपरावर्त्तादिकारिका गुटिका 'वर्णकः' चन्दनं 'पोतानि' लघुबालकयोग्यानि वस्त्रखण्डानि, आदिशब्दात्कण्डकादिपरिग्रहः, एतानि कार्ये कारणोपचारादात्मद्रव्यक्रीतानि, किमुक्तं भवति?—निर्माल्यादिप्रदानेन परमावर्ज्य यत्ततो भक्तादि गृह्यते तदात्मद्रव्यक्रीतमिति। अत्र दोषानाह—'गेलन्ने' इत्यादि, निर्माल्यप्रदानानन्तरं यदि कथमपि दैवयोगतो ग्लानता भवति तर्हि 'प्रवचनस्योड्डाहः' साधुनाऽहं ग्लानीकृत इत्यादि प्रजल्पनतः शासनस्य मालिन्योत्पत्तेः, अथ कथमपि 'प्रगुणः' नीरोगो भवति तर्हि स सर्वदा सर्वजनसमक्षं चटुकारी भवति, यथाऽहं साधुना प्रगुणीकृतोऽतिशयी चासौ साधुः सकलज्ञातव्यकुशलः परहितनिरत इत्यादि समक्षं परोक्षं वा सदैव प्रशंसां करोति, तथा च सत्यधिकरणं–भूयस्तस्याधिकरणप्रवृत्तिः, तादृशीं हि तस्य प्रशंसामाकर्ण्यान्योऽन्यः समागत्य तं साधुं निर्माल्यगन्धादि याचते, ततस्तत्प्रार्थनापरवशाः अधिकरणमपि समारभते। सम्प्रति परभावक्रीतं विवृण्वन्नाह—

वइयाइ मंखमाई परभावकयं तु संजयट्ठाए। उप्पायणा निमंतण कीडगडं अभिहडे ठविए ॥ ३०९ ॥

व्याख्या—'व्रजिका' लघुगोकुलम्, उपलक्षणमेतत्, तेन पत्तनादिपरिग्रहः, तत्र व्रजिकादौ 'मङ्खादिः' मङ्खः–कैदारको यः पटमुपदर्श्य लोकमावर्जयति, आदिशब्दात्तथाविधान्यपरिग्रहः, भक्तिवशात् संयतार्थं यद् घृतदुग्धादेरुत्पादनं करोति कृत्वा च निमन्त्रयति तत्परभावक्रीतं, परेण–मङ्खादिना संयतार्थं भावेन–स्वपटप्रदर्शनादिरूपेण क्रीतं परभावक्रीतम्, इत्थंभूते च परभावक्रीते त्रयो दोषाः, एकं तावत्क्रीतं, द्वितीयमन्यस्मादन्यस्माद्गृहादानीतमित्यभ्याहृतम्, आनीयानीय चैकत्र साधुनिमित्तं स्थाप्यत इति स्थापितं, तस्मात्तादृशमपि साधूनां न कल्पते। एतदेव गाथाद्वयेन स्पष्टयन्नाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सागारिं मंख छंदण पडिसेहो पुच्छ बहु गए वासे । कयरिं दिसिं गमिस्सह ? अमुइं तहिं संथवं कुणइ ॥ ३१० ॥
दिज्जंते पडिसेहो कज्जे घेत्थं निमंतणं जइणं । पुव्वगय आगएसुं संछुहई एगगेहंमि ॥ ३११ ॥

व्याख्या—शालिग्रामो नाम ग्रामः, तत्र देवशर्माभिधानो मङ्खः, तस्य च गृहैकदेशे कदाचित् केचित् साधवो वर्षाकालमवस्थिताः, स च मङ्खस्तेषां साधूनामनुष्ठानमरक्तद्विष्टतां चोपलभ्यातीव भक्तिपरीतो बभूव, प्रतिदिवसं च भक्तादिना निमन्त्रयति, साधवश्च शय्यातरपिण्डोऽयमिति प्रतिषेधन्ति, ततः स चिन्तयामास—यथैते मम गृहे भक्तादि न गृह्णन्ति यदि पुनरन्यत्र दापयिष्यामि तथापि न ग्रहीष्यन्ति, तस्माद्वर्षाकालानन्तरं यत्रामी गमिष्यन्ति तत्राग्रे गत्वा कथमप्येतेभ्यो ददामीति, ततः स्तोकशेषे वर्षाकाले साधवस्तेन पप्रच्छिरे—यथा भगवन् ! वर्षाकालानन्तरं कस्यां दिशि गन्तव्यं ?, ते च यथाभावं कथयामासुः—यथाऽमुकस्यां दिशि, ततः स तस्यामेव दिशि क्वचिद्गोकुले निजपटमुपदर्श्य वचनकौशलेन लोकमावर्जितवान्, लोकश्च तस्मै घृतदुग्धादिकं दातुं प्रावर्त्तिष्ट, ततः स बभाण—यदा याचिष्ये (याचे) तदा दातव्यमिति, साधवश्च वर्षाकालानन्तरं यथाविहारक्रमं तत्राजग्मुः, तेन चात्मानमज्ञापयता पूर्वप्रतिषिद्धघृतदुग्धादिकं प्रतिगृहं याचित्वैकत्र च गृहे संमील्य मुक्तं, ततः साधवो निमन्त्रिताः, तैश्च यथाशक्ति छद्मस्थदृष्ट्या परिभावितं, परं न लक्षितं, ततः शुद्धमितिकृत्वा गृहीतं, न च तेषां तथा गृह्णतां कश्चिद्दोषः, यथाशक्ति परिभावनेन भगवदाज्ञाया आराधितत्वात्, यदि पुनरित्थंभूतं कथमपि ज्ञायते तर्हि नियमतः परिहर्त्तव्यं, क्रीताभ्यवहृतस्थापनारूपदोषत्रयसद्भावादिति । सूत्रं सुगमं, नवरं 'सागारिकः' शय्यातरः 'संस्तवः' परिचयः, निजपटप्रदर्शनेन लोकावर्जनमिति तात्पर्यार्थः । तदेवमुक्तं परभावक्रीतं, सम्प्रत्यात्मभावक्रीतं स्पष्टयन्नाह—

धम्मकह वाय खमणं निमित्त आयावणे सुयट्ठाणे । जाई कुल गण कम्मे सिप्पम्मि य भावकीयं तु ॥ ३१२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३१२||

दीप अनुक्रम [३४०]

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ९७ ॥

व्याख्या—धर्मकथादिषु भावक्रीतं भवति, इयमत्र भावना–यत् परचित्तावर्जनार्थं धर्मकथां वादं 'क्षपणं' षष्ठाष्टमादिरूपं तपो निमित्तमातापनां वा करोति, यद्वा—श्रुतस्थानमाचार्योऽहमित्यादिकं कथयति, यदिवा जातिं कुलं गणं शिल्पं कर्म वा परेभ्यः प्रकटयति, इत्थं च परभावर्ज्य यत्ततो भक्तादि गृह्णाति तदात्मभावक्रीतं, यदा तु दुःखक्षयार्थं कर्मक्षयार्थं च धर्मकथादिकं यथायोगं करोति तदा स प्रवचनप्रभावकतया महानिर्जराभाग् भवति, उक्तं च—" पावयणी धम्मकही वाई नेमित्तिओ तवस्सी य । विज्जा सिद्धो य कई अट्ठेव पभावगा भणिया ॥ १ ॥ " सम्प्रति धर्मकथारूपं प्रथमं द्वारं प्रपञ्चयितुमाह—

धम्मकहाअक्खित्ते धम्मकहाउट्ठियाण वा गिण्हे । कड्ढंति साहवो चिय तुमं व कहि पुच्छिए तुसिणी ॥ ३१३ ॥

व्याख्या—आहाराद्यर्थं धर्मकथां कथयता यदा ते श्रोतारो धर्मकथया सम्यगाक्षिप्ता भवन्ति तदा तेषां पार्श्वे यद्याचते, ते हि तदा प्रहर्षमागताः सन्तोऽभ्यर्थिता न तिष्ठन्ति, यद्वा—धर्मकथात उत्थितानां सतां तेषां पार्श्वे यद्गृह्णाति तदात्मभावक्रीतम्, आत्मना—स्वयमेव भावेन–धर्मकथनरूपेण क्रीतमात्मभावकृतमिति, यद्वा–धर्मकथाकथकः कोऽपि प्रसिद्धो वर्त्तते, तदनुरूपाकारश्च विवक्षितः साधुः,ततस्तं श्रावकाः पृच्छन्ति–यः 'कथी' धर्मकथाकथकःश्रूयते, स किं त्वम् ? इति, ततः स भक्तादिलोभादेवं वक्ति–यथा साधव एव प्रायो धर्मकथां कथयन्ति, नान्यः, यदिवा तूष्णीं–मौनेनावतिष्ठते, ततस्ते श्रावका जानन्ते—यथा स एवायं, केवलं गम्भीरत्वादात्मानं न साक्षाद्वचसा प्रकाशयतीति, ततः प्रभूततरं तस्मै प्रयच्छन्ति, तच्च तेभ्यः प्रभूततरं लभ्यमानमात्मभावकृतम्, आत्मना—स्वयमेव भावेन—स्वयमसोऽपि कथकः सोऽहं कथक इति ज्ञापनलक्षणेन क्रीतमितिकृत्वा । अथवा—

१ प्रवचनी धर्मकथी वादी नैमित्तिकः तपस्वी च । विद्यावान् सिद्धश्च कविरष्टावेव प्रभावका भणिताः ॥ १ ॥

८क्रीतदोषः

॥ ९७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

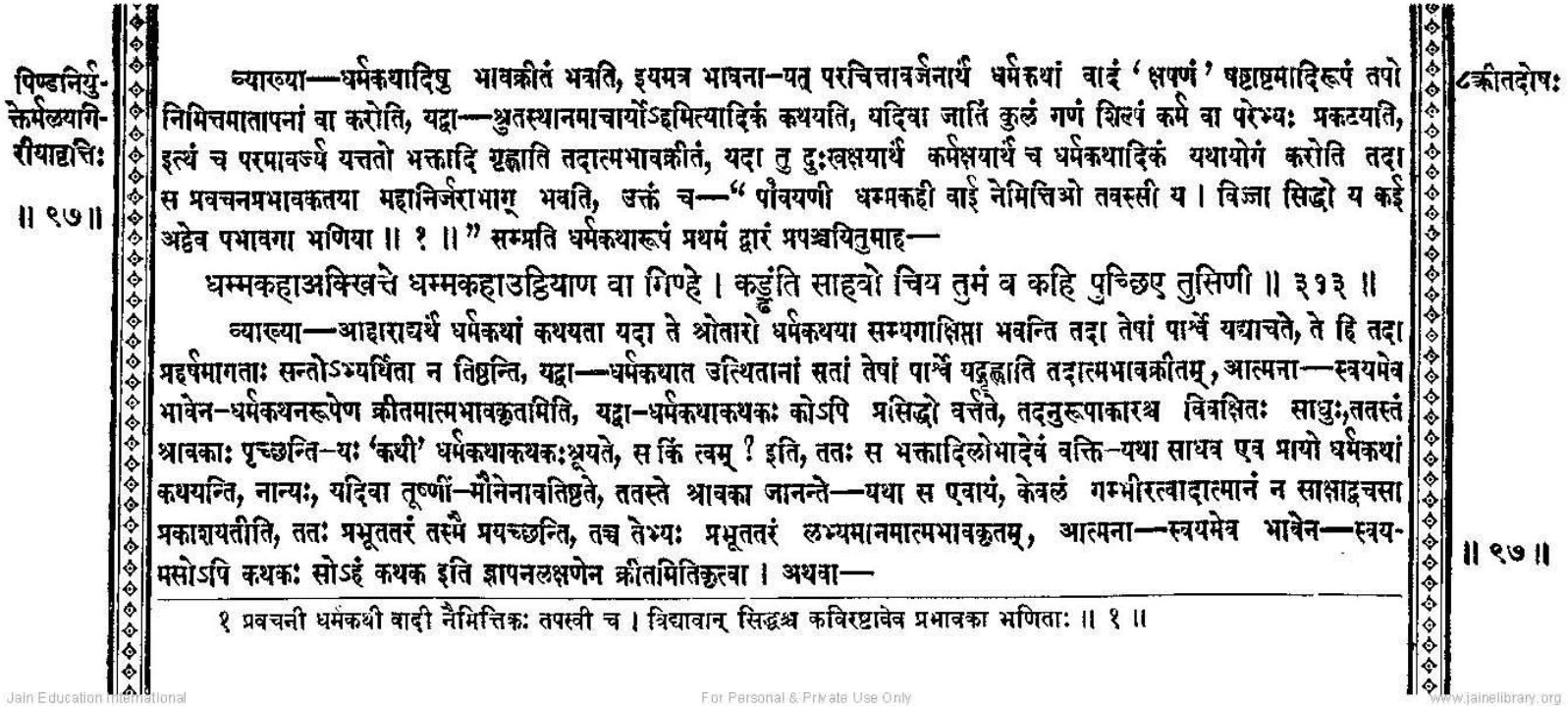

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥ ९७ ॥

व्याख्या—धर्मकथादिषु भावक्रीतं भवति, इयमत्र भावना–यत् परचित्तावर्जनार्थं धर्मकथां वादं 'क्षपणं' षष्ठाष्टमादिरूपं तपो निमित्तमातापनां वा करोति, यद्वा—श्रुतस्थानमाचार्योऽहमित्यादिकं कथयति, यदिवा जातिं कुलं गणं शिल्पं कर्म वा परेभ्यः प्रकटयति, इत्थं च परभावर्ज्य यत्ततो भक्तादि गृह्णाति तदात्मभावक्रीतं, यदा तु दुःखक्षयार्थं कर्मक्षयार्थं च धर्मकथादिकं यथायोगं करोति तदा स प्रवचनप्रभावकतया महानिर्जराभाग् भवति, उक्तं च—" पावयणी धम्मकही वाई नेमित्तिओ तवस्सी य । विज्जा सिद्धो य कई अट्ठेव पभावगा भणिया ॥ १ ॥ " सम्प्रति धर्मकथारूपं प्रथमं द्वारं प्रपञ्चयितुमाह—

धम्मकहाअक्खित्ते धम्मकहाउट्ठियाण वा गिण्हे । कड्ढंति साहवो चिय तुमं व कहि पुच्छिए तुसिणी ॥ ३१३ ॥

व्याख्या—आहाराद्यर्थं धर्मकथां कथयता यदा ते श्रोतारो धर्मकथया सम्यगाक्षिप्ता भवन्ति तदा तेषां पार्श्वे यद्याचते, ते हि तदा प्रहर्षमागताः सन्तोऽभ्यर्थिता न तिष्ठन्ति, यद्वा—धर्मकथात उत्थितानां सतां तेषां पार्श्वे यद्गृह्णाति तदात्मभावक्रीतम्, आत्मना—स्वयमेव भावेन–धर्मकथनरूपेण क्रीतमात्मभावकृतमिति, यद्वा–धर्मकथाकथकः कोऽपि प्रसिद्धो वर्त्तते, तदनुरूपाकारश्च विवक्षितः साधुः,ततस्तं श्रावकाः पृच्छन्ति–यः 'कथी' धर्मकथाकथकःश्रूयते, स किं त्वम् ? इति, ततः स भक्तादिलोभादेवं वक्ति–यथा साधव एव प्रायो धर्मकथां कथयन्ति, नान्यः, यदिवा तूष्णीं–मौनेनावतिष्ठते, ततस्ते श्रावका जानन्ते—यथा स एवायं, केवलं गम्भीरत्वादात्मानं न साक्षाद्वचसा प्रकाशयतीति, ततः प्रभूततरं तस्मै प्रयच्छन्ति, तच्च तेभ्यः प्रभूततरं लभ्यमानमात्मभावकृतम्, आत्मना—स्वयमेव भावेन—स्वयमसोऽपि कथकः सोऽहं कथक इति ज्ञापनलक्षणेन क्रीतमितिकृत्वा । अथवा—

१ प्रवचनी धर्मकथी वादी नैमित्तिकः तपस्वी च । विद्यावान् सिद्धश्च कविरष्टावेव प्रभावका भणिताः ॥ १ ॥

८क्रीतदोषः

॥ ९७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

પેજ બદલાવવું અહી મૂળ પ્રતનું પૃષ્ઠ ૯૮/૧ સ્કેન થયું નથી તેને બદલે પૃષ્ઠ ૯૭/૨ બે વખત સ્કેન થયેલ છે.

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३१६|| दीप अनुक्रम [३४६]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

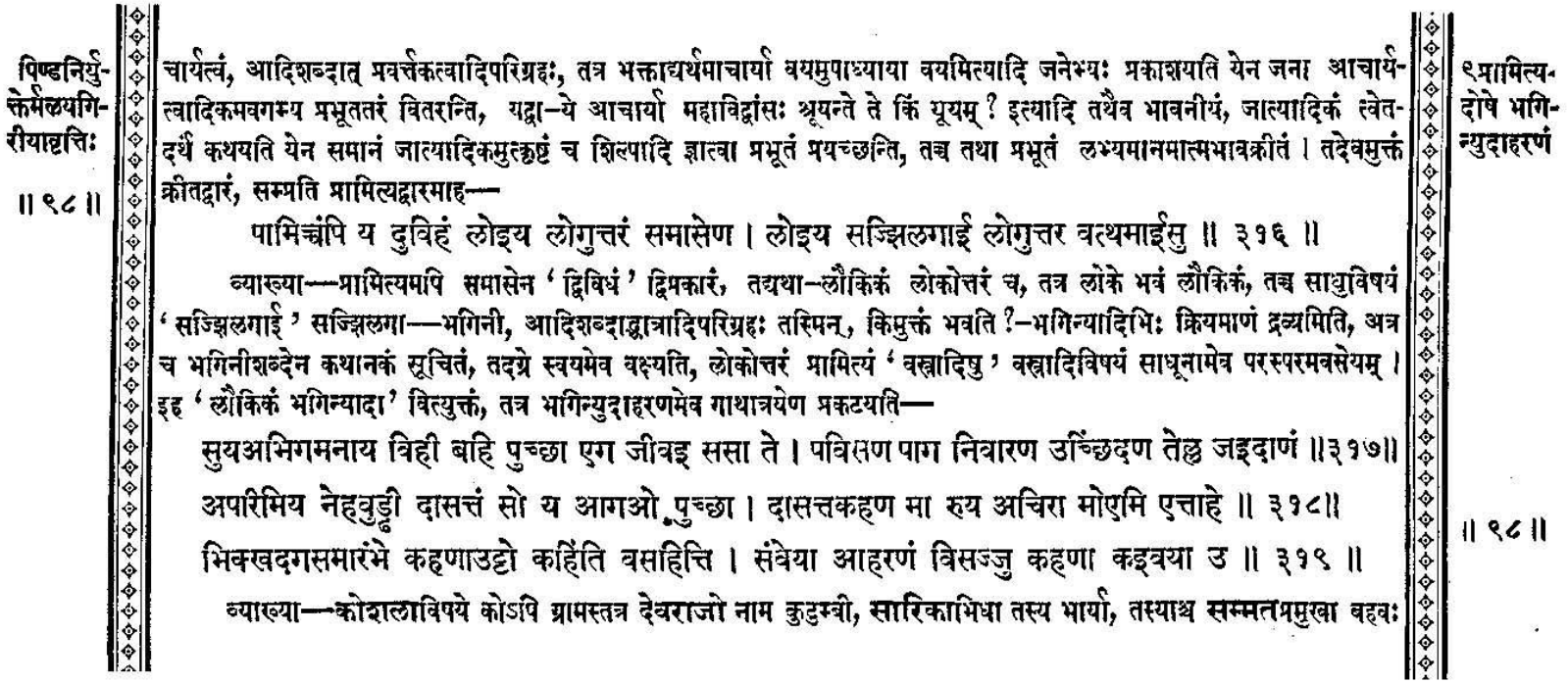

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥ ९८ ॥

चार्यत्वं, आदिशब्दात् प्रवर्त्तकत्वादिपरिग्रहः, तत्र भक्ताद्यर्थमाचार्या वयमुपाध्याया वयमित्यादि जनेभ्यः प्रकाशयति येन जना आचार्यत्वादिकमवगम्य प्रभूततरं वितरन्ति, यद्वा–ये आचार्या महाविद्वांसः श्रूयन्ते ते किं यूयम् ? इत्यादि तथैव भावनीयं, जात्यादिकं स्वेतदर्थं कथयति येन समानं जात्यादिकमुत्कृष्टं च शिल्पादि ज्ञात्वा प्रभूतं प्रयच्छन्ति, तच्च तथा प्रभूतं लभ्यमानमात्मभावक्रीतं । तदेवमुक्तं क्रीतद्वारं, सम्प्रति प्रामित्यद्वारमाह—

पामिच्चंपि य दुविहं लोइय लोगुत्तरं समासेण । लोइय सज्झिलगाई लोगुत्तर वत्थमाईसु ॥ ३१६ ॥

व्याख्या—प्रामित्यमपि समासेन 'द्विविधं' द्विप्रकारं, तद्यथा–लौकिकं लोकोत्तरं च, तत्र लोके भवं लौकिकं, तच्च साधुविषयं 'सज्झिलगाई' सज्झिलगा—भगिनी, आदिशब्दाद्भात्रादिपरिग्रहः तस्मिन्, किमुक्तं भवति ?–भगिन्यादिभिः क्रियमाणं द्रव्यमिति, अत्र च भगिनीशब्देन कथानकं सूचितं, तदग्रे स्वयमेव वक्ष्यति, लोकोत्तरं प्रामित्यं 'वस्त्रादिषु' वस्त्रादिविषयं साधूनामेव परस्परमवसेयम् । इह 'लौकिकं भगिन्यादा' वित्युक्तं, तत्र भगिन्युदाहरणमेव गाथात्रयेण प्रकटयति—

सुयअभिगमनाय विही बहि पुच्छा एग जीवइ ससा ते । पविसण पाग निवारण उच्छिदण तेल्ल जइदाणं ॥३१७॥

अपरिमिय नेहवुड्ढी दासत्तं सो य आगओ पुच्छा । दासत्तकहण मा रुय अचिरा मोएमि एत्ताहे ॥ ३१८॥

भिक्खदगसमारंभे कहणाउट्टो कहिंति वसहित्ति । संवेया आहरणं विसज्जु कहणा कइवया उ ॥ ३१९ ॥

व्याख्या—कोशलाविषये कोऽपि ग्रामस्तत्र देवराजो नाम कुटुम्बी, सारिकाभिधा तस्य भार्या, तस्याश्च सम्मतप्रमुखा बहवः

९प्रामित्य-दोषे भगिन्युदाहरणं

॥ ९८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	अथ 'प्रामित्य' दोषस्य वर्णनं आरभ्यते

सुताः, सम्मतिप्रभृतयश्च प्रभूता दारिकाः, तच्च सकलमपि कुटुम्बं परमश्रावकं, तथा तस्मिन्नेव ग्रामे शिवदेवो नाम श्रेष्ठी, तस्य भार्या शिवा, अन्यदा च समुद्रघोषाभिधाः सूरयः समागच्छन्, तेषां समीपे जिनप्रणीतं धर्ममाकर्ण्य जातसंवेगः सम्मतो दीक्षां गृहीतवान्, कालक्रमेण च गुरुचरणप्रसादतोऽतावे गीतार्थः समजनि । स चान्यदा चिन्तयामास–यदि मदीयः कोऽपि प्रव्रज्यां गृह्णाति ततः शोभनं भवति, इदमेव हि तात्त्विकमुपकारकरणं यत्संसाराणवादुत्तारणमिति, तत एवं चिन्तयित्वा गुरूनापृच्छ्य निजबन्धुग्रामे समागमत्, तत्र च बहिः प्रदेशे कमपि परिणतवयसं पृष्टवान् पुरुषं—यथाऽत्र देवराजाभिधस्य कुटुम्बिनः सत्कः कोऽपि विद्यते ? इति, स प्राह—मृतं सर्वमपि तस्य कुटुम्बं केवलमेका सम्मत्यभिधा विधवा पुत्रिका जीवतीति, ततः स तस्या गृहे जगाम, सा च भ्रातरमायान्तं दृष्ट्वा मनसि बहुमानमुद्वहन्ती वन्दित्वा कञ्चित्कालं पर्युपास्य च तन्निमित्तमाहारं पक्तुमुपतस्थे, साधुश्च तां निवारितवान्—यथा न कल्पतेऽस्माकमस्मन्निमित्तं किमपि कृतमिति, ततो भिक्षावेलायां सा दुर्गतत्वेनान्यत्र क्वचिदपि तैलमात्रमप्यलभमाना कथमपि शिवदेवाभिधस्य वणिजो विपणेस्तैलपलिकाद्वयं दिने दिने द्विगुणवृद्धिरूपेण कलान्तरेण समानीय भ्रात्रे दत्तवती, भ्रात्रा च तं वृत्तान्तमजानता शुद्धमिति ज्ञात्वा प्रतिजगृहे, सा च तदिनं भ्रातुः सकाशे धर्मं श्रुतवती, तेन न पानीयानयनादिना तत्तैलपलिकाद्वयं प्रवेशयितुं प्रपारितवती, द्वितीये च दिने भ्राता (यथा) विहारक्रमं गतः, ततस्तस्मिन्नपि दिने तद्वियोगशोकाकीर्णमानसतया न तत्तैलपलिकाद्वयं द्विगुणीभूतं प्रवेशयितुं शक्तवती, तृतीये च दिने कर्षद्वयमृणे जातं तच्चातिप्रभूतत्वान्न प्रवेशयितुं शक्यम्, अपिच भोजनमपि पानीयानयनादिना कर्त्तव्यं, ततो भोजनायैव यत्नविधौ सकलमपि दिनं जगामेति न ऋणं प्रवेशयितुं शक्नोति, ततो दिने दिने द्विगुणवृद्ध्या प्रवर्द्धमानमृणमपरिमितघटप्रमाणं जातं, ततः श्रेष्ठिना सा बभणे–यथा मम तैलं देहि यद्वा मे दासी भव, ततः सा तैलं दातुमशक्नुवती दासत्वं प्रतिपेदे, कियत्सु च वर्षेष्वतिक्रान्तेषु भूयो-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

ऽपि सम्मताभिधः साधुस्तस्मिन्नेव ग्रामे यथाविहारक्रममागमत्, सा च भगिनी स्वगृहे न दृष्टा, तत आगता सती पप्रच्छे, तया च प्राचीनः सर्वोऽपि व्यतिकरस्तस्मै न्यवेदि यावद्दासत्वं शिवदेवगृहे जातमिति, निवेद्य च स्वदुःखं रोदितुं प्रवृत्ता, ततः साधुरवोचत्–मा रोदीरचिरादहं त्वां मोचयिष्यामि, ततस्तस्या मोचनोपायं चिन्तयन् प्रथमतः शिवदेवस्यैव गृहे प्रविवेश, शिवा च तस्य भिक्षादानार्थं जलेन हस्तौ प्रक्षालयितुं लग्ना, तां च साधुर्निवारयामास, यथैवमस्माकं न कल्पते भिक्षेति, ततः समीपदेशवर्त्तीं श्रेष्ठी प्रोवाच–कोऽत्र दोषः ?, ततः साधुः कायविराधनादीन् दोषान् यथागमं सविस्तरमचीकथत् ततः स आदृतो भणति यथा भगवन् ! कुत्र युष्माकं वसतिर्येन तत्रागता वयं धर्मं शृणुमः ततः साधुरवादीत्–नास्ति मेऽद्यापि प्रतिश्रयः, ततस्तेन निजगृहैकदेशे वसतिरदायि, प्रतिदिनं च धर्मं शृणोति, सम्यक्त्वमणुव्रतानि च प्रतिपन्नानि, साधुश्च कदाचनापि वासुदेवादिपूर्वपुरुषाचीर्णाननेकानभिग्रहान् व्यावर्णयामास, यथा वासुदेवेनायमभिग्रहो जगृहे–यदि मदीयः पुत्रोऽपि प्रव्रज्यां जिघृक्षति ततोऽहं न निवारयामीत्यादि, एवं च श्रुत्वा शिवदेवोऽप्यभिग्रहं गृहीतवान्—यदि भगवन् ! मदीयोऽपि कोऽपि प्रव्रज्यां प्रतिपद्यते ततोऽहं न निवारयामीति, अत्रान्तरे च शिवदेवस्य तनयो ज्येष्ठः सा च साधुभगिनी सम्मतिः प्रव्रज्यां ग्रहीतुमुपतस्थे, श्रेष्ठिना च तौ द्वावपि विसर्जितौ, ततः प्रव्रज्यां प्रतिपन्नाविति । सूत्रं सुगमं, केवलं 'श्रुताधिगमज्ञातविधिः' श्रुताधिगमात् ज्ञातो विधिः—क्रियाविधिर्येन स तथा, अत्राह—नन्वेतत्प्रामित्यं साधुना विशेषतो ग्रहीतव्यं, परम्परया प्रव्रज्याकारणत्वात्, अत आह–'कइवया उ' एवंविधा गीतार्था विशिष्टश्रुतविदो देशनाविधिनिपुणाः कतिपया एव भवन्ति, न भूयांसः, कतिपयानामेव च प्रव्रज्यापरिणामः, ततः प्रामित्यं दोषायैव । तदेवं तैलविषये प्रामित्ये दोष उक्तः, सम्प्रत्यतिदेशेन वस्त्रादिविषये दोषानभिधित्सुराह—

एए चेव य दोसा सविसेसयरा उ वत्थपाएसुं । लोइयपामिच्चेसुं लोगुत्तरिया इमे अन्ने ॥ ३२० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

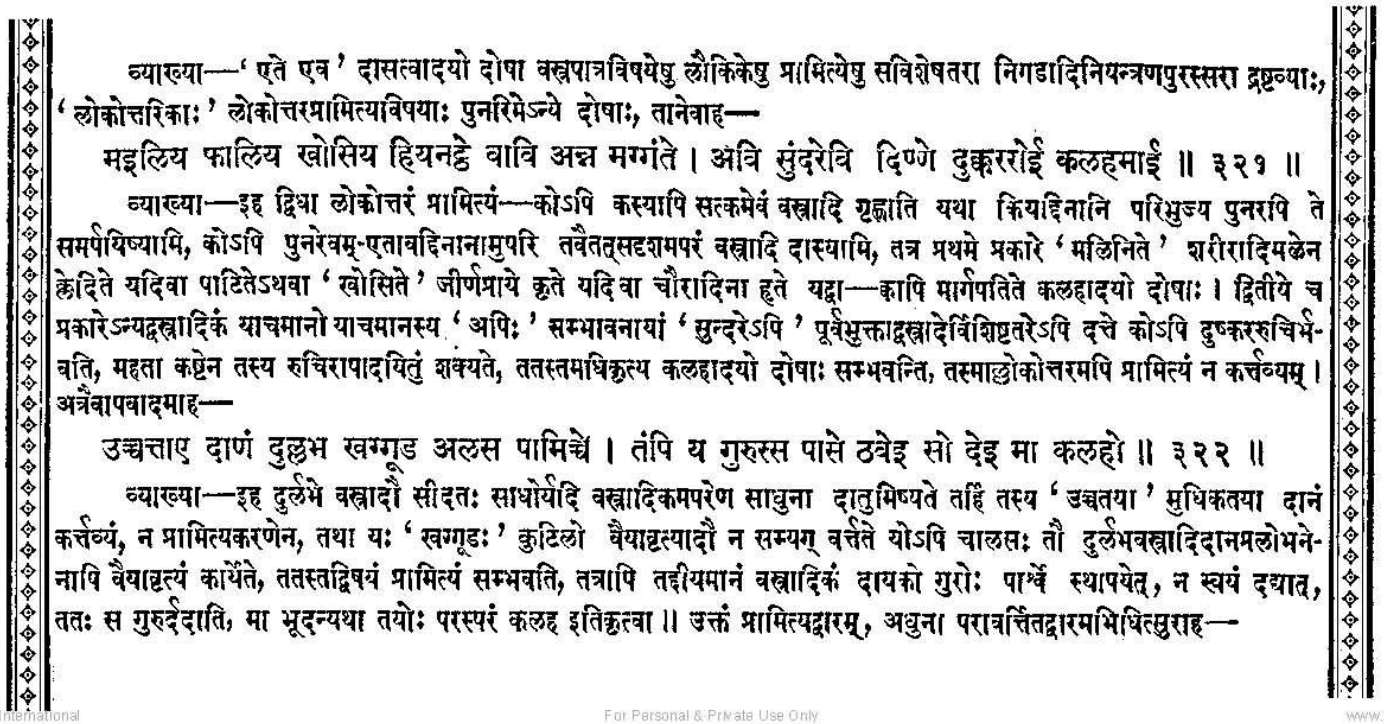

व्याख्या—' एते एव ' दासत्वादयो दोषा वस्त्रपात्रविषयेषु लौकिकेषु प्रामित्येषु सविशेषतरा निगडादिनियन्त्रणपुरस्सरा द्रष्टव्याः, ' लोकोत्तरिकाः ' लोकोत्तरप्रामित्यविषयाः पुनरिमेऽन्ये दोषाः, तानेवाह—

मइलिय फालिय खोसिय हियनट्ठे वावि अन्न मग्गंते । अवि सुंदरेवि दिण्णे दुक्कररोई कलहमाई ॥ ३२१ ॥

व्याख्या—इह द्विधा लोकोत्तरं प्रामित्यं—कोऽपि कस्यापि सत्कमेवं वस्त्रादि गृह्णाति यथा कियद्दिनानि परिभुज्य पुनरपि ते समर्पयिष्यामि, कोऽपि पुनरेवम्-एतावदिनानामुपरि तवैतत्सदृशमपरं वस्त्रादि दास्यामि, तत्र प्रथमे प्रकारे ' मलिनिते ' शरीरादिमलेन क्लेदिते यदिवा पाटितेऽथवा ' खोसिते ' जीर्णप्राये कृते यदिवा चौरादिना हृते यद्वा—क्वापि मार्गपतिते कलहादयो दोषाः । द्वितीये च प्रकारेऽन्यद्वस्त्रादिकं याचमानो याचमानस्य ' अपिः ' सम्भावनायां ' सुन्दरेऽपि ' पूर्वभुक्तादृस्त्रादेर्विशिष्टतरेऽपि दत्ते कोऽपि दुष्कररुचिर्भवति, महता कष्टेन तस्य रुचिरापादयितुं शक्यते, ततस्तमधिकृत्य कलहादयो दोषाः सम्भवन्ति, तस्माल्लोकोत्तरमपि प्रामित्यं न कर्त्तव्यम् । अत्रैवापवादमाह—

उच्चत्ताए दाणं दुल्लभ खग्गूड अलस पामिच्चे । तंपि य गुरुस्स पासे ठवेइ सो देइ मा कलहो ॥ ३२२ ॥

व्याख्या—इह दुर्लभे वस्त्रादौ सीदतः साधोर्यदि वस्त्रादिकमपरेण साधुना दातुमिष्यते तर्हि तस्य ' उच्चतया ' मुधिकतया दानं कर्त्तव्यं, न प्रामित्यकरणेन, तथा यः ' खग्गूडः ' कुटिलो वैयावृत्त्यादौ न सम्यग् वर्त्तते योऽपि चालसः तौ दुर्लभवस्त्रादिदानप्रलोभनेनापि वैयावृत्त्यं कार्येते, ततस्तद्विषयं प्रामित्यं सम्भवति, तत्रापि तदीयमानं वस्त्रादिकं दायको गुरोः पार्श्वे स्थापयेत्, न स्वयं दद्यात्, ततः स गुरुर्ददाति, मा भूदन्यथा तयोः परस्परं कलह इतिकृत्वा ॥ उक्तं प्रामित्यद्वारम्, अधुना परावर्त्तितद्वारमभिधित्सुराह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ॥३२३॥ दीप अनुक्रम [३५१]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

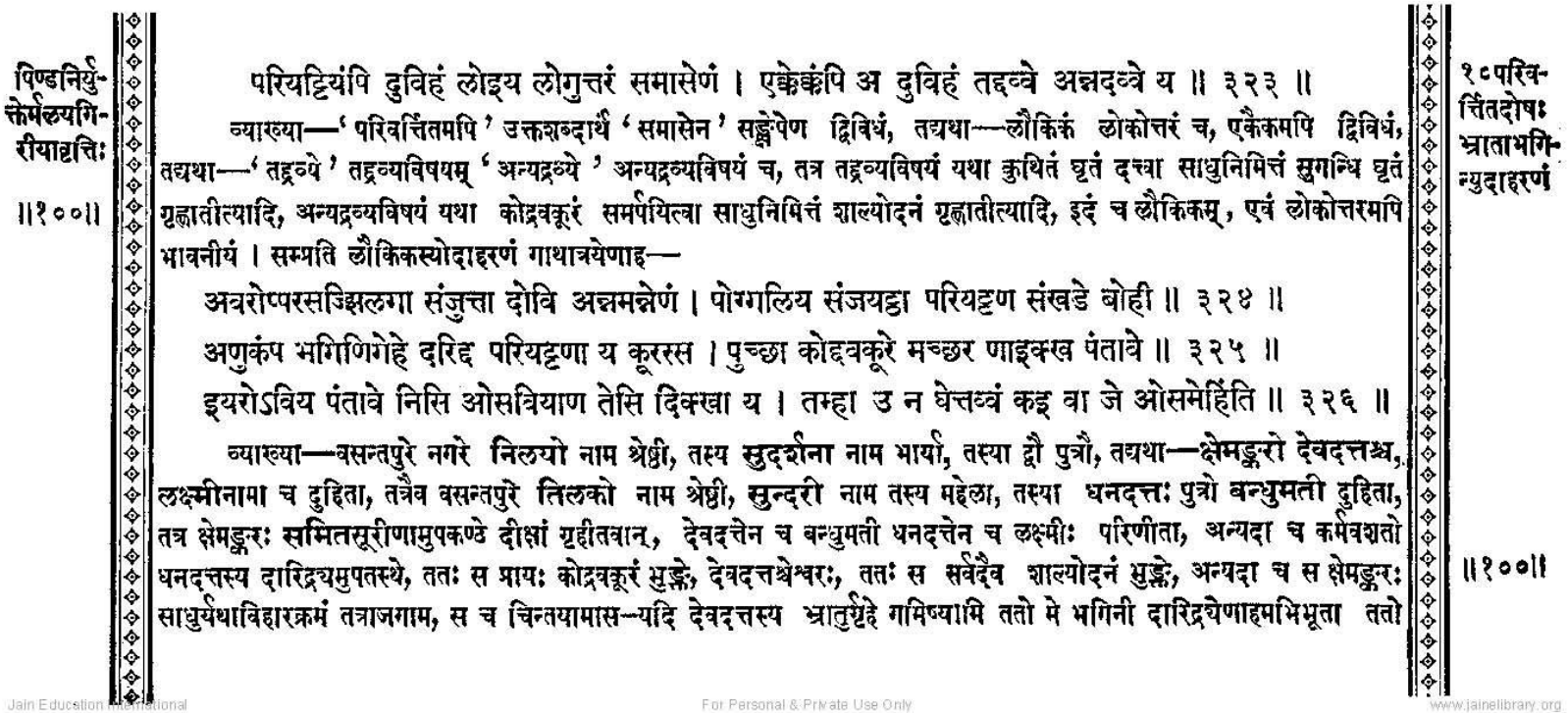

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥१००॥

परियट्टियंपि दुविहं लोइय लोगुत्तरं समासेणं । एक्केक्कंपि अ दुविहं तद्दव्वे अन्नदव्वे य ॥ ३२३ ॥

व्याख्या—'परिवर्त्तितमपि' उक्तशब्दार्थं 'समासेन' सङ्क्षेपेण द्विविधं, तद्यथा—लौकिकं लोकोत्तरं च, एकैकमपि द्विविधं, तद्यथा—'तद्द्रव्ये' तद्द्रव्यविषयम् 'अन्यद्द्रव्ये' अन्यद्द्रव्यविषयं च, तत्र तद्द्रव्यविषयं यथा कुथितं घृतं दत्त्वा साधुनिमित्तं सुगन्धि घृतं गृह्णातीत्यादि, अन्यद्द्रव्यविषयं यथा कोद्रवकूरं समर्पयित्वा साधुनिमित्तं शाल्योदनं गृह्णातीत्यादि, इदं च लौकिकम्, एवं लोकोत्तरमपि भावनीयं । सम्प्रति लौकिकस्योदाहरणं गाथात्रयेणाह—

अवरोप्परसज्झिलगा संजुत्ता दोवि अन्नमन्नेणं । पोग्गलिय संजयट्ठा परियट्टण संखडे बोही ॥ ३२४ ॥

अणुकंप भगिणिगेहे दरिद्द परियट्टणा य कूरस्स । पुच्छा कोद्दवकूरे मच्छर णाइक्ख पंतावे ॥ ३२५ ॥

इयरोऽविय पंतावे निसि ओसवियाण तेसि दिक्खा य । तम्हा उ न घेत्तव्वं कइ वा जे ओसमेहिंति ॥ ३२६ ॥

व्याख्या—वसन्तपुरे नगरे निलयो नाम श्रेष्ठी, तस्य सुदर्शना नाम भार्या, तस्या द्वौ पुत्रौ, तद्यथा—क्षेमङ्करो देवदत्तश्च, लक्ष्मीनामा च दुहिता, तत्रैव वसन्तपुरे तिलको नाम श्रेष्ठी, सुन्दरी नाम तस्य महेला, तस्या धनदत्तः पुत्रो बन्धुमती दुहिता, तत्र क्षेमङ्करः समितसूरीणामुपकण्ठे दीक्षां गृहीतवान्, देवदत्तेन च बन्धुमती धनदत्तेन च लक्ष्मीः परिणीता, अन्यदा च कर्मवशतो धनदत्तस्य दारिद्र्यमुपतस्थे, ततः स प्रायः कोद्रवकूरं भुङ्क्ते, देवदत्तश्चेश्वरः, ततः स सर्वदैव शाल्योदनं भुङ्क्ते, अन्यदा च स क्षेमङ्करः साधुर्यथाविहारक्रमं तत्राजगाम, स च चिन्तयामास—यदि देवदत्तस्य भ्रातुर्गृहे गमिष्यामि ततो मे भगिनी दारिद्र्येणाहमभिभूता ततो

१०परिवर्त्तितदोषः भ्रातृभगिन्युदाहरणं

॥१००॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	अथ 'परिवर्तित' दोषस्य वर्णनं आरभ्यते

न मम गृहे साधुरपि भ्राता समुत्तीर्ण इति परिभवं मंस्यते इति, ततोऽनुकम्पया तस्या एव गृहे प्रविवेश, भिक्षावेलायां च तया लक्ष्म्या चिन्तितं—यथैकं तावदयं भ्राता द्वितीयं साधुः तृतीयं प्राघूर्णकः, मम च गृहे कोद्रवकूरः, ततः कथमसावस्मै दीयते?, शाल्योदनश्च मम गृहे न विद्यते, ततो भ्रातृजायाया बन्धुमत्याः सकाशात् कोद्रवौदनपरावर्त्तनेन शाल्योदनमानीय ददामीति तथैव कृतम्, अत्रान्तरे च देवदत्तो भोजनार्थं स्वगृहमागतः, बन्धुमत्या च पप्रच्छे यथाऽद्य कोद्रवौदनो जेमितव्यः, तेन चाविज्ञातपरिवर्त्तनवृत्तान्तेन चिन्तितं–यथाऽनया कृपणतया कोद्रवौदनो राद्धो न शाल्योदनः, ततस्तां ताडयितुमारेभे, सा च ताड्यमाना प्राह—किं मां ताडयसि ?, तवैव भगिनी कोद्रवौदनं मुक्त्वा शाल्योदनं नीतवती, धनदत्तस्यापि च भोजनार्थमुपविष्टस्य यः शाल्योदनः क्षेमङ्करस्य दीयमान उद्धरितः स गौरवेण लक्ष्म्या परिवेषितः, ततस्तेन सा पृष्टा–कुतोऽयं शाल्योदनः ?, ततः कथितः सर्वोऽपि तया वृत्तान्तः, श्रुत्वा च तं वृत्तान्तं चुकोप धनदत्तो—यथा हा ! पापे ! किमिति त्वया मानमेकं शालेः पक्त्वा साधवे शाल्योदनो न दत्तो यत्परगृहादानयनेन मम मालिन्यमापादितं, ततस्तेनापि सा ताडिता, साधुना चायं वृत्तान्तो गृहद्वयवर्त्ती सर्वोऽपि जनपरम्परातः शुश्रुवे, ततो निशि सर्वाण्यपि तानि प्रतिबोधितानि, यथेत्थमस्माकं न कल्पते परमजानता मया गृहीतम्, अत एव च कलहादिदोषसम्भवाद्भगवता प्रतिषिद्धं, ततो जिनप्रणीतं धर्मं सविस्तरं कथितवान्, जातः सर्वेषामपि संवेगो, दत्ता च दीक्षा तेषां सर्वेषामिति । सूत्रं सुगमं, नवरम् ' अवरुप्परसज्झिलगा ' इति लक्ष्मीदेवदत्तौ बन्धुमतीधनदत्तौ परस्परं ' सज्झिलगौ ' भ्रातरौ, ते च ' द्वे अपि ' लक्ष्मीबन्धुमत्यौ ' अन्नमन्नेणं 'ति अन्योऽन्यमपि सम्बद्धे देवदत्तस्य भगिनी लक्ष्मीर्धनदत्तेन धनदत्तस्यापि भगिनी बन्धुमती देवदत्तेन परिणीता इत्यर्थः, ' पोग्गलिय 'त्ति पौद्गलिकस्य शाल्योदनस्य ' संयतार्थं ' क्षेमङ्करसाधुनिमित्तं परिवर्त्तनं कृतं, ततः ' संखडं ' कलहस्ततः ' बोधिः ' प्रव्रज्या, अस्या

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३२६||

दीप अनुक्रम [३५४]

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥१०१॥

एव गाथाया विवरणभूतमुत्तरं गाथाद्वयं, तदपि च सुगमं, नवरं 'मच्छर'त्ति विभक्तिलोपात् मत्सरेण 'नाइक्ख'त्ति परिवर्त्तनेऽकथिते 'पंतावे' अताडयत्, 'उवसमियाण'त्ति उपशमितानां, ननु परिवर्त्तनमपीदं प्रव्रज्यायाः कारणं बभूव ततो विशेषतः साधुभिरिदमाचरणीयमत आह–'कइ व'त्ति कति वा कियन्तो 'वा क्षेमङ्करसाधुसदृशा भविष्यन्ति ये इत्थं परिवर्त्तनसमुत्थं कलहमपनीय प्रव्रज्यां ग्राहयिष्यन्ति, तस्मान्नैवेदमाचरणीयम् । उक्तं लौकिकं परिवर्त्तनम्, अथ लोकोत्तरं तदुक्तव्यं, तत्र यत् साधुः साधुना सह वस्त्रादिपरिवर्त्तनं करोति तल्लोकोत्तरं परिवर्त्तनं, तत्र दोषानुपदर्शयति—

ऊणहिय दुब्बलं वा खर गुरु छिन्न मइलं असीयसहं । दुव्वन्नं वा नाउं विपरिणमे अन्नभणिओ वा ॥ ३२७ ॥

व्याख्या—वस्त्रपरिवर्त्तने कृते सतीदं न्यूनं यत्तु मदीयं वस्त्रं बभूव तन्मानयुक्तं—प्रमाणोपपन्नं, यद्वा इदमधिकं मदीयं पुनर्मानयुक्तमेवं सर्वत्र भावना, नवरं 'दुर्ब्बलं' जीर्णप्रायं 'खरं' कर्कशस्पर्शं 'गुरुः' स्थूलसूत्रनिष्पन्नतया भारयुक्तं 'छिन्नं' निपुष्पकं 'मलिनं' मलाविलम् 'अशीतसहं' शीतरक्षणाक्षमं' 'दुर्व्वर्णं' विरूपच्छायम्, इत्थंभूतं स्वयमेव ज्ञात्वा 'विपरिणमेत्' घृष्टोऽहमिति विचिन्तयेत्, यद्वा–अन्येन साधुना खग्गूडेन भणित उत्त्रासितो विपरिणमेत् । अत्रैवापवादमाह—

एगस्स माणजुत्तं न उ बिइए एवमाइ कज्जेसु । गुरुपामूले ठवणं सो दलयइ अन्नहा कलहो ॥ ३२८ ॥

व्याख्या—एकस्य साधोर्यस्य सत्कं तन्न भवति तस्य 'मानयुक्तं' प्रमाणोपपन्नं वस्त्रादि, न द्वितीये–द्वितीयस्य साधोर्यस्य सत्कं तस्य मानयुक्तं, किन्तु ?—न्यूनमधिकं वा, तत एवमादिषु कार्येषु समुत्पन्नेषु परिवर्त्तनस्य सम्भवो भवति, तत्र परिवर्त्तनस्य सम्भवे

१०परिवर्त्तितदोषः भ्राताभगिन्युदाहरणं

॥१०१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यस्य सत्कं तद्वस्त्रादि तेन गुरुपादमूले तस्य वस्त्रादेः स्थापनं कर्त्तव्यं, गुरुपादमूले मोक्तव्यमित्यर्थः, ततो वृत्तान्तः कथनीयः, वृत्तान्ते च कथिते सति स गुरुर्ददाति 'अन्यथा' गुरुपादमूलस्थापनाद्यभावे 'कलहः' परस्परं राटिः सम्भवतीति। उक्तं परिवर्तितद्वारम्, अथाभ्याहृतद्वारमाह—

आइन्नमणाइन्नं निसीहऽभिहडं च नोनिसीहं च। निसिहाभिहडं ठप्पं वोच्छामी नोनिसीहं तु ॥ ३२९ ॥

व्याख्या—अभ्याहृतं द्विधा, तद्यथा–आचीर्णमनाचीर्णं च, तत्रानाचीर्णं द्विधा, तद्यथा–निशीथाभ्याहृतं नोनिशीथाभ्याहृतं च, तत्र निशीथम्—अर्द्धरात्रं तत्रानीतं किल प्रच्छन्नं भवति, एवं साधूनामपि यदविदितमभ्याहृतं तन्निशीथाभ्याहृतमिव निशीथाभ्याहृतं, तद्विपरीतं नोनिशीथाभ्याहृतं–यत्साधूनामभ्याहृतमिति विदितं भवति, तत्र निशीथाभ्याहृतं स्थाप्यम्, अग्रे वक्ष्यते इति भावः, सम्प्रति पुनर्वक्ष्यामि नोनिशीथाभ्याहृतं ॥ प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

सग्गाम परग्गामे सदेस परदेसमेव बोद्धव्वं। दुविहं तु परग्गामे जलथल नावोडु जंघाए ॥ ३३० ॥

व्याख्या—नोनिशीथाभ्याहृतं द्विविधं, तद्यथा–'स्वग्रामे' स्वग्रामविषयं 'परग्रामे' परग्रामविषयं, तत्र यस्मिन् ग्रामे साधुर्निवसति स किल स्वग्रामः, शेषस्तु परग्रामः, तत्र 'परग्रामे' परग्रामविषयमभ्याहृतं द्विविधं, तद्यथा–स्वदेशं परदेशं च, स्वदेशपरग्रामाभ्याहृतं परदेशपरग्रामाभ्याहृतं चेत्यर्थः। तत्र स्वदेशो यत्र देशे मण्डले साधुर्वर्त्तते, शेषस्तु परदेशः। एतद्विविधमपि प्रत्येकं द्विधा, तद्यथा—'जलथल'त्ति 'सूचनात्सूत्र'मितिकृत्वा जलपथेनाभ्याहृतं स्थलपथेनाभ्याहृतं च, तत्र जलपथेनाप्यभ्याहृतं द्विधा–नावा उडुपेन च, उपलक्षणमेतत्, तेन स्तोकजलसम्भावनायां जङ्घाभ्यामपि, तत्र नौः–तरिका उडुपः–तरणकाष्ठं तुम्बकादि चोडुपग्रहणेन गृहीतं द्रष्टव्यं, स्थलपथेनाप्यभ्या-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	अथ 'अभ्याहृत' दोषस्य वर्णनं आरभ्यते

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥१०२॥

हृतं द्विधा, तथथा—जङ्घाभ्यां-पद्भ्याम्, उपलक्षणमेतत्, तेन गन्त्र्यादिना च ॥ तत्रामूनेव जलस्थलाभ्याहृतभेदान् सप्रपञ्चं विभावयन् दोषान् प्रदर्शयति—

जंघा बाह तरीइ व जले थले खंध आरखुरनिबद्धा । संजमआयविराहण तहियं पुण संजमे काया ॥ ३३१ ॥
अत्थाहगाहपंकामगरोहारा जले अवाया उ । कंटाहितेणसावय थलंमि एए भवे दोसा ॥ ३३२ ॥

व्याख्या—तत्र जलमार्गे स्तोकजलसम्भावनायां जङ्घाभ्याम् अस्ताधसम्भावनायां बाहुभ्यां यदिवा तरिकया, उपलक्षणमेतत्, उडुपेन चाभ्याहृतं सम्भवति, स्थलमार्गे तु स्कन्धेन यद्वा 'आरखुरनिबद्ध'त्ति अत्र तृतीयार्थे प्रथमा, ततोऽयमर्थः—आरकनिबद्धा गन्त्री तया खुरनिबद्धा रासभबलीवर्दादयस्तैः, अत्र च दोषाः संयमविराधनाऽऽत्मविराधना च, 'तत्र' संयमाऽऽत्मविराधनामध्ये संयमविषया विराधना जलमार्गे स्थलमार्गे च 'काया' अप्कायादयो विराध्यमाना द्रष्टव्याः । जलमार्गे आत्मविराधनामाह—'अत्थाह' इत्यादि, अत्र प्राकृतत्वात् क्वचिद्विभक्तिलोपः क्वचिद्विभक्तिपरिणामश्च, ततोऽयमर्थः—अस्ताधे पदादिभिरलभ्यमानेऽधोभूभागेऽधोनिमज्जनलक्षणोऽपायो भवति, तथा 'ग्राहेभ्यः' जलचरविशेषेभ्यः यद्वा 'पङ्कतः' कलरूपात् अथवा मकरेभ्यः, यदिवा 'ओहारे'त्ति कच्छपेभ्यः, उपलक्षणमेतत्, अन्येभ्यश्च पादबन्धकतन्त्वादिभ्यः 'अपाया' विनाशादयो दोषाः सम्भवन्ति । स्थलमार्गे आत्मविराधनामाह–'कंटे'त्यादि कण्टकेभ्यो यदिवाऽहिभ्यो यद्वा स्तेनेभ्योऽथवा श्वापदेभ्यः, उपलक्षणमेतत्, ज्वराद्युत्पादकपरिश्रमादिभ्यश्च 'स्थले' स्थलमार्गे एत एवापायरूपा दोषाः प्रतिपत्तव्याः ॥ उक्तमनार्चीर्णं परग्रामाभ्याहृतं नोनिशीथं, सम्प्रति तदेव स्वग्रामाभ्याहृतं नोनिशीथं गाथाद्वयेनाह—

११अभ्याहृतदोषः ॥१०२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सग्गामेऽवि य दुविहं घरंतरं नोघरंतरं चेव । तिघरंतरा परेणं घरंतरं तं तु नायव्वं ॥ ३३३ ॥

नोघरंतरऽणेगविहं वाडगसाहीनिवेसणगिहेसु । काये खंधे मिम्मय कंसेण व तं तु आणेज्जा ॥ ३३४ ॥

व्याख्या—'स्वग्रामेऽपि' स्वग्रामविषयमप्यभ्याहृतं द्विविधं, तद्यथा–गृहान्तरं नोगृहान्तरं च, तत्र त्रिगृहान्तरात् परेण–त्रीणि गृहाण्यन्तरं कृत्वा परतो यदानीतं तद्गृहान्तरं, एवं च सति किमुक्तं भवति ?—यद्गृहत्रयमध्यादानीयते उपयोगश्च त(य)त्र सम्भवति तदाचीर्णमवसेयं, नोगृहान्तरमनेकविधं, तच्च वाटकादिविषयं, तत्र 'वाटकः' परिच्छन्नः प्रतिनियतः सन्निवेशः 'साही' वर्त्तनी सैवैकाऽपान्तराले विद्यते न तु गृहान्तरमित्यर्थः 'निवेशनम्' एकनिष्क्रमणप्रवेशानि द्व्यादिगृहाणि 'गृहं' केवलं मन्दिरम्, एतच्च सकलमपि वाटकादिविषयमनाचीर्णमनुपयोगसम्भवे वेदितव्यं, तदपि च गृहान्तराख्यं नोगृहान्तराख्यं च नोनिशीथं स्वग्रामाभ्याहृतं प्रतिलाभयितुमीप्सितस्य साधोरुपाश्रयमानयेत् कापोत्या यदिवा स्कन्धेन, उपलक्षणमेतत्, तेन करादिना च, यदिवा मृन्मयेन भाजनेन यद्वा कांस्येन ॥ सम्प्रत्यस्यैव स्वग्रामविषयनोनिशीथाभ्याहृतस्य सम्भवमाह—

सुन्नं व असइ कालो पगयं व पहेणगं व पासुत्ता । इय एइ काइ घेत्तुं दीवेइ य कारणं तं तु ॥ ३३५ ॥

व्याख्या—इह साधुर्भिक्षामटन् कापि गृहे प्रविष्टः, परं तत्तदानीं 'शून्यं' बहिर्निर्गतमानुषमासीत्, यद्वाऽद्यापि तत्र राध्यते इति 'असन्' अविद्यमानो भिक्षाकालः, यदिवा तत्र प्रकृतं–गौरवार्हस्वजनभोजनादिकं वर्त्तते, न ततो तदानीं साधवे भिक्षा दातुं प्रपारिता, यदिवा विहृत्य साधोर्गतस्य पश्चात् 'प्रहेणकं' लाहनकमागतं, तच्चोत्कृष्टत्वात् किल साधवे दातव्यम्, अथवा तदा श्राविका 'प्रसुप्ता' शयि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ताऽऽसीत्, ततो न साधवे भिक्षा दत्ता इति, एतैः कारणैः काचित् श्राद्धिका स्वगृहाद्गृहीत्वा साधोरुपाश्रयमानयेत्, तच्चानयनस्य कारणं तदा शून्यं गृहमासीदित्यादिरूपं 'दीपयति' प्रकाशयति, तत एवं नोनिशीथस्वग्रामाभ्याहृतसम्भवः। तदेवमुक्तं स्वग्रामपरग्रामभेदभिन्नं नोनिशीथाभ्याहृतम्, अथ स्वग्रामपरग्रामभेदभिन्नमेव निशीथाभ्याहृतमतिदेशेनाह—

एमेव कमो नियमा निसीहऽभिहडेऽवि होइ नायव्वो। अविइअदायगभावं निसीहिअं तं तु नायव्वं ॥ ३३६ ॥

व्याख्या—य एव क्रमः स्वग्रामपरग्रामादिको नोनिशीथाभ्याहृत उक्तः स एव निशीथाभ्याहृतेऽपि नियमात् ज्ञातव्यः। सम्प्रति निशीथाभ्याहृतस्वरूपं कथयति—'अविइय' इत्यादि, अविदितो—यतिना न विज्ञातो दायकस्याभ्याहृतदानपरिणामो यत्र तदविदितदायकभावं निशीथाभ्याहृतमवगन्तव्यं, किमुक्तं भवति?—सर्वथा साधुनाऽभ्याहृतत्वेन यदपरिज्ञातं तन्निशीथाभ्याहृतमिति॥ परग्रामाभ्याहृतस्य निशीथस्य सम्भवं गाथाचतुष्टयेनाह—

अइदूरजलंतरिया कम्मासंकाऍ मा न घेच्छंति। आणंति संखडीओ सड्ढो सड्ढी व पच्छन्नं ॥ ३३७ ॥
निग्गम देउल दाणं दियाइ सन्नाइ निग्गए दाणं। सिट्ठंमि सेसगमणं दिंतऽन्ने वारयंतऽन्ने ॥ ३३८ ॥
भुंजण अजीरपुरिमड्ढगाइ अच्छंति भुत्तसेसं वा। आगमनिसीहिगाई न भुंजई सावगासंका ॥ ३३९ ॥
उक्खित्तं निक्खिप्पइ आसगयं मल्लगंमि पासगए। खामित्तु गया सड्ढा तेऽवि य मु(सु)द्धा असढ भावा ॥३४०॥

व्याख्या—कचिद्ग्रामे धनावहप्रमुखा बहवः श्रावकाः धनवतीप्रभृतयश्च श्राविकाः, एते च सर्वेऽप्येककुटुम्बवर्त्तिनः। अन्यदा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तेषामावसथे वीवाहः समजनि, वृत्ते च तस्मिन् प्रचुरं मोदकाद्युद्धरितं, ततस्तैरचिन्ति–यथैतत्साधुभ्यो दीयतां येन महत्पुण्यमस्माकमुपजायते, अथ च केचित्साधवो दूरेऽवतिष्ठन्ते, केचित्पुनः प्रत्यासन्नाः, परमन्तराले नदी विद्यते, ततस्तेऽप्यप्कायविराधनाभयतो नागमिष्यन्ति, आगता अपि च प्रचुरं मोदकादिकमवलोक्य कथ्यमानमपि शुद्धमाधाकर्मशङ्कया न ग्रहीष्यन्ति ततो यत्र ग्रामे साधवो निवसन्ति तत्रैव प्रच्छन्नं गृहीत्वा व्रजाम इति, तथैव च कृतं, ततो भूयोऽपि चिन्तयन्ति—यदि साधूनाहूय दास्यामस्ततोऽशुद्धमाशङ्क्य ते न ग्रहीष्यन्ति तस्मात् द्विजादिभ्योऽपि किमपि दद्मः, तच्च तथा दीयमानमपि यदि साधवो न प्रेक्षिष्यन्ते ततस्तदवस्थैव तेषामशुद्धाशङ्का भविष्यति ततो यत्रोच्चारादिकार्यार्थं निर्गताः सन्तः साधवः प्रेक्षन्ते तत्र दद्म इति, एवं च चिन्तयित्वा विवक्षिते कस्मिंश्चित्प्रदेशे कस्यचिद्देवकुलस्य बहिर्भागे द्विजादिभ्यः स्तोकं स्तोकं दातुमारब्धं, तत उच्चारादिकार्यार्थं विनिर्गताः केचन साधवो दृष्टाः, ततस्ते निमन्त्रिता यथा भोः ! साधवः ! अस्माकमुद्धरितं मोदकादि प्रचुरमवतिष्ठते ततो यदि युष्माकं किमप्युपकरोति तर्हि तत्प्रतिगृह्यतामिति, साधवोऽपि शुद्धमित्यवगम्य प्रत्यगृह्णन्, तैश्च साधुभिः शेषाणामपि साधूनामुपादेशि—यथाऽमुकस्मिन् प्रदेशे प्रचुरमेषणीयमशनादि लभ्यते, ततस्तेऽपि तद्ग्रहणाय समाजग्मुः, तत्र चैके श्रावकाः प्रचुरं मोदकादिकं प्रयच्छन्ति, अन्ये च माठस्थानतो निवारयन्ति, यथैतावदीयतां माऽधिकं, शेषमस्माकं भोजनाय भविष्यति, अन्ये पुनस्तानेव निवारयतः प्रतिषेधयन्ति—यथा न कोऽप्यस्माकं भोक्ष्यते, सर्वेऽपि प्रायो भुक्ताः, ततः स्तोकमात्रेण किञ्चिदुद्धरितेन प्रयोजनं, तस्माद्यथेच्छं साधुभ्यो दीयतामिति । साधवश्च ये नमस्कारसहितप्रत्याख्यानास्ते भुक्ताः, ये च पौरुषीप्रत्याख्यानास्ते भुञ्जाना वर्त्तन्ते, ये चाजीर्णवन्तः पूर्वार्द्धादि प्रतीक्षमाणा वर्त्तन्ते ते नाद्यापि भुञ्जते, श्रावकाश्च चिन्तयामासुः—यथेदानीं साधवो भुक्ता भविष्यन्ति, ततो वन्दित्वा निजस्थानं व्रजाम इति, एवं चिन्तयित्वा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समधिकप्रहरवेलाया साधुवसतावागत्य नैषेधिक्यादिकां सकलामपि श्रावकक्रियां कृतवन्तः, ततो ज्ञातं यथाऽमी श्रावकाः परमविवेकिनो, ज्ञाताश्च परम्परया विवक्षितग्रामवास्तव्याः, ततः सम्यग्विमर्शतो निश्चितं—नूनमस्मन्निमित्तमेतत् स्वग्रामादभ्याहृतमिति, ततो यैर्भुक्तं तैर्भुक्तमेव, ये त्वद्यापि पूर्वार्द्धादि प्रतीक्षमाणा न भुञ्जते तैर्न भुक्तं, येऽपि च भुञ्जाना अवतिष्ठन्ते, तैरपि यः कवल उत्क्षिप्तः स भाजनेऽमुच्यत, यत्तु मुखे प्रक्षिप्तं नाद्यापि गिलितं तन्मुखाद्विनिःसार्य समीपस्थापिते मल्लके प्रक्षिप्तं, शेषं तु भाजनगतं सर्वमपि परिष्ठापितं, श्रावकाः श्राविकावर्गश्च सर्वोऽपि क्षमयित्वा स्वस्थानं जगाम, तत्र ये भुक्ता ये चार्द्धभुक्तास्ते[ऽपि] सर्वेऽप्यशठभावा इति शुद्धाः। सूत्रं सुगमं, केवलम् 'अइदूरजलंतरिय'त्ति केचिदतिदूरे केचिन्नद्याऽन्तरिताः॥ उक्तं परग्रामाभ्याहृतनिशीथम्, अथ स्वग्रामाभ्याहृतं तदेव गाथाद्वयेनाह—

लद्धं पहेणगं मे अमुगत्थगयाएँ संखडीए वा। वंदणगट्ठपविट्ठा देइ तयं पट्ठिय नियत्ता॥ ३४१॥

नीयं पहेणगं मे नियगाणं निच्छियं व तं तेहिं। सागारि सयज्झियं वा पडिकुट्ठा संखडे रुट्ठा॥ ३४२॥

व्याख्या—इह काचिदभ्याहृताशङ्कानिवृत्त्यर्थं किमपि गृहं प्रति प्रस्थिता, ततो निवृत्ता सति साधोः प्रतिलाभनायोपाश्रयं प्रविश्य साधुसम्मुखमेवमाह—भगवन्! प्रहेणकमिदममुकस्मिन् गृहे गतया लब्धं, यद्वा कापि सङ्खड्यां, सम्प्रति वन्दनार्थमत्र प्रविष्टा, ततो यदि युष्माकमिदमुपकरोति तर्हि प्रतिगृह्यतामिति तकदानीतं ददाति, यद्वा एवमाह—'निजकानां' स्वजनानामर्थाय प्रहेणकं मया स्वगृहात् नीतं, परं तैर्नेप्सितं, ततः स्वजनगृहात् प्रतिनिवृत्ता वन्दनार्थमत्रागतेति, ततस्तददाति। यदिवा मायया काचिदभ्याहृतमानीय सागारिकां-शय्यातरीं यद्वा 'सइज्झियं' वसतीप्रवेशनीं पूर्वगृहीतसङ्केतां यथा साधवः शृण्वन्ति तथा प्रवक्ति—गृहाणेदं प्रहेणकमिति, तया च मातृ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्थानतः प्रतिषिद्धा यथा त्वयाऽप्यमुकस्मिन् दिने मदीयं प्रहेणकं न जग्रहे ततोऽहमपि त्वदीयं न ग्रहीष्यामीत्येवं निषिद्धा, ततः साऽपि मातृस्थानतः किञ्चित्परुषं प्रत्युक्तवती, द्वितीययाऽपि तथैव भाषितं, तत एवं परस्परं 'संखडे' कलहे सति सा प्रहेणकनेत्री 'रुष्टा' रोषवती वन्दनार्थं वसतौ प्रविशति, ततोऽनन्तरवृत्तं वृत्तान्तं कथयित्वा तदानीं ददाति। उक्तं स्वग्रामाभ्याहृतमपि निशीथं, सम्प्रत्यनाचीर्णं निगमयन्नाचीर्णस्य भेदानाह—

एयं तु अणाइन्नं दुविहंपि य आहडं समक्खायं। आइन्नंपि य दुविहं देसे तह देसदेसे अ ॥ ३४३ ॥

व्याख्या—'एतत्' पूर्वोक्तमभ्याहृतं निशीथनोनिशीथभेदाद् यद्वा स्वग्रामपरग्रामभेदाद्विविधमप्याख्यातमनाचीर्णम्—अकल्पनीयं, सम्प्रत्याचीर्णं वक्ष्ये, तदपि द्विविधं, तद्यथा–देशे देशदेशे च। सम्प्रति देशस्य देशदेशस्य च स्वरूपमाह—

हत्थसयं खलु देसो आरेणं होइ देसदेसो य। आइन्नंमि(उ)तिगिहा ते चिय उवओगपुव्वागा ॥ ३४४ ॥

व्याख्या—'हस्तशतं' हस्तशतप्रमितं क्षेत्रं देशः, हस्तशतादाराद्धस्तशतमध्ये इत्यर्थः, देशदेशः, तत्र हस्तशतप्रमाणे आचीर्णे यदि गृहाणि त्रीणि भवन्ति नाधिकानि ततः कल्पते, तान्यपि चेद्गृहाण्युपयोगपूर्वकाणि भवन्ति, उपयोगस्तत्र दातुं शक्यत इत्यर्थः, ततः कल्पते नान्यथेति। सम्प्रति गृहत्रयव्यतिरेकेण हस्तशतादिसम्भवं तद्विषयं कल्प्याकल्प्यविधिं चाह—

परिवेसणपंतीए दूरपवेसो य घंघसालगिहे। हत्थसया आइन्नं गहणं परओ उ पडिकुट्ठं ॥ ३४५ ॥

व्याख्या—परिवेष्यते–भोजनं दीयते येभ्यस्ते परिवेषणाः–भुञ्जानाः पुरुषास्तेषां पङ्क्तिः–श्रेणिस्तस्यां, तत्र ह्येकस्मिन् पर्यन्ते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३४५||

दीप अनुक्रम [३७६]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

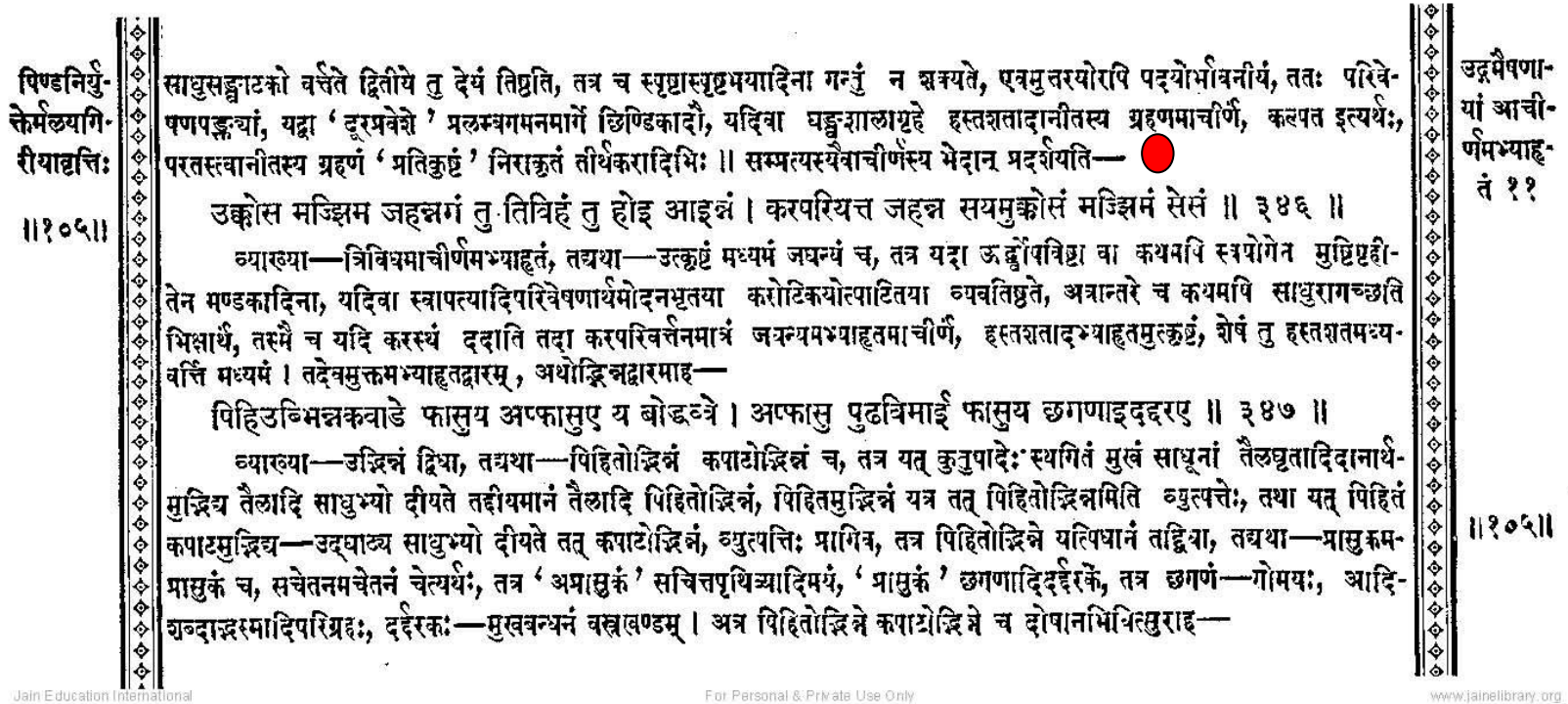

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥१०५॥

साधुसङ्घाटको वर्त्तते द्वितीये तु देयं तिष्ठति, तत्र च स्पृष्टास्पृष्टभयादिना गन्तुं न शक्यते, एवमुत्तरयोरपि पदयोर्भावनीयं, ततः परिवेषणपङ्क्त्यां, यद्वा 'दूरप्रवेशे' प्रलम्बगमनमार्गे छिण्डिकादौ, यदिवा घङ्कशालागृहे हस्तशतादानीतस्य ग्रहणमाचीर्णं, कल्पत इत्यर्थः, परतस्त्वानीतस्य ग्रहणं 'प्रतिकुष्टं' निराकृतं तीर्थकरादिभिः ॥ सम्प्रत्यस्यैवाचीर्णस्य भेदान् प्रदर्शयति— ●

उक्कोस मज्झिम जहन्नगं तु तिविहं तु होइ आइन्नं । करपरियत्त जहन्नं सयमुक्कोसं मज्झिमं सेसं ॥ ३४६ ॥

व्याख्या—त्रिविधमाचीर्णमभ्याहृतं, तद्यथा—उत्कृष्टं मध्यमं जघन्यं च, तत्र यदा ऊर्द्ध्वोपविष्टा वा कथमपि स्वप्रयोगेन मुष्टिपृथुहीतेन मण्डकादिना, यदिवा स्वापत्यादिपरिवेषणार्थमोदनभृतया करोटिकयोत्पाटितया व्यवतिष्ठते, अत्रान्तरे च कथमपि साधुरागच्छति भिक्षार्थं, तस्मै च यदि करस्थं ददाति तदा करपरिवर्त्तनमात्रं जघन्यमभ्याहृतमाचीर्णं, हस्तशतादभ्याहृतमुत्कृष्टं, शेषं तु हस्तशतमध्यवर्त्ति मध्यमं । तदेवमुक्तमभ्याहृतद्वारम्, अथोद्भिन्नद्वारमाह—

पिहिउब्भिन्नकवाडे फासुय अप्फासुए य बोद्धव्वे । अप्फासु पुढविमाई फासुय छगणाइदद्दरए ॥ ३४७ ॥

व्याख्या—उद्भिन्नं द्विधा, तद्यथा—पिहितोद्भिन्नं कपाटोद्भिन्नं च, तत्र यत् कुतुपादेः स्थगितं मुखं साधूनां तैलघृतादिदानार्थमुद्भिद्य तैलादि साधुभ्यो दीयते तदीयमानं तैलादि पिहितोद्भिन्नं, पिहितमुद्भिन्नं यत्र तत् पिहितोद्भिन्नमिति व्युत्पत्तेः, तथा यत् पिहितं कपाटमुद्भिद्य—उद्घाट्य साधुभ्यो दीयते तत् कपाटोद्भिन्नं, व्युत्पत्तिः प्रागिव, तत्र पिहितोद्भिन्ने यत्पिधानं तद्विधा, तद्यथा—प्रासुकमप्रासुकं च, सचेतनमचेतनं चेत्यर्थः, तत्र 'अप्रासुकं' सचित्तपृथिव्यादिमयं, 'प्रासुकं' छगणादिदर्दरकं, तत्र छगणं—गोमयः, आदिशब्दाद्भस्मादिपरिग्रहः, दर्दरकः—मुखबन्धनं वस्त्रखण्डम् । अत्र पिहितोद्भिन्ने कपाटोद्भिन्ने च दोषानभिधित्सुराह—

उद्गमैषणायां आचीर्णमभ्याहृतं ११

॥१०५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

● अत्र एका प्रक्षेप-गाथा वर्तते. सा मया संपादित: 'आगमसुत्ताणि' मूलं वा सटीकं पुस्तके वर्तते

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३४८||

दीप अनुक्रम [३७७]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

उब्भिन्ने छक्काया दाणे कयविक्कए य अहिगरणं । ते चेव कवाडंमिवि सविसेसा जंतमाईसु ॥ ३४८ ॥

व्याख्या—उद्भिन्ने–पिहितोद्भिन्ने षट् कायाः—उद्भेदकाले षट् कायाः पृथिवीकायादयो विराध्यन्ते, ततः प्रथमतः साधुनिमित्तं कुतुपादिमुखे उद्भिन्ने सति पुत्रादिभ्यस्तैलादिप्रदाने, तथा क्रयविक्रये–क्रये विक्रये चाधिकरणं—पापप्रवृत्तिरुपजायते, तथा एत एव षट्कायविराधनादयो दोषाः 'कपाटेऽपि' कपाटोद्भिन्नेऽपि सविशेषास्तु 'यन्त्रादिषु' यन्त्ररूपकपाटादिषु द्रष्टव्याः, तत्र यान्यतीव सम्पुटमागतानि कुञ्चिकया चोद्घाट्यन्ते यानि च दर्दरकोपरि पिट्टणिकाया एकदेशवर्त्तिनि मालप्रवेशरूपद्वारे तानि यन्त्ररूपकपाटानि आदिशब्दात्परिघादिग्रहः । सम्प्रत्येनामेव गाथां व्याचिख्यासुः प्रथमतः 'उब्भिन्ने छक्काया' इत्यवयवं व्याख्यानयन् गाथाद्वयमाह—

सच्चित्तपुढविलित्तं लेलु सिलं वाऽवि दाउमोलित्तं । सच्चित्तपुढविलेवो चिरंपि उदगं अचिरलित्ते ॥ ३४९ ॥

एवं तु पुव्वलित्ते काया उब्भिंपणेऽवि ते चेव । तिम्मेउं उवलिंपइ जउमुद्दं वावि तावेउं ॥ ३५० ॥

व्याख्या—इह कुतुपादिमुखं दर्दरकोपरि कदाचित् 'लेलुं' लेष्टुं शिलां वा—पाषाणखण्डं प्रक्षिप्य जलार्द्रीकृतसचित्तपृथिवीकायलिप्तं भवति, तत्र सचित्तपृथिवीलेपः सचित्तः सन् चिरकालमप्यवतिष्ठते, उदकं तु 'अचिरलिप्ते' अचिरकाललिप्ते सम्भवति, किमुक्तं भवति?—यदि चिरकालसचित्तपृथिवीकायलिप्तमुद्घिद्यते तर्हि सचित्तपृथिवीकायविनाशोऽचिरलिप्ते तूद्घिद्यमानेऽप्कायस्यापि विनाशः, अचिरलिप्तमप्यत्रान्तर्मुहूर्त्तकालस्य मध्यवर्त्तिं द्रष्टव्यम्, अन्तर्मुहूर्तानन्तरं पृथिवीकायशस्त्रसम्पर्केण उदकमचित्तीभवति, ततो न तद्विराधनादोषः, उपलक्षणमेतत्, तेन त्रसादेरपि तदाश्रितस्य विनाशसम्भवो द्रष्टव्यः । एवम्–अनेन प्रकारेण पूर्वलिप्ते साध्वर्थमुद्घिद्य-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ 'उद्भिन्न' दोषस्य वर्णनं आरभ्यते

माने दोषा उक्ताः, एत एव पृथिवीकायादिविराधनादोषा उपलिप्यमानेऽपि कुतुपादिमुखात्तैलघृतादिकं साधवे दत्त्वा शेषस्य रक्षणार्थं भूयोऽपि कुतुपादिमुखे स्थग्यमाने द्रष्टव्याः, तथाहि-भूयोऽपि कुतुपादिमुखं सचित्तपृथिवीकायेन जलार्द्रीकृतेनोपलिम्पति, ततः पृथिवीकायविराधनाऽप्कायविराधना च, पृथिवीकायमध्ये च मुद्गादयः कीटिकादयश्च सम्भवन्ति ततस्तेषामपि विराधना । तथा कोऽप्यभिज्ञानार्थं जतु तापयित्वा कुतुपादिमुखस्योपरि जतुमुद्रां ददाति, तदा तेजःकायविराधनाऽपि, यत्राग्निस्तत्र वायुरिति वायुकायविराधना च, ततः पिहितोद्भिन्ने षट्कायविराधना । अमुमेवार्थं स्पष्टं भावयति—

जह चेव पुव्वलित्ते काया दाउं पुणोऽवि तह चेव । उवलिप्पंते काया मुइअंगाई नवरि छट्ठे ॥ ३५१ ॥

व्याख्या—यथा चैव पूर्वलिप्ते 'कायाः' पृथिवीकायादयो विराध्यन्ते तथा साधुभ्यस्तैलादिकं दत्त्वा भूयोऽपि कुतुपादिमुखे उपलिप्यमाने काया विराध्यन्ते, नवरं षष्ठे काये त्रत्पकायरूपे विराध्यमाना जन्तवः पृथिव्याश्रिताः 'मुइंगादयः' पिपीलिकाकुन्थ्वादयो द्रष्टव्याः । सम्प्रति 'दाणे कयविक्कए य' इत्यवयवं व्याचिख्यासुराह—

परस्स तं देइ स एव गेहे, तेल्लं व लोणं व घयं गुलं वा । उग्घाडिए तंमि करे अवस्सं, सविक्कयं तेण किणाइ अन्नं॥३५२॥

व्याख्या—तस्मिन् कुतुपादिमुखे साध्वर्थमुद्घाटिते सति 'परस्मै' याचकग्राहकादिकाय यद्वा—स्वकीय एव गृहे पुत्रादिभ्यस्तैलं लवणं घृतं गुडं वा ददाति, यदिवा स करोत्यवश्यं विक्रयं, तेन च मूल्येनान्यत् क्रीणाति, एतच्च सर्वं साध्वर्थमुद्घाटिते सति प्रवर्त्तते इति साधोः प्रवृत्तिदोषः । तथा [चैतदे]व 'अहिगरणम्' इत्यवयवं व्याचिख्यासुराह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दाणे कयविक्कए वा होई अहिगरणमजयभावरस । निवयंति जे य तहियं जीवा मुइयंगमूसाई ॥ ३५३ ॥

व्याख्या—दाने क्रये विक्रये वाऽनन्तरोक्तस्वरूपे प्रवर्त्तमाने साधोः 'अयतभावस्य' अयतोऽशुद्धाहारापरिहारकत्वेन जीवरक्षणरहितः भावः–अध्यवसायो यस्य स तथा तस्य 'अधिकरणं' पापप्रवृत्तिरुपजायते, तथा तस्मिन् कुतुपादिमुखे उद्घाटिते ये जीवा मुइङ्गमूषकादयो निपतन्ति निपत्य च विनाशमाविशन्ति तदप्यधिकरणं साधोरेव । सम्प्रति 'ते चेव कवाडंमि' इत्यवयवं व्याचिख्यासुराह—

जहेव कुंभाइसु पुव्वलित्ते, उब्भिज्जमाणे य हवंति काया। ओलिंपमाणेवि तहा तहेव, काया कवाडंमि विभासियव्वा ३५४

व्याख्या—यथैव 'कुम्भादौ' घटादौ, आदिशब्दात्कुतुपादिपरिग्रहः, पूर्वलिप्ते उद्भिद्यमाने 'कायाः' पृथिवीकायादयो विराध्यमाना भवन्ति, उपलक्षणमेतत्, तेन दानक्रयविक्रयाधिकरणप्रवृत्तिश्च भवति, तथा कपाटेऽपि पूर्वदत्ते साध्वर्थमुद्घाट्यमाने वेदितव्याः, तथाहि–यदा कपाटात् प्राक्तथमपि पृथिवीकायो जलभृतः करको वा बीजपूरादिकं वा मुक्तं भवति तदा तस्मिन्नुद्घाट्यमाने कपाटे तद्विराधना भवति, जलभृते करकादौ तु भिद्यमाने [वा] पानीयं प्रसर्पत् प्रत्यासन्नचुल्ल्यादावपि प्रविशेत्, तथा च सत्यग्निविराधना, यत्र चाग्निस्तत्र वायुरिति वायुविराधना च, मूषकादिविवरप्रविष्टकीटिकागृहगोधिकादिसत्त्वविनाशे त्रसकायविराधना चेति, दानक्रयविक्रयाधिकरणप्रवृत्तिभावना च पूर्ववत्कर्त्तव्या । 'सम्प्रति सविसेसा' इत्यवयवं व्याचिख्यासुराह—

घरकोइलसंचारा आवत्तण पीढगाइ हेट्ठुवरिं । निंतेवि एयअंतो डिंभाईपेल्लणे दोसा ॥ ३५५ ॥

व्याख्या—कपाटस्य 'सञ्चारात्' सञ्चलनाद्गृहगोधिका, उपलक्षणमेतत् कीटिकोन्दुरादयश्च विराध्यन्ते, तथा प्रासादस्याधो भूमि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३५५|| दीप अनुक्रम [३८४]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

रूपा पीठिकेव पीठिका–चयिका तत्राध उपरितले च कपाटैकदेशस्यावर्त्तने तदाश्रिताः कुन्थुपिपीलिकादयो विनाशमश्नुवते, तथोद्घाट्य कपाटे पश्चान्मुखं नीयमानेऽन्तःस्थिते(र्गिते) अन्तःस्थितस्य डिम्भादेः प्रेरणे दोषाः–शिरःस्फोटनादयो भवन्ति । सम्प्रत्यपवादमाह—

घेप्पइ अकुंचियागंमि कवाडे पइदिणे परिवहंते । अजऊमुद्दिय गंठी परिभुज्जइ दद्दरो जो य ॥ ३५६ ॥

व्याख्या—'अकुञ्चिकाके' कुञ्चिकारहिते, कुञ्चिकाविवररहिते इत्यर्थः, तत्र हि किल पृष्ठभागे उल्लालको न भवति तेन न घर्षणद्वारेण सत्त्वविराधना, यद्वा–'अकूइयागे'त्ति पाठः, तत्र 'अकूजिकाके' कूजिकारहिते अक्रेङ्कारारावे, किमुक्तं भवति ?–यदुद्घाट्यमानं कपाटं क्रेङ्कारवं न करोति, तद्धि पश्चात्क्रियमाणमूर्ध्वमधस्तिर्यग् घर्षत् प्रभूतसत्त्वव्यापादनं करोति तेन तद्वर्जनं, तस्मिन्नपि किंविशिष्टे ?–इत्याह–'प्रतिदिनं' प्रतिदिवसं–निरन्तरं 'प्रतिवहति' उद्घाट्यमाने दीयमाने चेत्यर्थः, तस्मिन् प्रायो न गृहगोधिकादिसत्त्वाश्रयसम्भवः, चिरकालमवस्थानाभावात् । इत्थंभूते कपाटे साध्वर्थमप्युद्घाटिते यद्ददाति गृहस्थः तद्गृह्यते, स्थविरकल्पिकानामाचीर्णमेतत्, तथा यश्च 'दर्दरकः' कुतुपादीनां मुखबन्धरूपः प्रतिदिवसं परिभुज्यते–बध्यते छोड्यते चेत्यर्थः, तत्र यदि जतुमुद्राव्यतिरेकेण केवलवस्त्रमात्रग्रन्थिर्दीयेत नापि च सचित्तपृथिवीकायादिलेपः तर्हि तस्मिन् साध्वर्थमुद्भिन्नेऽपि यदीयते तत्साधुभिर्गृह्यते इति उक्तमुद्भिन्नद्वारम्, अथ मालापहृतद्वारमाह—

मालोहडंपि दुविहं जहन्नमुक्कोसगं च बोद्धव्वं । अग्गतलेहि जहन्नं तिन्निवरीयं तु उक्कोसं ॥ ३५७ ॥

व्याख्या—मालापहृतं द्विविधं, तद्यथा—जघन्यमुत्कृष्टं च, तत्र यद्धन्यस्ताभ्यां पादयोरग्रभागाभ्यां फलकसञ्ज्ञाभ्यां पार्ष्णिभ्यां

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	अथ 'मालापहृत' दोषस्य वर्णनं आरभ्यते

चोत्पाटिताभ्यामूर्ध्वविलगितोच्चसिक्थकादिस्थितं दाक्ष्या दृष्टेरगोचरं यदीयते तज्जघन्यं मालापहृतं, 'तद्विपरीतं' जघन्यविपरीतं बृहन्निःश्रेण्यादिकमारुह्य प्रासादोपरितलादानीय दीयते तदुत्कृष्टं मालापहृतं । सम्प्रत्यनयोरेव दृष्टान्तौ सदोषौ वक्तुकाम आह—

भिक्खू जहन्नगंमी गेरुय उक्कोसगंमि दिट्ठंतो । अहिडसणमालपडणे य एवमाई भवे दोस्सा ॥ ३५८ ॥

व्याख्या—जघन्ये मालापहृते भिक्षुर्वन्दको दृष्टान्तः, उत्कृष्टे 'गेरुकः' कापिलः, तत्र जघन्ये मालापहृते 'अहिदशनं' सर्पदशनम्, उत्कृष्टे मालात्पतनमित्येवमादयो दोषा अभूवन् ॥ तत्र भिक्षुदृष्टान्तं गाथाद्वयेनाह—

मालाभिमुहं दट्ठूण अगारिं निग्गओ तओ साहू । तच्चन्नियं आगमणं पुच्छा य अदिन्नदाणन्ति ॥ ३५९ ॥

मालंमि कुडे मोयग सुगंध अहि पविसणं करे डक्का । अन्नदिण साहु आगम निद्दय कहणा य संबोही ॥३६०॥

व्याख्या—**जयन्तपुरं** नाम नगरं, तत्र **यक्षदिन्नो** नाम गृहपतिः, तस्य भार्या **वसुमती**, अन्यदा च तद्गृहे धर्मरुचिर्नाम संयतो भिक्षार्थं प्रविवेश, तं च नियमितेन्द्रियमरक्तद्विष्टमेषणासमितमवलोक्य समुत्पन्नविशिष्टदानपरिणामेन यक्षदिन्नेन वसुमती सादरं बभणे, यथा देहि साधवेऽस्मै अमुकान् मोदकानिति, ते च मोदका ऊर्ध्वं विलगितोच्चसिक्थकमध्ये व्यवस्थिते घेटेऽवतिष्ठन्ते, ततः सा तद्ग्रहणार्थमुत्थिता, साधुश्च तां मालापहृतां भिक्षामवबुध्यमानस्तद्गृहान्निर्जगाम । ततस्तत्कालं तस्मिन्नेव गृहे भिक्षायै भिक्षुरागमत्, पप्रच्छ च तं यक्षदिन्नो यथा किं भोः?[समं] तेन सिक्थकादानीय! दीयमाना भिक्षा न जगृहे,? ततः स प्रवचनमात्सर्यादेवमुवाच—अदत्तदानाः अमी खलु वराकास्ततो न लभन्ते पूर्वकर्मविनियोगतो युष्मादृशामीश्वराणां गृहेषु स्निग्धमधुरादिकं भोजनं भोक्तुं, किन्तु तैर्दुर्गतगृहेष्वन्तप्रान्तादिकं लब्ध्वा भोक्तव्यमिति, ततो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

यक्षदिन्नेन तस्मादपि तानेव मोदकान् वसुमती दापिता, सा तस्मिन्नेव सिक्थकविलिप्ते घटे मोदकानादातुमचालीत्, घटे च महोत्तमद्रव्यनिष्पन्नमो दकगन्धाघ्राणवशतः कथमपि भुजङ्गमः समागतोऽवतिष्ठते, वसुमती चोत्पाट्य पाणौं पादाग्रतलभरेण यावन्मोदकघटे कङ्केलिपल्लवोपमं करं प्रक्षिपति तावद्भुजङ्गमः कामुक इव सादरं तं प्रत्यगृह्णात्, ततो हा ! दष्टा दष्टेति पूत्कारं कुर्वती भूमौ निपपात, ददृशे च यक्षदिन्नेन फूत्कारं कुर्वन् दन्दशूकः, ततस्तत्क्षणादेव समाहूताः परममन्त्रवादिनः, समानीतानि च नानाविधानि भेषजानि, ततोऽद्याप्यायुरनुटितमिति मन्त्रौषधप्रभावतः सा नीरुग्बभूव, समाजगाम च भूयोऽप्यपरस्मिन् दिने स एव धर्मरुचिः संयतो भिक्षायै, उपालेभे च यक्षदिन्नेन यथा दयाप्रधानो धर्मस्तत्किं भोः साधो ! सुविहित त्वं तदानीं सर्पं पश्यतोऽप्युपेक्षा प्रावर्त्तिष्ठ ?, स प्राह–नाहमद्राक्षं तदानीं दन्दशूकं, केवलमयमस्माकं सार्व्वज्ञ उपदेशो यथा मा ग्राहिषुः साधवो ! मालापहृतं भिक्षामिति, ततोऽहं प्रतिनिवृत्तः, एवं चोक्ते यक्षदिन्नः स्वचेतसि चिन्तयामास–अहो ! निरपायो भगवता निरुपादेशि भिक्षूणां धर्मः, य एव चेत्थं निरपायं धर्ममुपदिशति स्म स एव सर्वज्ञो न खलु सुधाभ्यवहारमन्तरेण सुधोद्गार उज्जृम्भते, एवं न यावत्ज्ञेयव्यापिज्ञानमन्तरेणेत्थं सकलकालमनपायिनो धर्मस्योपदेशप्रवृत्तिः, बुद्धिप्रागल्भ्ये हि वचसि प्रागल्भ्यमुपालम्भि तस्मात्स एव सर्वज्ञ इति, इत्थं च विचिन्त्य भक्तिवशोच्छलितपुलकजालोपशोभिततनुः सादरं धर्मरुचिश्रमणमवन्दत, वन्दित्वा च जिनप्रणीतं धर्मं पप्रच्छ, स च कथयामास सङ्क्षेपतः, ततो जिनप्रणीतवाक्यामृतरसास्वादतस्तेषामवजगाम सकलमपि मायासूनवीयादिसम्पादितकुवासनामयं गरलं, पश्यति च यथावस्थितानि हेयोपादेयानि वस्तूनि, प्रमोदते च जात्यन्ध इव चक्षुर्लाभे सविशेषतरं, ततो मध्याह्ने विशेषतो गुरुसमीपे समागत्य धर्मं श्रुत्वा जातसंवेगौ दम्पती अपि प्रव्रज्यां प्रपेदाते । सूत्रं सुगमं । सम्प्रत्यस्मिन्नेव जघन्ये मालापहृतेऽन्यानपि दोषानभिधित्सुराह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आसंदिपीढमंचकजंतोडूखल पडंत उभयवहे । वोच्छेय पओसाई उड्डाहमनाणिवाओ य ॥ ३६१ ॥

व्याख्या—'आसंदी' मञ्चिका 'पीठं' गोमयादिमयमासनं 'मञ्चकः' प्रतीतः 'यन्त्रं' व्रीह्यादिदलनोपकरणम्, 'उदूखलः' प्रतीतः, एतेष्वारुह्य, उपलक्षणमेतत्, पार्ष्णीं चोत्पाट्य ऊर्ध्वविलगितसिक्कादिस्थितमोदकादिग्रहणे कथमपि यदि मञ्चकादिहसनतो दात्री निपतति तर्हि 'उभयवधः' दात्र्याः पृथिव्यादिकायादीनां च विनाशः । तत्र दात्र्या हस्तादिभङ्गतो यदिवा विसंस्थुलपतनतः कथमप्य-स्थानाभिघातसम्भवात्प्राणव्यपरोपणमपि, तथा च निपतन्त्या भूम्याद्याश्रितानां पृथिवीकायादीनामपि विनाशः, यथैतस्मै भिक्षामहं ददती प्रागपि महत्यनर्थे पतितेति न कोऽप्यस्मै दास्यतीति तद्गृहे तद्द्रव्यान्यद्रव्यव्यवच्छेदः, तथा मुण्डेनानेन परमार्थतः पातितेति कस्यापि गृह-स्वामिनः साधुविषयः प्रद्वेषोऽपि भवति, आदिशब्दात्ताडनादिपरिग्रहः, प्रद्वेषदग्धो हि कोऽपि कोपान्धतया ताडनमपि कुर्यात्, कोऽपि निर्भ-र्त्सनं, कोऽपि वधमपि, तथा च प्रवचनस्योड्डाहः–खिंसा यथा–साध्वर्थमेषा भिक्षामाहरन्ती परासुरभूत्, तस्मान्नामी साधवः कल्याणका-रिणः, लोके चाज्ञानवादः–एवंविधमपि दात्र्या अनर्थमेते न जानन्तीत्येवं मूर्खतावादः, तस्माज्जघन्यमपि मालापहृतमवश्यं परिहर्त्तव्यं ॥ तदेवमुक्तो जघन्यस्य मालापहृतस्य सदोषो दृष्टान्तोऽन्येऽपि च दोषाः, सम्प्रत्युत्कृष्टस्य तानाह—

एमेव य उक्कोसे वारणनिस्सेणि गुव्विणीपडणं । गब्भित्थिकुच्छिफोडण पुरओ मरणं कहण बोही ॥ ३६२ ॥

व्याख्या—जयन्तीनाम पुरी, तत्र सुरदत्तो नाम गृहपतिः, तस्य भार्या वसुन्धरा, अन्यदा च तद्गृहे गुणचन्द्राभिधः साधुभि-क्षार्थं प्राविशत्, तं च प्रशान्तमनसमिहपरलोकनिःस्पृहं मूर्त्तं धर्ममिव समागच्छन्तमवेक्ष्य सुरदत्तो वसुन्धरामभिहितवान्–यथा देहि साधवे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

मालादानीय मोदकानिति, सा च तदानीमन्तर्वत्नी, परं पत्युरादेशं देवताशेषामिव प्रतीच्छन्ती मोदकानयनाय मालाभिमुखां निश्रेणिमारोहुमयतिष्ठ, साधुश्च न कल्पते मालापहृता भिक्षा संयतानामिति तां विनिवार्य तद्गृहान्निःससार, ततस्तत्क्षण एव कोऽपि कापिलो भिक्षार्थं तस्मिन्नेव गृहे प्राविशत्, सुरदत्तेन च स पृष्टो–यथा भोः! किं संयतेन मालादानीयमाना भिक्षा न प्रतिजगृहे?, ततः स मात्सर्यवशादसम्बद्धं किमप्यभाषिष्ट, ततस्तस्मायापि सुरदत्तो वसुन्धरया मोदकान् दापितवान्, वसुन्धरा च मोदकानयनार्थं निःश्रेणिमारोहन्ती कथमपि पादस्खलनतो विसंस्थुलाङ्गी न्यपतत्, अधश्च व्रीहिदलनयन्त्रकमासीत्, ततस्तत्कीलकस्तस्या निपतन्त्याः कुक्षिं द्विधा पाटयामास निर्गतश्च परिस्फुरँस्ततो गर्भः, कीलकविदारितितया महापीडाऽतिशयभावतः पश्यतामेव सकललोकानां सदुःखं स्पन्दमानः पञ्चत्वमगमत्, तथा वसुन्धरा च, तत उच्छलितः पापीयसः कापिलस्यावर्णवादः, अन्यदा च भूयोऽपि तस्मिन्नेव गृहे स एव साधुर्भिक्षार्थमाजगाम, सुरदत्तश्च तमप्राक्षीत्–भगवन्! यथा यूयं ज्ञानचक्षुषा दात्र्या विनाशमवेक्षमाणा भिक्षां परिहृतवन्तः तथाऽस्माकमपि किं नाचीकथत?, येन तदानीं सा मालं नारोहेत्, ततः साधुरवोचत्–नाहं किमपि जाने, केवलमयमस्माकं सार्वज्ञ उपदेशः–यथा न कल्पते साधूनां मालापहृता भिक्षेति, ततः स पूर्ववदचिन्तयद्धर्ममश्रौषीत् प्रव्रज्यां चाग्रहीदिति, सूत्रं सुगमं, नवरम्, एवमेव जघन्यमालापहृते इवोत्कृष्टेऽपि मालापहृते 'पडन्त उभयवहो' इत्यादयो दोषा वक्तव्याः। तत्र दात्र्या वधे उदाहरणं 'वारणनिस्सेणि' इत्यादि। सम्प्रति मालापहृतमेव भङ्गयन्तरेणाह—

उड्ढमहे तिरियंपि य अहवा मालोहडं भवे तिविहं। उड्ढे य महोयरणं भणियं कुंभाइसू उभयं ॥ ३६३ ॥

व्याख्या—अथवा मालापहृतं त्रिविधं, तद्यथा–ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च, तत्र ऊर्ध्वमेतदनन्तरोक्तमूर्ध्वविलगितसिक्कादिगतम्, अधो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भूमिगृहादाववतरणं–प्रवेशः, तत्राधोऽवतरणेन यदीयते तदप्युपचारादधोऽवतरणं, तथा 'कुंभादिषु' कुम्भोष्ट्रिकामभृतिषु यद्वर्त्तते देयं तदुभयम्–ऊर्ध्वाऽधोमालापहृतस्वभावं भणितं तीर्थकरादिभिः, तथाहि–बृहत्तरोच्चैस्तरकुम्भादिमध्यव्यवस्थितस्य देयस्य ग्रहणाय येन दात्री पाष्ण्युत्पाटनादि करोति तेनोर्ध्वमालापहृतं, येन त्वधोमुखं बाहुमतिप्रभूतं व्यापारयति तेनाधोमालापहृतं, दोषा अत्रापि पूर्ववद्भावनीयाः। अत्रैवापवादमाह—

दद्दर सिल सोवाणे पुव्वारूढे अणुच्चमुक्खित्ते। मालोहडं न होई सेसं मालोहडं होइ ॥ ३६४ ॥

व्याख्या—'दर्दरः' निरन्तरकाष्ठफलकमयो निःश्रेणिविशेषः 'शिला' प्रतीता 'सोपानानि' इष्टकामयान्यवतरणानि, एतान्यारुह्य यद्ददाति तन्मालापहृतं न भवति, केवलं साधुरप्येषणाशुद्धिनिमित्तं प्रासादस्योपरि दर्दरादिना चटति, अपवादेन भूस्थोऽप्यानीतं गृह्णाति, तथा पूर्वारूढः साध्वागमनादग्रतः स्वयोगेन निःश्रेण्यादिना प्रासादोपरि चटितो दाता यद्ददाति साधुपात्रके, कथंभूते? इत्याह–अनुच्चोत्क्षिप्ते, किमुक्तं भवति?–भूमिस्थः संयतो दृष्टेरधः पात्रं धारयन् यावत्प्रमाणे उच्चैःस्थाने स्थितो दाता पात्रे हस्तं प्रक्षिप्य ददाति तावत्प्रमाणे पूर्वारूढो यद्ददाति तन्मालापहृतं न भवति, शेषं तु सर्वमप्यनन्तरोक्तं मालापहृतमवसेयम्। इहानुच्चोत्क्षिप्तोच्चोत्क्षिप्तयोः स्वरूपमाह–

तिरियाययउज्जुगएण गिण्हई जं करेण पासंतो। एयमणुच्चुक्खित्तं उच्चुक्खित्तं भवे सेसं ॥ ३६५ ॥

व्याख्या—तिर्यग् आयतेन–दीर्घेण 'ऋजुकेन' सरलेन 'करेण' हस्तेन पात्रं दृष्ट्वा निभालयन् यद्गृह्णाति तदित्थंभूतं पात्रमनुच्चोत्क्षिप्तमुच्यते, शेषं पुनरुच्चोत्क्षिप्तं, इयमत्र भावना–यद्दृष्टेरुपरि बाहुं प्रसार्य देयवस्तुग्रहणाय पात्रं ध्रियते तत्तथा ध्रियमाणमुच्चोत्क्षिप्तमिति,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

एतेन चोर्ध्वाधोमालापहृतव्याख्यानेन तिर्यगपि मालापहृतं व्याख्यातं द्रष्टव्यं, तत्राप्ययं कल्प्याकल्प्यविधिः—यत्पादस्याधो मञ्चिकादि दत्त्वा गवाक्षादौ स्थितं दानाय बाहुं प्रसार्य महता कष्टेन समाकर्षति तन्न कल्पते, यच्च भूमौ स्वभावस्था गवाक्षादौ स्थितमयत्नेन किञ्चिद्बाहुं प्रसार्य साधोर्दानाय गृह्णाति तन्मालापहृतं न भवति, अतस्तत्कल्पते । तदेवमुक्तं मालापहृतम्, अथाऽऽच्छेद्यद्वारमाह—

अच्छिज्जंपि य तिविहं पभू य सामी य तेणए चेव । अच्छिज्जं पडिकुट्ठं समणाण न कप्पए घेत्तुं ॥ ३६६ ॥

व्याख्या—आच्छेद्यमपि प्रागुक्तशब्दार्थं 'त्रिविधं' त्रिप्रकारं, तद्यथा—'प्रभौ' प्रभुविषयं प्रभुरूपकर्त्राश्रितमित्यर्थः, एवं 'स्वामिनि' स्वामिविषयं, स्तेनकविषयं च । एतच्च त्रिविधमप्याच्छेद्यं तीर्थकरगणधरैः 'प्रतिकुष्टं' निराकृतम्, अतः श्रमणानां तद्ग्रहीतुं न कल्पते । तत्र प्रथमतः प्रभुविषयं भावयति—

गोवालए य भयएऽखरए पुत्ते य धूय सुण्हाए । अचियत्त संखडाई केइ पओसं जहा गोवो ॥ ३६७ ॥

व्याख्या—प्रभुकर्तृकमाच्छेद्यं 'गोपालके' गोपालविषयं, तथा 'भृतकः' कर्मकरस्तद्विषयम्, अक्षरको–द्यक्षरकाभिधानो दास इत्यर्थः, तद्विषयं, पुत्रविषयं दुहितृविषयं स्नुषाविषयम्, उपलक्षणमेतत्, भार्यादिविषयं च । अत्रैव दोषमाह—'अचियत्त' इत्यादि, 'अचियत्तम्' अप्रीतिः 'सङ्खडं' कलहः, आदिशब्दादात्मघातादिपरिग्रहः, केचित्पुनः प्रद्वेषमपि साधौ गच्छन्ति, यथा 'गोपः' गोपालकः । एनमेव दृष्टान्तं गाथाद्वयेन भावयति—

गोवपओ अच्छेत्तुं दिन्नं तु जइस्स भइदिणे पहुणा । पयभाणूणं दट्ठुं खिसइ भोई रुवे चेडा ॥ ३६८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ 'आच्छेद्य' दोषस्य वर्णनं आरभ्यते

पडियरणपओसेणं भावं नाउं जइस्स आलावो। तन्निब्बंधा गहियं हंदि स मुक्कोसि मा बीयं ॥ ३६९ ॥

व्याख्या—वसन्तपुरं नाम नगरं, तत्र जिनदासो नाम श्रावकः, तस्य भार्या रुक्मिणी, जिनदासस्य गृहे वत्सराजो नाम गोपालः, स चाष्टमे अष्टमे दिने सर्वासामपि गोमहिषीणां दुग्धमादत्ते, तथैव तस्य प्रथमतो धृतत्वात्, अन्यदा च साधुसङ्घाटको भिक्षायै तत्रागमत्, इतश्च तस्मिन् दिने गोपालस्य सर्वदुग्धादानवारकः, ततस्तेन सर्वा अपि गोमहिष्यो दुग्धा महती पारिदुग्धस्यापूर्णा, जिनदासश्च जिनवचनभावितान्तःकरणतया साधुसङ्घाटकं परमपात्रभूतमायातमवलोक्य भक्तितो यथेच्छं भक्तपानादिकं तस्मै दत्तवान्, ततो 'दुग्धान्तानि भोजनानी'ति परिभाव्य भक्तितरलितमनस्कतया गोपालस्य दुग्धं बलादाच्छिद्य कतिपयं ददौ, ततः स गोपालो मनसि साधोरुपरि मनाक् प्रद्वेषं ययौ, परं प्रभुभयान्न किमपि वक्तुमीशितः, ततस्तत्पयोभाजनं कतिपयन्यूनं स्वगृहे नीतवान्, तच्च तथाभूतं न्यूनमवलोक्य भार्या सरोषं पृष्टवती, किमिति न्यूनमिदं पयोभाजनम् ? इति, ततो गोपेन यथावस्थिते कथिते साऽपि साधुमाक्रोष्टुं प्रावर्त्तत, चेटरूपाणि च दुग्धं स्तोकमवलोक्य किमस्माकं भविष्यतीति रोदितुं प्रवृत्तानि, तत इत्थं सकलमपि स्वकुटुम्बमाकुलमवेत्य स गोपः सञ्जातसाधुविषयमहाकोपः साधुं व्यापादयितुं चलितवान्, दृष्टश्च भिक्षार्थं परिभ्रमन् क्वापि प्रदेशे साधुः, ततः प्रधावितो लकुटमुत्पाट्य साधोः पृष्ठतः, साधुनापि कथमपि पश्चादवलोकने तं गोपं तथाभूतं कोपारुणनयनमालोक्य परिभावयामासे, नूनमेतस्य दुग्धं बलादाच्छिद्य जिनदासेन मह्यं ददे तेन मम मारणार्थमिव कुपित एष समागच्छन्नुपलक्ष्यते, ततः साधुर्विशेषतः प्रसन्नवदनो भूत्वा तस्यैव सम्मुखं प्रत्यागन्तुं प्रावर्त्तत, बभाण च यथा—भो भोः क्षीरग्रहनियुक्तक ! तव प्रभुर्निर्बन्धेन मया तदानीं दुग्धमात्तं सम्प्रति तु गृहाण त्वमात्मीयं दुग्धमिति, एवं चोक्ते सत्युपशान्तकोपः साधुं प्रति स्वस्वभावं प्रकटितवान्, यथा भोः साधो ! सुविहित ! तव मारणार्थमह-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥१११॥

मिदानीमागतः, परं सम्प्रति त्वद्वचनामृतपरिसेकत उपशशाम मे सर्वः कोपानलः, ततो गृहाण त्वमेवेदं दुग्धं, मुक्तश्चाक्षतप्राणो मया, परं भूयोऽप्येवमाच्छेद्य न ग्रहीतव्यमिति निवृत्तो गोपः, स्वस्थानं च गतः साधुरिति । सूत्रं सुगमं, नवरं 'पयभाणूणं'ति विभक्तिलोपात्पयोभाजनमूनं दृष्ट्वा 'भोई' इति भोग्या–भार्या इत्यर्थः, 'रोवे'त्ति रुदन्ति, 'हंदी'ति आमन्त्रणे, तन्निर्बन्धात् त्वदीयजिनदासाख्यप्रभुनिर्बन्धाद्गृहीतं, ततः स प्राह—मुक्तोऽसि सम्प्रति मा द्वितीयं वारमेवं गृहीथाः । सम्प्रति गोपालविषय एव 'अचियत्तसंखडाई' इत्येतद्व्याचिख्यासुराह—

नानिव्विट्ठं लब्भइ दासीवि न भुज्जए रिते भत्ता । दोन्नेगयरपओसं जं काही अंतरायं च ॥ ३७० ॥

व्याख्या—प्रभुणा बलादाच्छिद्यमाने दुग्धे कोऽपि गोपो रुष्टः प्रभोः सम्मुखमेवमपि ब्रुवाणः सम्भाव्यते, यथा किमिति मदीयं दुग्धं बलादाच्छिद्यसि ?, न खलु 'अनिर्वृष्टम्' अनुपार्जितमिह किमपि लभ्यते, ततो मया स्वशरीरायासबलेनेदं दुग्धमुपार्जितम्, अतः कथमत्र प्रभवसि ?, न हि दास्यप्यास्तामुत्तमवेश्यादिकमित्यपिशब्दार्थः, 'भक्तादृते' भक्तपानमृते, भरणपोषणमृते इत्यर्थः, 'भुज्यते' भोक्तुं लभ्यते, ततो मदीयं भोजनमिदम्, अतो न तेऽत्र प्रभुत्वावकाशः, एवं चोक्ते सति कदाचिद्द्वयोरपि प्रभुगोपालकयोः परस्परमेकतरस्य वा द्वितीयस्योपरि प्रद्वेषो वर्द्धते, प्रद्वेषे च वर्द्धमाने यत् करिष्यति धनहरणमारणादिकं तत्स्वयमेवाऽऽच्छेद्यादाने दोषत्वेन विज्ञेयं । तथा यच्चान्तरायं गोपालकस्य तत्कुटुम्बस्य च तदपि दोषत्वेन विज्ञेयमिति । तदेवं 'गोवालपइ' इति व्याख्यातम् । एतदनुसारेण च भृतकादावपि यथायोगमप्रीत्यादिकं सम्भावनीयमिति । सम्प्रति स्वामिविषयमाच्छेद्यं विभावयिषुराह—

सामी चारभडा वा संजय दट्ठूण तेसि अट्ठाए । कलुणाणं अच्छेज्जं साहूण न कप्पए घेत्तुं ॥ ३७१ ॥

१४आच्छेद्ये गोपाल दृष्टान्तः

॥१११॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—इह स्वगृहमात्रनायकः प्रभुः ग्रामादिनायकः स्वामी चारभटा वा—स्वामिभटा वा, तेऽपि स्वामिग्रहणेन गृह्यन्ते। संयतान् दृष्ट्वा तेषां संयतानामर्थाय 'करुणानां' कृपास्थानानां दरिद्रकौटुम्बिकादीनां सम्बन्ध्याऽऽच्छिद्य यद्ददाति तत्साधूनां न कल्पते। एतदेव व्यक्तं भावयति—

आहारोवहिमाई जइअट्ठाए उ कोइ अच्छिंदे। संघडि असंघडीए तं गिण्हंते इमे दोसा ॥ ३७२ ॥

व्याख्या—यदि कोऽपि स्वामी भटो वा यतीनामर्थाय केषाञ्चित्सम्बन्ध्याहारोपध्यादिकं 'सङ्गड्या' कलहकरणेन 'असङ्गड्या' कलहाभावेन, कोऽपि हि तत्सम्बन्धिनि बलादाच्छिद्यमाने कलहं करोति, कोऽपि स्वामिभयादिना न किमपि वक्ति, तत उक्तं सङ्गड्याऽसङ्गड्या वेति, बलादाच्छिद्य यतिभ्यो ददाति तद्यतीनां न कल्पते। यतस्तद्गृह्णति यतावेमे दोषाः ॥ तानेवाह—

अचियत्तमंतरायं तेनाहड एगऽणेगवोच्छेओ। निच्छुभणाइदोसा तस्स अलंभे य जं पावे ॥ ३७३ ॥

व्याख्या—येषां सत्कमाच्छिद्य बलात् स्वामिना दीयते तेषाम् 'अचियत्तम्' अप्रीतिरुपजायते, तथा तेषाम् 'अन्तरायं' दीयमानवस्तुपरिभोगहानिः कृता भवति, तथेत्थं साधूनामाददानानां स्तेनाहृतं भवति–अदत्तादानदोषो भवति, दीयमानवस्तुनायकेनाननुज्ञातत्वात्, तथा येषां सम्बन्धि स्वामिना बलादाच्छिद्य दीयते ते कदाचित्प्रद्विष्टाः सन्तोऽन्यदाऽपि तस्यैकस्य साधोर्भक्तपानव्यवच्छेदं कुर्वन्ति, तथाऽनेन सम्प्रति बलादस्माकं भक्तादि गृहीतं ततः कालान्तरेऽप्यस्मै न किमपि दातव्यमस्माभिरिति, अथवा सामान्यतः प्रद्वेषमुपयान्ति, यथाऽनेन संयतेन बलादस्माकं भक्तादि गृह्यते तस्मात्कालान्तरेण न कस्मायपि संयताय दातव्यमित्यनेकसाधूनां

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भक्तादिव्यवच्छेदः, तथा ते रुष्टाः सन्तो यः पूर्वमुपाश्रयो दत्तः तस्मान्निष्काशयन्ति, आदिशब्दात्खरपरुषाणि भाषन्ते इति परिगृह्यते। तथा तस्य उपाश्रयस्यालाभे यत् किमपि कष्टं प्राप्नुवन्ति तदप्याच्छेद्यादाननिमित्तमिति दोषः। सम्प्रति स्तेनाच्छेद्यं भावयति—

तेणो व संजयट्ठा कलुणाणं अप्पणो व अट्ठाए। वोच्छेय पओसं वा न कप्पई कप्पणुन्नायं ॥ ३७४ ॥

व्याख्या—इह स्तेना अपि केचित् संयतान् प्रति भद्रका भवन्ति, संयता अपि क्वापि दरिद्रसार्थेन सह व्रजन्ति, ततस्तान् भिक्षावेलायां भिक्षामप्राप्नुवतो दृष्ट्वा संयतानामर्थाय यद्वा स्वस्याऽऽत्मनोऽर्थाय तेषां 'करुणानां' कृपास्थानानां दरिद्रसार्थमानुषाणां सकाशादाच्छिद्य यद्ददाति स्तेनः तत् स्तेनाच्छेद्यं द्रष्टव्यं, तच्च साधूनां न कल्पते, यतस्तस्मिन् गृह्यमाणे येषां सम्बन्धि तद्द्रव्यं ते पूर्वोक्तप्रकारेणैकानेकसाधूनां भक्तादिव्यवच्छेदं कुर्वन्ति, यद्वा—'प्रद्वेषं' रोषमुपयान्ति, तथा च सति सार्थान्निष्काशनं कालान्तरेऽपि तेषां पार्श्वे उपाश्रयाप्राप्तिलम्भ इत्यादयो दोषाः, यदि पुनस्तेऽपि सार्थिका वक्ष्यमाणप्रकारेणानुजानन्ते तर्हि कल्पते। एतदेव गाथाद्वयेन स्पष्टं भावयति—

संजयभद्दा तेणा आयंती वा असंथरे जइणं। जइ देंति न घेत्तव्वं निच्छुभवोच्छेउ मा होज्जा ॥ ३७५ ॥

घयसत्तुयदिट्ठंतो समणुन्नाया व घेत्तुणं पच्छा। देंति तयं तेसिं चिय समणुन्नाया व भुंजंति ॥ ३७६ ॥

व्याख्या—इह स्तेना अपि केचित् संयतभद्रका भवन्ति, साधवश्च कदाचिद्दरिद्रसार्थेन सह क्वापि व्रजन्ति, ततस्तेषां साधूनां भिक्षावेलायाम् 'असंस्तरे' अनिर्वाहे ते स्तेनाः स्वग्रामाभिमुखं प्रत्यागच्छन्तो वाशब्दात् स्वग्रामादन्यत्र गच्छन्तो वा यदि तेषां दरिद्र-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३७६|| दीप अनुक्रम [४०६] | पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

सार्थमानुषाणां बलादाच्छिद्य भक्तादि प्रयच्छन्ति तर्हि न ग्राह्यं, यतो मा भूत् 'निच्छोभः' सार्थान्निष्काशनं एकानेकसाधूनां तेभ्यो भक्तादिव्यवच्छेदो वा, यदि पुनस्तेऽपि सार्थिका स्तेनैर्बलाद्दाप्यमाना एवं ब्रुवते, यच्चास्माकमहो घृतसक्तुदृष्टान्त उपातिष्ठत, घृतं हि सक्तुमध्ये प्रक्षिप्तं विशिष्टसंयोगाय जायते, एवमस्माकमप्यवश्यं चौरैर्ग्रहीतव्यं, ततो यदि चौरा अपि युष्मभ्यं दापयन्ति ततो महानस्माकं समाधिरिति, तत एवं सार्थिकैरनुज्ञाताः साधवो दीयमानं गृह्णन्ति, पश्चाच्चौरेष्वपगतेषु भूयोऽपि तद्द्रव्यं गृहीतं तेभ्यः समर्पयन्ति, यथा तदानीं चौरभयादस्माभिर्गृहीतं, सम्प्रति ते गतास्तत एतदात्मीयं द्रव्यं यूयं गृह्णीथेति, एवं चोक्ते सति यदि तेऽपि समनुजानते यथा–युष्मभ्यमेतदस्माभिर्दत्तमिति तर्हि भुञ्जते, कल्पनीयत्वादिति। अनेन 'कप्पणुन्नायं' इत्यवयवो व्याख्यातः। तदेवमुक्तमाच्छेद्य-द्वारम्, इदानीमनिसृष्टद्वारमाह— ●

अणिसिट्ठं पडिकुट्ठं अणुनायं कप्पए सुविहियाणं। लड्डुग चोल्लग जंते संखडि खीरावणाईसु ॥ ३७७ ॥

व्याख्या—निसृष्टम्—अनुज्ञातं तद्विपरीतमनिसृष्टमननुज्ञातमित्यर्थः, तत् 'प्रतिकुष्टं' निराकृतं तीर्थकरगणधरैः, अनुज्ञातं पुनः कल्पते सुविहितानां, तच्चानिसृष्टमनेकधा, तद्यथा—'लड्डुकविषयं' मोदकविषयं, तथा 'चोल्लकविषयं' भोजनविषयं, 'यन्त्रे' इति कोल्हकादिधाणकविषयं, तथा 'संखडिविषयं' विवाहादिविषयं, तथा 'क्षीरविषयं' दुग्धविषयं, तथा आपणादिविषयम्, आदिशब्दा-द्गृहादिविषयमवसेयम्, इयमत्र भावना–इह सामान्यतोऽनिसृष्टं द्विधा, तद्यथा—साधारणानिसृष्टं भोजनानिसृष्टं च, तत्र भोजनानिसृष्टं चोल्लकशब्देनोक्तं, साधारणानिसृष्टं तु शेषभेदैरिति। तत्र मोदकविषयसाधारणानिसृष्टोदाहरणं गाथाचतुष्टयेनाह—

बत्तीसा सामन्ने ते कहिँ ण्हाउं गयत्ति इअ वुत्ते। परसंतिएण पुन्नं न तरसि काउंति पच्चाह ॥ ३७८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	● अत्र एका प्रक्षेप-गाथा वर्तते. सा मया संपादित: 'आगमसुत्ताणि' मूलं एवं सटीकं उभये पुस्तके वर्तते अथ 'अनिसृष्ट' दोषस्य वर्णनं आरभ्यते

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥११३॥

अविय हु बत्तीसाए दिन्नेहिँ तवेगमोयगो न भवे। अप्पवयं बहुआयं जइ जाणसि देहि तो मज्झं ॥ ३७९ ॥
लाभिय नेंतो पुट्ठो किं लद्धं नत्थि पेच्छिमो दाए। इयरोऽवि आह नाहं देमित्ति सहोढ चोरत्ति ॥ ३८० ॥
गिण्हण कड्ढण ववहार पच्छकडुड्डाह पुच्छ निव्विसए। अपहुंमि भवे दोसा पहुंमि दिन्ने तओ गहणं ॥ ३८१॥

व्याख्या—रत्नपुरे पुरे माणिभद्रप्रमुखा द्वात्रिंशद्वयस्याः, ते कदाचिदुद्यापनानिमित्तं साधारणान् मोदकान् कारितवन्तः, कारयित्वा च समुदायेनोद्यापनिकायां गताः, तत्र चैको मोदकरक्षको मुक्तः, शेषास्त्वेकत्रिंशन्नद्यां स्नातुं गताः, अत्रान्तरे च कोऽपि लोलुपः साधुर्भिक्षार्थमुपातिष्ठत, दृष्टाश्च तेन मोदकाः, ततो जातलाम्पट्यो धर्मलाभयित्वा तं पुरुषं मोदकान् याचितवान्, स प्राह—भगवन्! न ममैकाकिनोऽधीना एते मोदकाः, किन्त्वन्येषामप्येकत्रिंशज्जनानां, ततः कथमहं प्रयच्छामि?, एवमुक्ते साधुराह–ते 'कहिं 'ति कुत्र गताः? स प्राह–नद्यां स्नातुमिति, तत एवमुक्ते भूयोऽपि साधुस्तं प्रत्याह—परसत्केन मोदकसमूहेन त्वं पुण्यं कर्तुं न शक्नोषि? यदेवं याचितोऽपि न ददासि, महानुभाव! मूढस्त्वं, यः परसत्कानपि मोदकान् मह्यं दत्त्वा पुण्यं नोपार्जयसि, अपि च द्वात्रिंशतमपि मोदकान् यदि मे प्रयच्छसि तथापि तव भागे एक एव मोदको याति, तत एवमल्पव्ययं बह्वायं दानं यदि जानासि सम्यग्हृदयेन तर्हि ततो देहि मे सर्वानपि मोदकानिति, तत एवमुक्ते दत्तास्तेन सर्वेऽपि मोदकाः, भृतं साधुभाजनं, ततः सञ्जातहर्षः साधुस्तस्मात्स्थानाद्विनिर्गन्तुं प्रवृत्तः, अत्रान्तरे च सम्मुखमागच्छन्ति माणिभद्रादयः, पृष्टश्च तैः साधुः—भगवन्! किमत्र त्वया लब्धं?, ततः साधुना चिन्तितं, यथैते ते मोदकस्वामिनस्ततो यदि मोदका लब्धा इति वक्ष्ये तर्हि भूयोऽपि ग्रहीष्यन्ति, तस्मान्न किमपि लब्धमिति वच्मीति, तथैवोक्तवान्, ततस्तैर्मा-

१५अतिसृष्टे द्वात्रिंशन्मोदको-दा०

॥११३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

णिभद्रप्रमुखैर्भाराक्रान्तं साधुमवलोक्य सञ्जातशङ्कैरभाणि—दर्शय निजभाजनं साधो ! येन प्रेक्षामहे, साधुश्च न दर्शयति, ततो बलात्प्रलोकितं, दृष्ट्वा मोदकाः, ततः कोपारुणलोचनैः साधिक्षेपं रक्षकपुरुषः पृष्टः–यथा किं भोः ! त्वयाऽस्मै सर्वेऽपि मोदका दत्ताः ?, स भयेन कम्पमानोऽवोचत्—न मया दत्ताः, एवं चोक्ते माणिभद्रादिभिः साधुरूचे—चौरस्त्वं पाप साधुवेषविडम्बकः 'सहोढ' इति सलोष्ट्रत्र इदानीं प्राप्तोऽसि ? कुतस्ते मोक्ष इति गृहीतो वस्त्राञ्चले?, कर्षितो बहुना, ततः पश्चात्कृत इति गृहीत्वा सकलमपि पात्ररजोहरणादिकमुपकरणं गृहस्थीकृतः, ततः 'उड्डाह' इति नीतो राजकुलं, कथितो धर्माधिकरणिकानां, पृष्टश्च तैः साधुश्च न किमपि लज्जया वक्तुं शक्तवान्, ततस्तैः परिभावितं–नूनमेष चोर इति, परं साधुवेषधारीतिकृत्वा प्राणैर्मुक्तो निर्विषयश्चाऽऽज्ञापितः, एवमत्र भावना–अनायके दातरि एतेऽनन्तरोक्ता ग्रहणकर्षणादयो दोषा भवन्ति, 'पहुंमि 'त्ति तृतीयार्थे सप्तमी, यथा 'तिसु तेसु अलंकिया पुहवी' इत्यत्र, ततोऽयमर्थः–तस्मात् 'प्रभुणा' नायकेन दत्ते सति साधुना ग्रहणं भक्तादेः कर्त्तव्यं, तत्राप्याच्छेद्यादिकं सम्यक् परिहर्त्तव्यमिति। उक्तं सोदाहरणं मोदकद्वारम्, अधुना शेषाण्यपि द्वाराण्यतिदेशेन व्याख्यानयति—

एमेव य जंतंमिवि संखडि खीरे य आवणाईसुं । सामन्नं पडिकुट्ठं कप्पइ घेत्तुं अणुन्नायं ॥ ३८२ ॥

व्याख्या—'एवमेव' मोदकोदाहरणप्रकारेण यन्त्रेऽपि सङ्घट्ट्यामपि क्षीरे चाऽऽपणादिषु च यत् 'सामान्यं' साधारणं तत् स्वामिभिः सर्वैरप्यनिसृष्टं सत् प्रतिकुष्टं तीर्थकरगणधरैः, अनुज्ञातं पुनः सर्वैरपि स्वामिभिः कल्पते ग्रहीतुं, तत्र दोषाभावात्। सम्प्रति चुल्लकद्वारस्य प्रस्तावनां चुल्लकस्य भेदं च प्रतिपादयति—

चुल्लत्ति दारमहुणा बहुवत्तव्वंति तं कयं पच्छा । वन्नेइ गुरु सो पुण सामिय हत्थीण विन्नेओ ॥ ३८३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥११४॥

व्याख्या—अधुना चुल्लकद्वारं व्याख्येयम्, अथोच्येत–मूलगाथाया द्वितीये स्थाने निर्दिष्टमपि कस्माद्व्याख्यावेलाया पश्चात्कृतं ?, तत आह—बहुवक्तव्यमिदं द्वारमतो व्याख्यावेलायां पश्चात्कृतं, तत्र 'गुरुः' तीर्थकरादिः 'वर्णयति' प्ररूपयति यथा स चुल्लको द्विधा, तद्यथा—स्वामिनो हस्तिनश्च । तत्र प्रथमतः स्वाम्यनिर्दिष्टं चुल्लकमाह—

छिन्नमछिन्नो दुविहो होइ अछिन्नो निसिट्ठअणिसिट्ठो । छिन्नंमि चुल्लगंमी कप्पइ घेत्तुं निसिट्ठंमि ॥ ३८४ ॥

व्याख्या—इह द्विधा चुल्लकः, तद्यथा—छिन्नोऽच्छिन्नश्च, इयमत्र भावना—इह कोऽपि कौटुम्बिकः क्षेत्रगतहालिकानां कस्यापि पार्श्वे कृत्वा भोजनं प्रस्थापयति, स यदैकैकहालिकयोग्यं पृथक् पृथग् भाजने कृत्वा प्रस्थापयति तदा स चुल्लकश्छिन्नः, यदा तु सर्वेषामपि हालिकानां योग्यमेकस्यामेव स्थाल्यां कृत्वा प्रेषयति तदा सोऽच्छिन्नः, एवमन्यत्राप्युद्यापनिकादौ छिन्नाच्छिन्नत्वं चुल्लकस्य भावनीयम् । अच्छिन्नोऽपि द्विधा, तद्यथा—निसृष्टोऽनिसृष्टश्च, तत्र निसृष्टः कौटुम्बिकेन येषां च हालिकानां योग्यः स चुल्लकः तैश्च साधुभ्यो दानाय मुत्कलितः, इतरस्त्वमुत्कलितोऽनिसृष्टः । तत्र यस्य निमित्तं छिन्नः स एव चेत्तस्यात्मीयस्य छिन्नस्य दाता तर्हि तस्मिंश्छिन्नेऽपि चुल्लके तत्स्वामिना दीयमाने साधूनां ग्रहीतुं कल्पते, दोषाभावात्, तथाऽच्छिन्नेऽपि सर्वैरपि तत्स्वामिभिर्निसृष्टे—अनुज्ञाते तं ग्रहीतुं कल्पते, तत्रापि दोषाभावात् । एनमेवार्थं सविशेषतरमाह—

छिन्नो दिट्ठमदिट्ठो जो य निसिट्ठो भवे अछिन्नो य । सो कप्पइ इयरो उण अदिट्ठदिट्ठो वऽणुन्नाओ ॥ ३८५ ॥

व्याख्या—यश्चुल्लको यस्य निमित्तं छिन्नः स तेन दीयमानो मूलस्वामिना कौटुम्बिकेनादृष्टो दृष्टो वा कल्पते, तथा यश्चाच्छिन्नो

१५ अतिसृष्टदोषे छिन्नेतरानिसृष्टे ॥११४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

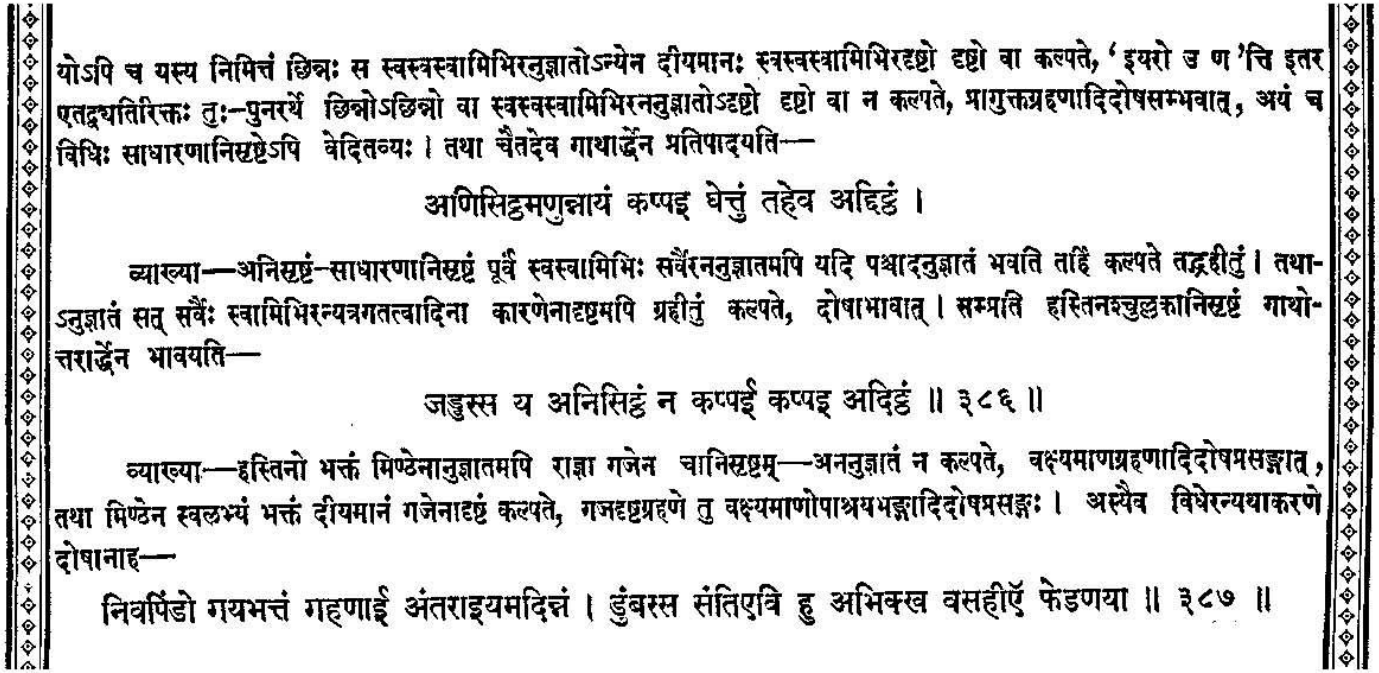

योऽपि च यस्य निमित्तं छिन्नः स स्वस्वस्वामिभिरनुज्ञातोऽन्येन दीयमानः स्वस्वस्वामिभिरदृष्टो दृष्टो वा कल्पते, 'इयरो उ ण'त्ति इतर एतद्व्यतिरिक्तः तुः–पुनरर्थे छिन्नोऽछिन्नो वा स्वस्वस्वामिभिरननुज्ञातोऽदृष्टो दृष्टो वा न कल्पते, प्रागुक्तग्रहणादिदोषसम्भवात्, अयं च विधिः साधारणानिसृष्टेऽपि वेदितव्यः। तथा चैतदेव गाथार्द्धेन प्रतिपादयति—

अणिसिट्ठमणुन्नायं कप्पइ घेत्तुं तहेव अदिट्ठं ।

व्याख्या—अनिसृष्टं–साधारणानिसृष्टं पूर्वं स्वस्वामिभिः सर्वैरननुज्ञातमपि यदि पश्चादनुज्ञातं भवति तर्हि कल्पते तद्ग्रहीतुं। तथाऽनुज्ञातं सत् सर्वैः स्वामिभिरन्यत्रगतत्वादिना कारणेनादृष्टमपि ग्रहीतुं कल्पते, दोषाभावात्। सम्प्रति हस्तिनश्चुल्लकानिसृष्टं गाथोत्तरार्द्धेन भावयति—

जड्डुस्स य अनिसिट्ठं न कप्पई कप्पइ अदिट्ठं ॥ ३८६ ॥

व्याख्या—हस्तिनो भक्तं मिण्ठेनानुज्ञातमपि राज्ञा गजेन चानिसृष्टम्—अननुज्ञातं न कल्पते, वक्ष्यमाणग्रहणादिदोषप्रसङ्गात्, तथा मिण्ठेन स्वलभ्यं भक्तं दीयमानं गजेनादृष्टं कल्पते, गजदृष्टग्रहणे तु वक्ष्यमाणोपाश्रयभङ्गादिदोषप्रसङ्गः। अस्यैव विधेरन्यथाकरणे दोषानाह—

निवपिंडो गयभत्तं गहणाई अंतराइयमदिन्नं । डुंबस्स संतिएवि हु अभिक्ख वसहीएँ फेडणया ॥ ३८७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| प्रत गाथांक नि/भा/प्र ॥३८७॥ दीप अनुक्रम [४१७] | पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

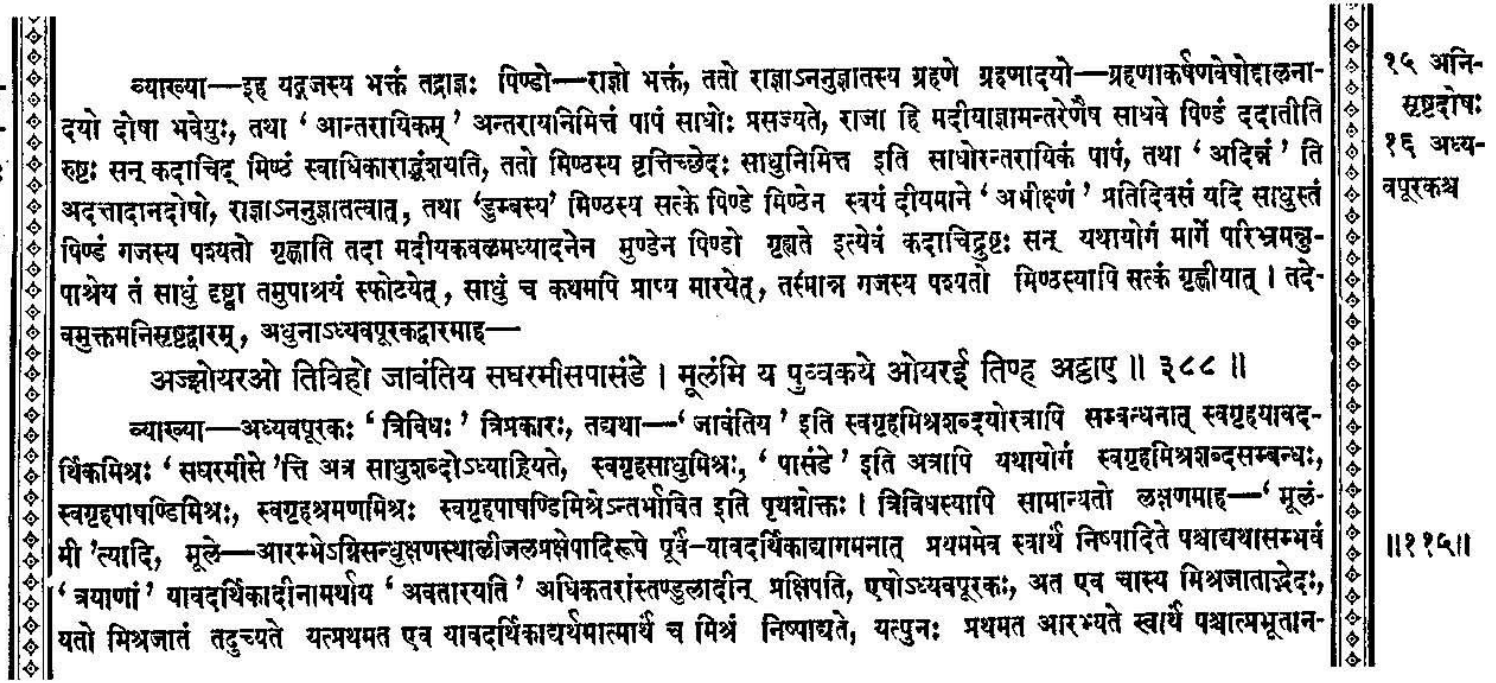

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥११५॥

व्याख्या—इह यद्गृहस्थस्य भक्तं तद्राज्ञः पिण्डो—राज्ञो भक्तं, ततो राज्ञाऽननुज्ञातस्य ग्रहणे ग्रहणादयो—ग्रहणाकर्षणवेषोद्दालनादयो दोषा भवेयुः, तथा 'आन्तरायिकम्' अन्तरायनिमित्तं पापं साधोः प्रसज्यते, राजा हि मदीयाज्ञामन्तरेणैष साधवे पिण्डं ददातीति रुष्टः सन् कदाचिद् मिष्टं स्वाधिकाराद्भंशयति, ततो मिष्टस्य वृत्तिच्छेदः साधुनिमित्त इति साधोरन्तरायिकं पापं, तथा 'अदिन्नं' ति अदत्तादानदोषो, राज्ञाऽननुज्ञातत्वात्, तथा 'डुम्बस्य' मिष्टस्य सत्के पिण्डे मिष्टेन स्वयं दीयमाने 'अभीक्ष्णं' प्रतिदिवसं यदि साधुस्तं पिण्डं गजस्य पश्यतो गृह्णाति तदा मदीयकवलमध्यादनेन मुण्डेन पिण्डो गृह्यते इत्येवं कदाचिद्रुष्टः सन् यथायोगं मार्गे परिभ्रमन्तु-पाश्रेय तं साधुं दृष्ट्वा तमुपाश्रयं स्फोटयेत्, साधुं च कथमपि प्राप्य मारयेत्, तस्मान्न गजस्य पश्यतो मिष्टस्यापि सत्कं गृह्णीयात्। तदेवमुक्तमनिसृष्टद्वारम्, अधुनाऽध्यवपूरकद्वारमाह—

अज्झोयरओ तिविहो जावंतिय सघरमीसपासंडे। मूलंमि य पुव्वकये ओयरई तिण्ह अट्ठाए ॥ ३८८ ॥

व्याख्या—अध्यवपूरकः 'त्रिविधः' त्रिप्रकारः, तद्यथा—'जावंतिय' इति स्वगृहमिश्रशब्दयोरत्रापि सम्बन्धनात् स्वगृहयावदर्थिकमिश्रः 'सघरमीसे' त्ति अत्र साधुशब्दोऽध्याहियते, स्वगृहसाधुमिश्रः, 'पासंडे' इति अत्रापि यथायोगं स्वगृहमिश्रशब्दसम्बन्धः, स्वगृहपाषण्डिमिश्रः, स्वगृहश्रमणमिश्रः स्वगृहपाषण्डिमिश्रेऽन्तर्भावित इति पृथङ्नोक्तः। त्रिविधस्यापि सामान्यतो लक्षणमाह—'मूलंमी' त्यादि, मूले—आरम्भेऽग्निसन्धुक्षणस्थालीजलप्रक्षेपादिरूपे पूर्वं—यावदर्थिकाद्यागमनात् प्रथममेव स्वार्थं निष्पादिते पश्चाद्यथासम्भवं 'त्रयाणां' यावदर्थिकादीनामर्थाय 'अवतारयति' अधिकतरांस्तण्डुलादीन् प्रक्षिपति, एषोऽध्यवपूरकः, अत एव चास्य मिश्रजाताद्भेदः, यतो मिश्रजातं तदुच्यते यत्प्रथमत एव यावदर्थिकाद्यर्थमात्मार्थं च मिश्रं निष्पाद्यते, यत्पुनः प्रथमत आरभ्यते स्वार्थं पश्चात्तभूतान-

१५ अनिसृष्टदोषः १६ अध्यवपूरकश्च

॥११५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	अथ 'अध्यवपूरक' दोषस्य वर्णनं आरभ्यते

र्थिनः पाषण्डिनः साधून् वा समागतानवगम्य तेषामर्थायाधिकतरं जलतण्डुलादि प्रक्षिप्यते सोऽध्यवपूरक इति मिश्रजातादस्य भेदः । अमुमेव भेदं दर्शयति—

तंडुलजलआयाणे पुप्फफले सागवेसणे लोणे । परिमाणे नाणत्तं अज्झोयरमीसजाए य ॥ ३८९ ॥

व्याख्या—इह 'व्यत्ययोऽध्यासा'दिति वचनात्सप्तमी यथायोगं षष्ठ्यर्थे तृतीयार्थे च वेदितव्या, ततोऽयमर्थः—अध्यवपूरकस्य मिश्रजातस्य च परस्परं नानात्वं तण्डुलजलपुष्पफलशाकवेसनलवणानाम् 'आदाने' आदानकाले यत् विचित्रं परिमाणं तेन द्रष्टव्यं, तथाहि मिश्रजाते प्रथमत एव स्थाल्यां प्रभूतं जलमारोप्यते, अधिकतराश्च तण्डुलाः कण्डनादिभिरुपक्रम्यन्ते, फलादिकमपि च प्रथमत एव प्रभूततरं संरभ्यते, अध्यवपूरके तु प्रथमतः स्वार्थं स्तोकतरं तण्डुलादि गृह्यते, पश्चाद्यावदर्थिकादिनिमित्तमधिकतरं तण्डुलादि प्रक्षिप्यते, तस्मात्तण्डुलादीनामादानकाले यद्विचित्रं परिमाणं तेन मिश्राध्यवपूरकयोर्नानात्वमवसेयं । सम्प्रत्यध्यवपूरकस्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह—

जावंतिए विसोही सघरपासंडि मीसए पूई । छिन्ने विसोही दिन्नंमि कप्पइ न कप्पई सेसं ॥ ३९० ॥

व्याख्या—'यावदर्थिके' यावदर्थिकमिश्रेऽध्यवपूरके शुद्धभक्तमध्यपतिते यदि तावन्मात्रमपनीयते ततो विशोधिर्भवति, अत एव च स्वगृहयावदर्थिकमिश्रोऽध्यवपूरको विशोधिकोटिर्वक्ष्यते, स्वगृहपाषण्डिमिश्रे उपलक्षणमेतत् स्वगृहसाधुमिश्रे च शुद्धभक्तमध्यपतिते पूतिर्भवति, सकलमपि तद्भक्तं पूतिदोषदुष्टं भवतीत्यर्थः, तथा विशोधिकोटिरूपे यावदर्थिकाध्यवपूरके छिन्ने यावन्तः कणाः कार्पटिकाद्यर्थं पश्चात्क्षिप्ताः तावन्मात्रे स्थाल्याः पृथक्कृते सति यद्वा तावन्मात्रे कार्पटिकादिभ्यो दत्ते सति शेषमुद्धरितं यद्भक्तं तत्साधूनां कल्पते, शेषं पुनः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वगृहपाषण्डिमिश्रस्वगृहसाधुमिश्राध्यवपूरकरूपं न कल्पते, किमुक्तं भवति ?–यदि तत्तावन्मात्रं स्थाल्याः पृथक्कृतं दत्तं वा पाषण्ड्यादिभ्यस्तथापि यच्छेषं तन्न कल्पते इति। 'जावंतिए विसोही' इत्यवयवं विशेषतो व्याख्यानयति—

छिन्नंमि तओ उक्कड्ढियंमि कप्पइ पिहीकए सेसं। आहावणाए दिन्नं च तत्तियं कप्पए सेसं ॥ ३९१ ॥

व्याख्या—विशोधिकोटिरूपे यावदर्थिकेऽध्यवपूरके यावदधिकं पश्चात् प्रक्षिप्तं तावन्मात्रे 'छिन्ने' पृथक्कृते तत्र छेदो रेखयापि भवति तदाह—'तओ उक्कड्ढियंमि' ततः स्वस्थानादुत्कर्षिते–उत्पाटिते, इहोत्कर्षितं स्वस्थानादुत्पाट्य शेषभक्तस्योपरि निक्षिप्तमपि भण्यते ततो विशेषणान्तरमाह–पृथक्कृते स्थाल्या बहिर्निष्काशिते शेषं यद्भक्तं तत्साधूनां कल्पते। अथवा 'आभावनया' उद्देशेन न तु सिक्थादिपरिगणनेन यदि तावन्मात्रं कार्पटिकादिभ्यो दत्तं स्यात् ततः शेषं कल्पते। तदेवमभिहितमध्यवपूरकद्वारं, तदभिधानाच्चाभिहिताः षोडशाप्युद्गमदोषाः। सम्प्रत्येतेषामेव विभागमाह—

एसो सोलसभेओ, दुहा कीरइ उग्गमो। एगो विसोहिकोडी, अविसोही उ चावरा ॥ ३९२ ॥

व्याख्या—एष षोडशभेद उद्गमः सामान्येन द्विधा, तद्यथा—'एको विशोधिकोटिः' एको भेदो विशोधिकोटिरूपः अपरा च 'अविशोधिः' 'अविशोधिकोटिः' अविशोधिकोटिरूपो द्वितीयो भेद इत्यर्थः। तत्र यदोषस्पृष्टभक्ते तावन्मात्रेऽपनीते सति शेषं कल्पते स दोषो विशोधिकोटिः, शेषस्त्वविशोधिकोटिः। तत्र प्रथमतोऽविशोधिकोटिमाह—

आहाकम्मुद्देसिय चरमतिगं पूइ मीसजाए य। बायरपाहुडियावि य अज्झोयरए य चरिमदुगं ॥ ३९३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३९३|| दीप अनुक्रम [४२३]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

व्याख्या—आधाकर्म सप्रभेदम्, १ 'औद्देशिकस्य' विभागौद्देशिकस्यान्त्यभेदत्रयं २ तथा 'पूतिः' भक्तपानरूपा ३ 'मिश्रजातं' पाषण्डिगृहमिश्रसाधुगृहमिश्ररूपं ४ बादरा प्राभृतिका ५ अध्यवपूरकस्य च 'चरमद्विकं' स्वगृहपाषण्डिमिश्रस्वगृहसाधुमिश्ररूपम् ६, एते उद्गमदोषा अविशोधिकोटिः। अनया चाविशोधिकोट्या अवयवेन स्पृष्टं शुद्धं भक्तं यद्दोषदुष्टं भवति तं दोषमाह—

उग्गमकोडी अवयव लेवालेवे य अकयए कप्पे । कंजियआयामगचाउलोयसंसट्ठपूईओ ॥ ३९४ ॥

व्याख्या—'उद्गमकोट्याः' उद्गमदोषरूपाया अविशोधिकोट्या 'अवयवेन' शुष्कसिक्थादिना तथा 'लेपेन' तक्रादिना 'अलेपेन' वल्लचणकादिना संस्पृष्टं यद्भक्तं तस्मिन्भुज्यितेऽपि यत् अकृते कल्पे—अकृतकल्पत्रये इत्यर्थः पात्रे यत्पश्चात्परिगृह्यते तत्पूतिरवगन्तव्यम्। इह कश्चिन्मतिदौर्बल्यादित्थं विकल्पेत—यथा यदेव साधूनाधाय निर्वर्तितं तदेवैकमोदनमाधाकर्म भवति, न शेषमवश्रावणकाञ्जिकादि, ततस्तत्संस्पृष्टं पूतिर्न भवतीति ततस्तदभिप्रायनिराकरणार्थमाह—'कंजि' इत्यादि, इह साध्वर्थमोदनेऽभिनिर्वर्त्यमाने यत्तत्सत्कं काञ्जिकादि तदप्याधाकर्मैव, तदवयवरूपत्वात्, ततः काञ्जिकेनाऽऽयामेन—अवश्रावणेन चाउलोदकेन च यत्संस्पृष्टं तदपि पूतिर्भवति। एतदेव रूपकत्रयेण भाष्यकृद्व्याख्यानयति—

सुक्केणऽवि जं छिक्कं तु असुद्दणा धोवए जहा लोए। इह सुक्केणऽवि छिक्कं धोवइ कंमेण भाणं तु ? ॥ (भा० ३७) भा० २८

लेवालेवत्ति जं वुत्तं, जंपि दव्वमलेवडं । तंपि घेत्तुं ण कप्पंति, तक्काइ किमु लेवडं ? ॥ (भा० ३८) भा० २९

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र आरभ्य भाष्य क्रम-संख्याविषयक मुद्रण दोष: संभाव्यते,
तत्कारणात् पूज्यपाद् सागरानन्दसूरिजी संपादिता 'आगममञ्जूषा'या: उद्धृत क्रम मया अत्र प्रक्षेपितम्

आहाय जं कीरइ तं तु कम्मं, वज्जेहिही ओयणमेगमेव ।
सोवीर आयामग चाउलो वा, कम्मंति तो तग्गहणं करेंति ॥ (भा० ३९)

भा० ३०

व्याख्या—सुगमं नवरमाद्यरूपकेण 'अवयव' इति पदं व्याख्यातं, द्वितीयरूपकेण 'लेवालेव' इति, तत्रायं भावार्थः—वल्लचनकादिद्रव्यमलेपकृत् यदि प्रथममनाभोगादिकारणतः पात्रे गृहीत्वा पश्चात्कथमपि परिज्ञाते परित्यज्य पात्रं कल्पयन्ति–कल्पत्रयेण प्रक्षालयन्ति, किं पुनस्तक्रादिकं लेपकृद्गृहीत्वा, तत्र सुतरां कल्पत्रयेण प्रक्षालनं कर्त्तव्यम् इति परिज्ञापनार्थं लेपालेप इत्युक्तं, तथा यदेव मुख्यवृत्त्या साधूनाधाय क्रियते तदेवाधाकर्म नान्यदिति बुद्ध्या शिष्या वर्जयिष्यन्ति ओदनमेवैकं केवलं न शेषं तण्डुलोदकादिकं ततो गुरवो—भद्रबाहुस्वामिनः सौवीरावश्रावणतण्डुलोदकान्यप्याधाकर्मेति परिज्ञापनार्थं तद्ग्रहणं–सौवीरादिग्रहणं विशेषतः कुर्वन्ति । तदेवमविशोधिकोटिरुक्ता, सम्प्रति विशोधिकोटिमाह—

सेसा विसोहिकोडी भत्तं पाणं विगिंच जहसत्ति । अणलक्खिय मीसदवे सव्वविवेगेऽवयव सुद्धो ॥ ३९५ ॥

व्याख्या—शेषौघौद्देशिकं नवविधमपि च विभागौद्देशिकम्–उपकरणपूतिर्मिश्रस्याद्यो भेदः स्थापना सूक्ष्मप्राभृतिका प्रादुष्करणं क्रीतं प्रामित्यकं परिवर्त्तितमभ्याहृतमुद्भिन्नं मालापहृतमाच्छेद्यमनिसृष्टमध्यवपूरकस्याद्यो भेदश्चेत्येवंरूपा विशोधिकोटिः, विशुध्यति शेषं शुद्धं भक्तं यस्मिन्नुद्धृते यद्वा विशुद्ध्यति पात्रमकृतकल्पत्रयमपि यस्मिन्नुज्झिते सा विशोधिः, सा चासौ कोटिश्च—भेदश्च विशोधिकोटिः, उक्तं च—" उद्देसियंमि नवगं उवगरणे जं च पूइयं होई । जावंतियमीसगयं च अज्झोयरए य पढमपयं ॥ १ ॥ परियट्टिए

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३९५|| दीप अनुक्रम [४२८] | पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

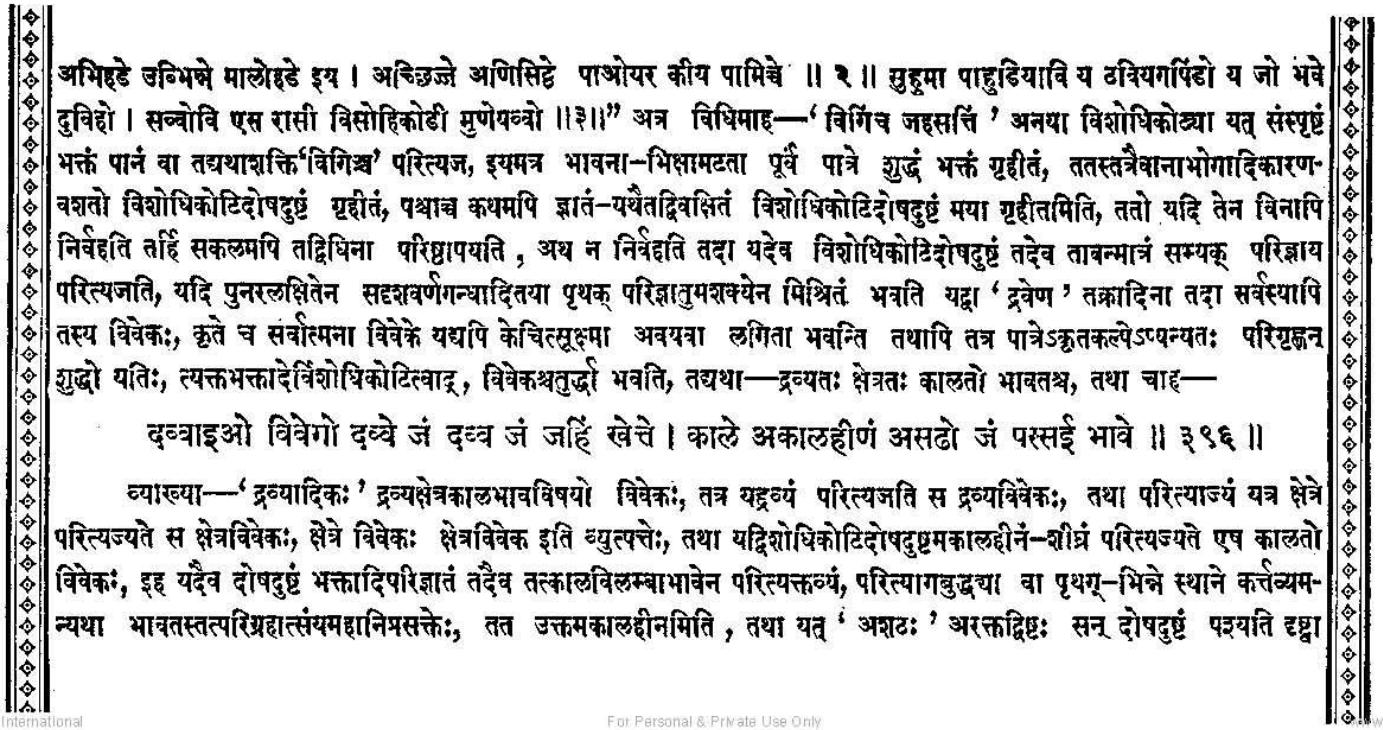

अभिहडे उब्भिन्ने मालोहडे इय । अच्छिज्जे अणिसिट्ठे पाओयर कीय पामिच्चे ॥ २ ॥ सुहुमा पाहुडियावि य ठवियगपिंडो य जो भवे दुविहो । सव्वोवि एस रासी विसोहिकोडी मुणेयव्वो ॥३॥" अत्र विधिमाह—'विगिंच जहसत्ति' अनया विशोधिकोट्या यत् संसृष्टं भक्तं पानं वा तद्यथाशक्ति 'विगिञ्च' परित्यज, इयमत्र भावना–भिक्षामटता पूर्वं पात्रे शुद्धं भक्तं गृहीतं, ततस्तत्रैवानाभोगादिकारणवशतो विशोधिकोटिदोषदुष्टं गृहीतं, पश्चाच्च कथमपि ज्ञातं–यथैतद्विवक्षितं विशोधिकोटिदोषदुष्टं मया गृहीतमिति, ततो यदि तेन विनापि निर्वहति तर्हि सकलमपि तद्विधिना परिष्ठापयति, अथ न निर्वहति तदा यदेव विशोधिकोटिदोषदुष्टं तदेव तावन्मात्रं सम्यक् परिज्ञाय परित्यजति, यदि पुनरलक्षितेन सदृशवर्णगन्धादितया पृथक् परिज्ञातुमशक्येन मिश्रितं भवति यद्वा 'द्रवेण' तक्रादिना तदा सर्वस्यापि तस्य विवेकः, कृते च सर्वात्मना विवेके यद्यपि केचित्सूक्ष्मा अवयवा लगिता भवन्ति तथापि तत्र पात्रेऽकृतकल्पेऽप्यन्यतः परिगृह्यन शुद्धो यतिः, त्यक्तभक्तादेर्विशोधिकोटित्वाद्, विवेकश्चतुर्द्धा भवति, तद्यथा—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, तथा चाह—

दव्वाइओ विवेगो दव्वे जं दव्व जं जहिं खेत्ते । काले अकालहीणं असढो जं पस्सई भावे ॥ ३९६ ॥

व्याख्या—'द्रव्यादिकः' द्रव्यक्षेत्रकालभावविषयो विवेकः, तत्र यद्द्रव्यं परित्यजति स द्रव्यविवेकः, तथा परित्याज्यं यत्र क्षेत्रे परित्यज्यते स क्षेत्रविवेकः, क्षेत्रे विवेकः क्षेत्रविवेक इति व्युत्पत्तेः, तथा यद्विशोधिकोटिदोषदुष्टमकालहीनं–शीघ्रं परित्यज्यते एष कालतो विवेकः, इह यदैव दोषदुष्टं भक्तादिपरिज्ञातं तदैव तत्कालविलम्बाभावेन परित्यक्तव्यं, परित्यागबुद्ध्या वा पृथग्–भिन्ने स्थाने कर्त्तव्यमन्यथा भावतस्तत्परिग्रहात्संयमहानिप्रसक्तेः, तत उक्तमकालहीनमिति, तथा यत् 'अशठः' अरक्तद्विष्टः सन् दोषदुष्टं पश्यति दृष्ट्वा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	द्रव्य-आदिभि: भक्तादि विवेकं वर्णयते

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥११८॥

चाकालहीनं शीघ्रं परित्यजति स 'भावे' भावतो विवेकः। इह निर्वाहे सति विशोधिकोटिदोषसम्मिश्रं सकलमपि परित्यक्तव्यम्, अनिर्वाहे तु तावन्मात्रं, तत्र विधिमुपदर्शयितुकामः प्रथमतश्चतुर्भङ्गिकामाह—

सुक्कोल्लसरिसपाए असरिसपाए य एत्थ चउभंगो। तुल्ले तुल्लनिवाए तत्थ दुवे दोन्नऽतुल्ला उ ॥ ३९७ ॥

व्याख्या—अत्र शुष्कस्याऽऽर्द्रस्य च 'सदृशे' समानेऽन्यस्मिन् वस्तुनि मध्ये पतिते सति तथा 'असदृशे' असमानेऽन्यस्मिन् वस्तुनि मध्ये पतिते सति चतुर्भङ्गी भवति, सूत्रे च पुंस्त्वनिर्देशः आर्षत्वात्, चत्वारो भङ्गा भवन्तीत्यर्थः, ते चेमे—शुष्के शुष्कं पतितं, शुष्के आर्द्रम्, आर्द्रे शुष्कम्, आर्द्रे आर्द्रमिति, तत्र येन येन पदेन यौ यौ भङ्गौ लब्धौ तौ तौ तथा दर्शयति—'तत्थ' त्ति तत्र 'तुल्ये' समाने सति अन्यस्मिन् वस्तुनि मध्ये तुल्यनिपातेऽधिकरणसदृशस्य वस्तुनः प्रक्षेपे 'द्वौ' प्रथमचतुर्थरूपौ भङ्गौ लब्धौ, तौ च 'सुक्कोल्लसरिसपाए' इत्यनेन पदेन सूचितौ, तथा द्वौ भङ्गौ द्वितीयतृतीयरूपौ 'अतुल्यात्' विसदृशात् प्रक्षिप्यमाणात् लब्धौ, तौ च 'असरिसपाए य' इत्यनेन पदेनोक्तौ। तदेवं चतुर्भङ्गिकामभिधाय सम्प्रत्यत्रैवोद्धरणविधिमाह—

सुक्के सुक्कं पडियं विगिंचिउं होइ तं सुहं पढमो। बीयंमि दवं छोढुं गालंति दवं करं दाउं ॥ ३९८ ॥

तइयंमि करं छोढुं उल्लिचइ ओयणाइ जं तरइ। दुल्लहदव्वं चरिमे तत्तियमित्तं विगिंचंति ॥ ४९९ ॥

व्याख्या—'शुष्के' वल्लचनकादौ मध्ये यत् 'शुष्कं' वल्लचनकादि पतितं तत्सुखं—जलप्रक्षेपादिकष्टमन्तरेण 'विगिंचिउं होइ' परित्यक्तुं भवति, परित्याज्यं भवतीत्यर्थः, एष प्रथमो भङ्गः, तथा द्वितीये भङ्गे 'शुष्के' वल्लचनकादौ मध्ये कथमप्यार्द्रं तीमनादि विशो-

द्रव्यादिभिर्भक्तादिविवेकः

॥११८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धिकोटिदोषवत् पतितमित्येवंरूपे 'द्रवं' काञ्जिकादि तत्र मध्ये प्रभूतं प्रक्षिप्य पश्चात्पात्रमवनम्य पात्रकदेशे च शुद्धभक्तपानरक्षणार्थं करं च दत्त्वा सर्वं द्रवं गालयन्ति। तथा तृतीये शुद्धे आर्द्रे तीमनादौ मध्यपतितं शुष्कं कूरवल्लचनकादिरूपमोदनमित्येवंरूपे तत्र तीमनादौ मध्ये 'करं' हस्तं प्रक्षिप्यौदनादि यद्यावन्मात्रं शक्नोति तावन्मात्रमशठः सन् 'उल्लिंचति' आकर्षति, ततः शेषं तीमनादि कल्पते, तथा 'चरमे' आर्द्रे आर्द्रे पतितमित्येवंरूपे यदि तद्द्रव्यं 'दुर्लभम्' अन्यत्र न प्राप्यते तत्रोद्देशतस्तावन्मात्रं परित्यजन्ति, शेषं कल्पते, एषा चतुर्भङ्गिका साधूनामसंस्तरणे वेदितव्या, संस्तरणे च सकलमपि परित्यजन्ति। तथा चाह—

संथरे सव्वमुज्झंति, चउभंगो असंथरे। असढो सुज्झई जेसुं, मायावी जेसु बज्झई ॥ ४०० ॥

व्याख्या—'संस्तरे' निर्वाहे सति सर्वमपि पात्रस्थितं विशोधिकोटिसंसृष्टमुज्झन्ति, 'असंस्तरे' अनिर्वाहे पुनः 'चतुर्भङ्गी' चत्वारोऽनन्तरोक्ता भङ्गाः, सूत्रे च पुंस्त्वनिर्देश आर्षत्वात्, कथंभूतास्ते भङ्गाः ? इत्याह—येषु भङ्गेषु 'अशठः' अरक्तद्विष्टः सन् वर्त्तमानः शुध्यति–शुद्धिमापद्यते, मायावी च येषु बध्यते। तदेवं विशोध्यविशोधिरूपं कोटिद्वयं सप्रपञ्चमुक्तम्, इदानीं तदेवोपसंहारव्याजेन सङ्क्षेपत आह—

कोडीकरणं दुविहं उग्गमकोडी विसोहिकोडी य। उग्गमकोडी छक्कं विसोहिकोडी अणेगविहा ॥ ४०१ ॥

व्याख्या—कोटीकरणं 'द्विविधं' द्विप्रकारं, द्विधा कोटिरित्यर्थः, तद्यथा—उद्गमकोटिर्विशोधिकोटिश्च, तत्रोद्गमकोटिः 'षट्कम्' आधाकर्मिकौद्देशिकान्त्यभेदत्रिकादिषड्भेदाः, विशोधिकोटिः पुनरनेकविधा–ओघौद्देशिकादिरूपा। सम्प्रत्यन्यथा कोटीः प्रतिपादयति—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥११९॥

नव चेव अठारसगं सत्तावीसा तहेव चउ पन्ना । नउइ दो चेव सया उ सत्तरी होइ कोडीणं ॥ ४०२ ॥

व्याख्या—प्रथमतः कोटयो नव भवन्ति, तद्यथा—स्वयं हननमन्येन घातनमपरेण हन्यमानस्यानुमोदनं, तथा स्वयं पचनमन्येन पाचनमपरेण पच्यमानस्यानुमोदनं, तथा स्वयं क्रयणमन्येन क्रायणमपरेण क्रीयमाणस्यानुमोदनम् , इहाद्याः षडविशोधिकोटयोऽन्तिमास्तु तिस्रो विशोधिकोट्यः, एता अपि नवकोटीः कोऽपि रागेण सेवते कोऽपि द्वेषेण, ततो द्विकेन गुणिता अष्टादश भवन्ति, अथवैवं ताः-कोऽपि मिथ्यादृष्टिः कुशास्त्रसम्पर्कसमुत्थवासनावशतो निःशङ्कं सेवते, कोऽपि सम्यग्दृष्टिः सन् विरतोऽप्यनाभोगादिकारणतोऽपरिज्ञानतः, कोऽपि पुनः सम्यग्दृष्टिरपि सन्नविरतत्वेन गार्हस्थ्यमवलम्बमानः, ततो मिथ्यात्वाज्ञानाविरतिरूपेण त्रिकेण नव गुणिताः सप्तविंशतिर्भवति, रागद्वेषौ त्वत्र पृथग्न विवक्ष्येते, यदा तु पृथग् विवक्ष्येते तदा ताभ्यां सप्तविंशतिर्गुणिता चतुष्पञ्चाशद्भवति, तथा ता एव नव कोटयः कदाचित् पुष्टमालम्बनमधिकृत्य दशविधक्षान्त्यादिधर्मपरिपालनार्थं सेव्यन्ते, यथा दुर्भिक्षे कान्तारे चान्येन फलादिनाऽभ्यवहृतेनाहं देहं धृत्वा क्षान्तिं मार्दवमार्जवं यावद्ब्रह्म पालयिष्यामीति हन्ति, एवमन्येन घातनाद्यपि भावनीयं, ततो नव दशभिर्गुणिता जाता नवतिः, इयं च सामान्यतश्चारित्रनिमित्ता, काचित् पुनश्चारित्रनिमित्ता विशिष्टज्ञानलाभसम्भवनिमित्ता च, यथाऽस्मिन् कान्तारादावनेन फलादि-नाऽभ्यवहृतेन देहमहं धृत्वा क्षान्त्यादिकं पालयिष्यामि प्रभूतानि च शास्त्राण्यध्येष्ये इति हन्तीत्यादि, एषा च ज्ञानस्य प्राधान्यविवक्षणात् ज्ञाननिमित्ता भण्यते, काचित्पुनश्चारित्रनिमित्ता दर्शनस्थिरीकरणहेतुशास्त्रार्थपरिज्ञाननिमित्ता च, यथाऽस्मिन् कान्तारादावनेन फलादि-नाऽभ्यवहृतेन देहं परिपाल्य क्षान्त्यादिकं पालयिष्यामि दर्शनं च निर्मलं विधास्ये इति हन्तीत्यादि, एषा च दर्शनस्य प्राधान्यविवक्षणा-दर्शननिमित्ताऽभिधीयते, तत एवं त्रिप्रकारा नवतिरिति त्रिभिर्नवतिर्गुण्यते, ततो द्वे शते सप्तत्यधिके कोटीनां भवतः , उक्तं च–" रागेई

कोटीना द्वादयो भेदाः

॥११९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||४०२|| दीप अनुक्रम [४३५] | पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

मिच्छौई रागौई समणधम्मै नाणौई । नवै नवै सत्तावीसौ नवै नउईऐं उ गुणकारा ॥ १ ॥ " या तु दर्शनस्थिरीकरणार्थं प्रभूतश्लेषशास्त्रावगाहनार्थं चारित्रार्थं च सेव्यते सा सामान्यतश्चारित्रनिमित्तायामन्तर्भाव्यते, ततो न सूत्रोक्तभेदसंख्यानियमव्याघातः । सम्प्रत्युद्गमद्वारदोषाणां वक्ष्यमाणोत्पादनाद्वारदोषाणां च यतः सम्भवस्तांस्तदुत्थितान् वैचित्र्येनाह—

सोलस उग्गमदोसे गिहिणो उ समुट्ठिए वियाणाहि । उप्पायणाएँ दोसे साहूउ समुट्ठिए जाण ॥ ४०३ ॥

व्याख्या—एताननन्तरोक्तान् षोडशसङ्ख्यानुद्गमदोषान् गृहिणः सकाशादुत्थितान् विजानीहि, तथाहि–आधाकर्मादिदोषदुष्टं भक्तादि गृहस्थैरेव क्रियते, ये तूत्पादनाया दोषा वक्ष्यमाणास्तान् 'साधुतः' साधोः सकाशादुत्थितान् जानीहि, धात्रीत्वादीनां साधुभिरेव क्रियमाणत्वात् । तदेवमुक्तमुद्गमद्वारं, सम्प्रत्युत्पादनाद्वारं वक्तव्यं, तत्र प्रथमत उत्पादनामाह—

णामं ठवणादविए भावे उप्पायणा मुणेयव्वा । दव्वंमि होइ तिविहा भावंमि उ सोलसपया उ ॥ ४०४ ॥

व्याख्या—उत्पादना चतुर्द्धा, तद्यथा–'णामं'ति नामोत्पादना स्थापनोत्पादना 'द्रव्ये' द्रव्यस्योत्पादना 'भावे' भावस्योत्पादना च, तत्र नामस्थापने द्रव्यस्योत्पादना च यावन्नोआगमतो भव्यशरीरद्रव्योत्पादना प्रागुक्तगवेषणादिरिव भावनीया, ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता तु द्रव्योत्पादना त्रिधा–सचित्तद्रव्योत्पादनाऽचित्तद्रव्योत्पादना मिश्रद्रव्योत्पादना च । भावोत्पादना द्विधा, तद्यथा–आगमतो नोआगमतश्च, तत्रागमत उत्पादनाशब्दार्थज्ञस्तत्र चोपयुक्तः, नोआगमतो भावोत्पादना तु द्विधा, तद्यथा–प्रशस्ताऽप्रशस्ता च, तत्र प्रशस्ता ज्ञानाद्युत्पादना, अप्रशस्ता 'षोडशपदा' वक्ष्यमाणधात्रीदूत्यादिषोडशभेदा । तत्र प्रथमतः सचित्तद्रव्योत्पादनां विभावयिषुराह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	अथ 'उत्पादना" दोष-विषयक वर्णनं आरभ्यते

आसूयमाइएहिं वालचियतुरंगबीयमाईहिं । सुयआसदुमाईणं उप्पायणया उ सच्चित्ता ॥ ४०५ ॥

व्याख्या—सुताश्वद्रुमादीनां द्विपदचतुष्पदापदरूपाणाम्, अत्रादिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, सुतादीनामश्वादीनां द्रुमादीनां च यथासङ्ख्यमासूयादिभिः, 'आसूयम्' औपयाचितकम्, आदिशब्दाद्भाटकजलादिपरिग्रहः। तथा 'वालचिततुरङ्गबीजादिभिश्च' तत्र वालैः-केशरोमादिभेदभिन्नैश्चितो–व्याप्तो वालचितः—पुरुषो 'लोमशः पुरुष' इति वचनात्, तुरङ्गबीजे च सुप्रसिद्धे, आदिशब्दादन्यहेतुपरिग्रहः, या उत्पादना, तथाहि—केनचिन्निजभार्यायाः कथमपि पुत्रासम्भवे देवताया औपयाचितकेन ऋतुकाले स्वसंप्रयोगेण च सुतः पुत्रिका वोत्पाद्यते, तथा निजघोटिकायाः परस्य भाटकप्रदानेन परघोटकमारोप्य तुरङ्ग उत्पाद्यते, एवं यथायोगं बलीवर्दादिरपि, तथा जलसेकेन बीजारोपणेन द्रुमवल्ल्यादिः, तत इत्थं सुतादीनामुत्पादना सा सचित्तद्रव्योत्पादना। सम्प्रत्यचित्तद्रव्योत्पादनां मिश्रद्रव्योत्पादनां च प्रतिपादयति—

कणगरययाइयाणं जहेट्ठधाउविहिया उ अच्चित्ता । मीसा उ सभंडाणं दुपयाइकया उ उप्पत्ती ॥ ४०६ ॥

व्याख्या—'कनकरजतादीनां' सुवर्णरूप्यताम्रादीनां 'यथेष्टधातुविहिता' यथेष्टो यो यस्येष्टोऽनुकूलो धातुस्तस्माद्विहिता–कृता उत्पत्तिः सा 'अचित्ता' अचित्तद्रव्योत्पादना, तथा या 'द्विपदादीनां' दासादीनां 'सभाण्डानां' सालङ्कारादीनां वेतनप्रदानेन या कृता आत्मीयत्वेनोत्पत्तिः सा 'मिश्रा' मिश्रद्रव्योत्पादना। तदेवमुक्ता द्रव्योत्पादना, सम्प्रति भावोत्पादनामाह—

भावे पसत्थ इयरो कोहाउप्पायणा उ अपसत्था । कोहाइजुया धायाइणं च नाणाइ उ पसत्था ॥ ४०७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—'भावे' भावविषया उत्पादना द्विधा, तद्यथा—प्रशस्ता 'इतरा' अप्रशस्ता, तत्र या क्रोधादीनां क्रोधादियुता धात्रीत्वादीनां वोत्पादना साऽप्रशस्ता। या तु 'ज्ञानादेः' ज्ञानदर्शनचारित्राणामुत्पादना सा प्रशस्ता। इह चाप्रशस्तया भावोत्पादनयाऽधिकारः, पिण्डदोषाणां वक्तुमुपक्रान्तत्वात्॥ सा च षोडशभेदा, ततस्तानेव षोडश भेदान् गाथाद्वयेनाह—

धाई दूइ निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य। कोहे माणे माया लोभे य हवंति दस एए ॥ ४०८ ॥
पुव्विं पच्छा संथव विज्जा मंते य चुन्न जोगे य। उप्पायणाइ दोसा सोलसमे मूलकम्मे य ॥ ४०९ ॥

व्याख्या—'धात्री' बालकपरिपालिका, इह धात्रीत्वस्य यत्करणं कारणं वा तद्धात्रीशब्देनोक्तं द्रष्टव्यं, तथा विवक्षणात्, एवं दूत्यपि भावनीया, नवरं 'दूती' परसन्दिष्टार्थकथिका 'निमित्तम्' अतीताद्यर्थपरिज्ञानहेतुः शुभाशुभचेष्टादि, तथा चामुमेव निमित्तशब्दवाच्यमर्थमङ्गीकृत्य पूर्वसूरयो निमित्तशब्दस्य नैरुक्तिं–शब्दव्युत्पत्तिमेवमाचक्षते, नियतमिन्द्रियेभ्यः इन्द्रियार्थेभ्यः समाधानं चात्मनः समाश्रित्य यस्मादुत्पद्यते शुभाशुभातीताद्यर्थपरिज्ञानं तस्मात्तदिन्द्रियार्थादि निमित्तमिति, उक्तं चाङ्गविद्यायाम्–"इंदिएहिंदियत्थेहिं, समाहाणं च अप्पणो। नाणं पवत्तए जम्हा, निमित्तं तेण आहियं ॥ १ ॥" तच्चाङ्गादिभेदादष्टधा, तदुक्तम्–अंगं सरो लक्खणं (च), वंजणं सुविणो तहा। छिन्नं भोमंतलिक्खं (च) य, एमेए (एए) अट्ठ वियाहिया॥ १॥ एए महानिमित्ता उ, अट्ठ संपरिकित्तिया। एएहिं भावा नज्जंती,

१ अङ्ग–शरीरावयवप्रमाणस्यन्दनादिविकारफलोद्भावकं निमित्तशास्त्रं, २ स्वरः–जीवाजीवाश्रितस्वरस्वरूपफलाभिधायकं, ३ लक्षणं–छत्रछत्राद्यनेकविधलक्षणव्युत्पादकं, ४ व्यञ्जनं–मषादिव्यञ्जनफलोपदर्शकं, ५ स्वप्नं–स्वप्नफलाविर्भावकं, ६ छेदनं–छिन्नं वस्त्रादीनां, तद्विषयं शुभाशुभनिरूपकं शास्त्रं यथा 'देवेसु उत्तमो लाभो' इत्यादि, ७ भौमं–भूमिविकारफलाभिधानप्रधानं निमित्तशास्त्रं, ८ अन्तरिक्षम्–आकाशप्रभवग्रहयुद्धभेदादिभावफलनिवेदकं, क्वचिच्छिन्नस्थाने उत्पातं वदन्ति, तत्रोत्पातं सहजरुधिरवृष्ट्यादिलक्षणोत्पातनिरूपकं निमित्तशास्त्रं,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥१२१॥

तीतानागयसंपया ॥ २ ॥" निमित्तहेतुकं च यद् ज्ञानं तदप्युपचारान्निमित्तं तदेवेहाधिकृतं, तथा चाङ्गादिनिमित्तहेतुकं ज्ञानमेव प्रयुञ्जानो यतिर्दोषवानग्रे वक्ष्यते, 'आजीवः' आजीविका 'वनीपकः' भिक्षाचरस्तस्येव यत्समाचरणं तदपि वनीपकः, शब्दव्युत्पत्तिं च स्वयमेवाग्रे वक्ष्यति, 'चिकित्सा' रोगप्रतिकारः, क्रोधमानमायालोभाः प्रतीताः, 'पूर्वसंस्तवः' मात्रादिकल्पनया परिचयकरणं, 'पश्चात्संस्तवः' श्वश्र्वादिकल्पनया परिचयकरणं, 'विद्या' स्त्रीरूपदेवताधिष्ठिता ससाधना वाऽक्षरविशेषपद्धतिः, सैव पुरुषदेवताधिष्ठिता असाधना वा मन्त्रः, 'चूर्णः' सौभाग्यादिजनको द्रव्यसमुदायः, 'योगः' आकाशगमनादिफलो द्रव्यसङ्घातः, एतेऽनन्तरोक्ता उत्पादनाया दोषाः, षोडशो दोषो 'मूलकर्म' वशीकरणम् । इह धात्र्या पिण्डः–धात्रीपिण्डः, किमुक्तं भवति ?–धात्रीत्वस्य करणेन कारणेन च य उत्पाद्यते पिण्डः स धात्रीपिण्डः, यस्तु दूतीत्वस्य करणेनोत्पाद्यते स दूतीपिण्डः, एवं निमित्तादिष्वपि भावनीयं । तत्र प्रथमतो धात्रीपिण्डं व्याचिख्यासुर्धात्रीभेदानाह—

खीरे य मज्जणे मंडणे य कीलावणंकधाई य । एक्केक्कावि य दुविहा करणे कारावणे चेव ॥ ४१० ॥

व्याख्या—'क्षीरे' क्षीरविषये एका धात्री या स्तन्यं पाययति, द्वितीया मज्जनविषया, तृतीया मण्डनविषया, चतुर्थी क्रीडनधात्री, पञ्चम्यङ्कधात्री । एकैकाऽपि च द्विधा, तद्यथा–स्वयं करणे कारणे च, तथाहि–या स्वयं स्तन्यं पाययति बालकं सा स्वयंकरणे क्षीरधात्री, या त्वन्यया पाययति सा कारणे, एवं मज्जनादिधात्र्योऽपि भावनीयाः । सम्प्रति धात्रीशब्दस्य व्युत्पत्तिमाह—

धारेइ धीयए वा धयंति वा तमिति तेण धाई उ । जहविहवं आसि पुरा खीराई पंच धाईओ ॥ ४११ ॥

उत्पादनादोषेषु धात्रीदोषः

॥१२१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—धारयति बालकमिति धात्री, यद्वा धीयते भाटकप्रदानेन 'धि(धी)यते' पोष्यते इति धात्री, अथवा 'धयन्ति' पिबन्ति बालकास्तामिति धात्री, 'धात्री'ति निपातनसूत्रादूपनिष्पत्तिः, ताश्च धात्र्यः 'पुरा' पूर्वस्मिन् काले 'यथाविभवं' विभवानुसारेण क्षीरादिविषया बालकयोग्याः पञ्च आसन्, सम्प्रति तथारूपविभवाभावेन ता न दृश्यन्ते । तत्र यथा स्तन्यदापनधात्रीत्वं साधुः करोति तथा दर्शयति—

खीराहारो रोवइ मज्झ कयासाय देहि णं पिज्जे । पच्छा व मज्झ दाही अलं व भुज्जो व एहामि ॥ ४१२ ॥

व्याख्या—पूर्वपरिचिते गृहे साधुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् रुदन्तं बालकं दृष्ट्वा तज्जननीमेवमाह—एष बालोऽद्यापि क्षीराहारस्ततः क्षीरमन्तरेणावसीदन् 'रोदिति' आरटति, तस्मान्मह्यं कृताशाय-विहितभिक्षालाभमनोरथाय झटित्येव भिक्षां देहि, पश्चात् 'णम्' एनं बालकं 'पेज्जे' पायय स्तन्यं, यद्वा प्रथमत एनं स्तन्यं पायय पश्चान्मह्यं भिक्षां देहि, यदिवाऽलं मे सम्प्रति भिक्षया पायय स्तन्यं बालकमहं पुनर्भूयोऽपि भिक्षार्थमेष्यामि । तद्यथा—

मइमं अरोगि दीहाउओ य होइ अविमाणिओ बालो । दुल्लभयं खु सुयमुहं पिज्जाहि अहं व से देमि ॥ ४१३ ॥

व्याख्या—'अविमानितः' अनपमानितो बालो मतिमानरोगी दीर्घायुश्च भवति, विमानितः पुनर्विपरीतः । तथा दुर्लभं खलु लोके 'सुतमुखं' पुत्रमुखदर्शनं, तस्मात्सर्वाण्यप्यन्यानि कर्माणि मुक्त्वा त्वमेनं बालकं स्तन्यं पायय, यदि त्वं न पाययसि तर्ह्यहं वा ददाम्यस्मै क्षीरं बालकाय, अन्यया वा स्तन्यं पाययामि । अत्र 'अहं वा से देमि' इत्यनेन स्वयंकरण(णेन)धात्रीत्वं साधोर्दर्शितं, शेषपादैः कारणेन । अत्र दोषमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अहिगरण भद्दपंता कम्मुदय गिलाणए य उड्डाहो । चडुकारी य अवन्नो नियगो अन्नं च णं संके ॥ ४१४ ॥

व्याख्या—यदि बालकजननी भद्रा–धर्माभिमुखी भवति तर्हि प्राक्तनैः साधुवचनैरावर्जिता सती अधिकरणम्–आधाकर्मादि करोति, अथ प्रान्ता–धर्मानभिमुखी तर्हि द्वेषं यातीति शेषः, तथा यदि स्वकर्मोदयात्कथमपि स बालो ग्लानो भवति तर्हि 'उड्डाहः' प्रवचनमालिन्यं, यथा साधुना तदानीमालपितः क्षीरं वा पायितोऽन्यत्र वा नीत्वा कस्या अपि स्तन्यं पायितस्तेन ग्लानो जातः, तथा–अतीव चाटुकारीति लोके 'अवर्णः' अश्लाघा, तथा 'निजकः' भर्त्ता 'अन्यद्वा' मैथुनादिकं 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे तथारूपसाधुवचनश्रवणतः 'शङ्कते' सम्भावयति । अथवा प्रकारान्तरेण धात्रीकरणे यो दोषस्तं दर्शयति—

अयमवरो उ विकप्पो भिक्खायरि सड्ढि अद्धिई पुच्छा । दुक्खसहाय विभासा हियं मे धाइत्तणं अज्ज ॥ ४१५ ॥

वयगंडथुल्लतणुयत्तणेहिं तं पुच्छिउं अयाणंतो । तत्थ गओ तस्समक्खं भणाइ तं पासिउं बालं ॥ ४१६ ॥

व्याख्या—अयमपरो विकल्पो धात्रीकरणे, तमेवाह–भिक्षाचर्याप्रविष्टेन साधुना काचित् श्राद्धिका 'अधृतिः' धृतिरहिता दृष्टा, ततः पृष्टा यथा–किमद्य त्वं सशोका दृश्यसे ?, तत एवमुक्ता सती सा प्राह–यो दुःखसहायो भवति तस्मै दुःखं निवेद्यते, दुःखसहायश्च स उच्यते यो दुःखप्रतीकारसमर्थः, ततः साधुराह–अहं दुःखसहायस्तस्मान्निवेद्यतां मे दुःखं, ततः सा प्राह–अद्य मे–मम धात्रीत्वममुकस्मिन्नीश्वरगृहे 'हृतं' स्फेटितं ततोऽहं विषण्णा, ततः साधुराह–मा त्वं विषादं कार्षीः अहमवश्यं त्वां तत्राचिरेण धात्रीं स्थापयामीति प्रतिज्ञां विधाय तस्याः पार्श्वेऽभिनवस्थापिताया धात्र्या वयःप्रभृतिक्रमजानानः पृच्छति, यथा किं तस्या वयः–तारुण्यं परिणतं वा ?, गण्डावपि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्तनापरपर्यायौ किं कूर्परवदीर्घौ यद्वाऽतिशयेन स्थूलौ ?, शरीरेऽपि तस्याः किं स्थूलत्वं किं वा कृशत्वं ?, तत एवं पृष्ट्वा तत्रेश्वरगृहे गतः सन् ' तत्समक्षं ' गृहस्वाम्यादिसमक्षं तं बालकं दृष्ट्वा भणति । किं तद्भणति ? इत्यत आह—

अहुणुट्ठियं व अणविक्खियं व इणमं कुलं तु मन्नामि । पुन्नेहिं जहिताए(जदिच्छाए) तरई बालेण सूएमो ॥४१७॥

व्याख्या—अहमिदं मन्ये–' इदं ' युष्मदीयं कुलमधुनोत्थितं–सम्प्रत्येवेश्वरीभूतं, यदि पुनः परम्परागतलक्ष्मीकमिदमभविष्यत् तर्हि कथं न परम्परया धात्रीलक्षणे कुशलमपि अभविष्यत् ? इति भावः, यद्वा ' अनवेक्षितम् ' अपरिभावितं महत्तरपुरुषैः, तत एव, या वा सा वा धात्री म्रियते, एतच्च बालेनासङ्कतधात्रीस्तनपानविच्छायेन ' सूचयामः ' लक्षयामः, तत एवंभूतधात्रीयुक्तमपीदं कुलं ' तरति ' क्षेमेण वर्त्तते तत् मन्ये पुण्यैः प्राक्तनजन्मकृतैः यदिवा यदृच्छया–एवमेव ॥ तत एवमुक्ते सति ससम्भ्रमं बालकस्य जननी जनको वा साधुं प्रत्याह–भगवन् ! के धात्र्या दोषाः ?, ततः साधुर्धात्रीदोषान् कथयति—

थेरी दुब्बलखीरा चिमिढो पेल्लियमुहो अइथणीए । तणुई उ मंदखीरा कुप्परथणियाए सूइमुहो ॥ ४१८ ॥

व्याख्या—या किल धात्री स्थविरा सा ' अबलक्षीरा ' अबलस्तन्या इति, ततो बालो न बलं गृह्णाति, या त्वतिस्तनी तस्याः स्तन्यं पिबन् स्तनेन ' प्रेरितमुखः ' चम्पितमुखावयवोष्ठनासिकश्चिपिटनासिको भवति, या तु शरीरेण कृशा सा ' मन्दक्षीरा ' अल्पक्षीरा, ततः परिपूर्णं तस्याः स्तन्यं बालो न प्राप्नोति, तदभावाच्च सीदति , तथा या कूर्परस्तनी तस्याः स्तन्यं पिबन् बालः सूचीमुखो भवति, स हि मुखं दीर्घतया प्रसार्य तस्याः स्तन्यं पिबति, ततस्तथारूपाभ्यासतस्तस्य मुखं सूच्याकारं भवति, उक्तं च–"निस्थामा स्थ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥१२३॥

विरां धात्रीं, सूच्यास्यः कूर्पारस्तनीम् । चिपिटः स्थूलवक्षोजां, धर्यस्तन्वीं कृशो भवेत् ॥ १ ॥ जाड्यं भवति स्थूरायास्तनुक्यास्त्यबलंकरम् । तस्मान्मध्यबलस्थायाः, स्तन्यं पुष्टिकरं स्मृतम् ॥ २ ॥ अतिस्तनी तु चिपिटं, खरपीना तु दन्तुरम् । मध्यस्तनी महाच्छिद्रा, धात्री सौम्यसुखङ्करी ॥ ३ ॥ " इत्यादि । एषा चाभिनवस्थापिता धात्री उक्तदोषदुष्टा तस्मान्न युक्ता, किन्तु चिरंतन्येवेति भावः । तथा—

जा जेण होइ वन्नेण उक्कडा गरहए य तं तेणं । गरहइ समाण तिव्वं पसत्थमियरं च दुव्वन्नं ॥ ४१९ ॥

व्याख्या—या अभिनवस्थापिता धात्री येन ' वर्णेन ' कृष्णादिनोत्कटा भवति तां तेन वर्णेन ' गर्हते ' निन्दति, यथा—" कृष्णा भ्रंशयते वर्णं, गौरी तु बलवर्जिता । तस्माच्छ्यामा भवेद्धात्री, बलवर्णैः प्रशंसिता ॥ १ ॥ " इत्यादि । तथा यामभिनवस्थापितां गर्हते तस्याः ' समाना ' समानवर्णा चेच्चिरन्तनी स्थाप्यमाना भवति तर्हि तां ' तीव्रम् ' अतिशयेन ' प्रशस्तां ' प्रशस्तवर्णां श्लाघते, इतरां त्वभिनवस्थापितां दुर्वर्णाम् । एवं चोक्ते सति गृहस्वामी साध्वभिप्रेतां धात्रीं धारयति इतरां तु परित्यजति, तथा च सति यो दोषस्तमाह—

उव्वट्टिया पओसं छोभग उब्भामओ य से जं तु । होज्जा मज्झवि विग्घो विसाइ इयरीवि एमेव ॥ ४२० ॥

व्याख्या—या अभिनवस्थापिता धात्री उद्वर्त्तिता–धात्रीत्वात् च्यावितां सा साधोरुपरि द्वेषं कुर्यात्, तथा सति छोभगं दद्याद्–यथा-अयम् ' उद्भामकः ' जारोऽनया धात्र्या सह तिष्ठतीति, तथा 'से' तस्य साधोर्यत्यद्वेषवशात्कर्त्तव्यं वधादि यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात्तदपि कुर्यात्, याऽपि चिरन्तनी सम्प्रति स्थापिता साऽपि कदाचिदेवं चिन्तयति—यथैतस्या धात्रीत्वात् च्यावनं कृतम्, एवमेव कदा-

उत्पादनादोषेषु धात्रीदोषः

॥१२३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||४२०||

दीप अनुक्रम [४५३]

चिह्नुष्टमनसा ममापि 'विघ्नो' धात्रीत्वात् च्यावनरूपोऽन्तरायः करिष्यते, तत एवं विचिन्त्य मारणाय 'विषादि' गरमट्टत्तिं प्रयुञ्जीत। उक्ता क्षीरधात्री, साम्प्रतं शेषधात्रीराश्रित्य दोषानतिदेशेनाह—

• एमेव सेसियासुवि सुयमाइसु करणकारणं सगिहे। इड्ढीसुं धाईसु य तहेव उव्वट्टियाण गमो ॥ ४२१ ॥

व्याख्या—अत्र षष्ठ्यर्थे सप्तमी, ततोऽयमर्थः—एवमेव यथा क्षीरधात्र्यास्तथा 'शेषिकास्वपि' शेषाणामपि मज्जनादिधात्रीणां 'सुतमातृषु' सुतमातृकल्पानां यत् स्वयं करणं मज्जनादेर्यच्चान्यया कारणं तत् 'स्वगृहे' बालकमातृगृहे गतः सन् साधुर्यथा करोति तथा वाच्यं, तथा च सति 'अहिगरण भद्द पंता' इत्यादिगाथोक्ता दोषा वक्तव्याः, तथा तथैव-क्षीरधात्रीगतेनैव प्रकारेण 'ऋद्धिषु' ऋद्धिमत्सु ईश्वरगृहेषु अभिनवस्थापितानां मज्जनादिधात्रीणां 'धाईसु य'त्ति भावप्रधानोऽयं निर्देशः पञ्चम्यर्थे च सप्तमी, ततोऽयमर्थः—धात्रीत्वेभ्य उद्वर्त्तितानां—च्यावितानां (गमो-) योगः 'उव्वट्टिया पओसं' इत्यादिरूपः स सकलोऽपि तथैव वक्तव्यः। अतिसङ्क्षिप्तमिदमुक्तम्, अतो विशेषत एतद्विभावयिषुः प्रथमतो मज्जनधात्रीत्वस्य करणं कारणं च तथाऽभिनवधात्र्या दोषप्रकटनं च यथा साधुः कुरुते तथा भावयति—

लोलइ महीऍ धूलीऍ गुंडिओ ण्हाणि अहव णं मज्जे। जलभीरु अबलनयणो अइउप्पिलणे अ रत्तच्छो ॥४२२॥

व्याख्या—एष बालो मह्यां 'लोलयति' लोटते ततो धूल्यां गुण्डितो वर्त्तते तस्मात्स्नापय, एतत् मज्जनधात्रीत्वस्य कारणम्, अथवा यदि पुनस्त्वं न पारयसि तर्ह्यहं 'मज्जामि' स्नपयामि, एतत्स्वयं मज्जनधात्रीत्वस्य करणम्, अथवाऽन्यथा मज्जनधात्रीत्वस्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कारणं, क्वापीश्वरगृहे काऽपि मज्जनधात्री धात्रीत्वात् स्फेटिता, साधुश्च तस्या गृहं भिक्षार्थं प्रविष्टः, तां च धात्रीत्वात्परिभ्रंशेन विषण्णां दृष्ट्वा पूर्वप्रकारेण च पृष्ट्वा कृत्वा च प्रतिज्ञामीश्वरगृहे च गत्वाऽभिनवमज्जनधात्रीदोषप्रकटनायाह—' जलभीरु ' इत्यादि, अतिशयेनोत्प्लावने प्रभूतजलप्लावनेन गुप्यमानो बालो गुरुरपि जातो नद्यादौ जलप्रवेशे जलभीरुर्भवति, तथा निरन्तरजलेनोत्प्लाव्यमानः ' अबललनयनः ' अबलदृष्टिर्जायते रक्ताक्षश्च, यदि पुनः सर्वथाऽपि न मज्ज्यते न शरीरं बलमादत्ते नापि कान्तिभाग् दृष्ट्या चाबलो जायते, एषा च धात्री बालमतिजलोत्प्लावनेन मज्जयति ततो जलभीरुतादयो दोषा बालस्य भविष्यन्ति, तस्मान्नैषा मज्जनधात्री युक्ता, एवमुक्ते सति तामभिनवस्थापितां मज्जनधात्रीं गृहस्वामी स्फेटयति, चिरन्तनीमेव कुरुते, तथा च सति त एव प्राक्तना ' उव्वट्टिया पओसं ' इत्यादिरूपा दोषा वाच्याः, एवमुत्तरत्रापि प्रतिगाथं भावना भावनीया । अथ मज्जनधात्री कथंभूतं बालं कृत्वा मण्डनधात्र्याः समर्पयति ?, तत आह—

अब्भंगिय संवाहिय उव्वट्टिय मज्जियं च तो बालं । उवणेइ मज्जधाई मंडणधाईएँ सुइदेहं ॥ ४२३ ॥

व्याख्या—स्नानधात्री प्रथमतः स्नेहेनाभ्यङ्गितं ततो हस्ताभ्यां सम्बाधितं तदनन्तरं पिष्टिकादिनोद्वर्त्तितं ततो मज्जितं-शुचीभूतदेहं बालं कृत्वा मण्डनधात्र्याः समर्पयति ॥ उक्ता मज्जनधात्री, सम्प्रति मण्डनधात्रीत्वस्य कारणं करणं च तथाऽभिनवस्थापिताया धात्र्या दोषप्रकटनं च यथा साधुः कुरुते तथा दर्शयति—

उसुआइएहिं मंडेहि ताव णं अहव णं विभूसेमि । हत्थिच्चगा व पाए कया गलिच्चा व पाए वा ॥ ४२४ ॥

व्याख्या—' इषुकः ' इषुकाकारमाभरणम् अन्ये तिलकमित्याहुः, आदिशब्दात् क्षुरिकाकाराद्याभरणपरिग्रहः, इह भिक्षार्थं प्रविष्टः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सन् श्राद्धिकाचित्तावर्जनार्थं बालकमनाभरणमवलोक्य तज्जननीमेवमाह–इषुकादिभिः आभरणविशेषैस्तावदेनं बालकं 'मण्डय' विभूषय, एतत् मण्डनधात्रीत्वस्य कारणम् । अथवा यदि पुनस्त्वं न प्रपारयसि तर्ह्यहं विभूषयामि, एतत् स्वयं मण्डनधात्रीत्वस्य करणं । पूर्वधात्री-स्थानीयाभिनवस्थापिताया मण्डनधात्र्या दोषानाह–'हत्थिचगा' हस्तयोग्यान्याभरणानि पादे कृतानि, अथवा 'गलिचा' गलसत्कानि आभरणानि पादे कृतानि तस्मान्नेयं मण्डनधात्री मण्डनेऽभिज्ञा, ततस्तस्या मण्डनधात्रीत्वाद्यावनमित्यादि पूर्ववद्भावनीयम् । उक्ता मण्ड-नधात्री, सम्प्रत्यभिनवस्थापितायाः क्रीडनधात्र्या दोषप्रकटनं क्रीडनधात्रीत्वस्य करणं कारणं च यथा विदधाति साधुस्तथाऽऽह—

ढड्ढरसर छुन्नमुहो मउयगिरो मउयमम्मणुल्लावो । उल्लावणगाईहिँ व करेइ कारेइ वा किड्डं ॥ ४२५ ॥

व्याख्या—एषाऽभिनवस्थापिता क्रीडनधात्री ढड्ढरस्वरा, ततस्तस्याः स्वरमाकर्णयन् बालो 'छुन्नमुखः' क्लीबमुखो भवति, अथवा मृदुगीरेषा ततोऽनया रम्यमाणो बालो मृदुगीर्भवति, यदिवा 'मृदुमन्मनोल्लापः' अव्यक्तवाक्, तस्मान्नैषा शोभना, किन्तु चिरन्तन्येवे-त्यादि प्रागिव, तथा भिक्षार्थं प्रविष्टः श्राद्धिकाचित्तावर्जनार्थं बालमुल्लापनादिभिः स्वयं क्रीडां कारयति । उक्ता क्रीडनधात्री, सम्प्रत्यङ्क-धात्र्या अभिनवस्थापितायाः स्फेटनाय सामान्यतो दोषप्रकटनं यथा साधुः करोति तथा दर्शयति—

थुल्लीए वियडपाओ भग्गकडीसुक्कडाए दुक्खं च । निम्मंसकक्खडकरेहिं भीरुओ होइ घेप्पंते ॥ ४२६ ॥

व्याख्या—इह 'स्थूलया' मांसलया धात्र्या कट्यां ध्रियमाणो बालः 'विकटपादः' परस्परबद्धन्तरालपादो भवति, भग्नकट्या शुष्ककट्या वा कट्यां ध्रियमाणो दुःखं तिष्ठति, निर्मांसकर्कशकराभ्यां च ध्रियमाणो बालो भीरुर्भवति, एषा चाभिनवस्थापिता धात्री

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

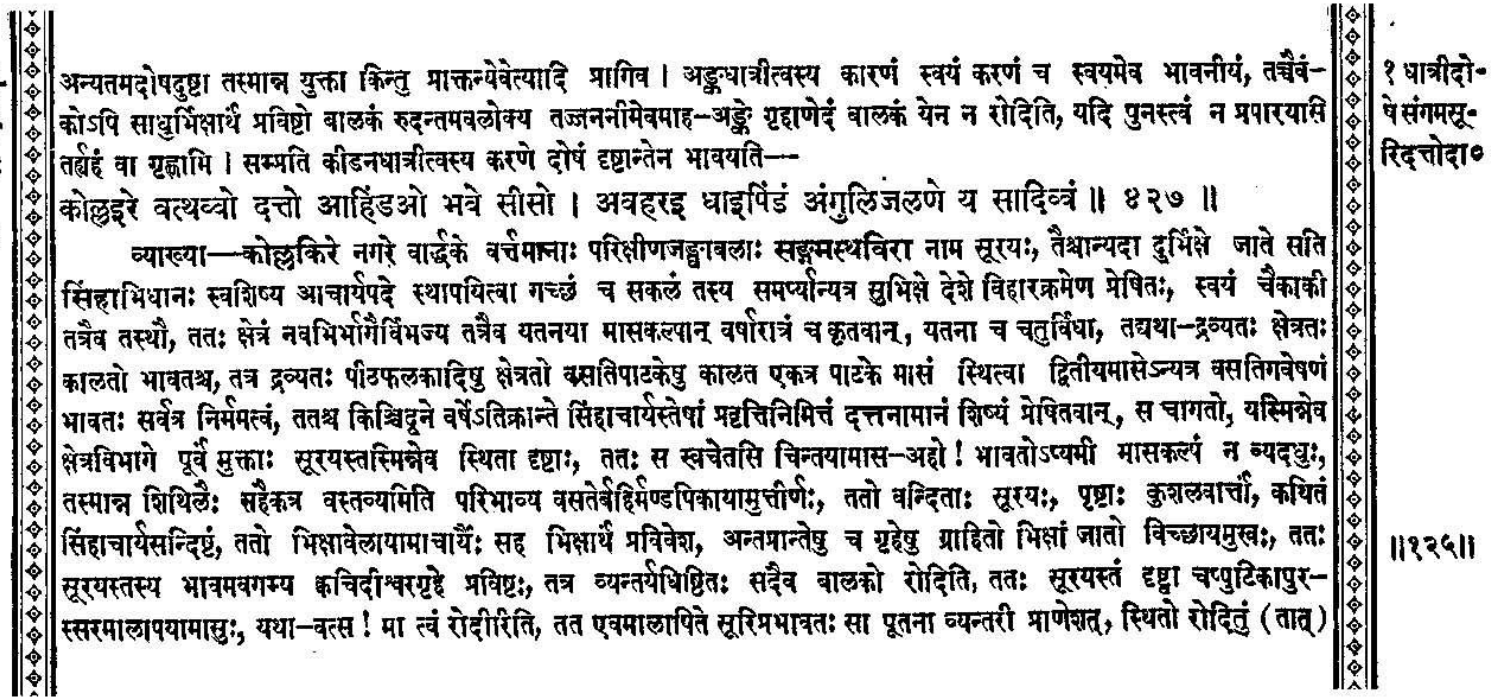

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥१२५॥

अन्यतमदोषदुष्टा तस्मान्न युक्ता किन्तु प्राक्तन्येवेत्यादि प्रागिव। अङ्कधात्रीत्वस्य कारणं स्वयं करणं च स्वयमेव भावनीयं, तच्चैवं-कोऽपि साधुर्भिक्षार्थं प्रविष्टो बालकं रुदन्तमवलोक्य तज्जननीमेवमाह–अङ्के गृहाणेदं बालकं येन न रोदिति, यदि पुनस्त्वं न प्रपारयसि तर्ह्यहं वा गृह्णामि। सम्प्रति क्रीडनधात्रीत्वस्य करणे दोषं दृष्टान्तेन भावयति–

कोल्लइरे वत्थव्वो दत्तो आहिंडओ भवे सीसो। अवहरइ धाइपिंडं अंगुलिजलणे य सादिव्वं॥ ४२७॥

व्याख्या–कोल्लकिरे नगरे वार्द्धके वर्त्तमानाः परिक्षीणजङ्घाबलाः सङ्घमस्थविरा नाम सूरयः, तैश्चान्यदा दुर्भिक्षे जाते सति सिंहाभिधानः स्वशिष्य आचार्यपदे स्थापयित्वा गच्छं च सकलं तस्य समर्प्यान्यत्र सुभिक्षे देशे विहारक्रमेण प्रेषितः, स्वयं चैकाकी तत्रैव तस्थौ, ततः क्षेत्रं नवभिर्भागैर्विभज्य तत्रैव यतनया मासकल्पान् वर्षारात्रं च कृतवान्, यतना च चतुर्विधा, तद्यथा–द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतः पीठफलकादिषु क्षेत्रतो वसतिपाटकेषु कालत एकत्र पाटके मासं स्थित्वा द्वितीयमासेऽन्यत्र वसतिगवेषणं भावतः सर्वत्र निर्ममत्वं, ततश्च किञ्चिदूने वर्षेऽतिक्रान्ते सिंहाचार्यस्तेषां प्रवृत्तिनिमित्तं दत्तनामानं शिष्यं प्रेषितवान्, स चागतो, यस्मिन्नेव क्षेत्रविभागे पूर्वं मुक्ताः सूरयस्तस्मिन्नेव स्थिता दृष्टाः, ततः स स्वचेतसि चिन्तयामास–अहो! भावतोऽप्यमी मासकल्पं न व्यदधुः, तस्मान्न शिथिलैः सहैकत्र वस्तव्यमिति परिभाव्य वसतेर्बहिर्मण्डपिकायामुत्तीर्णः, ततो वन्दिताः सूरयः, पृष्टाः कुशलवार्त्तां, कथितं सिंहाचार्यसन्दिष्टं, ततो भिक्षावेलायामाचार्यैः सह भिक्षार्थं प्रविवेश, अन्तप्रान्तेषु च गृहेषु ग्राहितो भिक्षां जातो विच्छायमुखः, ततः सूरयस्तस्य भावमवगम्य क्वचिदीश्वरगृहे प्रविष्टः, तत्र व्यन्तर्यधिष्ठितः सदैव बालको रोदिति, ततः सूरयस्तं दृष्ट्वा चप्पुटिकापुरस्सरमालापयामासुः, यथा–वत्स! मा त्वं रोदीरिति, तत एवमालापिते सूरिप्रभावतः सा पूतना व्यन्तरी प्राणेशत्, स्थितो रोदितुं (तात्)

१ धात्रीदोषसंगमसूरिदत्तोदा०

॥१२५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बालकः, जातः प्रहृष्टो गृहनायकः, ततो दापितास्तेन भूयांसो मोदकाः, ताँश्च ग्राहितो दत्तः सूरिभिः, अजायत प्रहृष्टः, ततो मुत्कलितो वसतौ, ततः सूरयः स्वशरीरनिःस्पृहा यथाऽऽगमविधि प्रान्तकुलेष्वटित्वा वसतावुपाजग्मुः, प्रतिक्रमणवेलायां च दत्तो भणितो–वत्स ! धात्रीपिण्डं चिकित्सापिण्डं चालोचय, स प्राह—युष्माभिरेव सहाहं विहृतः, ततः कथं मे धात्रीपिण्डादिपरिभोगः ?, सूरयोऽवोचन्–लघुबालकक्रीडनेन क्रीडनधात्रीपिण्डः, चप्पुटिकाकरणतः पूतनातो मोचितत्वाच्चिकित्सापिण्डः, ततः स प्रदुष्टः स्वचेतासि चिन्तयति—स्वयं भावतोऽपि मासकल्पं न विदधाति एतादृशं च पिण्डं दिने दिने गृह्णाति मां पुनरेकदिनगृहीतमप्यालोचयति, तत एवं विचिन्त्य प्रद्वेषतो वसतेर्बहिः स्थितः, ततस्तस्य सूरिविषयप्रद्वेषदर्शनतः कुपितया सूरिगुणावर्जितया देवतया तस्य शिक्षार्थं वसतावन्धकारं सवातं च वर्षं विकुर्वितं, ततः स भयभीतः सूरीनाह—भगवन् ! कुत्राहं व्रजामि ?, ततस्तैः क्षीरोदजलवदतिनिर्मलहृदयैरभाणि—वत्स ! एहि वसतौ प्रविशेति, दत्त आह—भगवन् ! न पश्याम्यन्धकारेण द्वारमिति, ततोऽनुकम्पया श्लेष्मणा सूरिभिर्निजाङ्गुलिरुद्धृत्योर्द्ध्वीकृता, सा च दीपशिखेव ज्वलितुं प्रवृत्ता, ततः स दुरात्मा दत्तोऽचिन्तयत्—अहो ! एतस्य परिग्रहे बहिरप्यस्ति, एवं च चिन्तयन् देवतया निर्भर्त्सितो हा ! दुष्टशिष्याधम ! एतादृशानपि सर्वगुणरत्नाकरान् सूरीनन्यथा चिन्तयसि, ततो मोदकलाभादिको वृत्तान्तः सर्वोऽपि यथावस्थितो देवतया कथयामासे, जाता तस्य भावतः प्रत्यावृत्तिः, क्षामिताः सूरयः, आलोचितं सम्यक् । सूत्रं सुगमं, नवरं 'सादिव्वं' देवताप्रातिहार्यम् । एतदेव गाथाद्वयेन भाष्यकृद्विवृणोति—

ओमे संगमथेरा गच्छ विसज्जंति जंघबलहीणा । नवभाग खेत्त वसही दत्तस्स य आगमो ताहे ॥ (भा० ४०)

उवसयबाहिं ठाणं अन्नाउंछेण संकिलेसो य । पूयणचेडे मा रुय पडिलाभण वियडणा सम्मं ॥ (भा० ४१)

भा० ३१

भा० ३२

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ॥३२॥

दीप अनुक्रम [४६२]

व्याख्या—सुगमं, नवरं 'पूयणचेडे'त्ति पूतना-दुष्टव्यन्तरी तया गृहीते 'चेटे' बालके रोदिति, 'विकटना' आलोचनम् । उक्तं धात्रीद्वारम्, अथ दूतीद्वारमाह—

सग्गाम परग्गामे दुविहा दूई उ होइ नायव्वा । सा वा सो वा भणई भणइ व तं छन्नवयणेणं ॥ ४२८ ॥

व्याख्या—इह दूती द्विधा, तद्यथा–स्वग्रामे परग्रामे च, तत्र यस्मिन् ग्रामे साधुर्वसति तस्मिन्नेव ग्रामे यदि सन्देशककथिका तर्हि सा स्वग्रामदूती, या तु परग्रामे गत्वा सन्देशं कथयति सा परग्रामदूती, एकैकाऽपि च द्विधा, तद्यथा–प्रकटा छन्ना च, तत्र सा तव माता स वा तव पिता एवं भणति–सन्देशं कथयति, सा प्रकटा, या तु तं सन्देशं छन्नवचनेन कथयति सा छन्ना । एनमेवार्थं सविशेषं व्यक्तीकरोति—

एक्केक्कावि य दुविहा पागड छन्ना य छन्न दुविहा उ । लोगुत्तरि तत्थेगा बीया पुण उभयपक्खेऽवि ॥ ४२९ ॥

व्याख्या—इह दूतीत्वसमाचरणमपि दूती, साऽपि चैकैका स्वग्रामविषया परग्रामविषया च द्विधा, तद्यथा–प्रकटा छन्ना च, तत्र छन्ना पुनरपि द्विधा, तद्यथा–एका 'लोकोत्तरे' लोकोत्तर एव, द्वितीयसङ्घाटकसाधोरपि गुप्ता इत्यर्थः । द्वितीया पुनरुभयपक्षेऽपि, लोके लोकोत्तरे च, पार्श्ववर्तिनो जनस्य सङ्घाटकसत्कद्वितीयसाधोरपि च गुप्तेति भावः । स्वग्रामपरग्रामविषयां प्रकटां दूतीमाह—

भिक्खाई वच्चंते अप्पाहणि नेइ खंतियाईणं । सा ते अमुगं माया सो व पिया ते इमं भणइ ॥ ४३० ॥

व्याख्या—'भिक्षादौ' भिक्षादिनिमित्तं चेत्यर्थः, व्रजंस्तस्यैव ग्रामस्य सत्के पाटकान्तरे परग्रामे वा 'खंतियाईणं' जनन्यादी-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नाम् 'अप्पाहणिं' सन्देशं कथयति, यथा सा ते माताऽधुकं भणति, स वा ते पिता इदं भणति । सम्प्रति स्वग्रामपरग्रामविषयां लोकोत्तरे छन्नां दूतीमाह—

दूइत्तं खु गरहियं अप्पाहिउ बिइयपच्चया भणति । अविकोविया सुया ते जा आह इमं भणसु खंतिं ॥ ४३१ ॥

व्याख्या—कोऽपि साधुः कस्याश्चित् पुत्रिकया 'अप्पाहितः' सन्दिष्टः सन् एवं विचिन्तयति दूतीत्वं खलु गर्हितं, सावद्यत्वात्, तत एवं विचिन्त्य द्वितीयप्रत्ययात्—द्वितीयसङ्घाटकसाधुर्मा मां दूतीदोषदुष्टं ज्ञासीदित्येवमर्थं भङ्गयन्तरेणेदं भणति—यथा 'अविकोविदा' अकुशला जिनशासने सा तव सुता या आह—इदं भण मदीयां 'खन्तिं' जननीमिति, साऽप्यवगतार्थसन्देशिका द्वितीयसङ्घाटकसाधुचित्तरक्षणार्थमेवं भणति—वारयिष्यामि तां निजसुतां येन पुनरेवं न सन्दिशतीति । सम्प्रति स्वग्रामविषयामुभयपक्षप्रच्छन्नां दूतीमाह—

उभयेऽवि य पच्छन्ना खंत ! कहिज्जाहि खंतियाऍ तुमं । तं तह संजायंति य तहेव अह तं करेज्जासि॥४३२॥

व्याख्या—'उभयस्मिन्नपि च' लोकलोकोत्तररूपे पक्षे प्रच्छन्ना दूतीयं, यथा 'खंत' त्ति विभक्तिलोपात् खन्तस्य—पितुरथवा 'खन्तिकायाः' जनन्यास्त्वं कथय, यथा तद् विदितं विवक्षितं कार्यं तथैव सञ्जातम्, अथवा तद्विवक्षितं तथैव कुर्याः । सम्प्रति प्रकटं परग्रामदूतीत्वमाश्रित्य दोषान् दृष्टान्तेनोपदर्शयति—

गामाण दोण्ह वेरं सेज्जायरि धूय तत्थ खंतस्स । वहपरिणय खंतऽज्झत्थ(प्पाह)णं व णाए कए जुद्धं ॥४३३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जामाइपुत्तपइमारणं च केण कहियंति जणवाओ । जामाइपुत्तपइमारएण खंतेण मे सिट्ठं ॥ ४३४ ॥

व्याख्या—विस्तीर्णो नाम ग्रामः, तस्योपकण्ठे गोकुलाभिधो ग्रामः, विस्तीर्णग्रामे च धनदत्तो नाम कुटुम्बी, तस्य भार्या प्रियमतिः, तस्या दुहिता देवकी, सा च तस्मिन्नेव ग्रामे सुंदरेण परिणीता, तस्याः पुत्रो बलिष्ठो, दुहिता रेवतिः, सा च गोकुलग्रामे सङ्गमेन परिणिन्ये, प्रियमतिश्चायुःक्षयात् पञ्चत्वमुपगता, धनदत्तोऽपि संसारभयभीतः प्रव्रज्यामग्रहीद्, गुरुभिश्च सार्द्धं विहरति । ततः कालान्तरे पुनरपि यथाविहारक्रमं तत्रैव ग्रामे समागतो निजदुहितुर्देवक्या वसतावस्थात्, तदानीं च तयोर्द्वयोरपि ग्रामयोः परस्परं वैरं वर्त्तते, विस्तीर्णग्रामवासिना च लोकेन गोकुलग्रामस्योपरि धाटी सूत्रिता, धनदत्तश्च साधुर्गोकुलग्रामे भिक्षायै चलितवान्, ततो देवक्या दुहित्रा शय्यातर्या भणितो—यथा हे पितः! त्वं गोकुलग्रामे यास्यसि, ततो निजदौहित्र्या रेवत्याः कथय यथा तव जनन्या सन्दिष्टम्—अयं ग्रामस्तव ग्रामस्योपरि छन्नधाटया समागमिष्यति ततः सकलमपि स्वकीयमेकान्ते स्थापयेरिति, ततः साधुना तथैव तस्याः कथितं, तया च निजभर्तुः, तेन च सकलग्रामस्य, ततः सर्वोऽपि ग्रामः सन्नद्धबद्धकवचोऽभवत्, आगतश्च द्वितीयदिने धाटया विस्तीर्णग्रामो, जातं परस्परं महद्युद्धं, तत्र सुन्दरो बलिष्ठश्च धाटया सह गतौ, सङ्गमश्च गोकुलग्रामे वसति, तत्र त्रयोऽपि च युद्धे पञ्चत्वमुपजग्मुः, देवकी च पतिपुत्रजामातृमरणमाकर्ण्य विलपितुं प्रावर्त्तत, लोकश्च तन्निवारणाय समागतोऽवादीत्—यदि गोकुलग्रामो धाटीमागच्छन्तीं नाज्ञास्यत् ततोऽसन्नद्धो नायोत्स्यत, तथा च न तव पत्यादयो म्रियेरन्, ततः केन दुरात्मना गोकुलग्रामो ज्ञापितः?, एतच्च लोकस्य वचः श्रुत्वा सञ्जातकोपा सैवमवादीत्—मयाऽजानत्या पित्रा दुहितुः सन्दिष्टं, ततस्तेन साधुवेषविडम्बकेन मत्पतिपुत्रजामातृमारकेण पित्रा ज्ञापितः, ततः स लोके स्थाने स्थाने धिक्कारं लभते । प्रवचनस्य च मालिन्यमुदपादि । सूत्रं सुगमम्, उक्तं दूतीद्वारम्, अथ निमित्तद्वारमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||५||

दीप अनुक्रम [४७१]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

नियमा तिकालविसएऽवि निमित्ते छव्विहे भवे दोसा । सज्जं तु वट्टमाणे आउभए तत्थिमं नायं ॥ ४३५ ॥

व्याख्या—'त्रिकालविषयेऽपि' अतीतविषये वर्त्तमानविषये भविष्यद्विषये च प्रत्येकं 'षड्विधे' लाभालाभसुखदुःखजीवितमरणरूपे निमित्ते नियमाद्दोषा भवन्ति, ते च दोषा 'आउभए' त्ति केचिदात्मविघातिनस्तस्य साधोर्मारणादिहेतव इत्यर्थः, केचिदुभयविघातिनः ये साधोः शेषस्य च जीवस्य घातहेतवः, उपलक्षणमेतत्, केचित्केवलपरविघातिनश्च, तत्र 'वर्त्तमाने' वर्त्तमानकालविषये निमित्ते प्रयुज्यमाने 'सद्यः' तत्क्षणं परविघातकारिणीदं-वक्ष्यमाणं ज्ञातमुदाहरणं । तदेवाह— ●

आकंपिया निमित्तेण भोइणी भोइए चिरगयंमि । पुव्वभणिए कहं ते आगउ ? रुट्ठो य वडवाए ॥ ४३६ ॥

व्याख्या—कोऽपि ग्रामनायको निजभार्यां पश्चान्मुक्त्वा दिग्यात्रां गतः, सा च तद्भार्या केनापि साधुना निमित्तेनावर्जिता, ग्रामनायकेन च दूरगतेन चिन्तितं, यथाऽहमेकाकी प्रच्छन्नो गत्वा निजभार्यायाश्चेष्टितमवेक्षिष्ये, सा किं दुःशीला सुशीला ? इति । अथ च तद्भार्यया साधोः सकाशात्तदागमनमवगत्य परिजनः सर्वोऽपि तत्सम्मुखं प्रेषितः, पृष्टश्च भोजकेन परिजनो–यथा भोः ! कथं मदागमनमज्ञायि ? इति, स प्राह–भोगिन्या कथितमिति, साधुश्च तदानीं भोजकगृहे समागतो वर्त्तते, भोगिन्याश्च प्रत्ययपुरस्सरं नायकेन सह यज्जल्पितं यच्चेष्टितं यो वाऽनया स्वप्नो दृष्टो यद्वा शरीरे मषतिलकादि तत्सर्वं कथयन्नास्ते, अत्रान्तरे च समागतो भोजकः, कृतश्च तया यथोचित उपचारः, पृष्टा च तेन–कथं त्वया ममागमनमवज्ञम्मे ? इति, साऽवादीत्–साधुनिमित्तात्, ततस्तेन भणितम्, अस्ति कोऽप्यन्योऽपि प्रत्ययः ?, सा ततोऽवादीत्–युष्माभिः सह पूर्वं जल्पितं चेष्टितं च यो वा मया स्वप्नो दृष्टः यश्च मम गुह्यप्रदेशे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

● अत्र एका प्रक्षेप-गाथा वर्तते. सा मया संपादित: 'आगमसुत्ताणि' मूलं एवं सटीकं उभये पुस्तके वर्तते

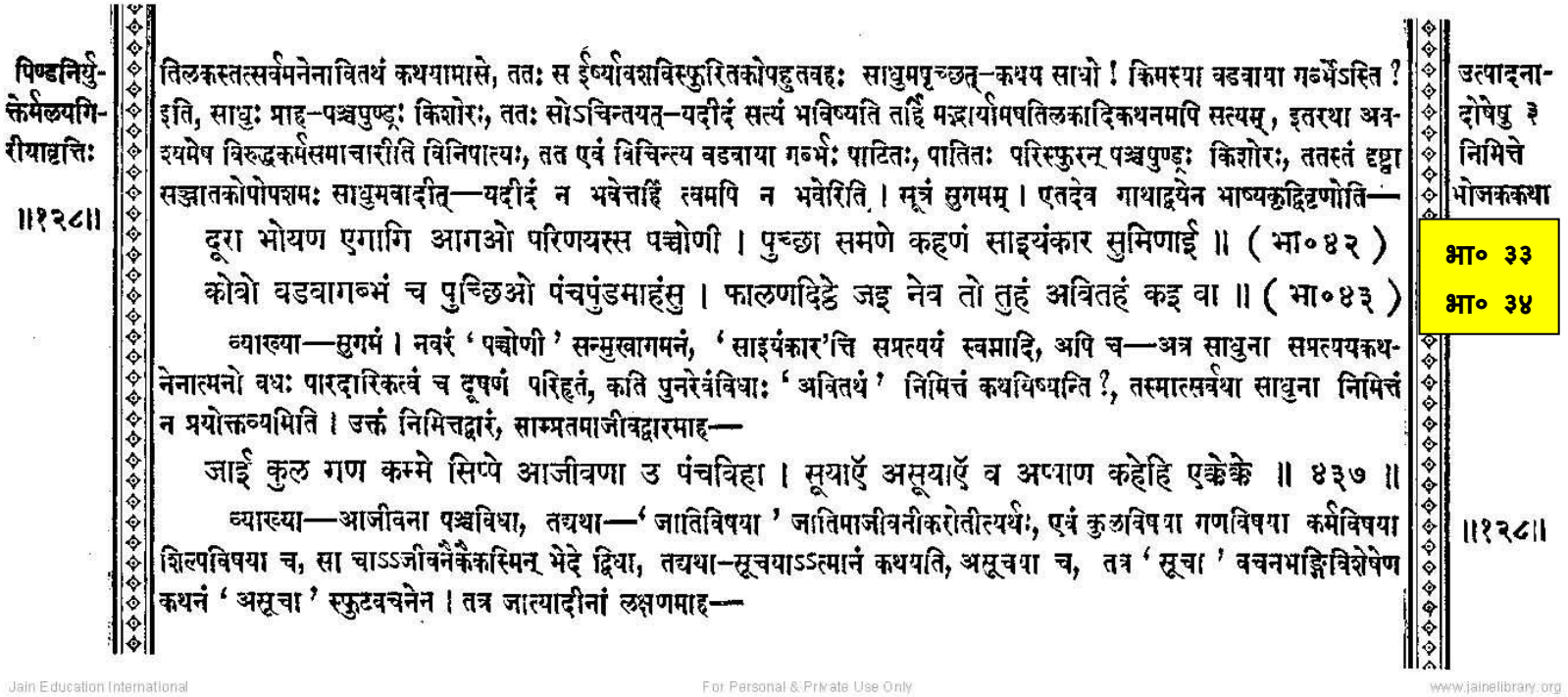

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥१२८॥

तिलकस्तत्सर्वमनेनावितथं कथयामासे, ततः स ईर्ष्यावशविस्फुरितकोपहुतवहः साधुमपृच्छत्–कथय साधो ! किमस्या वडवाया गर्भेऽस्ति ? इति, साधुः प्राह–पञ्चपुण्ड्रः किशोरः, ततः सोऽचिन्तयत्–यदीदं सत्यं भविष्यति तर्हि मद्भार्यामपतिलकादिकथनमपि सत्यम्, इतरथा अवश्यमेष विरुद्धकर्मसमाचारीति विनिपात्यः, तत एवं विचिन्त्य वडवाया गर्भः पाटितः, पातितः परिस्फुरन् पञ्चपुण्ड्रः किशोरः, ततस्तं दृष्ट्वा सञ्जातकोपोपशमः साधुमवादीत्—यदीदं न भवेत्तर्हि त्वमपि न भवेरिति । सूत्रं सुगमम् । एतदेव गाथाद्वयेन भाष्यकृद्विवृणोति—

दूरा भोयण एगागि आगओ परिणयस्स पच्चोणी । पुच्छा समणे कहणं साइयंकार सुमिणाई ॥ (भा०४२)

कोवो वडवागब्भं च पुच्छिओ पंचपुंडमाहंसु । फालणदिट्ठे जइ नेव तो तुहं अवितहं कइ वा ॥ (भा०४३)

व्याख्या—सुगमं । नवरं 'पच्चोणी' सन्मुखागमनं, 'साइयंकार'त्ति सप्रत्ययं स्वप्नादि, अपि च—अत्र साधुना सप्रत्ययकथनेनात्मनो वधः पारदारिकत्वं च दूषणं परिहृतं, कति पुनरेवंविधाः 'अवितथं' निमित्तं कथयिष्यन्ति ?, तस्मात्सर्वथा साधुना निमित्तं न प्रयोक्तव्यमिति । उक्तं निमित्तद्वारं, साम्प्रतमाजीवद्वारमाह—

जाई कुल गण कम्मे सिप्पे आजीवणा उ पंचविहा । सूयाएँ असूयाएँ व अप्पाण कहेहि एक्केक्के ॥ ४३७ ॥

व्याख्या—आजीवना पञ्चविधा, तद्यथा—'जातिविषया' जातिमाजीवनीकरोतीत्यर्थः, एवं कुलविषया गणविषया कर्मविषया शिल्पविषया च, सा चाऽऽजीवनैकैकस्मिन् भेदे द्विधा, तद्यथा–सूचयाऽऽत्मानं कथयति, असूचया च, तत्र 'सूचा' वचनभङ्गिविशेषेण कथनं 'असूचा' स्फुटवचनेन । तत्र जात्यादीनां लक्षणमाह—

उत्पादना-दोषेषु ३ निमित्ते भोजककथा

भा० ३३

भा० ३४

॥१२८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जाईकुले विभासा गणो उ मल्लाइ कम्म किसिमाई । तुलाइ सिप्पऽणावज्जगं च कंमेयराऽऽवज्जं ॥ ४३८ ॥

व्याख्या—जातिकुले 'विभाषा' विविधं भाषणं कार्यं, तच्चैवं-जातिः–ब्राह्मणादिका कुलम्–उग्रादि , अथवा मातुः समुत्था जातिः पितृसमुत्थं कुलं । 'गणः' मल्लादिवृन्दं, कर्म-कृष्यादि, 'शिल्पं' तूर्णादि–तूर्णनसीवनप्रभृति, अथवा 'अनावर्जकम्' अप्रीत्युत्पादकं कर्म इतरत्तु 'आवर्जकं' प्रीत्युत्पादकं शिल्पम्, अन्ये त्वाहुः—अनाचार्योपदिष्टं कर्म आचार्योपदिष्टं तु शिल्पमिति । तत्र यथा साधुः सूचया स्वजातिप्रकटनाज्जातिमुपजीवति तथा दर्शयति—

होमाययितहकरणे नज्जइ जह सोत्तियस्स पुत्तोत्ति । वसिओ वेस गुरुकुले आयरियगुणे व सूएइ ॥ ४३९ ॥

व्याख्या—साधुर्भिक्षार्थमटन् ब्राह्मणगृहे प्रविष्टः सँस्तस्य पुत्रं होमादिक्रियाः कुर्वाणं दृष्ट्वा तदभिमुखं प्रति स्वजातिप्रकटनाय जल्पति—होमादिक्रियाणामवितथकरणे एष तव पुत्रो ज्ञायते—यथा श्रोत्रियस्य पुत्र इति, यदिवोषित एष सम्यग्गुरुकुले इति ज्ञायते, अथवा सूचयत्येष तव पुत्र आत्मन आचार्यगुणान्, ततो नियमादेष महानाचार्यो भविष्यतीति । तत एवमुक्ते स ब्राह्मणो वदति—साधो ! त्वमवश्यं ब्राह्मणो येनेत्थं होमादीनामवितथत्वं जानासि, साधुश्च मौनेनावतिष्ठते, एतच्च सूचया स्वजातिप्रकटनम् । अत्र चानेके दोषाः, तथाहि–यदि स ब्राह्मणो भद्रकस्तर्हि स्वजातिपक्षपाततः प्रभूतमाहारादिकं दापयति, तदपि च जात्युपजीवननिमित्तमिति भगवता प्रतिषिद्धम्, अथ प्रान्तस्तर्हि भ्रष्टोऽयं पापात्मा ब्राह्मण्यं परित्यक्तमिति विचिन्त्य स्वगृहनिष्कासनादि करोति, असूचया तु जात्याजीवनं पृष्टोऽपृष्टो वाऽऽहारार्थं स्वजातिं प्रकटयति-यथाऽहं ब्राह्मण इति, तत्राप्यनन्तरोक्ता एव दोषाः, क्षत्रियादिजातिष्वपि, एवं कुलादिष्वपि भावनीयम् । एतदेव किञ्चिद्व्यक्तीकुर्वन्नाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

v

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥१२९॥

सम्ममसम्मा किरिया अणेण ऊणाऽहिया व विवरीया । समिहामंताहुइठाणजागकाले य घोसाई ॥ ४४० ॥

व्याख्या—साधुर्भिक्षार्थमटन् क्वचिद् ब्राह्मणगृहे प्रविष्टः संस्तस्य पुत्रं होमादिक्रियाः कुर्वाणं दृष्ट्वा पितरं प्रति स्वजातिप्रकटनाय जल्पति–अनेन तव पुत्रेण सम्यगसम्यग्वा होमादिका क्रिया कृता, तत्रासम्यक् त्रिधा, तद्यथा—ऊनाऽधिका विपरीता वा, सम्यक् समिधादीन् घोषादींश्च यथाऽवस्थितानाश्रित्य, तत्र 'समिधः' अश्वत्थादिवृक्षाणां प्रतिशाखाखण्डानि 'मन्त्राः' प्रणवप्रभृतिका अक्षरपद्धतयः 'आहुतिः' अग्नौ घृतादेः प्रक्षेपः 'स्थानम्' उत्कटादि 'यागः' अश्वमेधादिः 'कालः' प्रभातादि 'घोषा' उदात्तादयः, आदिशब्दाद्ध्रस्वदीर्घादिवर्णपरिग्रहः, एवं चोक्ते स साधुं ब्राह्मणं जानाति, तथा च सति भद्रे प्रान्ते वा पूर्ववद्दोषा वक्तव्याः । उक्तं जातेरुपजीवनम्, अथ कुलाद्युपजीवनमाह—

उग्गाइकुलेसुवि एमेव गणे मंडलप्पवेसाई । देउलदरिसणभासाउवणयणे दंडमाईया ॥ ४४१ ॥

व्याख्या—'एवमेव' जातावित्र कुलादिष्वपि उग्रादिषूपजीवनं अवगन्तव्यं, यथा कोऽपि साधुरुग्रकुले भिक्षार्थं प्रविष्टः, तत्र च तत्पुत्रं पदातीन् यथावदारक्षककर्मसु नियुञ्जानं दृष्ट्वा तत्पितरमाह—ज्ञायते तव पुत्रोऽप्रवेदितोऽपि यथायोगं पदातीनां नियोजनेनोग्रकुलसम्भूत इति, ततः स जानाति–एषोऽपि साधुरुग्रकुलसमुत्पन्न इति, इदं तु सूचया स्वकुलप्रकाशनं, यदा तु स्फुटवाचैव स्वकुलमावेदयति यथाऽहं उग्रकुलः भोगकुल इत्यादि तदाऽसूचया प्रकटनं, तेषां भद्रप्रान्तत्वे पूर्वोक्तानुसारेण दोषा वक्तव्याः । तथा 'गणे' गणविषये मण्डलप्रवेशादि, इहाकरबल(कूरवाट)के प्रविष्टस्यैकस्य मल्लस्य यल्लभ्यं भूखण्डं तन्मण्डलं, तत्र वर्त्तमानस्य प्रतिद्वन्द्विनो मल्लस्य विघाताय

उत्पादना-दोषेषु ४ आजीव-दोषे ५ भेदः

॥१२९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यः प्रवेशस्तदादि, आदिशब्दाद्भीवाग्रहादिपरिग्रहः, तथा 'देवकुलदर्शनं' युद्धप्रवेशे चामुण्डाप्रतिमाप्रणमनं, 'भाषोपनयनं' प्रतिमल्ला-ह्वानाय तथा तथा वचनदौकनं 'दण्डादिका' धरणिपातच्छुप्ताङ्कयुद्धप्रभृतयः, एतान् गणगृहे प्रविष्टः सन् तत्पुत्रस्य प्रशंसति, तथा च सति तेन ज्ञायते–यथैषोऽपि साधुर्मल्ल इत्यादि प्राग्वत्। कर्मशिल्पयोराजीवनमाह—

कत्तरि पओअणावेक्खवत्थु बहुवित्थरेसु एमेव। कम्मेसु य सिप्पेसु य सम्ममसम्मेसु सूईयरा ॥ ४४२ ॥

व्याख्या—कर्मसु शिल्पेषु चैवमेव–कुलादाविवोपजीवनं वक्तव्यं, कथम्? इत्याह–'कर्त्तरि' कर्मणां शिल्पानां च विधायके, उप-लक्षणमेतत् विधापके च वणिजादौ, सप्तमी चात्र षष्ठ्यर्थे, ततोऽयमर्थः–कर्तुः कारापकस्य च 'प्रयोजनापेक्षेषु' भूमिविलिखनादिषु प्रयोजननिमित्तं म्रियमाणेषु हलादिषु वस्तुषु, सूत्रे चात्र विभक्तिलोप आर्षत्वात्, 'बहुविस्तरेषु' प्रभूतेषु नानाविधेषु च, सम्यगसम्यगिति वा प्रोच्यमानेषु-शोभनान्यशोभनानीति वा कथ्यमानेषु यदात्मनि कर्मणि शिल्पे वा कौशलज्ञापनं तत्तयोरुपजीवनम्, इयमत्र भावना—प्रविष्टः सन् साधुः कृष्यादेः कर्तुः कारापकस्य वा तत्प्रयोजनापेक्षणीयानि नानारूपाणि हलादीनि बहूनि वस्तूनि तानि दृष्ट्वाऽऽत्मनः कर्मणि शिल्पे वा कौशलज्ञापनाय शोभनान्यशोभनानीति वा यद्वक्ति तत्कर्मशिल्पयोराजीवनम्। अनेन च प्रकारेण कौशलज्ञापनं सूचा-स्फुटवचनेन च कौशलकथनमसूचा। उक्तमाजीवद्वारम्, अथ वनीपकद्वारं वक्तव्यं, तत्र प्रथमतो वनीपकस्य भेदान्निरुक्तिं च शब्दस्याह—

समणे माहणि किवणे अतिही साणे य होइ पंचमए। वणि जायणत्ति वणिओ पायप्पाणं वणेइत्ति ॥ ४४३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—वनीपकः पञ्चधा, तद्यथा—' श्रमणे ' श्रमणविषयः ब्राह्मणे कृपणेऽतिथौ शुनि च पञ्चमो भवति, तत्र वनीपक इति वनिरित्ययं धातुर्याचने, 'वनु याचने ' इति वचनात्, ततो वनुते–मायो दायकसम्मतेषु श्रमणादिष्वात्मानं भक्तं दर्शयित्वा पिण्डं याचते इति 'वणिउत्ति' वनीपकः, औणादिक ईपकप्रत्ययः । सम्प्रति प्रकारान्तरेण वनीपकशब्दनिरुक्तिं प्रतिपादयति—

मयमाइवच्छगंपिव वणेइ आहारमाइलोभेणं । समणेसु माहणेसु य किविणाऽतिहिसाणभत्तेसु ॥ ४४४ ॥

व्याख्या—' मृता ' पञ्चत्वमुपगता माता यस्य वत्सकस्य-तर्णकस्य तमिव गोपालकोऽन्यस्यां गवीतिशेषः, ' आहारादिलोभेन ' भक्तपात्रवस्त्रलुब्धतया श्रमणेषु ब्राह्मणेषु कृपणातिथिश्वभक्तेषु वनति–भक्तमात्मानं दर्शयतीति वनीपकः, पूर्ववदौणादिक ईपकप्रत्ययः । सम्प्रति यावन्तः श्रमणशब्दवाच्यास्तावतो दर्शयित्वा तेषु वनीपकत्वं यथा भवति तथा दर्शयति—

निग्गंथ सक्क तावस गेरुय आजीव पंचहा समणा । तेसि परिवेसणाए लोभेण वणिज्ज को अप्पं ? ॥ ४४५ ॥

व्याख्या—' निर्ग्रन्थाः ' साधवः ' शाक्याः ' मायासूनवीयाः, ' तापसाः ' वनवासिनः पाखण्डिनः ' गैरुकाः ' गेरुकरञ्जित-वाससः परिव्राजकाः ' आजीवकाः ' गोशालकशिष्या इति ' पञ्चधा ' पञ्चप्रकाराः श्रमणा भवन्ति, एतेषां च यथायोगं गृहिगृहेषु समा-गतानां ' परिवेषणे ' भोजनप्रदाने क्रियमाणे सति कोऽप्याहारलम्पटः साधुः ' लोभेन ' आहारादिलुब्धतया वनति–शाक्यादिभक्तमा-त्मानं दर्शयति, तद्भक्तगृहिणः पुरत इति सामर्थ्यगम्यम् । इह प्रायः शाक्या गैरुका वा गृहिगृहेषु भुञ्जते ततस्तान् भुञ्जानानधिकृत्य यथा साधुर्वनीपकत्वं कुरुते तथा दर्शयति—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भुंजंति चित्तकम्मं ठिया व कारुणिय दाणरुइणो वा। अवि कामगद्दहेसुवि न नरसई किं पुण जईसु ?॥ ४४६ ॥

व्याख्या—एवं नाम निश्चला भगवन्तोऽमी शाक्यादयो भुञ्जते यथा चित्रकर्मलिखिता इव भुञ्जाना लक्ष्यन्ते, तथा परमकारुणिका एते दानरुचयश्च, तत एतेभ्योऽवश्यं भोजनं दातव्यम्, अपि च 'कामगर्दभेष्वपि' मैथुने गर्दभेष्विवातिप्रसक्तेषु ब्राह्मणेष्विति गम्यते, दत्तं न नश्यति, किं पुनरमीषु शाक्यादिषु ?, एतेभ्यो दत्तमतिशयेन बहुफलमिति भावः, तस्मादातव्यमेतेभ्यो विशेषतः । अत्र दोषान् दर्शयति—

मिच्छत्तथिरीकरणं उग्गमदोसा य तेसु वा गच्छे। चडुकारदिन्नदाणा पच्चत्थिग मा पुणो इंतु ॥ ४४७ ॥

व्याख्या—एवं हि शाक्यादिप्रशंसने लोके मिथ्यात्वं स्थिरीकृतं भवति, तथाहि—साधवोऽप्यमून् प्रशंसन्ति तस्मादेतेषां धर्मः सत्य इति, तथा यदि भक्ता भद्रका भवेयुः तत इत्थं साधुप्रशंसामुपलभ्य तद्योगमाधाकर्मिकादि समाचरेयुः, ततस्तद्दुष्टतया कदाचित्साधुवेषमपहाय तेषु शाक्यादिषु गच्छेयुः, तथा लोके चटुकारिण एते जन्मान्तरेऽप्यदत्तदाना आहाराद्यर्थं श्वान इवात्मानं दर्शयन्तीत्यवर्णवादः, यदि पुनः शाक्यादयः शाक्यादिभक्ता वा 'प्रत्यर्थिकाः' प्रत्यनीका भवेयुः ततः प्रद्वेषतः प्रशंसावचनमवज्ञायेत्थं ब्रूयुः-मा पुनरत्र भवन्त आयान्त्विति। ब्राह्मणभक्तानां पुरतो ब्राह्मणप्रशंसारूपं वनीपकत्वं यथा करोति तथा दर्शयति—

लोयाणुग्गहकारिसु भूमीदेवेसु बहुफलं दाणं। अवि नाम बंभबंधुसु किं पुण छक्कम्मनिरएसु ? ॥ ४४८ ॥

व्याख्या—पिण्डप्रदानादिना लोकोपकारिषु भूमिदेवेषु ब्राह्मणेष्वपि नाम ब्रह्मबन्धुष्वपि—जातिमात्रब्राह्मणेष्वपि दानं दीय-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥१३१॥

मानं बहुफलं भवति, किं पुनर्यजनयाजनादिरूपषट्कर्मनिरतेषु ?, तेषु विशेषतो बहुफलं भविष्यतीति भावः । सम्प्रति कृपणभक्तानां पुरतः कृपणप्रशंसारूपं वनीपकत्वं यथा समाचरति तथा प्रतिपादयति—

किवणेसु दुम्मणेसु य अबंधवायंकजुंगियंगेसुं । पूयाहिज्जे लोए दाणपडागं हरइ दिंतो ॥ ४४९ ॥

व्याख्या—इह लोकः पूजाहार्यः—पूजया ह्रियते–आवर्ज्यते इति पूजाहार्यः–पूजितपूजको, न कोऽपि कृपणादिभ्यो ददाति, ततः कृपणेषु तथेष्टवियोगादिना दुर्मनस्सु तथाऽबान्धवेषु तथाऽऽतङ्को–ज्वरादिस्तद्योगादातङ्किनोऽप्यातङ्कास्तेषु तथा 'जुङ्गिताङ्गेषु' च कर्त्तितहस्तपादाद्यवयवेषु निराकाङ्क्षतया ददद्स्मिल्लोके दानपताकां 'हरति' गृह्णाति । साम्प्रतमतिथिभक्तानां पुरतोऽतिथिप्रशंसारूपं वनीपकत्वं यथा साधुर्विदधाति तथा दर्शयति—

पाएण देइ लोगो उवगारिसु परिचिएसुऽज्झुसिए वा । जो पुण अद्धाखिन्नं अतिहिं पूएइ तं दाणं ॥ ४५० ॥

व्याख्या—इह प्रायेण लोक उपकारिषु यद्वा परिचितेषु यदिवा 'अध्युषिते' आश्रिते ददाति भक्तादि, यः पुनरध्वखिन्नमतिथिं पूजयति तदेव दानं, जगति प्रधानमिति शेषः । अधुना शुनां भक्तानां पुरतः शुनकप्रशंसारूपं वनीपकत्वं कुर्वन् यद्वक्ति तदुपदर्शयति—

अवि नाम होज्ज सुलभो गोणाईणं तणाइ आहारो । छिच्छिक्कारहयाणं न हु सुलहो होइ सुणगाणं ॥ ४५१ ॥

केलासभवणा एए, आगया गुज्झगा महिं । चरंति जक्खरूवेणं, पूयाऽपूया हियाऽहिया ॥ ४५२ ॥

उत्पादनादोषेषु ५ वनीपकेषु ५ भेदाः

॥१३१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—अपि नाम गवादीनां तृणादिक आहारो भवेत् सुलभः, छिच्छिकारहतानां त्वमीषां शुनां न तु कदाचनापि भवति सुलभः, तत एतेभ्यो यदीयते तदेव बहुफलमिति भावः, अपि च नैते श्वानः श्वान एव, किन्तु 'गुह्यका' देवविशेषा 'कैलासभवनात्' कैलासपर्वतरूपादाश्रयादागत्य 'महीं' पृथिवीं यक्षरूपेण श्वाकृत्या चरन्ति, तत एतेषां पूजाऽपूजा च यथासङ्ख्यं हिताऽहिता चेति। सम्प्रति ब्राह्मणादिविषयवनीपकत्वे दोषानाह—

एएण मज्झ भावो दिट्ठो लोए पणामहेज्जंमि । एक्केके पुव्वुत्ता भद्दगपंताइणो दोसा ॥ ४५३ ॥

व्याख्या—'एतेन' अनेन साधुना 'मज्झ' मदीयः 'भावः' भक्तत्वलक्षणः 'दृष्टः' अवगतो 'लोके' ब्राह्मणादौ, किंविशिष्टे? इत्याह–'प्रणामहार्ये' प्रणामः–प्रणमनं तेन, उपलक्षणमेतत् दानादिना च, हार्ये—आवर्जनीये, तत एकैकस्मिन् ब्राह्मणादिविषये वनीपकत्वे पूर्वोक्ता भद्रकप्रान्तादयो दोषा भावनीयाः, किमुक्तं भवति?–यदि भद्रकस्तर्हि प्रशंसावचनतो वशीकृत आधाकर्मादि कृत्वा प्रयच्छति, अथ प्रान्तस्तर्हि गृहनिष्कासनादि करोति। इह प्राक् 'साणे पुण होइ पंचमए' इत्युक्तं, तत्र साणग्रहणं काकादीनामुपलक्षणं, तेन काकादिष्वपि वनीपकत्वं द्रष्टव्यं , तथा चाह—

एमेव कागमाई साणग्गहणेण सूइया होंति । जो वा जंमि पसत्तो वणइ तहिं पुट्ठऽपुट्ठो वा ॥ ४५४ ॥

व्याख्या—'एवमेव' वनीपकत्वप्ररूपणाविषयत्वेन श्वग्रहणेन काकादयोऽपि सूचिता भवन्ति, ततस्तत्रापि वनीपकत्वं भावनीयम्। एतदेव व्याप्तिपुरस्सरमाह—यो वा यत्र काकादौ पूजकत्वेन प्रसक्तस्तत्र काकादिस्वरूपं पृष्टोऽपृष्टो वा 'वनति' प्रशंसाद्वारेणाऽऽत्मानं भक्तं दर्शयति। सम्प्रति वनीपकत्वं कुर्वतः साधोर्युक्त्या दोषगरीयस्त्वं प्रकटयति—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥१३२॥

दाणं न होइ अफलं पत्तमपत्तेसु सन्निजुज्जंतं । इय विभणिएऽवि दोसा पसंसओ किं पुण अपत्ते ? ॥ ४५५ ॥

व्याख्या—इह पात्रेष्वपात्रेषु वा सन्नियुज्यमानं दानं न भवत्यफलमित्यपि भणिते दोषः, अपात्रदानस्य पात्रदानसमतया प्रशंसनेन सम्यक्त्वातिचारसम्भवात्, किं पुनः अपात्राण्येव साक्षात् प्रशंसतः ?, तत्र सुतरां महान् दोषो, मिथ्यात्वस्थिरीकरणादिदोषभावादिति। तदेवमुक्तं वनीपकद्वारं, सम्प्रति चिकित्साद्वारमाह—

भणइ य नाहं वेज्जो अहवाऽवि कहेइ अप्पणो किरियं । अहवावि विज्जयाए तिविह तिगिच्छा मुणेयव्वा ॥ ४५६ ॥

व्याख्या—इह 'चिकित्सा' रोगप्रतीकारो रोगप्रतीकारोपदेशो वा विवक्षितः, ततः साधूनधिकृत्य 'त्रिविधा' त्रिप्रकारा चिकित्सा ज्ञातव्या, तद्यथा–केनापि रोगिणा रोगप्रतीकारं साधुः पृष्टः सन्नाह–किमहं वैद्यः ?, एतावता च किमुक्तं भवति ?–वैद्यस्य समीपे गत्वा चिकित्सा प्रष्टव्या इत्यवबुधबोधनादेका चिकित्सा, अथवा रोगिणः पृष्टः सन्नेवमाह–ममाप्येवंविधो व्याधिरासीत्, स चामुकेन भेषजेनोपशान्तिमगमत्, एषा द्वितीया चिकित्सा, अथवा वैद्यतया-वैद्यीभूय साक्षाच्चिकित्सां करोति, एषा तृतीया। इहाद्ये द्वे चिकित्से सूक्ष्मे, तृतीया तु बादरा। तत्राद्यां व्याचिख्यासुराह—

भिक्खाइ गओ रोगी किं विज्जोऽहंति पुच्छिओ भणइ । अत्थावत्तीऍ कया अबुहाणं बोहणा एवं ॥ ४५७ ॥

व्याख्या—'भिक्षादौ' भिक्षादिनिमित्तं गतः सन् 'रोगी'ति अत्र तृतीयार्थे प्रथमा रोगिणा पृष्टः सन्नाह—किमहं वैद्यः ? येन कथयामि, एवं चोक्ते सति 'अर्थापत्त्या' सामर्थ्यादबुधानां—वैद्यस्य पार्श्वे गत्वा चिकित्सा कार्यते इत्यजानतां बोधना—अनन्तरोक्तस्यार्थस्य ज्ञापना कृता भवति। द्वितीयां व्याख्यानयति—

उत्पादनादोषेषु ६ चिकित्सादोषः

॥१३२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एरिसयं चिय दुक्खं भेसज्जेण अमुगेण पउणं मे । सहसुप्पन्नं व रुयं वारेमो अट्ठमाईहिं ॥ ४५८ ॥

व्याख्या—एतादृशमेव 'दुःखं' दुःखकारणभूतं गड्वाद्यमुकेन भेषजेन 'प्रगुणं' नष्टवेदनमभूत्, तथा वयं 'सहसोत्पन्नाम्' अकस्मादुत्पन्नां रुजमष्टमादिभिर्वारयामः । 'तत्थोपन्नं रोगं अट्ठमेण निवारए' इत्यादि परममुनिवचनप्रामाण्यात्, तस्माद्भवताऽपि तथा कर्त्तव्यमिति भावः । तृतीयां चिकित्सां विपश्चयितुमाह—

संसोधण संसमणं नियाणपरिवज्जणं च जं तत्थ । आगंतु धाउखोभे य आमए कुणइ किरियं तु ॥ ४५९ ॥

व्याख्या—आगन्तुके धातुक्षोभे च 'सूचनात्सूत्र'मितिकृत्वा धातुक्षोभजे चाऽऽमये-रोगे समुत्पन्ने सति तत्र यत्क्रियां करोति, तद्यथा—संशोधनं हरीतक्यादिदानेन पित्ताद्युपशमनं, तथा 'निदानपरिवर्जनं' रोगकारणपरिवर्जनं च, एषा तृतीया चिकित्सा । अत्र दोषानाह—

असंजमजोगाणं पसंधणं कायघाय अयगोलो । दुब्बलवग्घाहरणं अच्चुदये गिण्हणुड्डाहे ॥ ४६० ॥

व्याख्या—'असंयमयोगानां' सावद्यव्यापाराणां 'पसन्धनं' सातत्येन प्रवर्त्तनमिदं चिकित्साकरणं यतो गृहस्थस्तत्प्रायोगो-लकसमानः ततस्तेन नीरोगीभूतेन ये कायघाता यावज्जीवं प्रवर्त्तन्ते ते सर्वेऽपि साधुचिकित्साप्रवर्त्तिता इति चिकित्साकरणं सात-त्येनासंयमयोगानां निबन्धनम् । तथा चात्र दुर्बलव्याघ्रदृष्टान्तो—यथाऽटव्यामान्ध्येन भक्ष्यमप्राप्नुवन् दुर्बलो व्याघ्रः केनाप्यन्धापनय-

१ तत्रोत्पन्नं रोगमष्टमेन निवारयेत् ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नाय चिकित्स्यते, चिकित्सितश्च प्रगुणीभूतः प्रथमतस्तस्यैव वैद्यस्य विघातं करोति, ततः शेषाणां बहूनां जीवानाम्, एवमेषोऽपि गृहस्थः साधुना चिकित्स्यमानः साधोः संयमप्राणान् हन्ति, शेषाँश्च पृथिवीकायादीनिति । यदि पुनः कथमपि चिकित्स्यमानस्यापि तस्यातिशयेन रोगस्योदयः–प्रादुर्भावो भवति, ततोऽहमनेनातिशयेन रोगीकृत इति सञ्जातकोपो राजकुलादौ ग्राहयति, तथा च सति उड्डाहः–प्रवचनस्य मालिन्यमिति । उक्तं चिकित्साद्वारम्, अधुना क्रोधादिद्वारचतुष्टयं विवक्षुः प्रथमतः क्रोधादिपिण्डदृष्टान्तानां नगराणि क्रोधाद्युत्पत्तेः कारणानि च प्रतिपादयति—

हत्थकप्प गिरिपुप्फिय रायगिहं खलु तहेव चंपा य । कडगयपुन्ने इट्ठग लड्डुग तह सीहकेसरए ॥ ४६१ ॥

व्याख्या—क्रोधपिण्डदृष्टान्तस्य नगरं हस्तकल्पं, मानपिण्डदृष्टान्तस्य गिरिपुष्पितं, मायापिण्डदृष्टान्तस्य राजगृहं, लोभपिण्डदृष्टान्तस्य चम्पा । तथा कृतान् घृतपूर्णानलभमानस्य क्रोधोत्पत्तिः, सेवकिका अलभमानस्य मानस्योत्पत्तिः, मोदकानाश्रित्य मायोत्पत्तिः, सिंहकेसरसञ्ज्ञान् मोदकानलभमानस्य लोभोत्पत्तिः । सम्प्रति क्रोधपिण्डस्य सम्भवमाह—

विज्जातवप्पभावं रायकुले वाऽवि वल्लभत्तं से । नाउं ओरस्सबलं जो लब्भइ कोहपिंडो सो ॥ ४६२ ॥

व्याख्या—स साधोः 'विद्याप्रभावम्' उच्चाटनमारणादिकं 'तपःप्रभावं' शापदानादिकं राजकुले वल्लभत्वं वा ज्ञात्वा यदिवा औरस्यं बलं–सहस्रयोधित्वादिकं ज्ञात्वा यः पिण्डो 'लभ्यते' गृहस्थेन दीयते स क्रोधपिण्डः । अथवाऽन्यथा क्रोधपिण्डसम्भवः, तमेव दर्शयति—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अन्नेसि दिज्जमाणे जायंतो वा अलद्धिओ कुप्पे । कोहफलंमिऽवि दिट्ठे जो लब्भइ कोहपिंडो सो ॥ ४६३ ॥

व्याख्या—'अन्येभ्यः' ब्राह्मणादिभ्यो दीयमाने याचमानोऽपि साधुर्यदा न लभते तदाऽलब्धिमान् सन् कुप्येत, कुपिते च सति तस्मिन् साधुः कुपितो भव्यो न भवतीति यदीयते स क्रोधपिण्डः । यदिवा तस्मिन्नन्यत्र वा क्रोधफले मरणादिशापे फलवति दृष्टे यो लभ्यते स क्रोधपिण्डः । अत्रैवोदाहरणमाह—

करडुय भत्तमलद्धुं अन्नहिं दाहित्थ एव वच्चंतो । थेरो भोयण तइए आइक्खण खामणा दाणे ॥ ४६४ ॥

व्याख्या—हस्तकल्पे नगरे क्वचिद्ब्राह्मणगृहे मृतकभक्ते मासिके दीयमाने कोऽपि साधुर्मासक्षपणपर्यवसाने भिक्षार्थं प्रविवेश, दृष्टाश्च तेन घृतपूरा ब्राह्मणेभ्यो दीयमानाः, सोऽपि च साधुः प्रतिषिद्धो दौवारिकेण, ततः कुपितोऽवादीत्, 'अन्नहिं दाहित्थ'त्ति, अस्य चायमर्थः–अस्मिन् मासिके तावन्मया न लब्धं ततोऽन्यस्मिन् मासिके दास्यथेति, एवं चोक्त्वा निर्गतः, दैवयोगेन च तत्रान्यन्मानुषं पञ्चषड्दिनमध्ये मृतं, ततस्तस्य मासिके दीयमाने भूयः स एव साधुर्मासक्षपणपारणे गतः, तथैव च प्रतिषिद्धो दौवारिकेण, ततः भूयोऽपि कुपितोऽवादीत्—'अन्नहिं दाहित्थ'त्ति, ततः पुनरपि दैवयोगेन तत्रान्यन्मानुषमुपगतं, ततस्तस्यापि मासिके स एव साधुर्मासक्षपणपारणे भिक्षार्थमागतः, तथैव च प्रतिषिद्धो दौवारिकेण भणति–'अन्नहिं दाहित्थ'त्ति, एतच्च श्रुत्वा तेन स्थविरेण दौवारिकेण चिन्तितं, पुराऽप्येतेन वारद्वयमित्थं शापो वितीर्णस्ततो द्वे मानुषे उपगते सम्प्रति तृतीयवेला ततो मा किमपि मानुषं म्रियतामिति जाताऽनुकम्पेन सर्वोऽपि वृत्तान्तो गृहनायकाय निवेदितः, तेन च समागत्य सादरं साधुं क्षमयित्वा घृतपूरादिकं तस्मै यथेच्छं व्यतारि, स क्रोधपिण्डः । सूत्रं सुगमं, नवरं 'करडुकभक्तं' मृतकभोजनं मासिकादि । तदेवमुक्तः क्रोधपिण्डः । सम्प्रति मानपिण्डस्य सम्भवमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥१३४॥

ओच्छाहिओ परेण व लद्धिपसंसाहिं वा समुत्तइओ। अवमाणिओ परेण य जो एसइ माणपिंडो सो ॥ ४६५ ॥

व्याख्या—'उत्साहितः' त्वमेवास्य कार्यस्य करणे समर्थ इत्येवमुत्कर्षितः 'परेण' अपरेण साध्वादिना, 'वा' विकल्पे, तथा लब्धिप्रशंसाभ्यां 'समुत्तइओ' गर्वितो यथाऽहं यत्र क्वापि व्रजामि तत्र सर्वत्रापि लभे तथैव च जनो मां प्रशंसतीत्येवमभिमानवान्, यद्वा न किमपि त्वया सिद्ध्यतीत्येवमपमानितोऽपरेणाहङ्कारवशाद्य एषयति पिण्डं स तस्य मानपिण्डः। अत्र च क्षुल्लकोदाहरणं–गिरिपुष्पिते नगरे सिंहाभिधानाः सूरयः सपरिवाराः समाययुः, अन्यदा च तत्र सेवकिकाक्षणः समजनि, तस्मिंश्च दिवसे सूत्रपौरुष्यनन्तरमेकत्र तरुणश्रमणानां समवायोऽभवत्, बभूव च परस्परं समुल्लापः, तत्र कोऽप्यवादीत्–को नामैतेषां मध्ये प्रातरेव सेवकिका आनेष्यति ?, तत्र गुणचन्द्राभिधः क्षुल्लकः प्रत्यवादीद्–अहमानेष्यामि, ततः सोऽभाणीत्–यदि ताः सर्वसाधूनां न परिपूर्णा घृतगुडरहिता वा ततो न ताभिः प्रयोजनं, तस्माद्यद्यवश्यमानेतव्यास्तर्हि परिपूर्णा घृतगुडसम्मिश्रा आनेतव्याः, क्षुल्लक आह–यादृशीस्त्वमिच्छसि तादृशीरानेष्यामि, एवं च कृत्वा प्रतिज्ञां नान्दीपात्रमादाय भिक्षार्थं निर्जगाम, प्रविष्टश्च क्वापि कौटुम्बिकगृहे, दृष्टाश्च तत्र प्रचुराः सेवकिकाः, घृतगुडादीनि च प्रभूतानि प्रगुणीकृतानि, ततोऽनेकधा वचनभङ्गीभिः सुलोचनाभिधाना कौटुम्बिकगृहिणी याचिता, तया च सर्वथा प्रतिषिद्धो–न किमपि ते ददामीति, ततः सञ्जातामर्षेण वभणे क्षुल्लकेन–नियमादिमाः सेवकिकाः सघृतगुडा मया गृहीतव्याः, सुलोचनाऽपि सामर्षं क्षुल्लकवचः श्रुत्वा सञ्जातप्रकोपा प्रत्युवाच–यदि त्वमेतासां सेवकिकानां किमपि लभसे ततो मे नासापुटे त्वया प्रस्रवणं कृतमिति। ततः क्षुल्लकोऽचिन्तयद्–अवश्यमेतन्मया विधातव्यम्, एवं च विचिन्त्य गृहान्निर्ययौ, पप्रच्छ च कस्यापि पार्श्वे–कस्येदं गृहम् ? इति, सोऽवादीत्–विष्णुमित्रस्य, ततः पुनरपि क्षुल्लकः पृच्छति–स इदानीं क्व वर्त्तते ?, तेनोक्तं–पर्षदि, ततः पर्षदि गत्वा सहर्षं इव पर्षज्जनान्

उत्पादनादोषे क्रोधमानयोर्दृष्टान्तौ

॥१३४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पृष्टवान्–भो ! युष्माकं मध्ये को विष्णुमित्रः ?, जना अवादिषुः–किं साधो ! तव तेन प्रयोजनं ?, साधुरवोचत्–तं किमपि याचिष्ये, स च तेषां सर्वेषामपि प्रायो भगिनीपतिरिति सहासं तैरवाचि–कृपणोऽसौ न ते किमपि दास्यतीत्यस्मानेव याचस्व, ततो विष्णुमित्रो मा मेऽपभ्राजना भूदिति तेषामग्रतः कृत्वा बभाण–अहं भो ! विष्णुमित्रोऽहं याचस्व मां किमपि, मा केलिवचनमेषां कर्णे कार्षीः, ततोऽवादीत् क्षुल्लकः–याचेऽहं यदि त्वं महेलाप्रधानानां षण्णां पुरुषाणामन्यतमो न भवति, ततः पर्षज्जना अवादिषुः–के ते षट् पुरुषा महेलाप्रधानाः ? येषामन्यतमोऽयमाशङ्क्यते, ततः क्षुल्लक आह–श्वेताङ्गुलिर्वकोड्डायकः किङ्करः स्नायकः गृध्रइवरिङ्खी हदन्न इति, एतेषां च षण्णामपि कथानकान्यमूनि–क्वचिद्ग्रामे कोऽपि पुरुषो निजभार्याच्छन्दानुवर्त्ती, स च प्रातरेव जातबुभुक्षो निजभार्यां भोजनं याचते, सा च वदति–नाहमालस्येनोत्थातुमुत्सहे ततस्त्वमेव समाकर्ष चुल्या भस्म प्रक्षिप तत्र प्रातिवेशिककृहादानीय वह्निं प्रज्वालय तमिन्धनप्रक्षेपेण समारोपय चुल्याः शिरसि स्थालीं, एवं यावत्पक्त्वा कथय, ततोऽहं परिवेषयामीति, स च तथैव प्रतिदिवसं कुरुते, ततो लोकेन प्रातरेवास्य चुल्या भस्मसमाकर्षणेन श्वेतीभूताङ्गुलिदर्शनात्सहासं श्वेताङ्गुलिरिति नाम कृतम्, एष श्वेताङ्गुलिः । तथा क्वचिद्ग्रामे कोऽपि पुरुषो निजभार्यामुखदर्शनसुखलम्पटस्तदादेशवर्त्ती, अन्यदा तया भार्यया बभणे–यथाऽहमालस्येन भुक्ता, ततस्त्वमेवोदकं तडागादानय, स च देवताऽऽदेशमिव भार्याऽऽदेशमभिमन्यमानः प्रतिवदति–यदादिशसि प्रिये ! तदहं करोमि, ततो दिवसे मा लोको मां द्राक्षीदिति रात्रौ पश्चिमयामे समुत्थाय प्रतिदिवसं तडागादुदकमानयति, तस्य च तत्र गमनागमने कुर्वतः पदसञ्चारशब्दश्रवणतो घटभरणबुद्बुदशब्दश्रवणतश्च तडागपालीवृक्षेषु प्रसुप्ता बका उत्थायोड्डीयन्ते, एष च वृत्तान्तो लोकेन विदितः, ततोऽस्यार्थस्य सूचनार्थं हासेन वकोड्डायक इति नाम कृतं, एष वकोड्डायकः । तथा क्वचिद्ग्रामे कोऽपि पुरुषो भार्यास्तनजघनादिस्पर्शलम्पटो भार्याच्छन्दानुवर्त्ती, स च

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥१३५॥

प्रातरेवोत्थाय कृताञ्जलिप्रग्रहो वदति–दयिते! किं करोमि?, सा च वदति–तडागादुदकमानय, ततो यत्प्रिया समादिशतीत्युदित्वा तडागादुदकमानयति, पुनरपि भणति–किं करोमि प्राणेश्वरि!, सा वदति–कुसूलादाकृष्य तण्डुलान् कण्डय, एवं यावद्भोजनादूर्ध्वं मम पादान् प्रक्षाल्य घृतेन फाणयेति, स च सर्वं तथैव करोति, तत एवं लोकेन ज्ञात्वा तस्य किङ्कर इति नाम निवेशितं, एष किङ्करः। तथा क्वचिद्ग्रामे कोऽपि पुरुषो भार्याऽऽदेशवर्त्ती, स चान्यदा निजभार्यामवादीत्–प्राणेश्वरि! स्नातुमहमिच्छामि, तयोक्तं–यद्येवं तर्ह्यामलकान् शिलायां वर्त्तय परिधेहि स्नानपोतिकां अभ्यङ्ग्य तैलेनात्मानं गृहाण च घटं ततस्तडागे स्नात्वा घटं च जलेन भृत्वा समागच्छेति, स च देवताशेषामिव भार्याऽऽदेशं शिरसि निधाय तथैव करोति, एवं च सर्वदैव, ततो लोकेनास्यार्थस्य प्रकटनार्थं हासेनास्य स्नायक इति नाम कृतं, एष स्नायकः। तथा क्वचिद्ग्रामे कोऽपि पुरुषो भार्याऽऽदेशविधायी, अन्यदा च सा रसवत्यामासने समुपविष्टा वर्त्तते, सा च तेन भोजनमयाचि, तयोक्तं–मम समीपे स्थालमादाय समागच्छेः, सोऽपि यत्प्रियतमा समादिशति तन्मे प्रमाणमिति ब्रुवंस्तस्याः समीपे गतः, तया परिवेषितं भोजनं, तत उक्तं–भोजनस्थाने गत्वा भुङ्क्ष्व, ततः स भोजनस्थानं गत्वा भोक्तुं प्रवृत्तः, ततः पुनरपि तेन तीमनं याचितं, सा च प्रत्युवाच–स्थालमादाय मम समीपे समागच्छेः, ततः स गृध्र इव उत्कटिको रिङ्खन् स्थालेन गृहीतेन याति, एवं तक्रादिकमपि गृह्णाति, तत एतल्लोकेन ज्ञात्वा हासेन गृध्रइवरिङ्खीति नाम कृतं, एष गृध्रइवरिङ्खी। तथा क्वचिद्ग्रामे भार्यामुखप्रलोकनसुखलम्पटस्तदादेशकारी कोऽपि पुरुषः, तस्यान्यदा स्वभार्यया सह विषयसुखमनुभवतः पुत्रो बभूव, स च पालनक एव स्थितोऽतिबालत्वात् पुरीषमुत्सृजति, तेन च पुरीषेण पालनकं बालवस्त्राणि च खरण्ट्यन्ते, ततः सा भणति–बालस्य पुते प्रक्षालय पालनकं बालवस्त्राणि च, ततो यत्प्रिया समादिशति तत्करोमीति वदँस्तथैव करोति, एवं सर्वदैव, ततो लोकेनैतद् ज्ञात्वा हदनं प्रक्षाल-

उत्पादनायां मानपिण्डे दृष्टान्तः

॥१३५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यितुं बालस्य जानातीतिकृत्वा हदज्ञ इति नाम तस्य कृतं, एष हदज्ञः । तत एवमुक्ते क्षुल्लकेन सर्वैरपि पर्षज्जनैरेककालमट्टट्टहासेन हसद्भिरभाणि–क्षुल्लक ! एष षण्णामपि पुरुषाणां गुणानाददाति तन्मैनं महेलाप्रधानं याचिष्ठ, विष्णुमित्रोऽवादीत्–नाहं षण्णां पुरुषाणां समानस्तस्माद्याचस्व मामिति, ततः क्षुल्लकेनोक्तं–देहि मे घृतगुडसंयुक्ताः पात्रभरणप्रमाणाः सेवकिकाः, विष्णुमित्रेणोक्तं–ददामि, ततः क्षुल्लकं गृहीत्वा निजगृहाभिमुखं चलितवान्, समागतो निजगृहद्वारे, ततः क्षुल्लकेनाभाणि–प्रथममपि तव गृहे समागतोऽहमासं परं तव भार्यया प्रतिज्ञा व्यधायि यथा न किमपि ते दास्यामि, तत इदानीं यद्युक्तं तत्समाचर, तत एवमुक्ते विष्णुमित्रोऽवादीत्–यद्येवं तर्हि क्षणमात्रमेव गृहद्वारेऽवतिष्ठस्व पश्चादाकारयिष्यामि, ततः प्रविष्टो गृहमध्ये मित्रः, पृष्टा च तेन निजभार्या–यथा राद्धाः सेवकिकाः प्रगुणीकृतानि घृतगुडादीनि ?, तयोक्तं–कृतं सर्वं परिपूर्णं, ततो गुडं प्रलोक्य स्तोक एष गुडो नैतावता सरिष्यतीति मालादानय प्रभूतं गुडं येन द्विजान् भोजयामीति, ततः सा तद्वचनादारूढा मालं अपनीता तेन निःश्रेणिः, तत आकार्य क्षुल्लकं पात्रभरणप्रमाणा ददौ तस्मै सेवकिकाः घृतगुडादीनि च दातुमारब्धानि, अत्रान्तरे गुडमादाय सुलोचना मालादुत्तरितुं प्रवृत्ता परं न पश्यति निःश्रेणिं, ततो विस्मितदृष्ट्या प्रसरं यावदालोकते तावत्पश्यति क्षुल्लकाय घृतगुडसंयुक्ताः सेवकिका दीयमानाः, ततोऽहमनेन क्षुल्लकेनाभिभूतेत्यभिमानपूरितहृदया माऽस्मै देहि माऽस्मै देहीति महता शब्देन पूत्कुरुते, क्षुल्लकोऽपि तस्याः सम्मुखमवलोक्य मया तव नासिकापुटे मूत्रितमिति निजनासापुटेऽङ्गुल्यभिनयेन दर्शयति, दर्शयित्वा च भृतघृतगुडसेवकिकापात्रो जगाम निजवसताविति । एतदेव रूपकाष्टकेन दर्शयति—

इट्ठगछणंमि परिपिंडियाण उल्लाव को णु हु पगेव । आणिज्ज इट्ठगाओ ? खुड्डो पच्चाह आणेमि ॥ ४६६ ॥
जइवि य ता पज्जत्ता अगुलघयाहिं न ताहिं णे कज्जं । जारिसियाओ इच्छह ता आणेमित्ति निक्खंतो ॥४६७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ओहासिय पडिसिद्धो भणइ अगारिं अवस्सिमा मज्झं । जइ लहसि तो तं मे नासाए कुणसु मोयंति[सा आह]॥४६८॥
कस्स घर पुच्छिऊणं परिसाए अमुउ कइरो पुच्छित्तु । किं तेणऽम्हे जायसु सो किविणो दाहिइ न तुज्झ ॥४६९॥
दाहित्ति तेण भणिए जइ न भवसि छण्हमेसि पुरिसाणं । अन्नयरो तो तेऽहं परिसामज्झंमि पणयामि ॥४७०॥
सेयंगुलि बगुड्डावे, किंकरे ण्हायए तहा । गिद्धावरंखि हद्दन्नए य पुरिसाहमा छाउ ॥ ४७१ ॥
जायसु न एरिसोऽहं इट्टगा देहि पुव्वमइगंतुं । माला उत्तारि गुलं भोएमि दिएत्ति आरूढा ॥ ४७२ ॥
सिइअवणण पडिलाभण दिसियरी बोलमंगुली नासं । दुण्हेगयरपओसो आयविवत्ती य उड्डाहो ॥ ४७३ ॥

व्याख्या—सुगमं, नवरं 'इट्टगछणंमि' सेवकिकाक्षणे 'पगेवे'ति प्रभाते एव 'मोयं'ति मूत्रणं 'पणयामि' इति याचे, 'सिइअवणण'त्ति निःश्रेण्यपनयनं, इत्थम्भूतश्च मानपिण्डो न ग्राह्यः, यतो द्वयोरपि दम्पत्योः प्रद्वेषो भवति, ततस्तद्द्रव्यान्यद्रव्यव्यत्यच्छेदः, कदाचिदेकतरस्य ततस्तत्रापि स एव दोषः । अपि च-सैवमपमानिता कदाचिदभिमानवशादात्मविपत्तिं कुर्यात्, तत उड्डाहः-प्रवचनमालिन्यं ॥ उक्तो मानपिण्डदृष्टान्तः, सम्प्रति मायापिण्डदृष्टान्तमाह—

रायगिहे धम्मरुई असाडभूई य खुड्डओ तस्स । रायनडगेहपविसण संभोइय मोयए लंभो ॥ ४७४ ॥
आयरियउवज्झाए संघाडगकाणखुज्जतद्दोसी । नडपासणपज्जत्तं निकायण दिणे दिणे दाणं ॥ ४७५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धूयदुए संदेसो दाणसिणेह करणं रहेगहणं । लिंगं मुयत्ति गुरुसिट्ठ विवाहे उत्तमा पगई ॥ ४७६ ॥
रायघरे य कयाई निम्महिलं नाडगं तडागत्था । ता य विहरंति मत्ता उवरि गिहे दोवि पासुत्ता ॥ ४७७ ॥
वाघाएण नियत्तो दिस्स विचेला विराग संबोही । इंगियनाए पुच्छा पजीवणं रट्ठवालंमि ॥ ४७८ ॥
इक्खागवंस भरहो आयंसघरे य केवलालोओ । हाराइखिवण गहणं उवसग्ग न सो नियत्तोत्ति ॥ ४७९ ॥
तेण समं पव्वइया पंच नरसयत्ति नाडए डहणं । गेलन्न खमग पाहुण थेरा दिट्ठा य बीयं तु ॥ ४८० ॥

व्याख्या—राजगृहं नाम नगरं, तत्र सिंहरथो राजा, विश्वकर्मा नाम नटः, तस्य द्वे दुहितरौ, ते च द्वे अप्यतिसुरूपे अतिशयाते वदनकान्त्या दिनकरकरोद्भासितकमलश्रियं नयनयुगलेन सचञ्चरीककुवलययुगलं पीनोन्नतनिरन्तरपयोधरयुगलेन संहततालफलयुगल-लक्ष्मीं बाहुयुगलेन पल्लवलतां त्रिवलिभङ्गुरेण मध्यभागेनेन्द्रायुधमध्यं जघनविस्तरेण जाह्नवीपुलिनदेशं ऊरुयुगलेन गजकलभनासाभोगं जङ्घायुगलेन कुरुविन्दवृत्तसंस्थितं चरणयुगलेन कूर्मदेहाकृतिं सुकुमारतया शिरीषकुसुमसञ्चयं वचनमधुरतया वसन्तमासोन्मत्तकोकिला-रवं, अन्यदा च तत्र यथाविहारक्रमं समाययुर्धर्मरुचयो नाम सूरयः, तेषामन्तेवासी प्रज्ञानिधिराषाढभूतिः, स भिक्षार्थमटन् कथमपि विश्वकर्मणो नटस्य गृहे प्राविशत्, तत्र च लब्धः प्रधानो मोदकः, द्वारे च विनिर्गत्य तेन चिन्तितम्–एष सूरीणां भविष्यति, तत आत्मार्थं रूपपरावर्त्तमाधायान्यं मोदकं मार्गयामि, ततः काणरूपं कृत्वा पुनः प्रविष्टो, लब्धो द्वितीयो मोदकः, ततो भूयोऽपि चिन्तितम्–एष उपाध्यायस्य भविष्यति, ततः कुब्जरूपमभिनिर्वर्त्य पुनरपि प्रविष्टः, लब्धस्तृतीयो मोदकः, एष द्वितीयसङ्घाटकसाधोर्भविष्यतीति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥१३७॥

विचिन्त्य कुष्ठिरूपं कृत्वा चतुर्थवेलायां प्रविष्टः, लब्धश्चतुर्थो मोदकः, एतानि च रूपाणि कुर्वन् मालोपरिस्थितेन विश्वकर्मणा नटेन ददृशे, चिन्तितं चानेन—सम्यगेषोऽस्माकं मध्ये नटो भवति, परं केनोपायेन सङ्गृहीतव्य इति, एवं च चिन्तयतः समुत्पन्ना तस्य शेमुषी—दुहितृभ्यां क्षोभयित्वा ग्रहीतव्य इति, ततो मालादुत्तीर्य सादरमाकार्याऽऽषाढभूतिः पात्रभरणप्रमाणैर्मोदकैः प्रतिलाभितः, भणितश्च सादरं—भगवन्! प्रतिदिवसमस्माकं भक्तपानग्रहणेनानुग्रहोऽनुविधातव्यः, ततो गतः स्वोपाश्रयमाषाढभूतिः, अचकथच्चान्यान्यरूपपरावर्त्तनवृत्तान्तं विश्वकर्म्मा निजकुटुम्बस्य, भणिते च दुहितरौ यथा सादरं दानस्नेहदर्शनादिना तथा कर्त्तव्यो यथा युष्माकमायत्तो भवति प्रतिदिवसमायाति च भिक्षार्थमाषाढभूतिः, दुहितरौ च तं तथैवोपचरतः, ततोऽत्यन्तमनुरक्तमवगम्य रहसि भणितो—यथा वयमत्यन्तं तवानुरक्ताः ततोऽस्मान् परिणीय त्वं परिभुङ्क्ष्वेति, अत्रान्तरे च तस्योदयमियाय चारित्रावरणं कर्म्म गलितो गुरूपदेशः प्राणेशद्वित्वेको दूरीभूतः कुलजात्यभिमानः, ततस्तेनोक्तम्—एवं भवतु, परमहं गुरुपादान्तिके लिङ्गं विमुच्य समागच्छामि, गतो गुरुसमीपं प्रणतस्तेषां पादयुगलं प्रकटितो निजाभिप्रायः, ततो गुरुभिरवाचि—वत्स! नेदं युष्मादृशां विवेकरत्नाकराणामवगाहितसकलशास्त्रार्थानामुभयलोकजुगुप्सनीयं समाचरितुमुचितं, तथा "दीहरसीलं परिवालिऊण विसएसु वच्छ! मा रमसु। को गोपयंमि बुड्डइ उयहिं तरिऊण बाहाहिं? ॥ १ ॥" इत्यादि, तत उवाचाषाढभूतिः—भगवन्! यथा यूयमादिशथ तथैव केवलं प्रतिकूलकर्मोदयतः प्रतिपक्षभावनारूपकवचदुर्भेदतया मदनशबरेण निरन्तरं समुत्रस्तमृगनयनरमणीकटाक्षविशिखोपनिपातमादधता शतशो मे जर्जरीकृतं हृदयं, एवं चोक्त्वा गुरुपादान् प्रणम्य तदन्तिके रजोहरणं मुक्तवान्, ततः कथमहममीषामनुपकृतोपकारिणामपारसंसारोदधिनिमग्नजन्तुसमुद्धरणैकचेतसां सकलजग-

१ दीर्घं शीलं परिपाल्य विषयेषु वत्स! मारंसीः। को गोष्पदे निमज्जति उदधिं बाहुभ्यां तरित्वा? ॥ १ ॥

उत्पादनायां मायायामाषाढभूतिः ॥१३७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

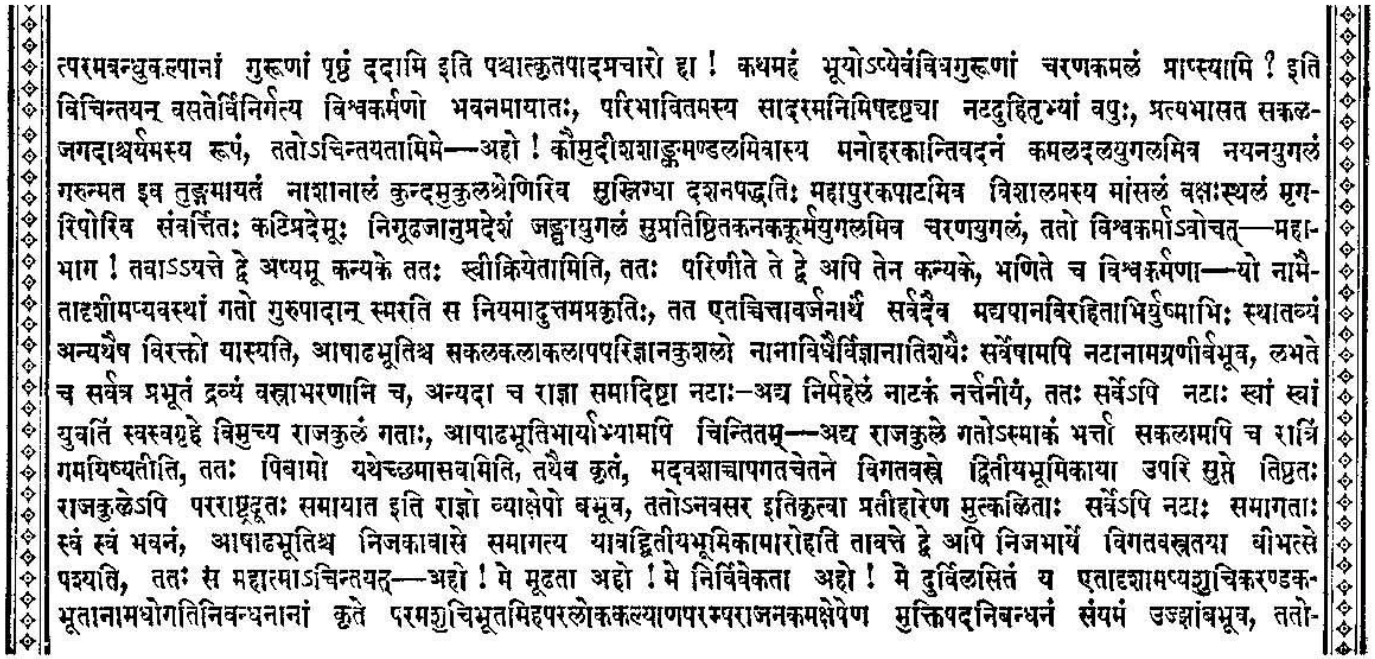

त्परमबन्धुकल्पानां गुरूणां पृष्ठं ददामि इति पश्चात्कृतपादप्रचारो हा ! कथमहं भूयोऽप्येवंविधगुरूणां चरणकमलं प्राप्स्यामि ? इति विचिन्तयन् वसतेर्विनिर्गत्य विश्वकर्मणो भवनमायातः, परिभावितमस्य सादरमनिमिषदृष्ट्या नटदुहितृभ्यां वपुः, प्रत्यभासत सकलजगदाश्चर्यमस्य रूपं, ततोऽचिन्तयतामिमे—अहो ! कौमुदीशशाङ्कमण्डलमिवास्य मनोहरकान्तिवदनं कमलदलयुगलमिव नयनयुगलं गरुन्मत इव तुङ्गमायतं नाशानालं कुन्दमुकुलश्रेणिरिव सुस्निग्धा दशनपद्धतिः महापुरकपाटमिव विशालमस्य मांसलं वक्षःस्थलं मृगरिपोरिव संवर्त्तितः कटिप्रदेमूः निगूढजानुप्रदेशं जङ्घायुगलं सुप्रतिष्ठितकनककूर्मयुगलमिव चरणयुगलं, ततो विश्वकर्मोऽवोचत्—महाभाग ! तवाऽऽयत्ते द्वे अप्यमू कन्यके ततः स्वीक्रियेतामिति, ततः परिणीते ते द्वे अपि तेन कन्यके, भणिते च विश्वकर्मणा—यो नामैतादृशीमप्यवस्थां गतो गुरुपादान् स्मरति स नियमादुत्तमप्रकृतिः, तत एतच्चित्तावर्जनार्थं सर्वदैव मद्यपानविरहिताभिर्युष्माभिः स्थातव्यं अन्यथैष विरक्तो यास्यति, आषाढभूतिश्च सकलकलाकलापपरिज्ञानकुशलो नानाविधैर्विज्ञानातिशयैः सर्वेषामपि नटानामग्रणीर्बभूव, लभते च सर्वत्र प्रभूतं द्रव्यं वस्त्राभरणानि च, अन्यदा च राज्ञा समादिष्टा नटाः–अद्य निर्मदेहलं नाटकं नर्त्तनीयं, ततः सर्वेऽपि नटाः स्वां स्वां युवतिं स्वस्वगृहे विमुच्य राजकुलं गताः, आषाढभूतिभार्याभ्यामपि चिन्तितम्—अद्य राजकुले गतोऽस्माकं भर्त्ता सकलामपि च रात्रिं गमयिष्यतीति, ततः पिबामो यथेच्छमासवमिति, तथैव कृतं, मदवशाच्चापगतचेतने विगतवस्त्रे द्वितीयभूमिकाया उपरि सुप्ते तिष्ठतः राजकुलेऽपि परराष्ट्रदूतः समायात इति राज्ञो व्याक्षेपो बभूव, ततोऽनवसर इतिकृत्वा प्रतीहारेण मुत्कलिताः सर्वेऽपि नटाः समागताः स्वं स्वं भवनं, आषाढभूतिश्च निजकावासे समागत्य यावद्द्वितीयभूमिकामारोहति तावत्ते द्वे अपि निजभार्ये विगतवस्त्रतया बीभत्से पश्यति, ततः स महात्माऽचिन्तयत्—अहो ! मे मूढता अहो ! मे निर्विवेकता अहो ! मे दुर्विलसितं य एतादृशामप्यशुचिकरण्डकभूतानामधोगतिनिबन्धनानां कृते परमशुचिभूतमिहपरलोककल्याणपरम्पराजनकमक्षेपेण मुक्तिपदनिबन्धनं संयमं उज्झांबभूव, ततो-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥१३८॥

ऽद्यापि न मे किमपि विनष्टम् अपि गच्छामि गुरुपादान्तिकं प्रतिपद्ये चारित्रं प्रक्षालयामि पापपङ्कमिति विचिन्त्य विनिर्गतो गृहात्, दृष्टः कथमपि विश्वकर्मणा, लक्षित इङ्गितादिना यथा विरक्त एष यातीति, ततः सत्वरं निजदुहितरावुत्थाप्य निर्भर्त्सयति–हा ! दुरात्मिके ! हीनपुण्यचतुर्दशीके ! युष्मद्विलसितमेतादृशमवलोक्य सकलनिधानभूतो युष्मद्भर्त्ता विरक्तो यातीति तद्यदि निर्वर्त्तयितुं शक्नुथस्तर्हि निवर्त्तयेथां नो चेत् प्रजीवनं याचध्वमिति, ततस्ताः ससम्भ्रमं परिहितनिवसनाः पृष्ठतः प्रधाव्य गच्छतः पादयोर्लग्ना, वदन्ति च–हा स्वामिन् ! क्षमस्वैकमपराधं निवर्त्तस्व माऽस्माननुरक्ताः परिहर , एवमुक्तोऽपि स मनागपि न चेतसि रज्यते, ततस्ताभ्यामवाचि–स्वामिन् ! यद्येवं तर्हि प्रजीवनं देहि, येन पश्चादपि युष्मत्प्रसादेन जीवामः, तत एवं भवत्विति दाक्षिण्यवशादनुमत्य प्रतिनिवृत्तः, ततः कृतं भरतचक्रवर्तिनश्चरितप्रकाशकं **राष्ट्रपालं** नाम नाटकं, ततो विज्ञप्तो विश्वकर्मणा सिंहरथो राजा–देव ! आषाढभूतिना राष्ट्रपालं नाम नाटकं विरचितं, तत्सम्प्रति नर्त्त्यतामिति, परं तत्र राजपुत्रपञ्चशतैराभरणविभूषितैः प्रयोजनं, ततो राज्ञा दत्तानि राजपुत्राणां पञ्चशतानां, तानि यथायथमाषाढभूतिना शिक्षितानि, ततः प्रारब्धं नाटकं नर्त्तितुं, तत्राऽऽषाढभूतिरात्मनेक्ष्वाकुवंशसम्भूतो भरतश्चक्रवर्ती स्थितो राजपुत्राश्च यथायोगं कृताः सामन्तादयः, तत्र च नाटके यथा भरतेन भरतं षट्खण्डं प्रसाधितं यथा चतुर्दश रत्नानि नव महानिधयः प्राप्ता यथा चाऽऽदर्शगृहेऽवस्थितस्य केवललोकप्रादुर्भावो यथा च पञ्चशतपरिवारेण सह प्रव्रज्यां प्रतिपन्नस्तत्सर्वमप्यभिनीयते, ततो राज्ञा लोकेन च परितुष्टेन सर्वेणापि यथाशक्ति हारकुण्डलादीन्याभरणानि सुवर्णवस्त्राणि च प्रभूतानि क्षिप्तानि, ततः सर्वजनानां धर्मलाभं प्रदाय पञ्चशतपरिवार आषाढभूतिर्गन्तुं प्रावर्त्तत, ततः किमेतत् ? इति राज्ञा निवारितः, तेनोक्तं–किं भरतश्चक्रवर्त्ती प्रव्रज्यामादाय निवृत्तः ? येनाहं निवर्त्ते इति गतः सपरिवारो गुरुसमीपं, वस्त्राभरणादिकं च समस्तं निजभार्याभ्यां दत्तवान्, तच्च प्रजीवनकं किल

उत्पादनायां मायायामाषाढभूतिः

॥१३८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तयोर्जातं, गृहीता दीक्षा, तदपि च नाटकं विश्वकर्मणा कुसुमपुरे नर्तितुमारब्धं, तत्रापि पञ्चशतसङ्ख्याः क्षत्रियाः प्रव्रज्यां गृहीतवन्तः, ततो लोकेन चिन्तितम्–एवं क्षत्रियाः प्रव्रजन्तो निःक्षत्रियां पृथिवीं करिष्यन्तीति नाटकपुस्तकमग्नौ प्रवेशितं । सूत्रं सुगमं, नवरं ' रायनडगेहपवेसणं 'ति राजविदितो यो नटो विश्वकर्मा तस्य गृहे प्रवेशः, ' त्वग्दोषी ' कुष्ठी, उपसर्गः—प्रव्रज्याग्रहणे निवारणं, दहनं नाटकपुस्तकस्य । अत्रैवापवादमाह—' गेलन्ने 'त्यादि, ग्लानो–मन्दः, ' क्षपकः ' मासक्षपकादिः, ' प्राघूर्णकः ' स्थानान्तरादायातः, 'स्थविरः' वृद्धः, आदिशब्दात्सङ्घकार्यादिपरिग्रहः, तेषामर्थाय द्वितीयमपवादपदमिति भावः, सेव्यते—ग्लानाद्यनिर्वाहे मायापिण्डोऽपि ग्राह्य इत्यर्थः । उक्तं मायाद्वारम्, अथ लोभद्वारमाह—

लब्भंतंपि न गिण्हइ अन्नं अमुगंति अज्ज घेच्छामि । भद्दरसंति व काउं गिण्हइ खद्धं सिणिद्धाई ॥ ४८१ ॥

व्याख्या—अद्याहममुकं सिंहकेसरादिकं ग्रहीष्यामीति बुद्ध्याऽन्यद्वल्लचनकादिकं लभ्यमानमपि यन्न गृह्णाति, किन्तु तदेवेप्सितं, स लोभपिण्डः । अथवा पूर्वं तथाविधबुद्ध्यभावेऽपि यथाभावं लभ्यमानं ' खद्धं ' प्रचुरं ' स्निग्धादि ' लवनश्रीप्रभृतिकं भद्रकरसमितिकृत्वा यद्गृह्णाति स लोभपिण्डः । तत्र प्रथमभेदमाश्रित्योदाहरणं गाथाद्वयेनाह—

चंपा छणंमि घिच्छामि मोयए तेवि सीहकेसरए । पडिसेह धम्मलाभं काऊणं सीहकेसरए ॥ ४८२ ॥

सड्ढुद्धरत्तकेसरभायण भरणं च पुच्छ पुरिमड्ढे । उवओग संत चोयण साहुत्ति विगिंचणे नाणं ॥ ४८३ ॥

व्याख्या—**चम्पा** नाम पुरी, तत्र **सुव्रतो** नाम साधुः, अन्यदा च तत्र मोदकोत्सवः समजनि, तस्मिंश्च दिने सुव्रतोऽचिन्तयत्–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥१३९॥

अद्य मया मोदका एव ग्रहीतव्याः, तेऽपि सिंहकेसरकाः, तत इत्थं सम्प्रधार्य भिक्षां प्रविष्टो लोलुपतयाऽन्यत्प्रतिषेधेन सिंहकेसरमोदकाँश्चाल-भमानस्तावत्परिभ्रमति स्म यावत्सार्द्धं प्रहरद्वयं, ततो न लब्धा मोदका इति प्रनष्टचित्तो बभूव, ततो गृहद्वारे प्रविशन् वक्तव्यस्य धर्मलाभस्य स्थाने सिंहकेसरा इति वदति, एवं च सकलमपि दिनं भ्रान्त्वा रात्रौ तथैव परिभ्रमन् प्रहरद्वयसमये श्रावकस्य गृहे प्रविवेश, धर्मलाभ-भणनस्थाने सिंहकेसरा इत्युवाच, सोऽपि च श्रावकोऽतीव गीतार्थो दक्षश्च, ततस्तेन परिभावयामासे—नूनमेतेन क्वापि न लब्धाः सिंहकेसरा मोदका इति चित्तमस्य प्रनष्टं, ततस्तस्य चित्तसंस्थापनाय सिंहकेसराणां भृतं भाजनमुपढौकितं, भगवन् ! प्रतिगृहाण सर्वा-नप्येतान् सिंहकेसरमोदकानिति, सुव्रतेन च परिगृहीताः, ततः स्वस्थीभूतं तस्य चित्तं, श्रावकेण चोक्तं—भगवन् ! अद्य मया पूर्वार्द्धः प्रत्याख्यातः स किं पूर्णो न वा ? इति, ततः सुव्रत उपयोगमूर्ध्वं दत्तवान्, पश्यति गगनमण्डलमनेकतारानिकरपरिकरितमर्द्धरात्रोपल-क्षितं, ततो ज्ञातवानात्मनो भ्रमं, हा ! मूढेन मया विरूपमाचरितं, धिग् मे लोभाभिभूतस्य जीवितं, भोः श्रावक ! सम्यक् कृतं त्वया यदहं सिंहकेसरप्रदानपूर्वं पूर्वार्द्धप्रत्याख्यानपरिपूर्णताप्रश्नेन संसारे निमज्जन् रक्षितः, सती मे त्वं चोदना, तत आत्मानं निन्दन् विधिना च मोदकान् परिष्ठापयन् तथा कथमपि ध्यानानलं प्रज्वालयितुं प्रवृत्तः यथा क्षणमात्रेण सकलान्यपि घातिकर्माण्युवोष, ततः प्रादुर्भूतं तस्य केवलज्ञानम् । सूत्रं सुगमम् । उक्तं लोभद्वारम्, अथ संस्तवद्वारमाह—

दुविहो उ संथवो खलु संबंधीवयणसंथवो चेव । एक्केक्कोवि य दुविहो पुव्विं पच्छा य नायव्वो ॥ ४८४ ॥

व्याख्या—द्विविधः खलु संस्तवः, तद्यथा—परिचयरूपः श्लाघारूपश्च, तत्र परिचयरूपः सम्बन्धिसंस्तवः श्लाघारूपो वचनसं-

उत्पादना-यां लोभ-पिण्डे सुव्र-तोदा०

॥१३९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्तवः । तत्र सम्बन्धिनो–मात्रादयः श्वश्रूवादयश्च तद्रूपतया यः संस्तवः स सम्बन्धिसंस्तवः, वचनं–श्लाघा तद्रूपो यः संस्तवः स वचनसंस्तवः, एकैकोऽपि च द्विधा, तद्यथा—'पुव्विं पच्छा य'त्ति पूर्वसंस्तवः पश्चात्संस्तवश्च । तत्र सम्बन्धिसंस्तवस्य द्विविधस्यापि स्वरूपमाह—

मायपिइ पुव्वसंथव सासूसुसराइयाण पच्छा उ । गिहि संथवसंबंधं करेइ पुव्वं च पच्छा वा ॥ ४८५ ॥

व्याख्या—मातापित्रादिरूपतया यः संस्तवः–परिचयः स पूर्वसंस्तवो, मात्रादीनां पूर्वकालभावित्वात्, यस्तु श्वश्रूश्वशुरादिरूपतया संस्तवः स पश्चात्संस्तवः, श्वश्रूवादीनां पश्चात्कालभावित्वात्, तत्र साधुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् गृहिभिः सह 'संस्तवसम्बन्धं' परिचयघटनं 'पूर्वं' पूर्वकालभावि मात्रादिरूपतया 'पश्चाद्वा' पश्चात्कालभावि श्वश्रूवादिरूपतया वा करोति । कथम्? इत्याह—

आयवयं च परवयं नाउं संबंधए तयणुरूवं । मम माया एरिसिया ससा व धूया व नत्ताई ॥ ४८६ ॥

व्याख्या—इह साधुर्भिक्षार्थं गृहे प्रविष्टः सन्नाहारलम्पटतयाऽऽत्मवयः परवयश्च ज्ञात्वा 'तदनुरूपं' वयोऽनुरूपं सम्बध्नाति, यदि सा वयोवृद्धा स्वयं च मध्यमवयाः ततो ममेदृशी माताऽभूदिति ब्रूते, यदि पुनः साऽपि मध्यमवयास्तत ईदृशी मम स्वसाऽभूदिति वदति, अथ बालवयास्ततो दुहिता नप्ता वेत्यादि । सम्प्रत्यस्यैव पूर्वरूपसम्बन्धिसंस्तवस्योदाहरणमाह—

अद्धिइ दिट्ठिपण्हव पुच्छा कहणं ममेरिसी जणणी । थणखेवो संबंधो विहवासुण्हाइदाणं च ॥ ४८७ ॥

व्याख्या—कोऽपि साधुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः काश्चिन्निजमातृसमानां स्त्रियमवेक्ष्याऽऽहारादिलम्पटतया मातृस्थानेनाधृत्या दृष्टिप्रस्न-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वम्–ईषदश्रुविमोचनं करोति, ततः 'पुच्छ'त्ति सा स्त्री पृच्छति, किं त्वमधृतो दृश्यसे? इति, ततः साधोः कथनं–मम 'ईदृशी' त्वत्सदृशी जनन्यभूदिति। अत्र दोषानाह–ततस्तया मातृत्वप्रकटनार्थं साधुमुखे स्तनप्रक्षेपः क्रियते, परस्परं च सम्बन्धः स्नेहबुद्धिरूपो जायते, तथा विधवास्नुषादिदानं च करोति–मृतपुत्रस्य स्थानेऽयं मे पुत्र इति बुद्ध्या स्वस्नुषादानं कुर्यात्, आदिशब्दात् स्नेहवशतो दास्यादिदानं च, उक्तं पूर्वसम्बन्धिसंस्तवोदाहरणं, एवं पश्चात्सम्बन्धिसंस्तवोदाहरणमपि भावनीयं। सम्प्रति पुनः पश्चात्सम्बन्धिसंस्तवे दोषानाह—

पच्छासंथवदोसा सासू विहवादिधूयदाणं च। भज्जा ममेरिसिच्चिय सज्जो घाउ वयभंगो वा ॥ ४८८ ॥

व्याख्या—पश्चात्सम्बन्धिसंस्तवयिमे दोषाः–श्वश्रूरीदृशी ममाऽऽसीदित्युक्ते सा विधवाया आदिशब्दात्कुरण्डादिरूपायाः सुताया दानं करोति, तथा भार्या ममेदृश्यभवदित्युक्ते यदीर्ष्यालुस्तद्भर्त्ता समीपे च वर्त्तते तदा मम भार्याऽनेन स्वभार्या कल्पितेति विचिन्त्य साधोर्घातं कुर्यात्, अथेर्ष्यालुस्तद्भर्त्ता न भवति समीपे वा न वर्त्तते तदा भार्याऽहमनेन कल्पितेत्युन्मत्ता भार्येव समाचरंती चित्तक्षोभमापादयेत्, ततो व्रतभङ्गः। एवं तावत्पूर्वसम्बन्धिसंस्तवस्य पश्चात्सम्बन्धिसंस्तवस्य च प्रत्येकमसाधारणान् दोषानभिधाय सम्प्रत्युभयोरपि साधारणानभिधित्सुराह—

मायावी चडुयारी अम्हं ओहावणं कुणइ एसो। निच्छुभणाई पंतो करिज्ज भेदेसु पडिबंधो ॥ ४८९ ॥

व्याख्या—अधृतिदृष्टिप्रस्खलादि कुर्वन्मायावी एषोऽस्माकमपवर्ज्जनानिमित्तं चाटूनि करोतीति निन्दा, तथाऽस्माकं स्वस्य कार्पटिकप्रायस्य जनन्यादिकल्पनेनापभ्राजनं विधत्ते, ततः एवं विचिन्त्य प्रान्तः स्वगृहनिष्काशनादि करोति, अथ ते गृहिणो भद्रा भवेयुस्तर्हि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तेषु भद्रेषु साधोरुपरि प्रतिबन्धो भवेत्, प्रतिबन्धे च सत्यायाकर्षादिकं कृत्वा दद्यादिति। उक्तो द्वितीयोऽपि सम्बन्धिसंस्तवः, अथ वचनसंस्तवस्य पूर्वरूपस्य लक्षणमाह—

गुणसंथवेण पुव्विं संतासंतेण जो थुणिज्जाहि। दायारमदिन्नंमी सो पुव्विंसंथवो हवइ ॥ ४९० ॥

व्याख्या—'गुणाः' औदार्यादयः तेषां यः 'संस्तवः' प्रशंसारूपो वचनसङ्घातस्तेन सत्यरूपेणासत्यरूपेण वा यः साधुर्दातव्ये भक्तादावदत्ते सति दातारं स्तूयात्, स एष पूर्वसंस्तवो भवति। अस्यैवोल्लेखं दर्शयति—

एसो सो जस्स गुणा वियरंति अवारिया दस दिसासु। इहरा कहासु सुणिमो पच्चक्खं अज्ज दिट्ठोऽसि ॥४९१॥

व्याख्या—सुगमं, नवरम् 'इहरा' इतरथा, इदानीं दर्शनात् पूर्वमित्यर्थः। सम्प्रति पश्चाद्रूपस्य वचनसंस्तवस्य लक्षणमाह—

गुणसंथवेण पच्छा संतासंतेण जो थुणिज्जाहि। दायारं दिन्नंमी सो पच्छासंथवो होइ ॥ ४९२ ॥

व्याख्या—दत्ते भक्तादौ सति पश्चाद्दातारं गुणसंस्तवेन सत्यरूपेणासत्यरूपेण वा यः साधुः स्तूयात् एष पश्चात्संस्तवो भवति। सम्प्रत्यस्यैवोल्लेखं दर्शयति—

विमली कयऽम्ह चक्खू जहत्थया वियरिया गुणा तुज्झं। आसि पुरा मे संका संपय निस्संकियं जायं ॥ ४९३ ॥

व्याख्या—भिक्षार्थं प्रविष्टः साधुर्लब्धे भक्तादौ दातारं वक्ति यथा निजदर्शनेन त्वया विमलीकृते नश्चक्षुषी, तथा यथार्थास्तव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥१४१॥

गुणाः सर्वत्रापि विचरिताः, तथा 'पुरा' पूर्वं मे शङ्काऽऽसीत्–याद्दग् गुणः श्रूयते स किं तादृशः एवोतान्यादृश इति ?, सम्प्रति तु त्वयि दृष्टे निःशङ्कितं मे हृदयं जातम् ॥ उक्तं संस्तवद्वारम्, अथ विद्यामन्त्राख्यं द्वारमाह—

विज्जामंतपरूवण विज्जाए भिक्खुवासओ होइ । मंतंमि सीसवेयण तत्थ मुरुंडेण दिट्ठंतो ॥ ४९४ ॥

व्याख्या—विद्यामन्त्रयोः प्ररूपणा कर्त्तव्या, सा चैवं–ससाधना स्त्रीरूपदेवताधिष्ठिता वाऽक्षरपद्धतिर्विद्या, असाधना पुरुषरूपदेवताधिष्ठिता वा मन्त्रः, 'तत्थ' त्ति तत्र विद्यायां भिक्षूपासको दृष्टान्तः, मन्त्रे शिरोवेदनायां मुरुण्डेन राज्ञोपलक्षितः पादलिप्तसूरिः । तत्र भिक्षूपासकदृष्टान्तं गाथाद्वयेन भावयति—

परिपिंडियमुल्लावो अइपंतो भिक्खुवासओ दावे । जइ इच्छह अणुजाणह घयगुलवत्थाणि दावेमि ॥ ४९५ ॥
गंतुं विज्जामंतण किं देमि ? घयं गुलं च वत्थाई । दिन्ने पडिसाहरणं केण हियं केण मुट्ठोमि ? ॥ ४९६ ॥

व्याख्या—गन्धसमृद्धे नगरे धनदेवो नाम भिक्षूपासकः, स च साधुभ्यो भिक्षार्थं गृहे समागतेभ्यो न किञ्चिदपि ददाति, अन्यदा च तरुणश्रमणानामेकत्र परिपिण्डितानां परस्परमुल्लापः, तत्रैकेनोक्तम्–अतिप्रान्तोऽयं धनदेवः संयतानां न किमपि ददाति, तदस्ति कोऽपि साधुर्य एनं घृतगुडादिकं दापयति, ततस्तेषां मध्ये केनाप्यूचे–यदीच्छथ ततोऽनुजानीध्वं मां येनाहं दापयामि, तैरनुज्ञातः, ततो गतस्तस्य गृहमभिमन्त्रितो विद्यया, ततो ब्रूते साधून्–किं प्रयच्छामि ?, तैरुक्तं–घृतगुडवस्त्रादि, ततो दापितं तेन संयतेभ्यः प्रचुरं घृतगुडादिकं, तदनन्तरं च प्रतिसंहृता क्षुल्लकेन विद्या, जातः स्वभावस्थो भिक्षूपासकः, ततो यावन्निभालयति घृतादिकं तावत्स्तोकं पश्यति, ततः केन

उत्पादनायां ११ संस्तवदोषः

॥१४१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मे हृतं घृतादि ? केनाहं मुषितोऽस्मि ? इति विलपितुं प्रवृत्तः, ततः परिजनेनोक्तं–युष्माभिरेव दापितं संयतेभ्यः तत्किं यूयमेवं भणथ ?, ततो मौनमवलम्ब्य स्थितः । अत्र दोषानुपदर्शयति—

पडिविज्ज थंभणाई सो वा अन्नो व से करिज्जाहि । पावाजीवीमाई कम्मणगारी य गहणाई ॥ ४९७ ॥

व्याख्या—यो विद्ययाऽभिमन्त्रितः स च स्वभावस्थो जातः सन् कदाचित्प्रद्विष्टोऽन्यो वा तत्पक्षपाती प्रद्विष्टः सन् प्रतिविद्यया 'स्तम्भनादि' स्तम्भनोच्चाटनमारणादि कुर्यात्, तथा 'पापाजीविनः' पापेन–विद्यादिना परद्रोहकरणरूपेण जीवनशीला मायिनः शठा इति लोके जुगुप्सा, तथा कार्मणकारिण इमे इति राजकुले ग्रहणाकर्षणवेषपरित्याजनकदर्थनमारणादि । सम्प्रति मन्त्रविषये मुरुण्डराजोपलक्षितपादलिप्तोदाहरणमाह—

जह जह पएसिणी जाणुगंमि पालित्तओ भमाडेइ । तह तह सीसे वियणा पणस्सइ मुरुंडरायस्स ॥ ४९८ ॥

व्याख्या—प्रतिष्ठानपुरे मुरुण्डो नाम राजा, पादलिप्ता नाम सूरयः, अन्यदा च मुरुण्डराजस्य बभूवातिशयेन शिरोवेदना, न केनापि विद्यामन्त्रादिभिरुपशमयितुं शक्यते, तत आकारिता राज्ञा पादलिप्ताः सूरयः, कृतास्तेषामागतानां महती प्रतिपत्तिः, कथितं चाकारणकारणं शिरोवेदना, ततो यथा लोको न जानीते तथा मन्त्रं ध्यायद्भिः प्रावरणमध्ये निजदक्षिणजानुशिरसि पार्श्वतो निजदक्षिणहस्तप्रदेशिनी यथा यथा भ्राम्यते तथा तथा राज्ञः शिरोवेदना अपगच्छति, ततः क्रमेणापगता सकलाऽपि शिरोवेदना, जातोऽतिशयेन सूरीणामुपासकः, ततो विपुलं भक्तपानादिकं तेभ्यो दत्तवान् । अत्र दोषानाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

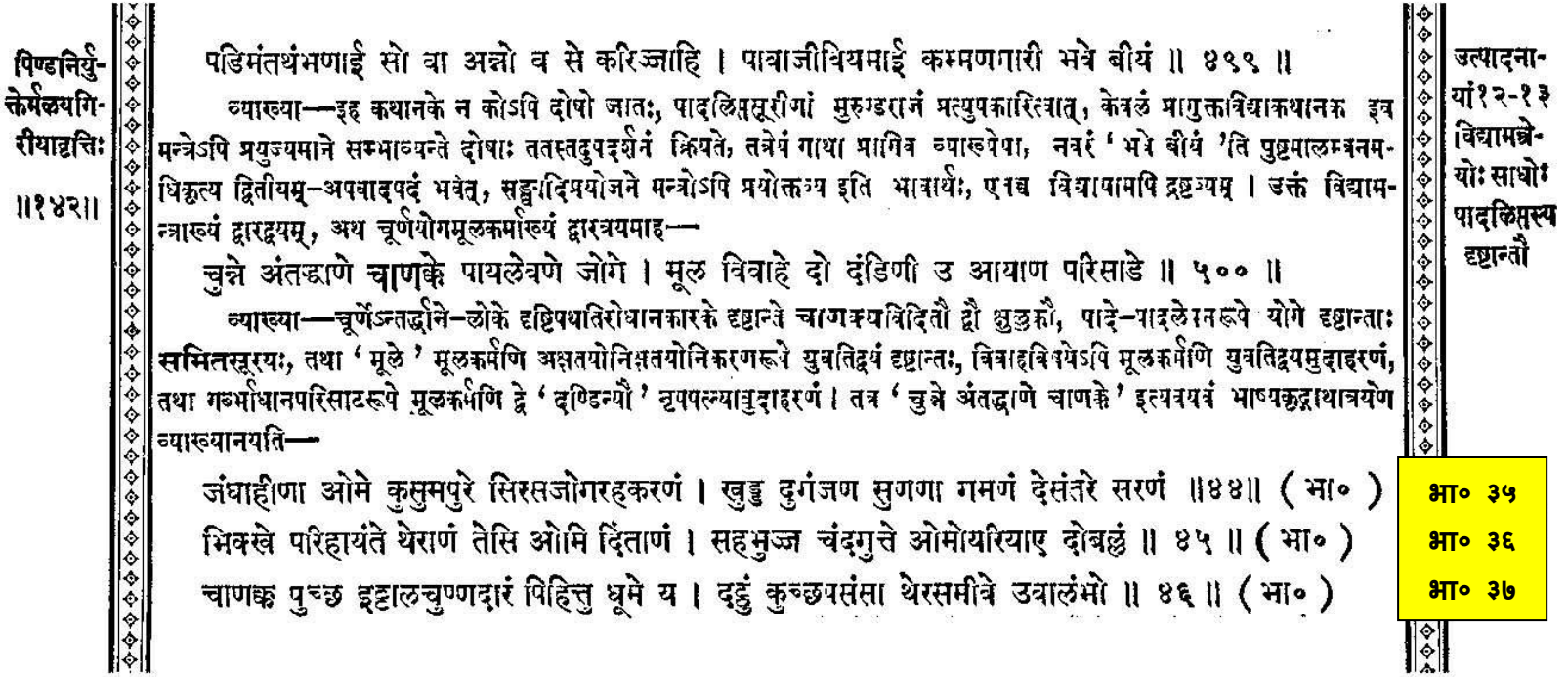

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥१४२॥

पडिमंतथंभणाई सो वा अन्नो व से करिज्जाहि । पावाजीवियमाई कम्मणगारी भवे बीयं ॥ ४९९ ॥

व्याख्या—इह कथानके न कोऽपि दोषो जातः, पादलिप्तसूरीणां मुरुण्डराजं प्रत्युपकारित्वात्, केवलं प्रागुक्तविद्याकथानक इव मन्त्रेऽपि प्रयुज्यमाने सम्भाव्यन्ते दोषाः ततस्तदुपदर्शनं क्रियते, तत्रेयं गाथा प्रागिव व्याख्येया, नवरं 'भवे बीयं 'ति पुष्टालम्बनमधिकृत्य द्वितीयम्–अपवादपदं भवेत्, सङ्घादिप्रयोजने मन्त्रोऽपि प्रयोक्तव्य इति भावार्थः, एतच्च विद्यायामपि द्रष्टव्यम् । उक्तं विद्यामन्त्राख्यं द्वारद्वयम्, अथ चूर्णयोगमूलकर्माख्यं द्वारत्रयमाह—

चुन्ने अंतद्धाणे चाणक्के पायलेवणे जोगे । मूल विवाहे दो दंडिणी उ आयाण परिसाडे ॥ ५०० ॥

व्याख्या—चूर्णेऽन्तर्द्धाने–लोकेन दृष्टिपथातिरोधानकारके दृष्टान्ते चाणक्यविदितौ द्वौ क्षुल्लकौ, पादे–पादलेपनरूपे योगे दृष्टान्ताः समितसूरयः, तथा 'मूले' मूलकर्मणि अक्षतयोनिक्षतयोनिकरणरूपे युवतिद्वयं दृष्टान्तः, विवाहविषयेऽपि मूलकर्मणि युवतिद्वयमुदाहरणं, तथा गर्भाधानपरिसाटरूपे मूलकर्मणि द्वे 'दण्डिन्यौ' नृपपत्न्यावुदाहरणं । तत्र 'चुन्ने अंतद्धाणे चाणक्के' इत्यवयवं भाष्यकृद्गाथात्रयेण व्याख्यानयति—

जंघाहीणा ओमे कुसुमपुरे सिरसजोगरहकरणं । खुड्ड दुगंजण सुगणा गमणं देसंतरे सरणं ॥४४॥ (भा०)

भिक्खे परिहायंते थेराणं तेसि ओमि दिंताणं । सहभुज्ज चंदगुत्ते ओमोयरियाए दोबल्लं ॥ ४५ ॥ (भा०)

चाणक्क पुच्छ इट्टालचुण्णदारं पिहित्तु धूमे य । दट्ठुं कुच्छपसंसा थेरसमीवे उवालंभो ॥ ४६ ॥ (भा०)

उत्पादनायां १२-१३ विद्यामन्त्रयोः साधोः पादलिप्तस्य दृष्टान्तौ

भा० ३५
भा० ३६
भा० ३७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

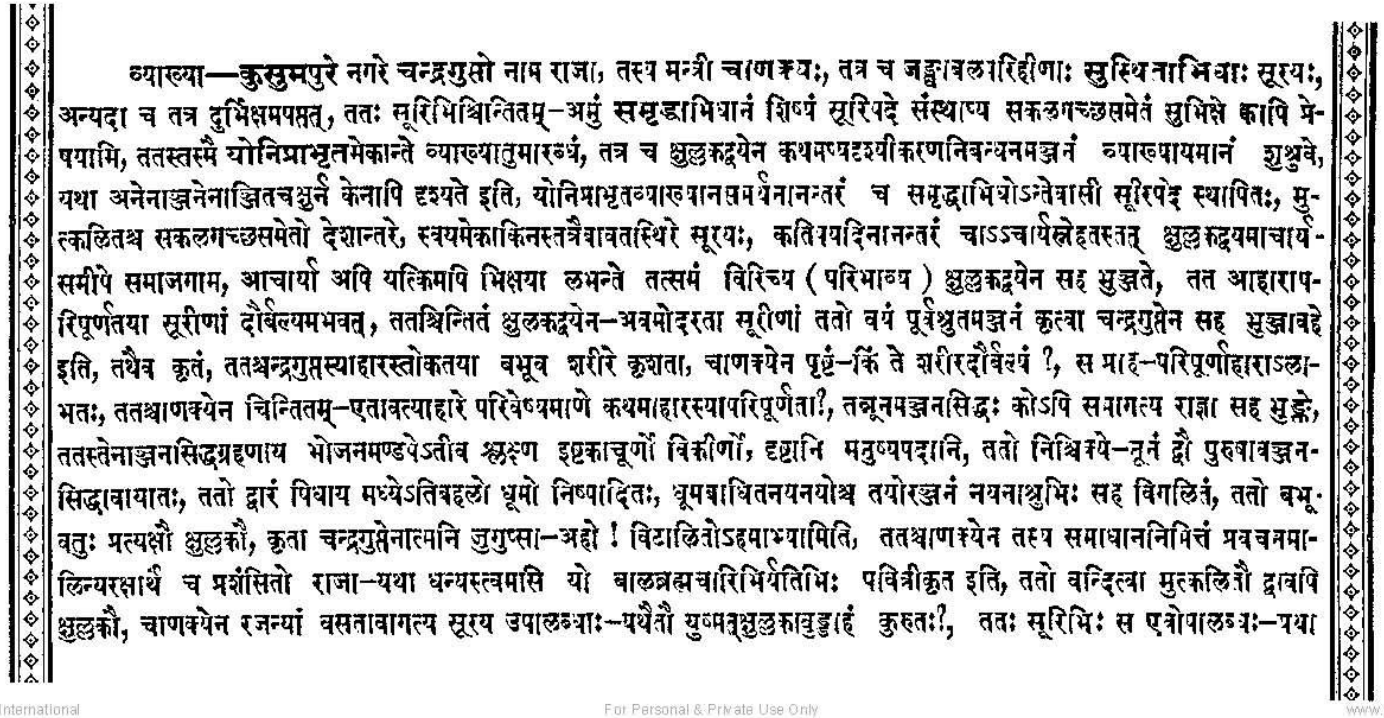

व्याख्या—कुसुमपुरे नगरे चन्द्रगुप्तो नाम राजा, तस्य मन्त्री चाणक्यः, तत्र च जङ्घाबलपरिहीणाः सुस्थितनामधेयाः सूरयः, अन्यदा च तत्र दुर्भिक्षमपपतत्, ततः सूरिभिश्चिन्तितम्–अमुं समृद्धाभिधानं शिष्यं सूरिपदे संस्थाप्य सकलगच्छसमेतं सुभिक्षे कापि प्रेषयामि, ततस्तस्मै योनिप्राभृतमेकान्ते व्याख्यातुमारब्धं, तत्र च क्षुल्लकद्वयेन कथमप्यदृश्यीकरणनिबन्धनमञ्जनं व्याख्यायमानं शुश्रुवे, यथा अनेनाञ्जनेनाञ्जितचक्षुर्न केनापि दृश्यते इति, योनिप्राभृतव्याख्यानसमर्थनानन्तरं च समृद्धाभिधोऽन्तेवासी सूरिपदे स्थापितः, मुक्तकलितश्च सकलगच्छसमेतो देशान्तरे, स्वयमेकाकिनस्तत्रैवावतस्थिरे सूरयः, कतिपयदिनानन्तरं चाऽऽचार्यस्नेहतस्तत् क्षुल्लकद्वयमाचार्यसमीपे समाजगाम, आचार्या अपि यत्किमपि भिक्षया लभन्ते तत्समं विरिच्य (परिभाज्य) क्षुल्लकद्वयेन सह भुञ्जते, तत आहारापरिपूर्णतया सूरीणां दौर्बल्यमभवत्, ततश्चिन्तितं क्षुलकद्वयेन–अवमोदरता सूरीणां ततो वयं पूर्वश्रुतमञ्जनं कृत्वा चन्द्रगुप्तेन सह भुञ्जावहे इति, तथैव कृतं, ततश्चन्द्रगुप्तस्याहारस्तोकतया बभूव शरीरे कृशता, चाणक्येन पृष्टं–किं ते शरीरदौर्बल्यं ?, स प्राह–परिपूर्णाहाराऽलाभतः, ततश्चाणक्येन चिन्तितम्–एतावत्याहारे परिवेष्यमाणे कथमाहारस्यापरिपूर्णता?, तन्नूनमञ्जनसिद्धः कोऽपि समागत्य राज्ञा सह भुङ्क्ते, ततस्तेनाञ्जनसिद्धग्रहणाय भोजनमण्डपेऽतीव श्लक्ष्ण इष्टकाचूर्णो विकीर्णो, दृष्टानि मनुष्यपदानि, ततो निश्चिक्ये–नूनं द्वौ पुरुषावञ्जनसिद्धावायातः, ततो द्वारं पिधाय मध्येऽतिबहलो धूमो निष्पादितः, धूमबाधितनयनयोश्च तयोरञ्जनं नयनाश्रुभिः सह विगलितं, ततो बभूवतुः प्रत्यक्षौ क्षुल्लकौ, कृता चन्द्रगुप्तेनात्मनि जुगुप्सा–अहो ! विटालितोऽहमाभ्यामिति, ततश्चाणक्येन तस्य समाधाननिमित्तं प्रवचनमालिन्यरक्षार्थं च प्रशंसितो राजा–यथा धन्यस्त्वमसि यो बालब्रह्मचारिभिर्यतिभिः पवित्रीकृत इति, ततो वन्दित्वा मुक्तकलितौ द्वावपि क्षुल्लकौ, चाणक्येन रजन्यां वसतावागत्य सूरय उपालब्धाः–यथैतौ युष्मत्क्षुल्लकावुड्डाहं कुरुतः?, ततः सूरिभिः स एवोपालब्धः–यथा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥१४३॥

त्वमेवात्रापराधकारी?, यो द्वयोरपि क्षुल्लकयोर्न निर्वाहं चिन्तयसि ?, स प्राह–भगवन्! एवमेतदिति पादयोर्निपत्य सूरयस्तेन क्षामिताः, कृता सकलस्यापि सङ्घस्य तत ऊर्ध्वं यथायोगं चिन्ता । सूत्रं सुगमम् । अत्रातिदेशतः साक्षाच्च दोषानाह—

जे विज्जमंतदोसा ते च्चिय वसिकरणमाइचुन्नेहिं । एगमणेगपओसं कुज्जा पत्थारओ वावि ॥ ५०१ ॥

व्याख्या—य एव विद्यायां मन्त्रे चोक्ता दोषास्त एव वशीकरणादिचूर्णेष्वपि द्रष्टव्याः, सूत्रे च तृतीया सप्तम्यर्थे, तथा चूर्णे प्रयुज्यमाने एकस्य चूर्णस्य प्रयोक्तुरनेकेषां वा साधूनामुपरि प्रद्वेषं कुर्यात्, ततस्तत्र भिक्षालाभाद्यसम्भवः, 'पत्थारओ वावि' नाशो वा भवेत्, अपिः समुच्चये, तदेवं 'चुन्ने अन्तद्धाणे चाणक्के' इति व्याख्यातं, तद्व्याख्यानाच्च चूर्ण इति द्वारं समर्थितं । इदानीं 'पायलेवणे जोग' इति व्याख्यानयन्नाह—

सूभगदुब्भग्गकरा जोगा आहारिमा य इयरे य । आघंसधूववासा पायपलेवाइणो इयरे ॥ ५०२ ॥

व्याख्या—योगाः 'सौभाग्यदौर्भाग्यकराः' जनप्रियत्वाप्रियत्वकराः, ते च द्विधा—आहार्या इतरे च, तत्र 'आहार्या' ये पानीयादिना सहाभ्यवहार्यन्ते तद्विपरीता इतरे, तत्राद्या 'आघर्षधूपवासा' ये पानीयादिना सह घर्षयित्वा पीयन्ते ते आघर्षाः, धूपवासाः–प्रतीताः । अथ चूर्णस्य वासानां च परस्परं कः प्रतिविशेषो ?, द्वयोरपि क्षोदरूपत्वाविशेषात्, उच्यते, सामान्यद्रव्यनिष्पन्नः शुष्क आर्द्रो वा क्षोदश्चूर्णः, सुगन्धद्रव्यनिष्पन्नाश्च शुष्कपेषम्पिष्टा वासाः, इतरे चानाहार्या योगाः पादप्रलेपनादयः । तत्राऽऽहार्यरूपस्य पादप्रलेपनरूपस्य योगस्य दृष्टान्तं गाथात्रयेण भावयति—

उत्पादनायां १४ चूर्णे क्षुल्लकद्वयो.

॥१४३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

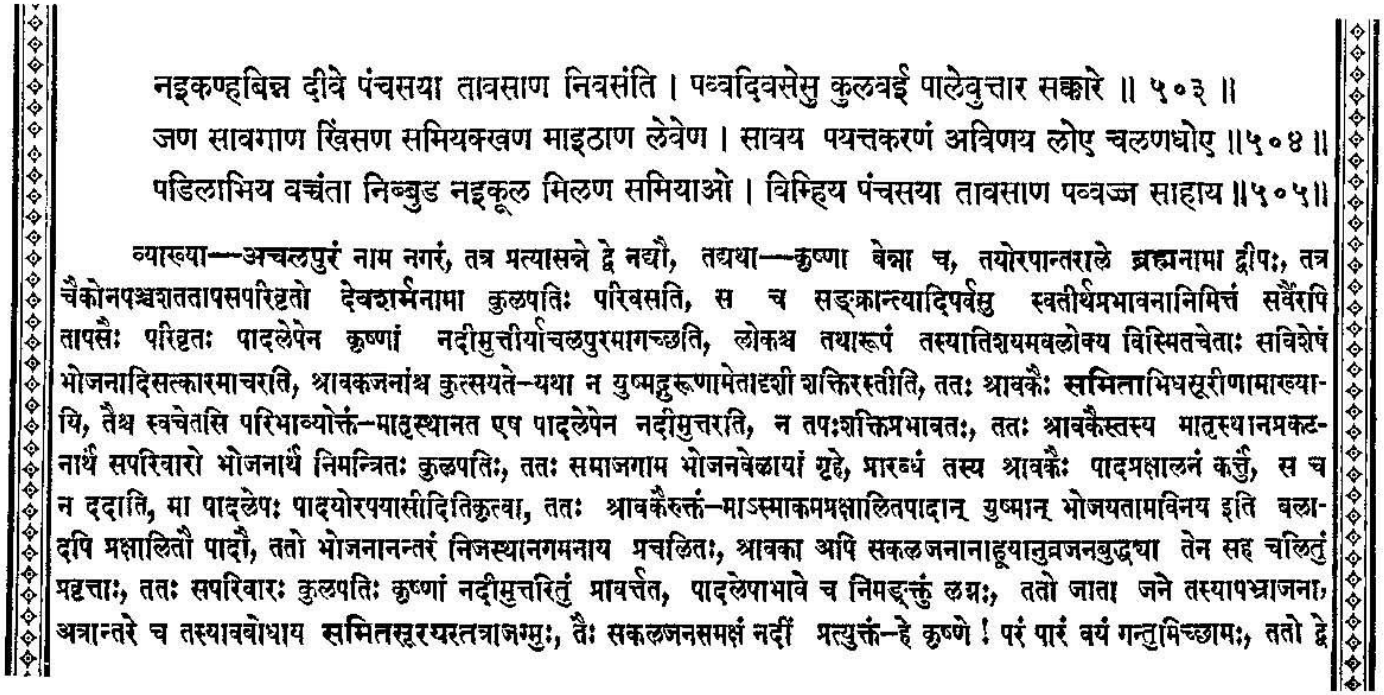

नइकण्हबिन्न दीवे पंचसया तावसाण निवसंति । पव्वदिवसेसु कुलवई पालेवुत्तार सक्कारे ॥ ५०३ ॥
जण सावगाण खिसण समियक्खण माइठाण लेवेण । सावय पयत्तकरणं अविणय लोए चलणधोए ॥५०४॥
पडिलाभिय वच्चंता निब्बुड नइकूल मिलण समियाओ । विम्हिय पंचसया तावसाण पव्वज्ज साहाय ॥५०५॥

व्याख्या—अचलपुरं नाम नगरं, तत्र प्रत्यासन्ने द्वे नद्यौ, तद्यथा—कृष्णा वेन्ना च, तयोरपान्तराले ब्रह्मनामा द्वीपः, तत्र चैकोनपञ्चशततापसपरिवृतो देवशर्मनामा कुलपतिः परिवसति, स च सङ्क्रान्त्यादिपर्वसु स्वतीर्थप्रभावनानिमित्तं सर्वैरपि तापसैः परिवृतः पादलेपेन कृष्णां नदीमुत्तीर्याचलपुरमागच्छति, लोकश्च तथारूपं तस्यातिशयमवलोक्य विस्मितचेताः सविशेषं भोजनादिसत्कारमाचरति, श्रावकजनांश्च कुत्सयते–यथा न युष्मद्गुरूणामेतादृशी शक्तिरस्तीति, ततः श्रावकैः समिताभिधसूरीणामाख्यायि, तैश्च स्वचेतसि परिभाव्योक्तं–मातृस्थानत एष पादलेपेन नदीमुत्तरति, न तपःशक्तिप्रभावतः, ततः श्रावकैस्तस्य मातृस्थानप्रकटनार्थं सपरिवारो भोजनार्थं निमन्त्रितः कुलपतिः, ततः समाजगाम भोजनवेलायां गृहे, प्रारब्धं तस्य श्रावकैः पादप्रक्षालनं कर्तुं, स च न ददाति, मा पादलेपः पादयोरपयासीदितिकृत्वा, ततः श्रावकैरुक्तं–माऽस्माकमप्रक्षालितपादान् युष्मान् भोजयतामविनय इति बलादपि प्रक्षालितौ पादौ, ततो भोजनानन्तरं निजस्थानगमनाय प्रचलितः, श्रावका अपि सकलजनानाहूयानुव्रजनबुद्ध्या तेन सह चलितुं प्रवृत्ताः, ततः सपरिवारः कुलपतिः कृष्णां नदीमुत्तरितुं प्रावर्त्तत, पादलेपाभावे च निमज्जितुं लग्नः, ततो जाता जने तस्यापभ्राजना, अत्रान्तरे च तस्यावबोधाय समितसूरयस्तत्राजग्मुः, तैः सकलजनसमक्षं नदीं प्रत्युक्तं–हे कृष्णे ! परं पारं वयं गन्तुमिच्छामः, ततो द्वे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| प्रत गाथांक नि/भा/प्र ॥६॥ दीप अनुक्रम [५४७] | पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥१४४॥

अपि कृष्णानद्याः कूले एकत्र मिलिते, जातो विस्मयो लोकस्य सपरिवारस्य च कुलपतेः, ततो गृहीता सपरिवारेण कुलपतिना दीक्षा, सा ब्रह्मशाखा बभूव। सूत्रं सुगमं। तदेवं 'पायलेवणे जोगे' इति व्याख्यातं, तद्व्याख्यानाच्च योगद्वारं समर्थितं। सम्प्रति 'मूल'त्ति व्याचिख्यासुराह—

अधिई पुच्छा आसन्न विवाहे भिन्नकन्नसाहणया। आयमणपियणओसह अक्खय जज्जीवअहिगरणं ॥ ५०६ ॥
जंघापरिजिय सड्ढी अद्धिइ आणिज्जए मम सवत्ती। जोगो जोणुग्घाडण पडिसेह पओस उड्डाहो ॥ ५०७ ॥

व्याख्या—क्वचित्पुरे धननाम्नः श्रेष्ठिनो भार्या धनप्रिया, तस्य दुहिता सुन्दरी, सा च भिन्नयोनिका, परमेनमर्थं माता जानाति न पिता, सा च पित्रा तत्रैव पुरे कस्यापीश्वरपुत्रस्य परिणयनाय दत्ता, समागतः प्रत्यासन्नो विवाहो, मातुश्चिन्ता बभूव एषा परिणीता सती यदि भर्ता भिन्नयोनिका ज्ञास्यते ततस्तेनोज्झिता वराकी दुःखमनुभविष्यति, अत्रान्तरे च समागतः कोऽपि संयतो भिक्षार्थं, तेन सा पृष्टा, तया कथितः सर्वोऽपि वृत्तान्तः, ततः साधुनोक्तं—मा भैषीरहमभिन्नयोनिकां करिष्यामि, तत आचमनौषधं पानौषधं च तस्यै प्रदत्तं, जाता अभिन्नयोनिका। तथा चन्द्राननायां पुरि धनदत्तः सार्थवाहस्तस्य भार्या चन्द्रमुखा, तयोश्चान्यदा परस्परं कलहः प्रवृत्तः, ततोऽभिनिवेशेन तन्नगरवास्तव्यस्यैव कस्यापीश्वरस्य दुहिता धनदत्तेन परिणयनार्थं वृता, ज्ञातश्चायं वृत्तान्तश्चन्द्रमुखया, ततो बभूव महती तस्या अधृतिः, अत्रान्तरे च जङ्घापरिजितनामा साधुरागतो भिक्षार्थं, दृष्टा तेनाधृतिं कुर्वती चन्द्रमुखा, ततः पृष्टा—किं भद्रे! त्वमधृतिमती दृश्यसे?, ततः कथितस्तया सपत्नीव्यतिकरः, ततः साधुना समर्पितं तस्या औषधं, भणिता च सा—कथमपि तस्या भक्तस्य पानस्य मध्ये देयं येन सा भिन्नयोनिका भवति, ततः स्वभर्त्रे निवेदयेः, येन सा न परिणीयते, तथैव कृतं, न परिणीता सा भर्त्रेति। सूत्रं सुगमं। नवरं

उत्पादनायां १५ योगे समिताचार्याः

॥१४४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	● अत्र एका प्रक्षेप-गाथा वर्तते. सा मया संपादित: 'आगमसुत्ताणि' मूलं एवं सटीकं उभये पुस्तके वर्तते

'जज्जीवम्' इति यावज्जीवमधिकरणं–मैथुनप्रवृत्तिः, 'पडिसेहि'त्ति साऽभिनवा परिणेतुमारब्धा भिन्नयोनिकेति ज्ञात्वा प्रतिषिद्धा। अयं चेदर्थस्तया ज्ञातो भवेत्, तर्हि तस्याः साधुं प्रति महान् प्रद्वेषो भवेत्, प्रवचनस्योड्डाहः। सम्प्रति 'विवाहे' इति पदं व्याख्यानयन्नाह—

मा ते फंसेज्ज कुलं अदिज्जमाणा सुया वयं पत्ता। धम्मो य लोहियस्सा जइ बिंदू तत्तिया नरया ॥ ५०८ ॥

किं न ठविज्जइ पुत्तो पत्तो कुलगोत्तकित्तिसंताणो। पच्छावि य तं कज्जं असंगहो मा य नासिज्जा ॥५०९॥

व्याख्या—क्वचिद्ग्रामे कोऽपि गृहपतिः, तस्य पुत्रिका वयःप्राप्ता, ततः कोऽपि साधुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् दृष्ट्वा तन्मातरमेवमभिदधाति—तव दुहिता वयःप्राप्ता–यौवनं प्राप्ता, तद्यदि सम्प्रति न परिणी(णाय्यते)यते तर्हि केनापि तरुणेन सहाकार्यं समाचर्य कुलमालिन्यमुत्पादयिष्यति, तथा 'धम्मो'त्ति लोके एवं श्रुतिः–यदि कुमारी ऋतुमती भवेत् तर्हि यावन्तस्तस्या रुधिरबिन्दवो निपतन्ति तावतो वारान् तन्माता नरकं याति। तथा क्वचिद्ग्रामे कस्यापि कुटुम्बिनः पुत्रं यौवनिकामधिगतमवलोक्य साधुस्तन्मातरमेवं ब्रूते–यथा कुलस्य गोत्रस्य कीर्त्तेश्च सन्तानो–निबन्धनमेष तव पुत्रो, यौवनं च प्राप्तः, ततः किं न सम्प्रति परिणाय्यते?, अपि च–परिणीतः सन् कलत्रस्नेहेन स्थिरो भवत्यपरिणीतश्च कयाऽपि स्वच्छन्दचारिण्या सहोत्थाय गच्छेत्, पश्चादपि चैष परिणाययितव्यः तत्सम्प्रत्यपि कस्मान्न परिणाय्यते? इति। सम्प्रति 'दो दंडिणीओ आयाणपरिसाडे' इत्यवयवं व्याचिख्यासुराह—

किं अद्धिइत्ति पुच्छा सवित्तिणी गब्भिणित्ति मे देवी। गब्भाहाणं तुज्झवि करोमि मा अद्धिइं कुणसु ॥५१०॥

जइवि सुओ मे होही तहवि कणिट्ठोत्ति इयरो जुवराया। देइ परिसाडणं से नाए य पओस पत्थारो ॥ ५११ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—संयुगं नाम नगरं, तत्र सिंधुराजो नाम राजा, तस्य सकलान्तःपुरप्रधाने द्वे पत्न्यौ, तद्यथा–शृङ्गारमतिर्जयसुन्दरी च, तत्रान्यदा बभूव शृङ्गारमतेर्गर्भाधानं, इतरा च जयसुन्दरी नूनमस्याः पुत्रो भविष्यतीति विचिन्त्य मात्सर्यवशादधृतिं कुर्वत्यवतिष्ठते, अत्रान्तरे च समागतः कोऽपि साधुः, तेन सा पपृच्छे–किं भद्रे! त्वमधृतिमती दृश्यसे?, ततः सा तस्मै सपत्न्या व्यतिकरमचकथत्, साधुरप्यब्रवीत्–मा कार्षीरधृतिं, तवापि गर्भाधानमहं करिष्ये, ततस्तयोक्तं–भगवन्! यद्यपि युष्मत्प्रसादेन मे पुत्रो भावी, तथापि स कनिष्ठत्वेन यौवराज्यं न प्राप्स्यति, किन्तु सपत्न्या एव सुतः, तस्य ज्येष्ठत्वात्, ततः साधुना तस्या भेषजमेकं गर्भाधानाय दत्तं, अपरं तु दापितं सपत्न्या गर्भशातनायेति। सूत्रं सुगमं। नवरमेतन्न कर्त्तव्यं, यतो गर्भशातने साधुकृते ज्ञाते सति प्रद्वेषो भवति, ततः शरीरस्यापि 'प्रस्तारः' विनाशः। सम्प्रति सर्वस्मिन्नपि मूलकर्मणि दोषान् प्रदर्शयति—

संखडिकरणे काया कामपवित्तिं च कुणइ एगत्थ। एगत्थुड्डाहाई जज्जिय भोगंतरायं च ॥ ५१२ ॥

व्याख्या—'संखडिकरणे मा ते फंसेज्ज कुलं' तथा 'किं न ठविज्ज' इत्यादिगाथाद्वयोक्ते वीवाहकरणे 'कायाः' पृथिव्यादयो विराध्यन्ते, एकत्र पुनरक्षतयोनिकत्वकरणे गर्भाधाने च कामप्रवृत्तिं करोति, गर्भाधानाद्धि पुत्रोत्पत्तौ प्रायः इष्टा भवति, ततः काम्या जायते, इति मैथुनसन्ततिः। एकत्र पुनर्गर्भपातने उड्डाहादि–प्रवचनमालिन्यात्मविनाशादि, एकत्र पुनः क्षतयोनिकत्वकरणे यावज्जीवं भोगान्तरायं, चशब्दादुड्डाहादि च, तदेवमभिहितं मूलकर्म तदभिधानाच्च व्याख्याता उत्पादनादोषाः, तद्व्याख्याने च समर्थिता गवेषणैषणा। सम्प्रति ग्रहणैषणायाः सम्बन्धमाह—

एवं तु गविट्ठस्सा उग्गमउप्पायणाविसुद्धस्स। गहणाविसोहिविसुद्धस्स होइ गहणं तु पिंडस्स ॥ ५१३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—' एवम् ' उक्तेन प्रकारेणोद्गमोत्पादनाविशुद्धस्य–उद्गमोत्पादनदोषरहितस्य गवेषितस्य पिण्डस्य ग्रहणं भवति 'ग्रहण-विशेषविशुद्धस्य' ग्रहणविषयशङ्कादिदोषाभावेन विशुद्धस्य, नान्यथा, ततो ग्रहणैषणादोषानहं वक्ष्ये इति भावः । ते च यत उत्पद्यन्ते तत्समुत्थान् दर्शयति—

उप्पायणाएँ दोसे साहूउ समुट्ठिए वियाणाहि । गहणेसणाइ दोसे आयपरसमुट्ठिए वोच्छं ॥ ५१४ ॥

व्याख्या—उत्पादनाया दोषान् साधुतः समुत्थितान् विजानीहि, ग्रहणैषणाया दोषाँस्त्वात्मपरसमुत्थितान् तानहं वक्ष्ये । तत्र ये आत्मसमुत्था ये च परसमुत्थास्तान् विभागतो दर्शयति—

दोन्नि उ साहुसमुत्था संकिय तह भावओऽपरिणयं च । सेसा अट्ठवि नियमा गिहिणो य समुट्ठिए जाण ॥५१५॥

व्याख्या—द्वौ दोषौ साधुसमुत्थितौ, तद्यथा—शङ्कितं भावतोऽपरिणतं च, एतच्च द्वयमपि वक्ष्यमाणस्वरूपं, शेषानष्टावपि दोषान् गृहिणः समुत्थितान् जानीहि । सम्प्रति ग्रहणैषणाया निक्षेपमाह—

नामं ठवणा दविए भावे गहणेसणा मुणेयव्वा । दव्वे वानरजूहं भावंमि य दसपया हुंति ॥ ५१६ ॥

व्याख्या—चतुर्द्धा ग्रहणैषणा, तद्यथा–नामग्रहणैषणा स्थापनाग्रहणैषणा द्रव्यग्रहणैषणा भावग्रहणैषणा च, तत्र नामस्थापने द्रव्यग्रहणैषणाऽपि यावद्द्रव्यशरीररूपा तावद्वेषणावद्वक्तव्या, ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तां तु द्रव्यग्रहणैषणामाह—' द्रव्ये ' द्रव्यग्रहणै-षणायामुदाहरणं वानरयूथं, भावग्रहणैषणा द्विधा, तद्यथा–आगमतो नोआगमतश्च, तत्राऽऽगमतो ज्ञाता तत्र चोपयुक्तः, नोआगमतस्तु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ एषणा विषयक दोष-संबंधी वर्णनं आरभ्यते

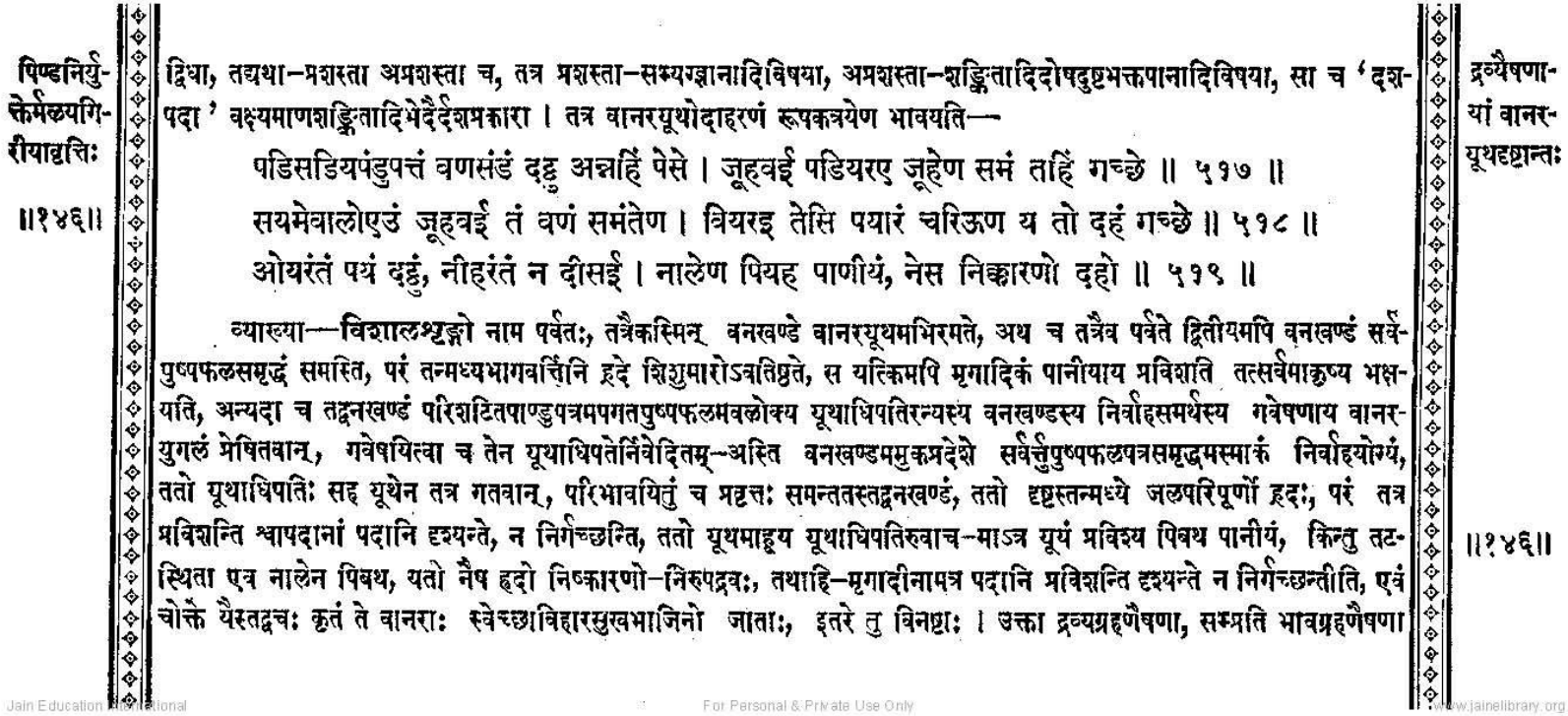

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥१४६॥

द्विधा, तद्यथा–प्रशस्ता अप्रशस्ता च, तत्र प्रशस्ता–सम्यग्ज्ञानादिविषया, अप्रशस्ता–शङ्कितादिदोषदुष्टभक्तपानादिविषया, सा च 'दश-पदा' वक्ष्यमाणशङ्कितादिभेदैर्दशप्रकारा । तत्र वानरयूथोदाहरणं रूपकत्रयेण भावयति—

पडिसडियपंडुपत्तं वणसंडं दट्ठु अन्नहिं पेसे । जूहवई पडियरए जूहेण समं तहिं गच्छे ॥ ५१७ ॥
सयमेवालोएउं जूहवई तं वणं समंतेण । वियरइ तेसि पयारं चरिऊण य तो दहं गच्छे ॥ ५१८ ॥
ओयरंतं पयं दट्ठुं, नीहरंतं न दीसई । नालेण पियह पाणीयं, नेस निक्कारणो दहो ॥ ५१९ ॥

व्याख्या—विशालशृङ्गो नाम पर्वतः, तत्रैकस्मिन् वनखण्डे वानरयूथमभिरमते, अथ च तत्रैव पर्वते द्वितीयमपि वनखण्डं सर्व-पुष्पफलसमृद्धं समस्ति, परं तन्मध्यभागवर्त्तिनि ह्रदे शिशुमारोऽवतिष्ठते, स यत्किमपि मृगादिकं पानीयाय प्रविशति तत्सर्वमाकृष्य भक्ष-यति, अन्यदा च तद्वनखण्डं परिशटितपाण्डुपत्रमपगतपुष्पफलमवलोक्य यूथाधिपतिरन्यस्य वनखण्डस्य निर्वाहसमर्थस्य गवेषणाय वानर-युगलं प्रेषितवान्, गवेषयित्वा च तेन यूथाधिपतेर्निवेदितम्–अस्ति वनखण्डममुकप्रदेशे सर्वर्त्तुपुष्पफलपत्रसमृद्धमस्माकं निर्वाहयोग्यं, ततो यूथाधिपतिः सह यूथेन तत्र गतवान्, परिभावयितुं च प्रवृत्तः समन्ततस्तद्वनखण्डं, ततो दृष्टस्तन्मध्ये जलपरिपूर्णो ह्रदः, परं तत्र प्रविशन्ति श्वापदानां पदानि दृश्यन्ते, न निर्गच्छन्ति, ततो यूथमाहूय यूथाधिपतिरुवाच–माऽत्र यूयं प्रविश्य पिबथ पानीयं, किन्तु तट-स्थिता एव नालेन पिबथ, यतो नैष ह्रदो निष्कारणो–निरुपद्रवः, तथाहि–मृगादीनामत्र पदानि प्रविशन्ति दृश्यन्ते न निर्गच्छन्तीति, एवं चोक्ते यैस्तद्वचः कृतं ते वानराः स्वेच्छाविहारसुखभाजिनो जाताः, इतरे तु विनष्टाः । उक्ता द्रव्यग्रहणैषणा, सम्प्रति भावग्रहणैषणा

द्रव्यैषणा-यां वानर-यूथदृष्टान्तः

॥१४६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वक्तव्या, तया चाधिकारोऽप्रशस्तया, पिण्डदोषाणां वक्तुं प्रक्रान्तत्वात्, सा च शङ्कितादिभेदादशप्रकारा, ततस्तानेव शङ्कितादीन् भेदान् प्रदर्शयति—

संकिय मक्खिय निक्खित्त पिहिय साहरिय दायगुम्मीसे । अपरिणय लित्त छड्डिय एसणदोसा दस हवंति ॥५२०॥

व्याख्या—'शङ्कितं' सम्भाविताधाकर्मादिदोषं 'प्रक्षिप्तं' सचित्तपृथिव्यादिनाऽवगुण्ठितं 'निक्षिप्तं' सचित्तस्योपरि स्थापितं 'पिहितं' सचित्तेन स्थगितं 'संहृतम्' अन्यत्र क्षिप्तं 'दायकं' दायकदोषदुष्टम् 'उन्मिश्रितं' पुष्पादिसम्मिश्रम् 'अपरिणतम्' अप्रासुकीभूतं, लिप्तं, 'छर्दितं' भूमावा वेडितं, एते दश एषणादोषा भवन्ति । तत्र शङ्कितपदं व्याचिख्यासुराह—

संकाए चउभंगो दोसुवि गहणे य भुंजणे लग्गो । जं संकियमावन्नो पणवीसा चरिमए सुद्धो ॥ ५२१ ॥

व्याख्या—'शङ्कायां' शङ्किते 'चतुर्भङ्गी' चत्वारो भङ्गाः, सूत्रे च पुंस्त्वनिर्देश आर्षत्वात्, सा चेयं चतुर्भङ्गी–ग्रहणे शङ्कितो भोजने चेति प्रथमो भङ्गः, ग्रहणे शङ्कितो न भोजने इति द्वितीयः, भोजने शङ्कितो न ग्रहणे इति तृतीयः, न ग्रहणे न भोजने इति चतुर्थः, अत्र दोषानाह–'दोसुवी'त्यादि, द्वयोरपि शङ्कितस्य ग्रहणभोजनयोरपि यो वर्त्तते यश्च 'गहणे य'त्ति ग्रहणेऽर्थापत्त्या न भोजने तथा भोजने सामर्थ्यान्न ग्रहणे स सर्वोऽपि 'लग्नो' दोषेण सम्बद्धः, केन दोषेण ?, इत्याह—'जं संकियं' इत्यादि, षोडशोद्गमदोषनवैषणादोषरूपाणां पञ्चविंशतिदोषाणां मध्ये येन दोषेण शङ्कितं–सम्भावितमापन्नः–वर्त्तते तेन दोषेण सम्बद्धः, इदमुक्तं भवति–यदाधाकर्मत्वेन शङ्कितं तद् गृह्णानो भुञ्जानो वाऽऽधाकर्मदोषेण सम्बध्यते, यदि पुनरौद्देशिकत्वेन तत औद्देशिकेनेत्यादि, चरमे चतुर्थभङ्गे पुनर्वर्त्तमानः शुद्धो, न केनापि दोषेण सम्बध्यते इत्यर्थः । इह 'पणवीसा' इत्युक्तं, ततस्तानेव पञ्चविंशतिं दोषानाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥१४७॥

उग्गमदोसा सोलस आहाकम्माइ एसणादोसा । नव मक्खियाइ एए पणयीसा चरिमए सुद्धो ॥ ५२२ ॥

व्याख्या—आधाकर्मादयः षोडश उद्गमदोषाः, नव च म्रक्षितादय एषणादोषाः, एते मिलिताः पञ्चविंशतिः, चरमे तु भङ्गे न ग्रहणे न भोजने इत्येवंरूपे वर्त्तमानो यतिः शुद्धः, यत इहाशुद्धमपि छद्मस्थपरीक्षया निःशङ्कितं गृहीतं शुद्धं भवतीति । एतदेवोपदर्शयति—

छउमत्थो सुयनाणी उवउत्तो उज्जुओ पयत्तेणं । आवन्नो पणवीसं सुयनाणपमाणओ सुद्धो ॥ ५२३ ॥

व्याख्या—छद्मस्थः श्रुतज्ञानी 'ऋजुकः' मायारहितः 'प्रयत्नेन' यथाऽऽगममादरेण गवेषयन् पञ्चविंशतेर्दोषाणामन्यतमदोषमापन्नोऽपि 'श्रुतज्ञानप्रमाणतः' आगमप्रामाण्येन शुद्धः । एनमेवार्थं स्पष्टयति—

ओहो सुओवउत्तो सुयनाणी जइवि गिण्हइ असुद्धं । तं केवलीवि भुंजइ अपमाण सुयं भवे इहरा ॥ ५२४ ॥

व्याख्या—'ओहो' इत्यत्र प्रथमा तृतीयार्थे, तत ओघेन–सामान्येन 'श्रुते' पिण्डनिर्युक्त्यादिरूपे आगमे उपयुक्तः संस्तदनुसारेण कल्प्याकल्प्यं परिभावयन् श्रुतज्ञानी यद्यपि कथमप्यशुद्धं गृह्णाति तथापि तत् 'केवल्यपि' केवलज्ञान्यपि भुञ्जीत, इतरथा श्रुतज्ञानमप्रमाणं भवेत्, तथाहि–छद्मस्थः श्रुतज्ञानबलेन शुद्धं गवेषयितुमीष्टे, न प्रकारान्तरेण, ततो यदि केवली श्रुतज्ञानिना यथाऽऽगमं गवेषितमप्यशुद्धमितिकृत्वा न भुञ्जीत ततः श्रुतेऽनाश्वासः स्यादिति न कोऽपि श्रुतं प्रमाणत्येन प्रतिपद्येत, श्रुतज्ञानस्य चाप्रामाण्ये सर्वक्रियाविलोपप्रसङ्गः, श्रुतमन्तरेण छद्मस्थानां क्रियाकाण्डस्य परिज्ञानासम्भवात् । ततः किम् ? इत्याह—

एषणायां-१ शङ्कित-दोषः

॥१४७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुत्तस्स अप्पमाणे चरणाभावो तओ य मोक्खस्स । मोक्खस्सऽविय अभावे दिक्खपवित्ती निरत्था उ ॥५२५॥

व्याख्या—सूत्रस्याप्रामाण्ये 'चरणस्य' चारित्रस्याभावः, श्रुतमन्तरेण यथावत् सावद्येतरविधिप्रतिषेधपरिज्ञानासम्भवात्, चरणाभावे च मोक्षाभावो, मोक्षाभावे च दीक्षा निरर्थिका, तस्या अनन्यार्थत्वात् । सम्प्रति 'ग्रहणे शङ्कितो भोजने चे'त्यस्य प्रथमभङ्गस्य सम्भवमाह—

किंतु(ति)ह खद्धा भिक्खा दिज्जइ न य तरइ पुच्छिउं हिरिमं । इअ संकाए घेत्तुं तं भुंजइ संकिओ चेव ॥५२६॥

व्याख्या—कोऽपि साधुः स्वभावतो लज्जावान् भवति, तत्र कापि गृहे भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् प्रचुरां भिक्षां लभमानः स्वचेतसि शङ्कते–किमत्र प्रचुरा भिक्षा दीयते?, न च लज्जया प्रष्टुं शक्नोति, तत एवं शङ्कया गृहीत्वा शङ्कित एव तद्भुङ्क्ते इति प्रथमभङ्गे वर्त्तते । सम्प्रति 'ग्रहणे शङ्कितो न भोजने' इति द्वितीयस्य भङ्गस्य सम्भवमाह—

हियएण संकिएणं गहिआ अन्नेण सोहिया सा य । पगयं पहेणगं वा सोउं निस्संकिओ भुंजे ॥ ५२७ ॥

व्याख्या—इह केनापि साधुना लज्जादिना प्रष्टुमशक्नुवता प्रथमतः शङ्कितेन हृदयेन या गृहीता भिक्षा साऽन्येन सङ्घाटकेन शोधिता–यथा 'प्रकृतं' प्रकरणं किमपि प्राघूर्णभोजनादिकं, यदिवा प्रहेणकं कुतश्चिदन्यस्माद्गृहादायातामिति, ततो द्वितीयसङ्घाटकादेतच्छ्रुत्वा यो निःशङ्कितो भुङ्क्ते स द्वितीये भङ्गे वर्त्तते । तृतीयभङ्गस्य सम्भवमाह—

जारिसए चिय लद्धा खद्धा भिक्खा मए अमुयगेहे । अन्नेहिंवि तारिसिया वियडंत निसामए तइए ॥ ५२८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—इह कोऽपि साधुर्लब्धप्रचुरभिक्षाको विकटयतां-गुरोरग्रतः सम्यगालोचयतामालोचनाश्रवणे सति शङ्कते-यादृश्येव मया भिक्षा प्रचुरा लब्धा तादृश्येवान्यैरपि सङ्घाटकैः, तन्नूनमेतदाधाकर्मादिदोषदुष्टं भविष्यतीति भुञ्जानो यतिस्तृतीये भङ्गे वर्त्तते । अत्र पर आह—

जइ संका दोसकरी एवं सुद्धंपि होइ अविसुद्धं । निस्संकमेसियंति य अणेसणिज्जंपि निद्दोसं ॥ ५२९ ॥

व्याख्या—यदि शङ्का दोषकरी तत एवं सतीदमायातं-शुद्धमपि शङ्कितं सत् तदशुद्धं भवति, शङ्कादोषदुष्टत्वात्, तथा अनेषणीयमपि निःशङ्कितमन्वेषितं शुद्धं प्राप्नोति, शङ्कारहितत्वात्, न चैवं युक्तं, स्वभावतः शुद्धस्याशुद्धस्य वा शङ्काभावाभावमात्रेणान्यथा कर्त्तुमशक्यत्वात् । तत्र आचार्य आह–सत्यमेतत्, तथाहि—

अविसुद्धो परिणामो एगयरे अवडिओ य पक्खंमि । एसिंपि कुणइ णेसिं अणेसिमेसिं विसुद्धो उ ॥ ५३० ॥

व्याख्या—अविशुद्धः 'परिणामः' अध्यवसायः, किं रूपोऽविशुद्धः ? इत्याह–एकतरस्मिन्नपि शुद्धमेवेदं भक्तादिकं यदिवाऽशुद्धमेवेत्यन्यतरस्मिन्नपि पक्षेऽपतन् 'एसिंपि 'त्ति एषणीयमपि–शुद्धमपि करोति अनेषणीयम्–अशुद्धं, विशुद्धस्तु परिणामो यथोक्ताऽऽगमविधिना गवेषयतः शुद्धमेवेदमित्यध्यवसायः अनेषणीयमपि–स्वभावतोऽशुद्धमपि शुद्धं करोति, श्रुतज्ञानस्य प्रामाण्यात्, तस्मान्न कश्चित् प्रागुक्तो दोषः । तदेवमुक्तं शङ्कितद्वारम्, अधुना म्रक्षितद्वारमाह—

दुविहं च मक्खियं खलु सच्चित्तं चेव होइ अचित्तं । सच्चित्तं पुण तिविहं अच्चित्तं होइ दुविहं तु ॥ ५३१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—अक्षितं द्विधा, तद्यथा–सचित्तमचित्तं च, सचितअक्षितमचित्तअक्षितं चेत्यर्थः, तत्र यत्सचित्तेन पृथिव्यादिनाऽवगुण्डितं तत्साचित्तं, यत्पुनरचित्तेन पृथिवीरजःप्रभृतिनाऽवगुण्डितं तदचित्तं, तत्र 'सचित्तं' सचित्तअक्षितं पुनस्त्रिधा। एतदेव व्याख्यानयति—

पुढवी आउ वणरसइ तिविहं सच्चित्तमक्खियं होइ । अच्चित्तं पुण दुविहं गरहियमियरे य भयणा उ ॥५३२॥

व्याख्या—सचित्तअक्षितं त्रिधा, तद्यथा-पृथिवीकायअक्षितमप्कायअक्षितं वनस्पतिकायअक्षितं च, सूत्रे च पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् पृथिव्यादिमिश्रितं पृथिवीत्याद्युक्तम्। अचित्तं–अचित्तअक्षितं पुनर्द्विविधं, तद्यथा–गर्हितमितरच्च, तत्र 'गर्हितं' वसादिना लिप्तम्, इतरद् घृतादिना, अत्र च कल्प्याकल्प्यविधौ 'भजना' विकल्पना, सा चाग्रे वक्ष्यते। सम्प्रति सचित्तपृथिवीकायअक्षितं प्रपञ्चतो भावयति—

सुक्केण सरक्खेणं मक्खियय मोल्लेण पुढविकाएण । सव्वंपि मक्खियं तं एत्तो आउंमि वोच्छामि ॥ ५३३ ॥

व्याख्या—इह सचित्तपृथिवीकायो द्विधा, तद्यथा–शुष्क आर्द्रश्च, तत्र शुष्केण सरजस्केनातीव श्लक्ष्णतया भस्मकल्पेन यद्देयं पात्रं हस्तो वा अक्षितो यच्चार्द्रेण पृथिवीकायेन सचित्तेन अक्षितं तत्सर्वं हस्तादि अक्षितं–सचित्तपृथिवीकायअक्षितमवगन्तव्यं, अत ऊर्द्ध्वमप्कायविषये अक्षितं वक्ष्यामि—

पुरपच्छकम्म ससिणिद्धुदउल्ले चउरो आउभेयाओ ।

व्याख्या—अप्काये-अप्कायअक्षिते चत्वारो भेदाः, तद्यथा-पुरःकर्म पश्चात्कर्म सस्निग्धमुदकार्द्रं च, तत्र भक्तादेर्दानात् पूर्वं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यत्साध्वर्थं कर्म हस्तमात्रादेर्जलप्रक्षालनादि क्रियते तत्पुरःकर्म । यत्पुनर्भक्तादेर्दानात्पश्चात्क्रियते तत्पश्चात्कर्म । साम्प्रतम्–ईषल्लक्ष्यमाणजलखरण्टितं हस्तादि, उदकार्द्रं स्पष्टोपलभ्यमानसंसर्गं । सम्प्रति वनस्पतिकायम्रक्षितं प्रपञ्चयति—

उक्किट्ठरसालित्तं परित्तऽणंतं महिरुहेसु ॥ ५३४ ॥

व्याख्या—' उत्कृष्टरसानि ' प्रचुररसोपेतानि यानि ' परित्तानां ' प्रत्येकवनस्पतीनां चूतफलादीनाम्, अनन्तानाम्–अनन्तकायिकानां च पनसफलादीनां सद्यःकृतानि श्लक्ष्णखण्डानि इति सामर्थ्याद्गम्यते, तैः ' आलिप्तं ' खरण्टितं यद्धस्तादि, तन्महीरुहेषु, अत्र च तृतीयार्थे सप्तमी, महीरुहैर्म्रक्षितमवसेयं, ' परित्तणंतं ' इत्यत्र प्राकृतत्वाद्विभक्तिवचनव्यत्यय इति षष्ठीबहुवचनं व्याख्यातं ।

सेसेहिं काएहिं तीहिवि तेऊसमीरणतसेहिं । सच्चित्तं मीसं वा न मक्खितं अत्थि उल्लं वा ॥ ५३५ ॥

व्याख्या—शेषैस्तेजःसमीरणत्रसरूपैस्त्रिभिरपि सचित्तरूपं मिश्ररूपमार्द्रतारूपं वा म्रक्षितं न भवति, सचित्तादितेजस्कायादिसंसर्गेऽपि लोके म्रक्षितशब्दप्रवृत्त्यदर्शनात्, अचित्तैस्तु तैर्भस्मादिरूपैः पृथिवीकायेनेव म्रक्षितत्वसम्भव इति न तस्य प्रतिषेधः, वातकायेन त्वचित्तेनापि न म्रक्षितत्वं घटते, तथा लोके प्रतीत्यभावात् । सम्प्रति सचित्तपृथिवीकायादिम्रक्षिते हस्तमात्रे आश्रित्य भङ्गान् कल्प्याकल्प्यविधिं च प्रतिपादयति—

सच्चित्तमक्खियंमी हत्थे मत्ते य होइ चउभंगो । आइतिए पडिसेहो चरिमे भंगे अणुन्नाओ ॥ ५३६ ॥

व्याख्या—' सचित्तैः ' पृथिवीकायादिभिर्म्रक्षिते हस्ते मात्रे च ' चतुर्भङ्गी ' चत्वारो भङ्गाः, सूत्रे च पुंस्त्वनिर्देश आर्षत्वात्,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ते च चत्वारो भङ्गा अमी, तद्यथा–हस्तो अक्षितो मात्रं च, हस्तो अक्षितो न मात्रं, मात्रं अक्षितं न हस्तः, नापि मात्रं नापि हस्तः तत्राऽऽदिमे भङ्गत्रिके प्रतिषेधो, न कल्पते ग्रहीतुमिति भावः, चरमे भङ्गे पुनरनुज्ञातो यतिस्तीर्थकरगणधरैः, तत्र दोषाभावात् । अचित्तमक्षितमाश्रित्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह—

अच्चित्तमक्खियंमि उ चउसुवि भंगेसु होइ भयणा उ। अगरहिएण उ गहणं पडिसेहो गरहिए होइ ॥५३७॥

व्याख्या—अचित्तमक्षितेऽपि हस्तमात्रे अधिकृत्य प्राग्वच्चत्वारो भङ्गाः, तत्र च चतुर्ष्वपि भङ्गेषु 'भजना' विकल्पना, तामेवाह–'अगर्हितेन' लोकानिन्दितेन घृतादिना अक्षिते ग्रहणं, गर्हितेन तु वसादिना अक्षिते भवति प्रतिषेधः, तत्रापि चतुर्थो भङ्गः शुद्ध एवेति ग्रहणम् । अगर्हितमक्षितमप्यधिकृत्य विशेषमाह—

संसज्जिमेहिं वज्जं अगरहिएहिंपि गोरसदवेहिं । महुघयतेल्लगुलेहि य मा मच्छिपिपीलियाघाओ ॥ ५३८ ॥

व्याख्या—संसक्तिमद्भ्यां तन्मध्यनिपतितजीवयुक्ताभ्यां 'गोरसद्रवाभ्यां' दध्यादिपानकाभ्यामगर्हिताभ्यामपि अक्षितं अक्षिताभ्यां हस्तमात्राभ्यां वा दीयमानं 'वर्ज्यं' परिहार्यं, न ग्रहीतव्यमित्यर्थः, तथा मधुघृततैलद्रवगुडैरगर्हितैरपि अक्षितं अक्षिताभ्यां वा हस्तमात्राभ्यां दीयमानं वर्ज्यं, कुत इत्याह–'मा मच्छिपिपीलियाघाओ' मा मक्षिकापिपीलिकानाम्, उपलक्षणमेतत्, पतङ्गादीनां वातादिवशतो लग्नानां घातो–विनाशो भूदितिकृत्वा, एतच्चोत्कृष्टानुष्ठानं जिनकल्पिकाद्यधिकृत्योक्तमवसेयं, स्थविरकल्पिकास्तु यथाविधि यतनया घृताद्यपि गुडादिअक्षितमशोकवर्ज्यादपि च गृह्णन्ति ॥ सम्प्रति गर्हितागर्हितविशेषमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||५३९||

दीप अनुक्रम [५८१]

मंसवससोणियासय लोए वा गरहिएहिवि वज्जेज्जा । उभओऽवि गरहिएहिं मुत्तुच्चारेहिं छित्तंपि ॥ ५३९ ॥

व्याख्या—मांसवसाशोणितासवैः अत्र सूत्रे विभक्तिलोप आर्षत्वात्, लोके गर्हितैरपि, वाशब्दः पूर्वापेक्षया समुच्चये, अक्षितं वर्जयेत्, तथा 'उभयस्मिन्नपि' लोके लोकोत्तरे च गर्हिताभ्यां मूत्रोच्चाराभ्यामास्तां अक्षितं स्पृष्टमपि वर्जयेत् । उक्तं अक्षितद्वारम्, अथ निक्षिप्तद्वारमाह—

सच्चित्त मीसएसु दुविहं कायेसु होइ निक्खित्तं । एक्केक्कं तं दुविहं अणंतर परंपरं चेव ॥ ५४० ॥

व्याख्या—इह कायेषु निक्षिप्तं द्विधा, तद्यथा–'सचित्तेषु' पृथिव्यादिषु मिश्रेषु च । एकैकमपि द्विधा, तद्यथा–अनन्तरं परम्परं च, तत्र 'अनन्तरम्' अव्यवधानेन 'परम्परं' व्यवधानेन, यथा सचित्तपृथिवीकायस्योपरि स्थापनिका तस्या उपरि देयं वस्त्विति, इह परिहार्यापरिहार्यविभागं विना सामान्यतो निक्षिप्तं सचित्ताचित्तमिश्ररूपभेदात्त्रिधा, तत्र च त्रय(तिस्र)श्चतुर्भङ्ग्यः, तद्यथा–सचित्ते सचित्तं १ मिश्रे सचित्तं २ सचित्ते मिश्रं ३ मिश्रे मिश्र ४ मित्येका चतुर्भङ्गी, तथा सचित्ते सचित्तम् अचित्ते सचित्तं सचित्तेऽचित्तम् अचित्ते अचित्तमपि द्वितीया चतुर्भङ्गी, तथा मिश्रे मिश्रम् अचित्ते मिश्रं मिश्रेऽचित्तम् अचित्तेऽचित्तमिति तृतीया चतुर्भङ्गी । सम्प्रत्यत्रैवानन्तरपरम्परविभागमाह—

पुढवी आउक्काए तेऊवाउवणस्सइतसाणं । एक्केक्क दुहाणंतर परंपरगणंमि सत्तविहा ॥ ५४१ ॥

व्याख्या—पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायानां सचित्तानां प्रत्येकं सचित्तपृथिव्यादिषु निक्षेपः सम्भवति, तत्र पृथिवीकायस्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निक्षेपः षोढा, तद्यथा–पृथिवीकायस्य पृथिवीकाये निक्षेप इत्येको भेदः, पृथिवीकायस्याप्काये इति द्वितीयः, पृथिवीकायस्य तेजस्काये इति तृतीयः, वातकाये इति चतुर्थः, वनस्पतिकाये इति पञ्चमः, त्रसकाये इति षष्ठः । एवमप्कायादीनामपि निक्षेपः प्रत्येकं षोढा भावनीयः, सर्वसङ्कलनया षट्त्रिंशद्भङ्गाः, एकैकोऽपि च भेदो द्विधा, तद्यथा–अनन्तरः परम्परया च, अनन्तरपरम्परव्याख्यानं च प्रागेव कृतं, केवलमग्निकाये पृथिव्यादीनां निक्षेपः सप्तधा, एतच्च स्वयमेव वक्ष्यति ॥ सम्प्रति पृथिवीकाये निक्षेपस्य यदुक्तं प्राक् षोढात्वं तत्सूत्रकृत्साक्षाद्दर्शयति—

सच्चित्त पुढविकाए सच्चित्तो चेव पुढविनिक्खित्तो । आऊतेउवणस्सइसमीरणतसेसु एमेव ॥ ५४२ ॥

व्याख्या—सचित्ते पृथिवीकाये सचित्तः पृथिवीकायो निक्षिप्तः, एवमेव–पृथिवीकाये इवाप्तेजोवनस्पतिसमीरणत्रसेषु सचित्त एव पृथिवीकायो निक्षिप्त इति पृथिवीकायनिक्षेपः षोढा । एवं शेषकायेष्वप्यतिदेशमाह—

एमेव सेसयाणवि निक्खेवो होइ जीवकाएसुं । एक्केक्को सट्ठाणे परठाणे पंच पंचेव ॥ ५४३ ॥

व्याख्या—'एवमेव' पृथिवीकायस्येव 'शेषाणाम्' अप्कायादीनां निक्षेपो भवति 'जीवनिकायेषु' पृथिव्यादिषु, तत्रैकैको भङ्गः स्वस्थाने शेषाः पञ्च पञ्च परस्थाने, तथाहि–पृथिवीकायस्य पृथिवीकाये निक्षेपः स्वस्थाने, अप्कायादिषु शेषेषु पञ्चसु परस्थाने, एवमप्कायादीनामपि भावनीयं, ततः स्वस्थाने एकैको भङ्गः, परस्थाने पञ्च पञ्च, तदेवं प्रथमचतुर्भङ्गिकायाः सचित्ते सचित्तमित्येवंरूपे प्रथमे भङ्गे षट्त्रिंशद्भेदाः ॥ सम्प्रति प्रथमचतुर्भङ्ग्या एव शेषं भङ्गत्रयं द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्ग्यौ चातिदेशतः प्रतिपादयति—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥१५१॥

एमेव मीसएसुवि मीसाण सचेयणेसु निक्खेवो । मीसाणं मीसेसु य दोण्हंपि य होइऽचित्तेसु ॥ ५४४ ॥

व्याख्या—'एवमेव' सचित्तेषु सचित्तमिव 'मिश्रेष्वपि' मिश्रपृथिव्यादिष्वपि सचित्तपृथिव्यादिनिक्षेपः षट्त्रिंशद्भेदोऽवगन्तव्यः, एतेन प्रथमचतुर्भङ्ग्या द्वितीयो भङ्गो व्याख्यातः, तथा एवमेव सचेतनेषु-सचित्तपृथिव्यादिषु मिश्राणां पृथिव्यादीनां निक्षेपः षट्त्रिंशद्भेदः, एतेन प्रथमचतुर्भङ्ग्यास्तृतीयो भङ्गो व्याख्यातः, एवमेव मिश्राणां पृथिव्यादीनां मिश्रेषु पृथिव्यादिषु निक्षेपः षट्त्रिंशद्भेदः, अनेन प्रथमचतुर्भङ्ग्याश्चतुर्थो भङ्गो व्याख्यातः, सर्वसङ्ख्यया प्रथमचतुर्भङ्ग्यां चतुश्चत्वारिंशं भङ्गशतम्, एवमेव द्वयोरपि सचित्तमिश्रयोरचित्तेषु निक्षिप्यमाणयोर्ये द्वे चतुर्भङ्ग्यौ प्रागुक्ते, तत्रापि प्रत्येकं चतुश्चत्वारिंशं भङ्गशतं भवति, सर्वसङ्ख्यया भङ्गानां शतानि चत्वारि द्वात्रिंशदधिकानि भवन्ति, उक्ता निक्षेपस्य भेदाः । सम्प्रत्यस्यैव निक्षेपस्य पूर्वोक्तं चतुर्भङ्गीत्रयमधिकृत्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह—

जत्थ उ सचित्तमीसे चउभंगो तत्थ चउसुवि अगिज्झं । तं तु अणंतर इयरं परित्तऽणंतं च वणकाए ॥ ५४५ ॥

व्याख्या—यत्र निक्षेपे सचित्तमिश्रे आश्रित्य चतुर्भङ्गी भवति, प्रथमा चतुर्भङ्गी भवतीत्यर्थः, तत्र चतुर्ष्वपि भङ्गेषु अपिशब्दाद्वितीयतृतीयचतुर्भङ्ग्योरप्याद्येषु त्रिषु भङ्गेषु वर्त्तमानमनन्तरं परम्परं च वनस्पतिविषये प्रत्येकमनन्तं वा तत्सर्वमग्राह्यं, सामर्थ्याद् द्वितीयतृतीयचतुर्थभङ्ग्योश्चतुर्थे भङ्गे वर्त्तमानं ग्राह्यं, तत्र दोषाभावात् । सम्प्रति सचित्तादिभिस्त्रिभिरपि मतान्तरेणैकामेव चतुर्भङ्गीं कल्प्याकल्प्यविधिं च प्रदर्शयति—

अहव ण सचित्तमीसो उ एगओ एगओ उ अचित्तो । एत्थं चउक्कभेओ तत्थाइतिए कहा नत्थि ॥ ५४६ ॥

एषणायां निक्षिप्तदोषः ॥१५१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—'अथवे'ति प्रकारान्तरताद्योतकः, णेति वाक्यालङ्कारे, इह चतुर्भङ्गी प्रतिपक्षपदोपन्यासे भवति, तत्रैकस्मिन् पक्षे सचित्तमिश्रे, एकत्र तु पक्षेऽचित्तः, ततः प्राक्तनक्रमेण चतुर्भङ्गी भवति, तद्यथा–सचित्ते सचित्तमिश्रम्, अचित्ते सचित्तमिश्रं, सचित्तमिश्रेऽचित्तम्, अचित्तेऽचित्तमिति, अत्रापि प्रागिवैकैकस्मिन् भङ्गे पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसभेदात् षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशद्भेदाः, सर्वसङ्ख्यया चतुश्चत्वारिंशं भङ्गशतं, तत्र 'आदित्रिके' आदिमे भङ्गत्रये 'कथा नास्ति' ग्रहणे वार्त्ता न विद्यते, सामर्थ्याच्चतुर्थे भङ्गे कल्पते ॥ तदेवं 'पृथिवी'त्यादिमूलगाथायाः पूर्वार्द्धं व्याख्यातं, सम्प्रति 'एक्केकि दुहाणंतरम्' इत्यवयवं व्याचिख्यासुर्द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गयोः सत्कस्य तृतीयस्य तृतीयस्य भङ्गस्य सामान्यतोऽशुद्धस्य विषये विशेषं विभणिषुरनन्तरपरम्परमार्गणां करोति—

जं पुण अचित्त दव्वं निक्खिप्पइ चेयणेसु मीसेसु । तहिं मग्गणा उ इणमो अणंतरपरंपरा होइ ॥ ५४७ ॥

व्याख्या—यत्किमपि अचित्तं द्रव्यमोदनादि 'चेतनेषु' सचित्तेषु मिश्रेषु वा निक्षिप्यते तत्रेयमनन्तरं परम्परया वा मार्गणा परिभावनं भवति । तदेवाह—

ओगाहिमायणंतर परंपरं पिढरगाइ पुढवीए । नवणीयाइ अणंतर परंपरं नावमाईसु ॥ ५४८ ॥

व्याख्या—'अवगाहिमादि' पक्वान्नमण्डकप्रभृति पृथिव्यामानन्तर्येण स्थापितमनन्तरनिक्षिप्तं, पृथिव्या एवोपरि स्थिते पिठरकादौ यन्निक्षिप्तमवगाहिमादि तत्परम्परनिक्षिप्तं, एष पृथिवीकायमाश्रित्यानन्तरपरम्परया निक्षेप उक्तः । सम्प्रत्यप्कायमाश्रित्याह—'नवणी'त्यादि, नवनीतादि–घ्रक्षणस्त्यानीभूतघृतादि सचित्तादिरूपे उदके निक्षिप्तमनन्तरनिक्षिप्तं, तदेव नवनीताद्यवगाहिमादि वा जलमध्यस्थि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तेषु नावादिषु स्थितं परम्परनिक्षिप्तं । सम्प्रति तेजःकायमधिकृत्यानन्तरपरम्परे व्याख्यानयन् 'अगणिंमि सत्तविहो' इत्यवयवं व्याख्यानयति—

विज्झायमुम्मुरिंगालमेव अप्पत्तपत्तसमजाले । वोक्कंते सत्तदुगं जंतोलित्ते य जयणाए ॥ ५४९ ॥

व्याख्या—इह सप्तधा वह्निः, तद्यथा—विध्यातो मुर्म्मुरोऽङ्गारोऽप्राप्तः प्राप्तः समज्वालो व्युत्क्रान्तश्च। तत्र यः स्पष्टतया प्रथमं नोपलभ्यते पश्चात्त्विन्धनप्रक्षेपे प्रवर्द्धमानः स्पष्टमुपलभ्यते स विध्यातः, आपिङ्गला अर्धविध्याता अग्निकणा मुर्मुरः, ज्वालारहितो वह्निरङ्गारः, यः पुनश्चुल्ल्या उपरि स्थापितं पिठरं ज्वालाभिर्न प्राप्नोति सोऽप्राप्तः, यः पुनर्ज्वालाभिः पिठरं बुध्ने स्पृशति स प्राप्तः, यः पुनः पिठरस्य बुध्नादूर्ध्वमपि यावत्कर्णौ ज्वालाभिः स्पृशति स समज्वालः, यस्य पुनर्ज्वालाः पिठरकर्णाभ्यामूर्ध्वमपि गच्छन्ति स व्युत्क्रान्तः, एते सप्त भेदास्तेजःकायस्य, तत्रैकैकस्मिन् भेदे द्विकं, तद्यथा—अनन्तरनिक्षिप्तं परम्परनिक्षिप्तं च, तत्र यद्विध्यातादिरूपे वह्नौ मण्डकादि निक्षिप्तं तदनन्तरनिक्षिप्तं, यत्पुनरग्नेरुपरि स्थापिते पिठरादौ निक्षिप्तं तत्परम्परनिक्षिप्तं, तत्र सप्तानां भेदानां मध्ये यमेव तमेव वा भेदमधिकृत्य 'यन्त्रे' इक्षुरसपाकस्थाने कटाहादौ 'अवलिप्ते' मृत्तिकाखरण्टिते यतनया परिशाटिपरिहारेण ग्रहणमिक्षुरसस्य कल्पते । सम्प्रत्येनामेव गाथां व्याख्यानयन् प्रथमतो विध्यातादीनां स्वरूपं गाथाद्वयेनाह—

विज्झाउत्ति न दीसइ अग्गी दीसेइ इंधणे छूढे । आपिंगल अगणिकणा मुम्मुर निज्जाल इंगाले ॥ ५५० ॥
अप्पत्ता उ चउत्थे जाला पिढरं तु पंचमे पत्ता । छट्ठे पुण कण्णसमा जाला समइच्छिया चरिमे ॥ ५५१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—सुगमं । नवरम् 'अप्पत्ता उ चउत्थे जाला' इति चतुर्थेऽप्राप्ताख्ये भेदे पिठरमप्राप्ता ज्वाला द्रष्टव्या, एवमन्यत्राप्यक्षरगमनिका कार्या । सम्प्रति 'जंतोलित्ते य जयणाए' इत्यवयवं व्याचिख्यासुराह—

पासोलित्त कडाहे परिसाडी नत्थि तंपि य विसालं । सोवि य अचिरच्छूढो उच्छुरसो नाइउसिणो य ॥५५२॥

व्याख्या—इह यदीति सर्वत्राध्याहियते, यदि कटाहः—पिठरविशेषः सर्वतः पार्श्वेषु मृत्तिकयाऽवलिप्तो भवति दीयमाने चेक्षुरसे यदि परिशाटिनोपजायते तदपि च कटाहरूपं भाजनं यदि 'विशालं' विशालमुखं भवति, सोऽपि चेक्षुरसोऽचिरक्षिप्त इतिकृत्वा यदि नात्युष्णो भवति तदा स दीयमान इक्षुरसः कल्पते, इह यदि दीयमानस्येक्षुरसस्य कथमपि बिन्दुर्बहिः पतति तर्हि स लेप एवावर्त्तते, न तु चुल्लीमध्यस्थिततेजस्कायमध्ये पतति ततः पार्श्वावलिप्त इति कटाहस्य विशेषणमुक्तं, तथा विशालमुखादाकृष्यमाण उदश्चनः पिठरस्य कर्णे न लगति ततो न पिठरस्य भङ्ग इति न तेजःकायविराधनेति विशालग्रहणम्, अनत्युष्णग्रहणे तु कारणं स्वयमेव वक्ष्यति । सम्प्रत्युदकमधिकृत्य विशेषमाह—

उसिणोदगंपि घेप्पइ गुडरसपरिणामियं अणच्चुसिणं । जं च अघट्टियकन्नं घट्टियपडणंमि मा अग्गी ॥ ५५३ ॥

व्याख्या—उष्णोदकमपि गुडरसपरिणामितमनत्युष्णं गृह्यते, किमुक्तं भवति?—यत्र कटाहे गुडः पूर्वं क्वथितो भवति, तस्मिन्निक्षिप्तं जलमीषत्तप्तमपि कटाहसंसक्तगुडरसमिश्रणात् सत्वरमचित्तीभवति, ततस्तदनत्युष्णमपि कल्पते, अत्रापि पार्श्वावलिप्तकटाहस्थितमपरिशाटिमचेति विशेषणद्वयमनुपात्तमपि द्रष्टव्यं, तथा 'यदघट्टितकर्णं' न यस्मिन् दीयमाने पिठरस्य कर्णावुदश्चनेन प्रविशता निर्गच्छता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

॥१५३॥

वा घट्टचेते तद्दीयमानं कल्पते, तत इत्याह–' घट्टियपडणंमि मा अगणी ' उदश्चनेन प्रविशता निर्गच्छता वा पिठरस्य कर्णयोर्घट्टयमानयोर्लेपस्योदकस्य वा पतनेन माऽग्निर्विराध्यतेतिकृत्वा, एतेन च वक्ष्यमाणषोडशभङ्गानामाद्यो भङ्गो दर्शितः । सम्प्रति तानेव षोडश भङ्गान् दर्शयति—

पासोलित्तकडाहेऽनच्चुसिणे अपरिसाडऽघट्टंते । सोलसभंगविगप्पा पढमेऽणुन्ना न सेसेसु ॥ ५५४ ॥

व्याख्या—पार्श्वावलिप्तः कटाहः, अनत्युष्णो दीयमान इक्षुरसादिः, अपरिशाटिः परिशाट्यभावः, ' अघट्टंते ' इति उदश्चनेन पिठरकर्णाघट्टने, इत्यमूनि चत्वारि पदान्यधिकृत्य षोडश भङ्गा भवन्ति । भङ्गानां चानयनार्थमियं गाथा—

पयसमदुगअब्भासे माणं भंगाण तेसिमा रयणा । एगंतरियं लहुगुरु दुगुणा दुगुणा य वामेसु ॥ ५५५ ॥

अस्या व्याख्या—इह यावतां पदानां भङ्गा आनेतुमिष्यन्ते तावन्तो द्विका ऊर्ध्वाधःक्रमेण स्थाप्यन्ते, ततस्तेषामभ्यासे सति यदन्तिमे द्विके समागच्छति तद्भङ्गानां ' मानं ' प्रमाणं, तथाहि–इह चतुर्णां पदानां भङ्गा आनेतुमिष्टास्ततश्चत्वारो द्विका ऊर्ध्वाधःक्रमेण स्थाप्यन्ते, ततः प्रथमो द्विको द्वितीयेन द्विकेन गुण्यते, जाताश्चत्वारः, तैस्तृतीयो द्विको गुण्यते जाता अष्टौ, तैरपि चतुर्थो द्विको गुण्यते, जाताः षोडश, एतावन्तश्चतुर्णां पदानां भङ्गा भवन्ति, तेषां च पुनर्भङ्गानामेषा रचना, प्रथमपङ्क्तावेकान्तरितं लघुगुरु, प्रथमं लघु ततो गुरु, पुनर्लघु पुनर्गुरु, एवं यावत् षोडशो भङ्गः, ततः प्रज्ञापकापेक्षया ' वामेषु ' वामपार्श्वेषु द्विगुणद्विगुणा लघुगुरवः, तद्यथा–द्वितीयपङ्क्तौ प्रथमं द्वौ लघू ततो द्वौ गुरू ततो भूयोऽपि द्वौ लघू एवं यावत्षोडशो भङ्गः, तृतीयपङ्क्तौ प्रथमं चत्वारो लघवः, ततश्चत्वारो गुरवः,

॥१५३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ततः पुनरधश्चत्वारो लघवस्ततश्चत्वारो गुरवः, चतुर्थपङ्क्त्यां प्रथममष्टौ लघवस्ततोऽष्टौ गुरवः । स्थापना चेयं–।।।। ।।।ऽ ।।ऽ।ऽऽ ।ऽ।। ।ऽ।ऽ ।ऽऽ। ।ऽऽऽ ऽ।।। ऽ।।ऽ ऽ।ऽ। ऽ।ऽऽ ऽऽ।। ऽऽ।ऽ ऽऽऽ। ऽऽऽऽ अत्र ऋजवः अंशाः शुद्धा वक्राश्चाशुद्धाः, इह षोडशानां भङ्गानामाद्ये भङ्गेऽनुज्ञा, न शेषेषु पञ्चदशसु भङ्गेषु । सम्प्रत्यत्युष्णग्रहणे दोषानाह—

दुविहविराहण उसिणे छड्डण हाणी य भाणभेओ य ।

व्याख्या—'उण्हे' अत्युष्णे इक्षुरसादौ दीयमाने द्विधा विराधना, आत्मविराधना परविराधना च, तथाहि–यस्मिन् भाजने तदत्युष्णं गृह्णाति तेन तप्तं सद्भाजनं हस्तेन साधुर्गृह्णन् दह्यते इत्यात्मविराधना । येनापि स्थापितेन स्थानेन सा दात्री ददाति तेनाप्यत्युष्णेन सा दह्यत इति । तथा 'छड्डणे हाणी य'त्ति अत्युष्णमिक्षुरसादि कष्टेन दात्री दातुं शक्नोति, कष्टेन च दाने कथमपि साधुसत्कभाजनाद्बहिरुज्झने हानिर्दीयमानस्येक्षुरसादेः, तथा 'भाणभेओ' इति तस्य भाजनस्य साधुना वसतावानयनायोत्पाटितस्य पतद्ग्रहादेर्दात्र्या वा दानायोत्पाटितस्योदञ्चनस्य गण्डरहितस्यात्युष्णतया झगिति भूमौ मोचने भङ्गः स्यात्, तथा च षड्जीवनिकायविराधनेति संयमविराधना । सम्प्रति वातकायमधिकृत्यानन्तरपरम्परे दर्शयति—

वाउक्खित्ताणंतरपरंपरा पप्पडिय वत्थी ॥ ५५६ ॥

व्याख्या—'वातोत्क्षिप्ताः' समीरणोत्पादिताः 'पर्पटिकाः' शालिपर्पटिका अनन्तरनिक्षिप्तं, परम्परनिक्षिप्तं 'वत्थि'त्ति विभक्तिलोपाद्वस्तौ, उपलक्षणमेतत्, समीरणापूरितवस्तिदृतिप्रभृतिष्ववस्थितं मण्डकादि । सम्प्रति वनस्पतित्रसविषयं द्वित्रिचमपि निक्षिप्तमाह–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हरियाइअणंतरिया परंपरं पिढरगाइसु वणंमि । पूपाइ पिट्ठणंतर भरए कुउबाइसू इयरा ॥ ५५७ ॥

व्याख्या—'वने' वनस्पतिविषये 'अनन्तरनिक्षिप्तं' हरितादिषु सचित्तव्रीहिकाप्रभृतिषु अनन्तरिता निक्षिप्ता अपूपादय इति शेषः, हरितादीनामेवोपरि स्थितेषु पिठरादिषु निक्षिप्ता अपूपादयः परम्परनिक्षिप्तं, तथा बलीवर्दादीनां पृष्ठेऽनन्तरनिक्षिप्ता अपूपादयस्तस्येष्वनन्तरनिक्षिप्तं, बलीवर्दादिपृष्ठ एव भरके कुतुपादिषु वा भाजनेषु निक्षिप्ता मोदकादयः परम्परनिक्षिप्तम् । इह सर्वत्रानन्तरनिक्षिप्तं न ग्राह्यं, सचित्तसङ्घट्टनादिदोषसम्भवात्, परम्परनिक्षिप्तं तु सचित्तसङ्घट्टनादिपरिहारेण यतनया ग्राह्यमिति सम्प्रदायः । उक्तं निक्षिप्तद्वारम्, अथ पिहितद्वारमाह—

सच्चित्ते अच्चित्ते मीसग पिहियंमि होइ चउभंगो । आइतिगे पडिसेहो चरिमे भंगंमि भयणा उ ॥ ५५८ ॥

व्याख्या—इह 'सचित्ते' इत्यादौ सप्तमी तृतीयार्थे, ततोऽयमर्थः—सचित्तेनाचित्तेन मिश्रेण वा पिहिते चतुर्भङ्गी भवति, अत्र जातावेकवचनं, तेन तिस्रश्चतुर्भङ्ग्यो भवन्तीति द्रष्टव्यं, तत्रैका सचित्तमिश्रपदाभ्यां, द्वितीया सचित्ताचित्तपदाभ्यां, तृतीया मिश्राचित्तपदाभ्यां, तत्र सचित्तेन सचित्तं पिहितं, मिश्रेण सचित्तं, सचित्तेन मिश्रं, मिश्रेण मिश्रमिति प्रथमा चतुर्भङ्गी, तथा सचित्तेन सचित्तं पिहितम्, अचित्तेन सचित्तं, सचित्तेनाचित्तम्, अचित्तेनाचित्तमिति द्वितीया चतुर्भङ्गी, तथा मिश्रेण मिश्रं पिहितं, मिश्रेणाचित्तम्, अचित्तेन मिश्रम्, अचित्तेनाचित्तमिति तृतीया । तत्र गाथापर्यन्ततुशब्दवचनात् प्रथमचतुर्भङ्ग्यां सर्वेष्वपि भङ्गेषु न कल्पते, द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गिकयोस्तु प्रत्येकमादिमेषु २ त्रिषु भङ्गेषु न कल्पते इत्यर्थः, चरमे तु भङ्गे भजना, सा च 'गुरुगुरुणे'त्यादिना स्वयमेव वक्ष्यति । सम्प्रति चतुर्भङ्गीत्रयविषयावान्तरभङ्गकथनेऽतिदेशमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जह चेव उ निक्खित्ते संजोगा चेव होंति भंगा य । एमेव य पिहियंमिवि नाणत्तमिणं तइयभंगे ॥ ५५९ ॥

व्याख्या—यथैव 'निक्षिप्त' इति निक्षिप्तद्वारे सचित्ताचित्तमिश्राणां संयोगाः प्रागुक्ताः यथैव च सचित्तपृथिवीकायः सचित्तपृथिवीकायस्योपरि निक्षिप्त इत्येवं स्वस्थानपरस्थानापेक्षया चतुर्भङ्गीत्रयभङ्गेष्वेकैकस्मिन् भङ्गे षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशद्भेदा उक्ताः, सर्वसङ्ख्यया चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि, तथाऽत्रापि पिहितद्वारे द्रष्टव्याः, तथाहि–प्रागिवात्रापि चतुर्भङ्गीत्रयम्, एकैकस्मिंश्च भङ्गे सचित्तः पृथिवीकायः सचित्तपृथिवीकायेन पिहित इत्यादिरूपतया स्वस्थानपरस्थाने अधिकृत्य षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशद्भेदाः, सर्वसङ्ख्यया (शतानि) चत्वारि द्वात्रिंशदधिकानि भङ्गानां । नवरं द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्ग्योः प्रत्येकं तृतीये भङ्गेऽनन्तरपरम्परमार्गणविधौ निक्षिप्तद्वारादिदं—वक्ष्यमाणं नानात्वमवसेयं, निक्षिप्तेऽन्येन प्रकारेणानन्तरपरम्परमार्गणा कृता अत्र त्वन्येन प्रकारेण करिष्यते इति भावः । तत्र सचित्तपृथिवीकायेनावष्टब्धं मण्डकादि सचित्तपृथिवीकायानन्तरपिहितं, सचित्तपृथिवीकायगर्भपिठरादिपिहितं सचित्तपृथिवीकायपरम्परपिहितं, तथा हिमादिनाऽवष्टब्धं मोदकादि सचित्ताप्कायानन्तरपिहितं हिमादिगर्भपिठरादिना पिहितं सचित्ताप्कायपरम्परपिहितं । सचित्ततेजस्कायादिपिहितमनन्तरं परम्परं च गाथाद्वयेनाह—

अंगारधूवियाई अणंतरो संतरो सरावाई । तत्थेव अइर वाऊ परंपरं बत्थिणा पिहिए ॥ ५६० ॥

अइरं फलाइपिहितं वणंमि इयरं तु छब्बपिठराई । कच्छवसंचाराई अणंतराणंतरे छट्ठे ॥ ५६१ ॥

व्याख्या—इह यदा स्थाल्यादौ संस्वेदिमादीनां मध्येऽङ्गारं स्थापयित्वा हिङ्ग्वादिना वासो दीयते तदा तेनाङ्गारेण केषाञ्चि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्संस्वेदिमादीनां संस्पर्शोऽस्तीति ता अनन्तरपिहिताः, आदिशब्दाच्चनकादिकं मुर्मुरादिक्षिप्तमनन्तरपिहितमवगन्तव्यम्, अङ्गारभूतेन शरावादिना स्थगितं पिठरादि परम्परपिहितं । तथा 'तत्रैव' अङ्गारभूपितादौ 'अइर'त्ति अतिरोहितमनन्तरपिहितं वायोर्द्रष्टव्यं, 'यत्राग्निस्तत्र वायु'रिति वचनात्, समीरणभूतेन तु बस्तिना, उपलक्षणमेतत्, बस्तिदृतिप्रभृतिना पिहितं परम्परपिहितमवसेयं । तथा 'वने' वनस्पतिकायविषये फलादिना 'अइर'त्ति अतिरोहितेन पिहितमनन्तरपिहितं, 'छब्बपिठरादौ' छब्बकस्थाल्यादौ स्थितेन फलादिना पिहितम् 'इयरं'ति परम्परपिहितं । तथा 'त्रसे' त्रसकायविषये कच्छपेन सञ्चारादिना च–कीटिकापङ्क्त्यादिना यत्पिहितं तदनन्तरपिहितं, कच्छपसञ्चारादिगर्भपिठरादिना पिहितं परम्परपिहितम्, इहानन्तरपिहितमकल्प्यं, परम्परपिहितं तु यतनया ग्राह्यं । यदुक्तं–'चरमे भंगंमि भयणा उ' इति, तद्व्याख्यानयन्नाह—

गुरु गुरुणा गुरु लहुणा लहुयं गुरुएण दोऽवि लहुयाइं । अचित्तेणवि पिहिए चउभंगो दोसु अग्गेज्झं ॥ ५६२ ॥

व्याख्या—'अचित्तेनापि' अचित्ते देये वस्तुनि पिहिते 'चतुर्भङ्गी' चत्वारो भङ्गाः, तद्यथा–गुरु गुरुणा पिहितमित्येको भङ्गः, गुरु लघुनेति द्वितीयः, लघु गुरुणेति तृतीयः, 'दोवि लहुयाइं'ति लघु लघुना पिहितमिति चतुर्थः । एतेषु च चतुर्षु भङ्गेषु मध्ये द्वयोः-प्रथमतृतीययोर्भङ्गयोरग्राह्यं, गुरुद्रव्यस्योत्पाटने कथमपि तस्य पाते पादादिभङ्गसम्भवात्, ततः पारिशेष्याद् द्वितीयचतुर्थयोर्ग्राह्यमुक्तदोषाभावात्, देयवस्त्वाधारस्य पिठरादेर्गुरुत्वेऽपि ततः करोटिकादिना दानसम्भवात् । उक्तं पिहितद्वारम्, अथ संहृतद्वारमाह—

सच्चित्ते अचित्ते मीसग साहारणे य चउभंगो । आइतिए पडिसेहो चरिमे भंगंमि भयणा उ ॥ ५६३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—इह येन मात्रकेण कृत्वा भक्तादिकं दातुमिच्छति दात्री तत्रान्यददातव्यं किमपि सचित्तमचित्तं मिश्रं वाऽस्ति ततस्तदन्यत्र भूम्यादौ क्षिप्त्वा तेनान्यद्ददाति, तच्च कदाचित्सचित्तेषु पृथिव्यादिषु मध्ये क्षिपति कदाचिदचित्तेषु कदाचिन्मिश्रेषु, क्षेपणं च संहरणमुच्यते, ततः संहरणे सचित्ताद्यधिकृत्य चतुर्भङ्गी, अत्र जातावेकवचनं, तिस्रश्चतुर्भङ्ग्यो भवन्तीत्यर्थः, तथाहि–एका–चतुर्भङ्गी सचित्तमिश्रपदाभ्यां, द्वितीया सचित्ताचित्तपदाभ्यां, मिश्राचित्तपदाभ्यां तृतीयेति, तत्र सचित्ते सचित्तं संहृतं मिश्रे सचित्तं सचित्ते मिश्रं मिश्रे मिश्रमिति प्रथमा चतुर्भङ्गी, तथा सचित्ते सचित्तं संहृतम्, अचित्ते सचित्तं, सचित्तेऽचित्तम्, अचित्तेऽचित्तमिति द्वितीया, तथा मिश्रे मिश्रं संहृतम्, अचित्ते मिश्रं, मिश्रेऽचित्तम्, अचित्तेऽचित्तमिति तृतीया। अत्र गाथापर्यन्ततुशब्दसामर्थ्यात्प्रथमचतुर्भङ्गीकायाः सर्वेष्वपि भङ्गेषु प्रतिषेधः, द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गीकयोस्तु 'आदित्रिके' आदिमेषु त्रिषु त्रिषु भङ्गेषु प्रतिषेधः, चरमे भजना। अधुना चतुर्भङ्गीत्रयसत्कावान्तरभङ्गकथनेऽतिदेशमाह—

जह चेव उ निक्खित्ते संजोगा चेव होंति भंगा य। तह चेव उ साहरणे नाणत्तमिणं तइयभंगे ॥ ५६४ ॥

व्याख्या—यथैव 'निक्षिप्ते' निक्षिप्तद्वारे सचित्ताचित्तमिश्रपदानां संयोगाः कृताः, यथैव च सचित्तपृथिवीकायः सचित्तपृथिवीकायस्योपरि निक्षिप्त इत्येवं स्वस्थानपरस्थानापेक्षया चतुर्भङ्गीत्रयभङ्गेष्वेकैकस्मिन् भङ्गे षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशद्भङ्गा उक्ताः, सर्वसङ्ख्यया चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि भङ्गानां, तथाऽत्रापि संहृतद्वारे द्रष्टव्या, तथाहि–प्रागिवात्रापि चतुर्भङ्गीत्रयमेकैकस्मिंश्च भङ्गे सचित्तः पृथिवीकायः सचित्तपृथिवीकायमध्ये संहृत इत्यादिरूपतया स्वस्थानपरस्थाने अधिकृत्य षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशद्भङ्गाः, सर्वसङ्ख्यया भङ्गानां चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि। नवरं द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गिकयोः प्रत्येकं तृतीये तृतीये भङ्गेऽनन्तरपरम्परमार्गणाविधौ निक्षिप्तद्वारादिदं-वक्ष्यमाणं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नानात्वमवसेयं, निक्षिप्तद्वारेऽन्येन प्रकारेणानन्तरपरम्परमार्गणा कृता अत्र तु संहृतद्वारेऽन्यथा करिष्यते इति भावः। तदेवान्यथात्वं दर्शयन् संहरणलक्षणमाह—

मत्तेण जेण दाहिइ तत्थ अदिज्जं तु होज्ज असणाई। छोढु तयन्नहिँ तेणं देई अह होइ साहरणं ॥५६५॥

व्याख्या—येन मात्रकेण दास्यति दात्री तत्रादेयं किमप्यस्ति 'अशनादिकं' भक्तादि सचित्तपृथिवीकायादिकं वा, ततस्तत् 'अदेयम्' अन्यत्र स्थानान्तरे क्षिप्त्वा ददाति 'अह' त्ति एतत्संहरणं, तत एतल्लक्षणानुसारेणानन्तरपरम्परमार्गणा अनुसरणीया, तद्यथा—सचित्तपृथिवीकायमध्ये यदा संहरति तदाऽनन्तरसचित्तपृथिवीकायसंहृतं, यदा तु सचित्तपृथिवीकायस्योपरि स्थिते पिठरादौ संहरति तदा परम्परया सचित्तपृथिवीकाये संहृतम्। एवमप्कायादिष्वपि भावनीयम्। अनन्तरसंहृते न ग्राह्यं, परम्परासंहृते सचित्तपृथिवीकायाद्यघट्टने ग्राह्यमिति। सम्प्रति द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गीसत्कं तृतीयं तृतीयं भङ्गमाश्रित्य येषु वस्तुषु मात्रकस्थितमदेयं वस्तु संहरति तान्युपदर्शयति—

भूमाइएसु तं पुण साहरणं होइ छसुवि काएसु। जं तं दुहा अचित्तं साहरणं तत्थ चउभंगो ॥ ५६६ ॥

व्याख्या—तत्पुनर्मात्रकस्थितस्यादेयस्य वस्तुनः संहरणम् 'भूम्यादिकेषु' सचित्तपृथिवीकायादिषु षट्सु जीवनिकायेषु 'भवति' जायते, तत्र चानन्तरोक्तमनन्तरपरम्परामार्गणमवधार्यम्, अनन्तरोक्त एव च कल्प्याकल्प्यविधिरवधारणीयः, तथा यत्संहरणं द्विधाऽपि आधारापेक्षया संहियमाणापेक्षया च अचित्तमचित्ते यत्संहियते इत्यर्थः, तत्र 'चतुर्भङ्गी' चत्वारो भङ्गाः। तानेवाह—

सुक्के सुक्कं पढमो सुक्के उल्लं तु बिइयओ भंगो। उल्ले सुक्कं तइओ उल्ले उल्लं चउत्थो उ ॥ ५६७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—शुष्के शुष्कं संहृतमिति प्रथमो भङ्गः, शुष्के आर्द्रमिति द्वितीयः, आर्द्रे शुष्कमिति तृतीयः, आर्द्रे आर्द्रमिति चतुर्थः—

एक्केक्के चउभंगो सुक्काईएसु चउसु भंगेसु । थोवे थोवं थोवे बहुं च विवरीय दो अन्ने ॥ ५६८ ॥

व्याख्या—(शुष्कादिषु) शुष्के शुष्कं संहृतमित्यादिषु चतुर्ष्वपि भङ्गेषु मध्ये एकैकस्मिन् भङ्गे चतुर्भङ्गी, तद्यथा–स्तोके शुष्के स्तोकं शुष्कं, स्तोके शुष्के बहु शुष्कं, 'विवरीय दो अन्ने'त्ति एतद्विपरीतौ द्वौ अन्यौ भङ्गौ द्रष्टव्यौ, तद्यथा–शुष्के बहुके स्तोकं शुष्कं, बहुके शुष्के बहु शुष्कमिति, एवं शुष्के आर्द्रमित्यादिष्वपि त्रिषु भङ्गेषु स्तोके स्तोकमित्यादिरूपा चतुर्भङ्गी प्रत्येकं भावनीया, सर्वसङ्ख्यया षोडश भङ्गाः । अत्र कल्प्याकल्प्यविधिमाह—

जत्थ उ थोवे थोवं सुक्के उल्लं च छुहइ तं भब्भं (गेज्झं) । जइ तं तु समुक्खेउं थोवाभारं दलइ अन्नं ॥५६९॥

व्याख्या—यत्र तु भङ्गे स्तोके तुशब्दाद्बहुके च संहृतं भवति तदपि शुष्के शुष्कं कल्पते एव, अथवा शुष्के आर्द्रं वाशब्दादार्द्रे शुष्कमार्द्रं आर्द्रं वा तदा तद्ग्राह्यं, न शेषं, कुतः? इत्याह–'जई' इत्यादि, यदि तदादेयं वस्तु 'स्तोकाभारं' बहुभाररहितमन्यत्र समुत्क्षिप्यान्यद्ददाति तर्हि तत्कल्पते नान्यथा । बहुकं च संहियमाणं बहुभारं भवति, ततः शुष्के शुष्कमित्यादिषु चतुर्ष्वपि भङ्गेषु प्रत्येकं स्तोके स्तोकं बहुके स्तोकमिति प्रथमतृतीयभङ्गौ कल्पेते, न द्वितीयचतुर्थौ । तत्र दोषानाह—

उक्खेवे निक्खिवे महल्लभाणंमि लुद्ध वह डाहो । अन्नियत्तं वोच्छेओ छक्कायवहो य गुरुमत्ते ॥ ५७० ॥

व्याख्या—'महति भाजने' प्रभूतादेयवस्तुभारयुक्ते गुरुमात्रकरूपे 'उत्क्षेपे' उत्पाट्यमाने 'निक्षेपे' निक्षिप्यमाणे दात्र्याः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

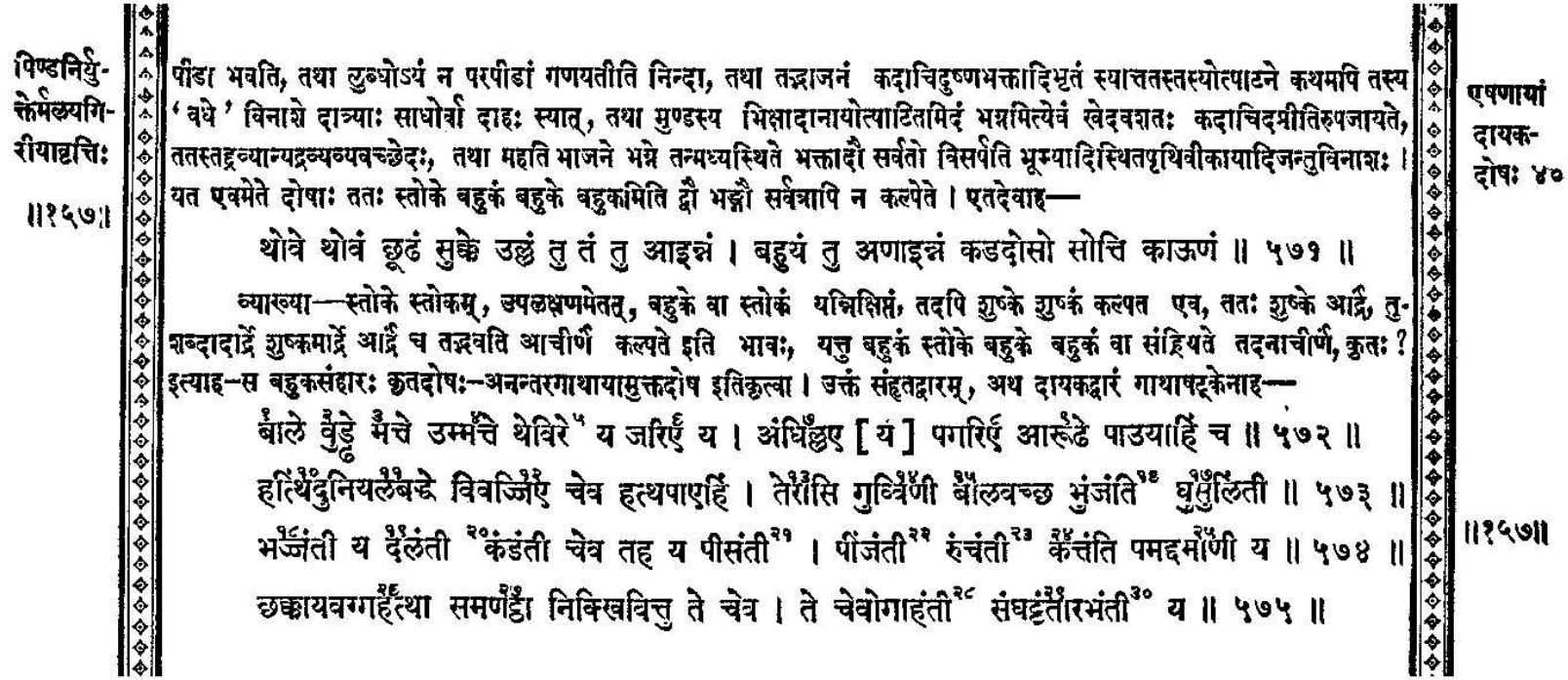

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥१५७॥

पीडा भवति, तथा लुब्धोऽयं न परपीडां गणयतीति निन्दा, तथा तद्भाजनं कदाचिदुष्णभक्तादिभृतं स्यात्ततस्तस्योत्पाटने कथमपि तस्य 'वधे' विनाशे दात्र्याः साधोर्वा दाहः स्यात्, तथा मुण्डस्य भिक्षादानायोत्पाटितमिदं भग्नमित्येवं खेदवशतः कदाचिदप्रीतिरुपजायते, ततस्तद्द्रव्यान्यद्रव्यव्यवच्छेदः, तथा महति भाजने भग्ने तन्मध्यस्थिते भक्तादौ सर्वतो विसर्पति भूम्यादिस्थितपृथिवीकायादिजन्तुविनाशः। यत एवमेते दोषाः ततः स्तोके बहुकं बहुके बहुकमिति द्वौ भङ्गौ सर्वत्रापि न कल्पेते। एतदेवाह—

थोवे थोवं छूढं सुक्के उल्लं तु तं तु आइन्नं। बहुयं तु अणाइन्नं कडदोसो सोत्ति काऊणं ॥ ५७१ ॥

व्याख्या—स्तोके स्तोकम्, उपलक्षणमेतत्, बहुके वा स्तोकं यन्निक्षिप्तं, तदपि शुष्के शुष्कं कल्पत एव, ततः शुष्के आर्द्रे, तुशब्दादार्द्रे शुष्कमार्द्रे आर्द्रं च तद्भवति आचीर्णं कल्पते इति भावः, यत्तु बहुकं स्तोके बहुके बहुकं वा संहियते तदनाचीर्णं, कुतः? इत्याह—स बहुकसंहारः कृतदोषः—अनन्तरगाथायामुक्तदोष इतिकृत्वा। उक्तं संहृतद्वारम्, अथ दायकद्वारं गाथाषट्केनाह—

बाले[1] वुड्ढे[2] मत्ते[3] उम्मत्ते[4] थेविरे[5] य जरिए[6] य। अंधिल्लए[7] [यं] पगरिए[8] आरूढे[9] पाउयाहिं[10] च ॥ ५७२ ॥

हत्थेदुनियलेबद्धे[11] विवज्जिए[12] चेव हत्थपाएहिं। तेरासि[13] गुव्विणी[14] बालवच्छ[15] भुंजंति[16] घुसुलंती[17] ॥ ५७३ ॥

भज्जंती[18] य दलंती[19] कंडंती[20] चेव तह य पीसंती[21]। पींजंती[22] रुंचंती[23] कंत्तंति[24] पमद्दमाणी[25] य ॥ ५७४ ॥

छक्कायवग्गहत्था[26] समणट्ठा[27] निक्खिवित्तु ते चेव। ते चेवोगाहंती[28] संघट्टंतारभंती[30] य ॥ ५७५ ॥

एषणायां दायकदोषः ४०

॥१५७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ एषणा संबंधे दायकद्वारम् विस्तरेण वर्णयते

संसत्तेण य दव्वेण लित्तेहत्था य लित्तमत्तो य । उव्वत्तंती साहारणं व दिंती य चोरियं ॥ ५७६ ॥
पाहुडियं च ठवंती सपच्चवायं परं च उद्दिस्स । आभोगमणाभोगेणं दलंती वज्जणिज्जा ए ॥ ५७७ ॥

व्याख्या—बालादयो वर्जनीया इति क्रियायोगः, तत्र 'बाल' जन्मतो वर्षाष्टकाभ्यन्तरवर्त्ती, ? 'वृद्धः' सप्ततिवर्षाणां मतान्तरापेक्षया षष्टिवर्षाणां वोपरिवर्त्ती २ 'मत्तः' पीतमदिरादिः ३ 'उन्मत्तः' दृप्तो ग्रहगृहीतो वा ४ 'वेपमानः' कम्पमानशरीरः ५ 'ज्वरितः' ज्वररोगपीडितः ६ 'अन्धः' चक्षुर्विकलः ७ 'प्रगलितः' गलत्कुष्ठः ८ 'आरूढः' पादुकयोः काष्ठमयोपानहोः ९ तथा 'हस्तान्दुना' करविषयकाष्ठमयबन्धनेन १० 'निगडेन च' पादविषयलोहमयबन्धनेन बद्धः ११ हस्ताभ्यांपादाभ्यां वा विवर्जितश्छिन्नत्वात् १२ 'त्रैराशिकः' नपुंसकः १३ 'गुर्विणी' आपन्नसत्त्वा १४ 'बालवत्सा' स्तन्योपजीविशिशुका १५ 'भुञ्जाना' भोजनं कुर्वती १६ 'घुसुलिंती' दध्यादि मथ्नती १७ 'भर्जमाना' चुल्लयां कडिल्लकादौ चनकादीन् स्फोटयन्ती १८ 'दलयन्ती' घरट्टेन गोधूमादि चूर्णयन्ती १९ 'कण्डयन्ती' उदूखले तण्डुलादिकं छटयन्ती २० 'पिंषन्ती' शिलायां तिलामलकादि प्रमृद्नन्ती २१ 'पिञ्जयन्ती' पिञ्जनेन रूतादिकं विरलं कुर्वती २२ 'रुञ्चन्ती' कर्पासं लोठिन्यां लोठयन्ती २३ 'कृंतन्ती' कर्त्तनं कुर्वती २४ 'प्रमृद्नती' रूतं कराभ्यां पौनःपुन्येन विरलं कुर्वती २५ 'षट्कायव्यग्रहस्ता' षट्कायव्युक्तहस्ता २६ तथा श्रमणस्य भिक्षादानाय तानेव षट्कायान् भूमौ निक्षिप्य ददती २७ तानेव षट्कायानवगाहमाना पादाभ्यां चालयन्ती २८ 'सङ्घट्टयन्ती' तानेव षट्कायान् शेषशरीरावयवेन स्पृशन्ती २९ 'आरभमाणा' तानेव षट्कायान् विनाशयन्ती ३० 'संसक्तेन' दध्यादिना द्रव्येण 'लिप्तहस्ता' खरण्टितहस्ता ३१ तथा तेनैव द्रव्येण दध्यादिना संसक्तेन 'लिप्तमात्रा' खरण्टितमात्रा ३२ 'उद्वर्त्तयन्ती' महत्पिठरादिकमुद्वर्त्य तन्मध्याददती ३३ साधारणं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बहूनां सत्कं ददती ३४ तथा चौरितं ददति(ति) तथा चोरितं दयन्ति(न्ति) ३५ प्राभृतिकां स्थापयन्ती–अग्रकूरादिनिमित्तं मूलस्थाल्या आकृष्य स्थगनिकादौ मुञ्चन्ती ३६ 'सप्रत्यपाया' सम्भाव्यमानापाया दात्री ३७ तथा विवक्षितसाधुव्यतिरेकेण परमन्यं साध्वादिकमुद्दिश्य यत्स्थापितं तददती, ३८ तथा 'आभोगेन' साधूनामित्थं न कल्पत इति परिज्ञानेऽप्युपेत्याशुद्धं ददती ३९ अथवाऽनाभोगेनाशुद्धं ददती ४० सर्वसङ्ख्यया चत्वारिंशद्दोषाः। इह प्रक्षितादिद्वारेषु 'संसज्जिमेहिं वज्जं अगरहिएहिंपि गोरसदवेहिं' इत्यादिना ग्रन्थेन संसक्तादिदोषाणामभिधानेऽपि यद्भूयोऽप्यत्र 'संसत्तेण य दव्वेण लित्तहत्था य लित्तमत्ता य' इत्याद्यभिधानं तदशेषदायकदोषाणामेकत्रोपदर्शनार्थमित्यदोषः। सम्प्रत्येतेषामेव दायकानामपवादमधिकृत्य वर्जनावर्जनविभागमाह—

एएसि दायगाणं गहणं केसिंचि होइ भइयव्वं। केसिंची अग्गहणं तव्विवरीए भवे गहणं ॥ ५७८ ॥

व्याख्या—'एतेषां' बालादीनां दायकानां मध्ये केषाञ्चिन्मूलत आरभ्य पञ्चविंशतिसङ्ख्यानां ग्रहणं भजनीयं, कदाचित्तथाविधं महत्प्रयोजनमुद्दिश्य कल्पते, शेषकालं नेति, तथा केषाञ्चित् षट्कायव्यग्रहस्तादीनां पञ्चदशानां हस्तादग्रहणं भिक्षायाः, 'तद्विपरीते तु' बालादिविपरीते तु दातरि भवेद्ग्रहणं। सम्प्रति बालादीनां हस्ताद्भिक्षाग्रहणे ये दोषाः सम्भवन्ति ते दर्शनीयाः, तत्र प्रथमतो बालमधिकृत्य दोषानाह—

कब्बट्ठिग अप्पाहण दिन्ने अन्नन्न गहण पज्जत्तं। खंतिय मग्गणदिन्ने उड्डाह पओस चारभडा ॥ ५७९ ॥

व्याख्या—काचिदभिनवा श्राद्धिका श्रमणेभ्यो भिक्षां दद्या इति निजपुत्रिकाम् 'अप्पाहिऊणं' ति सन्दिश्य भक्तं गृहीत्वा क्षेत्रं जगाम, गतायां तस्यां कोऽपि साधुसङ्घाटको भिक्षार्थमागतः, तया च बालिकया तस्मै तण्डुलौदनो वितीर्णः, सोऽपि च सङ्घाटकमुख्यः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साधुस्तां बालिकां मुग्धतरामवगत्य लाम्पट्यतो भूयो भूय उवाच—पुनर्देहि पुनर्देहीति, ततस्तया समस्तोऽप्योदनो दत्तः, तत एवमेवं मुद्गघृततक्रदध्यादिकमपि, अपराह्णे च समागता जननी, उपविष्टा भोजनाय, भणिता च निजपुत्रिका—देहि पुत्रि ! मह्यमोदनमिति, साऽवोचत्–दत्तः समस्तोऽप्योदनः साधवे, साऽब्रवीत्—शोभनं कृतवती, मुद्गान् मे देहि, सा प्राह–मुद्गा अपि साधवे सर्वे प्रदत्ताः, एवं च यद्यत् किमपि सा याचते तत्सर्वं साधवे दत्तमिति ब्रवीति, ततः पर्यन्ते काञ्जिकमात्रमयाचत, तदपि बालिका भणति–साधवे दत्तमिति, ततः साऽभिनवश्राद्धिका रुष्टा सती पुत्रिकामेवमपवदति—किमिति त्वया सर्वं साधवे प्रदत्तं ?, सा ब्रूते–स साधुर्भूयो भूयोऽयाचत ततो मया सर्वमदायि, ततः सा साधोरुपरि कोपावेशमाविशन्ती सूरीणामन्तिकमगमत्, अचकथच्च सकलमपि साधुवृत्तान्तं, यथा भवदीयः साधुरित्थमित्थं मत्पुत्रिकायाः सकाशाद्याचित्वा याचित्वा सर्वमोदनादिकमानीतवानिति, एवं तस्यां महता शब्देन कथयन्त्यां शब्दश्रवणतः प्रातिवेश्मिकजनोऽन्योऽपि च परम्परया भूयान्मिलितो ज्ञातश्च सर्वैरपि साधुवृत्तान्तः, ततो विदधति तेऽपि कोपावेशतः साधूनामवर्णवादं–नूनममी साधुवेषविडम्बिनश्चारभटा इव लुण्टाका न साधुसद्वृत्ता इति, ततः प्रवचनावर्णवादापनोदाय सूरिभिस्तस्याः सर्वजनस्य च समक्षं स साधुर्निर्भर्त्स्योपकरणं च सकलमाकृष्य वसतेर्निष्काशितः, तत एवं तस्मिन्निष्काशिते श्राविकायाः कोपः शममगमत्, ततः सूरीणां क्षमाश्रमणमादायोक्तवती–भगवन् ! मा मन्निमित्तमेष निष्काश्यतां, क्षमस्वैकं ममापराधमिति, ततो भूयोऽपि यथावत्साधुः शिक्षित्वा प्रवेशितः। सूत्रं सुगमं । नवरम् 'उड्डाह पओस चारभडा' इति, लोके उड्डाहः ततो लोकस्य प्रद्वेषभावतश्चारभटा इव लुण्टाका अमी न साधव इत्यवर्णवादः। यत एवं बालाद्दिक्षाग्रहणे दोषास्ततो बालान्न ग्राह्यमिति। सम्प्रति स्थविरदायकदोषानाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥१५९॥

थेरो गलंतलालो कंपणहत्थो पडिज्ज वा देंतो । अपहुत्ति य अचियत्तं एगयरे वा उभयओ वा ॥ ५८० ॥

व्याख्या—अत्यन्तस्थविरो हि प्रायो गलल्लालो भवति, ततो देयमपि वस्तु लालया खरण्टितं भवतीति तद्ग्रहणे लोके जुगुप्सा, तथा कम्पमानहस्तो भवति, ततो हस्तकम्पनवशादेयं वस्तु भूमौ निपतति, तथा च षड्जीवनिकायविराधना, तथा स्वयं वा स्थविरो ददन्निपतेत्, तथा च सति तस्य पीडा भूम्याश्रितषड्जीवनिकायविराधना च, अपि च प्रायः स्थविरो गृहस्वाम्यप्रभुः–अस्वामी भवति, ततस्तेन दीयमानेन प्रभुरेष इति विचिन्त्य गृहे स्वामित्वेन नियुक्तस्याचियत्तं–प्रद्वेषः स्यात्, स चैकतरस्मिन्–साधौ दृढे वा, यद्वा–उभयोरपीति । मत्तोन्मत्तावाश्रित्य दोषानाह—

अवयास भाण(घाय)भेओ वमणं असुइत्ति लोगगरिहा य । एए चेव उ मत्ते वमणविवज्जा य उम्मत्ते ॥५८१॥

व्याख्या—'मत्तः' कदाचिन्मत्ततया साधोरालिङ्गनं विदधाति, तथा कोऽपि मत्तः मदवशविह्वलतया रे मुण्ड ! किमत्रायातः ? इति ब्रुवन् घातमपि विदधाति, भाजनं वा भिनत्ति, यद्वा कदाचित्पीतमासवं ददानो वमति, वमँश्च साधुं साधुपात्रं वा खरण्टयति, ततो लोके जुगुप्सा, धिगमी साधवोऽशुचयो ये मत्तादपीत्थं भिक्षां गृह्णन्तीति, तत एवं यतो मत्तेऽवयासादयो दोषास्तस्मान्न ततो ग्राह्यम्, एत एवालिङ्गनादयो दोषा वमनवर्जा उन्मत्तेऽपि, तस्मात्ततोऽपि न ग्राह्यम् । सम्प्रति वेपितज्वरितावाश्रित्य दोषानाह—

वेविय परिसाडणया पासे व छुभेज्ज भाणभेओ वा । एमेव य जरियंमिवि जरसंकमणं च उड्डाहो ॥ ५८२ ॥

व्याख्या—वेपितादातुः सकाशाद्भिक्षाग्रहणे देयवस्तुनः परिशाटनं भवति, यद्वा पार्श्वे साधुभाजनाद्बहिः सर्वतोऽपि देयं वस्तु

एषणायां दायक-दोषः ४०

॥१५९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्षिपेत्, यद्वा येन स्थाल्यादिना भाजनेन कृत्वा भिक्षामानयति तस्य भूमौ निपाते भेदः–स्फोटनं स्यात्, एवमेव ज्वरितेऽपि दोषा भावनीयाः, किं च–ज्वरिताद्ग्रहणे ज्वरसङ्क्रमणमपि साधोर्भवेत्, तथा जने उड्डाहो–ययाऽहो ! अमी आहारलम्पटा यदित्थं ज्वरपीडितादपि भिक्षां गृह्णन्तीति । अन्धगलत्कुष्ठावाश्रित्य दोषानाह—

उड्डाह कायपडणं अंधे भेओ य पास छुहणं च । तद्दोसी संकमणं गलंतभिसभिन्नदेहे य ॥ ५८३ ॥

व्याख्या—अन्धाद्भिक्षाग्रहणे उड्डाहः, स चायम्—अहो! अमी औदरिका यदन्धादपि भिक्षां दातुमशक्नुवतो भिक्षां गृह्णन्तीति, तथा 'अन्धः' अपश्यन् पादाभ्यां भूम्याश्रितषड्जीवनिकायघातं विदधाति, तथा लोष्ट्वादौ स्खलितः सन् भूमौ निपतेत्, तथा च सति भिक्षादानायोत्पाटितहस्तगृहीतस्थाल्यादिभाजनभङ्गः, तथा स देयं वस्तु पार्श्वे–भाजनबहिस्तात् प्रक्षिपेद्दर्शनात्, तस्मादन्धादपि न ग्राह्यम् । तथा त्वग्दोषिणि, किंविशिष्टे ? इत्याह—'गलद्भृशभिन्नदेहे' आर्षत्वाद्वचत्यासेन पदयोजना, सा चैवं–'भृशम्' अतिशयेन 'गलत्' अर्द्धपक्वं रुधिरं च बहिर्वहन् भिन्नश्च–स्फुटितो देहो यस्य स तथा तस्मिन् दातरि 'सङ्क्रमणं' कुष्ठव्याधिसङ्क्रान्तिः स्यात्, तस्मात्ततोऽपि न ग्राह्यम् । सम्प्रति पादुकारूढादिचतुष्टयदोषानाह—

पाउयदुरूढपडणं बद्धे परियाव असुइखिंसा य । करछिन्नासुइ खिंसा ते चिय पायेऽवि पडणं च ॥ ५८४ ॥

व्याख्या—पादुकारूढस्य भिक्षादानाय प्रचलतः कदाचिद्दुःस्थितत्वेन पतनं स्यात्, तथा बद्धे दातरि भिक्षां प्रयच्छति 'परितापः' दुःखं तस्य भवेत्, तथा 'असुइ'त्ति मूत्राद्युत्सर्गादौ जलेन तस्य शौचकरणासम्भवात्ततो भिक्षाग्रहणे लोके जुगुप्सा, यथा–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अमी अशुचयो यदेतस्मादप्यशुचिभूताद्भिक्षामाददतीति, एवं छिन्नकरेऽपि भिक्षां प्रयच्छति लोके जुगुप्सा, तथा हस्ताभावेन शाचकरणासम्भवात्, एतच्चोपलक्षणं, तेन हस्ताभावे येन कृत्वा भाजनेन भिक्षां ददाति यद्वा देयं वस्तु तस्य पतनमपि भवति, तथा च सति षड्जीवनिकायव्याघातः, एत एव दोषाः पादेऽपि–छिन्नपादेऽपि दातरि द्रष्टव्याः, केवलं पादाभावेन तस्य भिक्षादानाय चलतः प्रायो नियमतः 'पतनं' पातो भवेत्, तथा च सति भूम्याश्रितकीटिकादिकसत्त्वव्याघातः। सम्प्रति नपुंसकमधिकृत्य दोषानाह—

आयपरोभयदोसा अभिक्खगहणंमि खोभण नपुंसे। लोगदुगुंछा संका एरिसया नूणमेएऽवि ॥ ५८५ ॥

व्याख्या—नपुंसके भिक्षां प्रयच्छति आत्मपरोभयदोषाः, तथाहि—नपुंसकात् अभीक्ष्णं भिक्षाग्रहणेऽतिपरिचयो भवति, अतीव परिचयाच्च तस्य नपुंसकस्य साधोर्वाक्षोभो–वेदोदयरूपः समुपजायते, ततो नपुंसकस्य साधुलिङ्गाद्यासेवनेन द्वयस्यापि मैथुनसेवया कर्मबन्धः, अभीक्ष्णग्रहणशब्दोपादानाच्च कदाचिद्भिक्षाग्रहणे दोषाभावमाह परिचयाभावात्, तथा लोके जुगुप्सा यथैते नपुंसकादपि निकृष्टाद्भिक्षामाददत इति, साधूनामप्युपरि जनस्य शङ्का भवति–यथैतेऽपि साधवो नूनमीदृशाः–नपुंसकाः, कथमन्यथा अनेन सह भिक्षाग्रहणव्याजतोऽतिपरिचयं विदधत इति?। सम्प्रति गुर्विणीबालवत्से आश्रित्य दोषानुपदर्शयति—

गुव्विणि गब्भे संघट्टणा उ उट्ठंतुवेसमाणीए। बालाई मंसुंडग मज्जाराई विराहेज्जा ॥ ५८६ ॥

व्याख्या—गुर्विण्या भिक्षादानार्थमुत्तिष्ठन्त्या भिक्षां दत्त्वा स्वस्थाने उपविशन्त्याश्च 'गर्भे' गर्भस्य 'सङ्घट्टनं' सञ्चलनं भवति, तस्मान्न ततो ग्राह्यं, 'बालाई मंसुंडग'त्ति, अत्राऽऽर्षत्वाद्व्यत्यासेन पदयोजना, 'बाल'मिति शिशुं भूमौ मञ्चिकादौ वा निक्षिप्य यदि भिक्षां ददाति तर्हि तं बालं 'मार्जारादिः' विडालसारमेयादिः 'मांसोंदुकादि' मांसखण्डं शशकशिशुरिति वा कृत्वा 'विराधयेत्'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विनाशयेत्, तथाऽऽहारखरण्टितौ शुष्कौ हस्तौ कर्कशौ भवतः, ततो भिक्षां दत्त्वा पुनर्दात्र्या हस्ताभ्यां गृह्यमाणस्य बालस्य पीडा भवेत्, ततो बालवत्सातोऽपि न ग्राह्यम् । भुञ्जानां मथ्नतीं चाश्रित्य दोषानाह—

भुंजंती आयमणे उदगं छोट्टी य लोगगरिहा य । घुसुलंती संतत्ते करंमि लित्ते भवे रसगा ॥ ५८७ ॥

व्याख्या—भुञ्जाना दात्री भिक्षादानार्थमाचमनं करोति, आचमने च क्रियमाणे उदकं विराध्यते, अथ न करोत्याचमनं तर्हि लोके छोटिरितिकृत्वा गर्हा स्यात्। तथा 'घुसुलंती' दध्यादि मथ्नती यदि तद्दध्यादि संसक्तं मथ्नाति तर्हि तेन संसक्तदध्यादिना लिप्ते करे तस्या भिक्षां ददत्यास्तेषां रसजीवानां वधो भवति, ततस्तस्या अपि हस्तान्न कल्पते । सम्प्रति पेषणादि कुर्वत्या दोषानुपदर्शयति—

दगबीए संघट्टण पीसणकंडदल भज्जणे डहणं । पिंजंत रुंचणाई दिन्ने लित्ते करे उदगं ॥ ५८८ ॥

व्याख्या— पेषणकण्डनदलनानि कुर्वतीनां हस्ताद्भिक्षाग्रहणे उदकबीजसङ्घट्टनं स्यात्, तथाहि–पिंषन्ती यदा भिक्षादानार्थोत्तिष्ठति तदा पिष्यमाणतिलादिसत्काः काश्चिन्निखिकाः सचित्ता अपि हस्तादौ लगिताः सम्भवन्ति, ततो भिक्षादानाय हस्तादिप्रस्फोटने भिक्षां वा ददत्या भिक्षासम्पर्कितस्तासां विराधना भवति, भिक्षां च दत्त्वा भिक्षावयवखरण्टितौ हस्तौ जलेन प्रक्षालयेत्, ततः पेषणे उदकबीजसङ्घट्टनम्, एवं कण्डनदलनयोरपि यथायोगं भावनीयं, तथा 'भर्जने' भिक्षां ददत्यां वेलालग्नेन कडिल्लक्षिप्तगोधूमादीनां दहनं स्यात्, तथा पिञ्जनं रुञ्चनमादिशब्दात्कर्त्तनमर्दने च कुर्वती भिक्षां दत्त्वा भिक्षावयवखरण्टितौ हस्तौ जलेन प्रक्षालयेत्, ततस्तत्राप्युदकं विनश्यतीति न ततोऽपि भिक्षा कल्पते । सम्प्रति षट्कायव्यग्रहस्तादिपञ्चकस्वरूपं गाथाद्वयेनाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥१६१॥

लोणं दग अगणि वत्थी फलाइ मच्छाइ सजिय हत्थंमि । पाएणोगाहणया संघट्टण सेसकाएणं ॥ ५८९ ॥

खणमाणी आरभए मज्जइ धोयइ व सिंचए किंचि । छेयविसारणमाई छिंदइ छट्टे फुरुफुरंते ॥ ५९० ॥

व्याख्या—इह सा षट्कायव्यग्रहस्ता उच्यते यस्या हस्ते सजीवं लवणमुदकमग्निर्वायुपूरितो वा बस्तिर्फलादिकं बीजपूरादिकं मत्स्यादयो वा विद्यन्ते, ततः सा यद्येतेषां सजीवलवणादीनामन्यतमदपि श्रमणभिक्षादानार्थं भूम्यादौ निक्षिपति तर्हि न कल्पते । तथाऽवगाहना नाम यदेतेषां षण्णां जीवनिकायानां पादेन सङ्घट्टनं, शेषकायेन हस्तादिना सम्मर्दनं सङ्घट्टनम्, आरभमाणा कुड्यादिना भूम्यादि खनन्ती, अनेन पृथिवीकायारम्भ उक्तः, यद्वा 'मज्जंती' शुद्धेन जलेन स्नान्ती, अथवा 'धावंती' शुद्धेनोदकेन वस्त्राणि प्रक्षालयन्ती, यदिवा किञ्चिद् वृक्षवल्ल्यादि सिञ्चन्ती, एतेनाप्कायारम्भो दर्शितः, उपलक्षणमेतत्, ज्वलयन्ती वा फूत्कारेण वैश्वानरं वस्त्यादिकं वा सचित्तवायुभृतमितस्ततः प्रक्षिपन्ती, एतेनाग्निवायुसमारम्भ उक्तः, तथा शाकादेश्छेदविशारणे कुर्वती, तत्र छेदः—पुष्पफलादेः खण्डनं विशारणं—तेषामेव खण्डानां शोषणायातपे मोचनम्, आदिशब्दात्तण्डुलमुद्गादीनां शोधनादिपरिग्रहः, तथा छिन्दती षष्ठान् त्रसकायान् मत्स्यादीन् 'फुरुफुरंते' इति पोस्फूर्यमाणान् पीडयोद्वेल्लत इत्यर्थः, अनेन त्रसकायारम्भ उक्तः । इत्थं षड्जीवनिकायानारभमाणाया हस्तान्न कल्पते । सम्प्रति षट्कायव्यग्रहस्तेति पदस्य व्याख्याने मतान्तरमुपदर्शयति—

छक्कायवग्गहत्था केई कोलाइकन्नलइयाई । सिद्धत्थगपुप्फाणि य सिरंमि दिन्नाइं वज्जंति ॥ ५९१ ॥

व्याख्या—केचिदाचार्याः षट्कायव्यग्रहस्तेतिवचनतः 'कोलादीनि' बदरादीनि, आदिशब्दात्करीरादिपरिग्रहः, 'कन्नलइयाई'ति

एषणायां दायक-दोषः ४०

॥१६१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्णे पिनद्धानि तथा सिद्धार्थकपुष्पाणि शिरसि दत्तानि वर्जयन्ति, हस्तग्रहणं हि किल सूत्रे उपलक्षणं, तेन कर्णे शिरसि वा जीवनिकायसम्भवे तद्धस्तान्न कल्पते, तन्मतेन षट्कायव्यग्रहस्तेतिपदात् षट्कायं सङ्घट्टयन्तीत्यस्य पदस्य विशेषो दुरुपपादः ।

अन्ने भणंति दससुवि एसणदोसेसु नत्थि तग्गहणं । तेण न वज्जं भन्नइ नणु गहणं दायगग्गहणा ॥ ५९२ ॥

व्याख्या—अन्ये त्वाचार्यदेशीया भणन्ति—यथा दशस्वपि शङ्कितादिषु एषणादोषेषु मध्ये न तद्ग्रहणं–षट्कायव्यग्रहस्तेत्युपादानमस्ति, तेन कारणेन कोलादियुक्तदात्र्या भिक्षाग्रहणं न वर्ज्यं, तदेतत् पापात्पापीयो, यत आह—'भण्यते' अत्रोत्तरं दीयते ननु दायकग्रहणादेषणादोषमध्ये षट्कायव्यग्रहस्तेत्यस्य ग्रहणं विद्यते, तत्कथमुच्यते—न ग्रहणमिति ? । सम्प्रति संसक्तिमद्द्रव्यदात्र्यादिदोषानाह—

संसज्जिमम्मि देसे संसज्जिमदव्वलित्तकरमत्ता । संचारो ओयत्तण उक्खिप्पंतेऽवि ते चेव ॥ ५९३ ॥

व्याख्या—संसक्तिमद्द्रव्यवति देशे–मण्डले संसक्तिमता द्रव्येण लिप्तः करो मात्रं वा यस्याः सा तथाविधा दात्री भिक्षां ददती करादिलग्नान् सत्त्वान् हन्ति, तस्मात्सा वर्ज्यते, तथा महतः पिठरादेरपवर्त्तने 'सञ्चारः' 'सूचनात्सूत्र 'मिति सञ्चारिमकीटिकामत्कोटादिसत्त्वव्याघातः, इदमुक्तं भवति–महत्पिठरं यदा तदा वा नोत्पाट्यते नापि यथा तथा वा सञ्चार्यते, महत्त्वादेव, किन्तु प्रयोजनविशेषोत्पत्तौ सकृत्, ततस्तदाश्रिताः प्रायः कीटिकादयः सत्त्वाः सम्भवन्ति, ततो यदा तत्पिठरादिकमुद्वर्त्य किञ्चिद्ददाति तदा तदाश्रितजन्तुव्यापादः, एते च दोषा उत्पाट्यमानेऽपि महति पिठरादौ, तत्रापि हि भूयो निक्षेपणे हस्तसंस्पर्शतो वा सञ्चारिमकीटिकादि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सत्त्वव्याघातः, अपि च तथाभूतस्य महत उत्पाटने दात्र्याः पीडाऽपि भवति, तस्मान्न तदुत्पाटनेऽपि भिक्षा कल्पते। सम्प्रति साधारणं चोरितकं वा ददत्या दोषानाह—

साधारणं बहूणं तत्थ उ दोसा जहेव अणिसिट्ठे। चोरियए गहणाई भयए सुण्हाइ वा दंते॥ ५९४॥

व्याख्या—बहूनां साधारणं यदि ददाति तर्हि तत्र यथा प्रागनिसृष्टे दोषा उक्तास्तथैव द्रष्टव्याः। तथा चौर्येण भृतके-कर्मकरे स्नुषादौ वा ददति 'ग्रहणादयः' ग्रहणबन्धनताडनादयो दोषा द्रष्टव्याः, तस्मात्ततोऽपि न कल्पते। सम्प्रति प्राभृतिकास्थापनादिद्वारत्रयदोषानाह—

पाहुडि ठवियगदोसा तिरिउड्ढमहे तिहा अवायाओ। धम्मियमाई ठवियं परस्स परसंतियं वावि॥ ५९५॥

व्याख्या—प्राभृतिकां बल्यादिनिमित्तं संस्थाप्य या ददाति भिक्षां तत्र दोषाः प्रवर्त्तनादयः। सम्प्रति 'अपाये'ति द्वारेऽपाया-स्त्रिविधाः, तद्यथा—तिर्यगूर्द्ध्वमधश्च, तत्र तिर्यग्गवादिभ्य ऊर्द्ध्वमुत्तरङ्गकाष्ठादेरधः सर्पकण्टकादेः, इत्थं च त्रिविधानामप्यपायानामन्यतमपायं बुद्ध्या सम्भावयन्न ततो भिक्षां गृह्णीयात्, 'परं चोद्दिश्ये'ति यदुक्तं, तत्राह—'धार्मिकाद्यर्थम्' अपरसाधुकार्पटिकप्रभृतिनिमित्तं यत् स्थापितं तत्परस्य परमार्थतः सम्बन्धीति न गृह्णीयात्, तद्ग्रहणेऽदत्तादानदोषसम्भवात्, यद्वा 'परसंतियं व'त्ति परस्य-ग्लानादेः सत्कं यद्ददाति तदपि स्वयमादातुं न कल्पते, अदत्तादानदोषात्, किन्तु यस्मै ग्लानाय दापितं तस्मै नीत्वा दातव्यं, स चेन्न गृह्णाति तर्हि भूयोऽपि दात्र्याः समानीय समर्पणीयं, यदि पुनरेवं दात्री वदति—यदि ग्लानादिको न गृह्णाति तर्हि स्वयं ग्राह्यमिति, तर्हि ग्लानाद्यग्रहणे तस्य कल्पत इति। सम्प्रत्याभोगानाभोगदायकस्वरूपमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अणुकंपा पडिणीयट्ठया व ते कुणइ जाणमाणोऽवि। एसणदोसे बिइओ कुणइ उ असढो अयाणंतो ॥ ५९६ ॥

व्याख्या—सदैवैते महानुभावा यतयोऽन्तप्रान्तमशनमश्नन्ति तस्मात्करोम्येतेषां शरीरोपष्टम्भाय घृतपूरादीनीत्येवमनुकम्पया यदिवा मयैतेषामनेषणीयाग्रहणनियमभङ्गो भङ्क्तव्य इति प्रत्यनीकार्थतया जानानोऽपि तानाधाकर्मादिरूपानेषणादोषान् करोति, द्वितीयस्तु करोति अजानानः अशठभावः। तदेवं व्याख्यातानि चत्वारिंशदपि बालादिद्वाराणि, सम्प्रति यदुक्तम्–'एएसि दायगाणं गहणं केसिंचि होइ भइयव्वं' इत्यादि, तद्व्याचिख्यासुः प्रथमतो बालमाश्रित्य भजनामाह—

भिक्खामित्ते अवियालणा उ बालेण दिज्जमाणंमि। संदिट्ठे वा गहणं अइबहुय वियालणेऽणुन्ना ॥ ५९७ ॥

व्याख्या—मातुः परोक्षे भिक्षामात्रे बालेन दीयमाने यदिवा पार्श्ववर्त्तिना मात्रादिना सन्दिष्टे सति तेन बालेन दीयमानेऽविचारणा–कल्पते इदं न वेति विचारणाया अभावः, किन्तु ग्रहणं भिक्षाया भवति, अतिबहुके तु बालेन दीयमाने किमद्य त्वं प्रभूतं ददासीति विचारणे सति यद्यनुज्ञा—पार्श्ववर्त्तिमात्रादिसत्कमुत्कलना भवति तदा ग्राह्यं नान्यथा। सम्प्रति स्थविरमत्तविषयां भजनामाह—

थेर पहु थरथरंते धरिए अन्नेण दढसरीरे वा। अव्वत्तमत्तसड्ढे अविभले वा असागारिए ॥ ५९८ ॥

व्याख्या—स्थविरो यदि प्रभुर्भवति, 'थरथरंते'त्ति कम्पमानो यद्यन्येन विधृतो वर्त्तते स्वरूपेण वा दृढशरीरो भवति तर्हि ततः कल्पते, तथाऽव्यक्तं मनाक् यो मत्तः सोऽपि यदि श्राद्धोऽविह्वलश्च—अपरवशश्च भवति ततस्तस्मादेवंविधान्मत्तात् तत्र सागारिको न विद्यते तर्हि कल्पते नान्यथा ॥ उन्मत्तादिचतुष्कविषयां भजनामाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुइभद्दग दित्ताई दढग्गहे वेविए जरंमि सित्ते । अन्नधरियं तु सड्ढो देयंघोऽन्नेण वा धरिए ॥ ५९९ ॥

व्याख्या—उन्मत्तो–दृप्तादिर्दृप्तग्रहगृहीतादिः स चेत् शुचिर्भद्रकश्च भवति तदा तद्धस्तात्कल्पते, नान्यथा, वेपितोऽपि यदि दृढहस्तो भवति–न हस्तेन गृहीतं किमपि तस्य पतति तदा तस्मादपि कल्पते, ज्वरितादपि ग्राह्यं ज्वरे शिते सति, अन्धोऽपि यदि देयं वस्त्वन्येन पुत्रादिना धृतं ददाति स्वरूपेण श्राद्धश्च, यदिवा स एवान्धोऽन्येन विधृतः सन् देयं ददाति तर्हि ततो ग्राह्यं, नान्यथा, पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात् । त्वग्दोषादिपञ्चकविषयां भजनामाह—

मंडलपसूतिकुट्ठीऽसागरिए पाउयागए अयले । कमबद्धे सवियारे इयरे विट्ठे असागरिए ॥ ६०० ॥

व्याख्या—'मण्डलानि' वृत्ताकारदद्रुविशेषरूपाणि 'प्रसूतिः' नखादिविदारणेऽपि चेतनाया असंवित्तिस्तद्रूपो यः 'कुष्ठः' रोगविशेषः सोऽस्यास्तीति मण्डलप्रसूतिकुष्ठी स चेद् 'असागारिके' सागारिकाभावे ददाति तर्हि ततः कल्पते, न शेषकुष्ठिनः सागारिके वा पश्यति, पादुकारूढोऽपि यदि भवत्यचलस्थानस्थितस्तदा कारणे सति कल्पते, तथा 'क्रमयोः' पादयोर्बद्धो यदि सविचारइतश्चेतश्च पीडामन्तरेण गन्तुं शक्तस्ततो बद्धादपि तस्मात्कल्पते, इतरस्तु य इतश्चेतश्च गन्तुमशक्तः स चेदुपविष्टः सन् ददाति न च कोऽपि तत्र सागारिको विद्यते तर्हि ततोऽपि कल्पते, हस्तबद्धस्तु भिक्षां दातुमपि न शक्नोति, तत्र प्रतिषेध एव, न भजना, उपलक्षणमेतत्, तेन छिन्नकरोऽपि यदि सागारिकाभावे ददाति तर्हि कल्पते, छिन्नपादो यद्युपविष्टः सन् सागारिकाऽसम्पाते प्रयच्छति ततस्ततोऽपि कल्पते । नपुंसकादिसप्तकविषयां भजनामाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पंडग अप्पडिसेवी वेला थणजीवि इयर सव्वेपि । उक्खित्तमणाबाए न किंचि लग्गं ठवंतीए ॥ ६०१ ॥

व्याख्या—नपुंसकोऽपि यदि 'अप्रतिसेवी' लिङ्गाद्यनासेवकस्तर्हि ततः कल्पते, तथाऽऽबालसत्त्वाऽपि यदि 'वेल'चि 'सूचनात्सूत्र' मितिन्यायाद्वेलामासप्राप्ता भवति, नवममासगर्भा यदि भवतीत्यर्थः, तर्हि स्थविरकल्पिकैः परिहार्या, अर्वाक्तद्विपरीताया हस्तात्स्थविरकल्पिकानामुपकल्पते इति द्रष्टव्यं, तथा याऽपि बालवत्सा स्तन्यपात्रोपजीविशिशुका सा स्थविरकल्पिकानां परिहार्या, न ततः स्थविरकल्पिकानामपि कल्पते किमपीति भावः, यस्यास्तु बाल आहारेऽपि लगति तस्या हस्तात्कल्पते, स हि प्रायः शरीरेण महान् भवति, ततो न मार्जारादिविराधनादोषप्रसङ्गः, ये तु भगवन्तो जिनकल्पिकास्ते मूलत एवापन्नसत्त्वां बालवत्सां च सर्वथा परिहरन्ति, एवं भुञ्जानाभर्जमानादलन्तीष्वपि भजना भावनीया, सा चैवं—भुञ्जाना अनुच्छिष्टा सती यावद्यापि न कवलं मुखे प्रक्षिपति तावत्तद्धस्तात्कल्पते, भर्जमानाऽपि यत्सचित्तं गोधूमादि कडिल्लके क्षिप्तं तद्भृष्ट्वोत्तारितमन्यत्र नाद्यापि हस्तेन गृह्णाति, अत्रान्तरे यदि साधुरायातो भवति सा चेद्ददाति तर्हि कल्पते, तथा दलयन्ती सचित्तमुद्गादिना दल्यमानेन सह घरट्टं मुक्तवती अत्रान्तरे च साधुरायातो भवति सा चेत्ततो यद्युत्तिष्ठति, अचेतनं वा भृष्टं मुद्गादिकं दलयति तर्हि तद्धस्तात्कल्पते, कण्डयन्त्या कण्डनायोत्पाटितं मुशलं, न च तस्मिन् मुशले किमपि काञ्च्यां बीजं लग्नमस्ति, अत्रान्तरे च समायातः साधुस्ततो यदि साऽनपाये प्रदेशे मुशलं स्थापयित्वा भिक्षां ददाति तर्हि कल्पते । पिंषत्यादिविषयां भजनामाह—

पीसंती निप्पिट्ठे फासुं वा घुसुलणे असंसत्तं । कत्तणि असंखचुन्नं चुन्नं वा जा अचोक्खलिणी ॥ ६०२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उव्वट्टणिऽसंसत्तेण वावि अट्ठीलुए न घट्टेइ । पिंजणपमद्दणेसु य पच्छाकम्मं जहा नत्थि ॥ ६०३ ॥

व्याख्या—पिंषन्ती 'निष्पिष्टे' पेषणपरिसमाप्तौ, प्रासुकं वा पिंषन्ती यदि ददाति तर्हि तस्या हस्तात्कल्पते, तथा 'घुसुलणे' शंखचूर्णाद्यससक्तं दध्यादि मथनत्याः कल्पते, तथा कर्त्तने या अशङ्खचूर्ण–अखरण्टितहस्तं कृन्तति, इह काचित्सूत्रस्यातिशयेन श्वेततापादनाय शङ्खचूर्णेन हस्तौ जङ्घां च खरण्टयित्वा कृन्तति, तत उच्यते 'अशङ्खचूर्ण' मिति । अथवा चूर्णेऽपि–शङ्खचूर्णमपि गृहीत्वा कृन्तन्ती या 'अचोक्खलिणी' अनुक्षाशीला न जलेन हस्तौ प्रक्षालयतीति भावः, तस्या हस्तात्कल्पते । तथा 'उद्वर्त्तने' कार्पासलोठने 'असंसक्तेण वावि' त्ति असंसक्तेनागृहीतकार्पासेन हस्तेनोपलक्षिता सती यद्युत्तिष्ठन्ती 'अट्ठिलुए' अस्थिकान् कार्पासिकानित्यर्थः न घट्टयति तदा तद्धस्तात्कल्पते । पिञ्जनप्रमर्दनयोरपि पश्चात्कर्म न भवति तथा ग्राह्यमिति ।

सेसेसु य पडिवक्खो न संभवइ कायगहणमाईसु । पडिवक्खस्स अभावे नियमा उ भवे तयग्गहणं ॥ ६०४ ॥

व्याख्या—शेषेषु द्वारेषु 'कायगहणमाईसु' षट्कायग्रहस्तादिषु प्रतिपक्षः उत्सर्गापेक्षयाऽपवादरूपो न विद्यते–न सम्भवति, ततः प्रतिपक्षस्याभावे नियमाद्भवति तेष्वग्रहणमिति । उक्तं दायकद्वारम् , अथोन्मिश्रद्वारमाह—

सच्चित्ते अच्चित्ते मीसग उम्मीसगंसि चउभंगो । आइतिए पडिसेहो चरिमे भंगंमि भयणा उ ॥ ६०५ ॥

व्याख्या—इह यद्यत्रोन्मिश्र्यते ते द्वे अपि वस्तुनी त्रिधा, तद्यथा–सचित्तेऽचित्ते मिश्रे च, तत उन्मिश्रके–मिश्रणे चतुर्भङ्गी, अत्र जातावेकवचनं, ततस्तिस्रश्चतुर्भङ्ग्यो भवन्तीति वेदितव्यं, तत्र प्रथमा सचित्तमिश्रपदाभ्यां, द्वितीया सचित्ताचित्तपदाभ्यां, तृतीया मिश्रा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चित्तपदाभ्यामिति । तत्र सचित्तमिश्रपदाभ्यामियं-सचित्ते सचित्तं मिश्रे सचित्तं सचित्ते मिश्रं मिश्रे मिश्रमिति, द्वितीया त्रिकसंयोगे-सचित्ते सचित्तम् अचित्ते सचित्तं सचित्तेऽचित्तम् अचित्तेऽचित्तमिति, तृतीयेयं-मिश्रे मिश्रम् अचित्ते मिश्रं मिश्रेऽचित्तम् अचित्तेऽचित्तमिति, तत्र गाथापर्यन्ततुशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वादाद्यायां चतुर्भङ्गिकायां सकलायामपि प्रतिषेधः, शेषे तु चतुर्भङ्गीद्वये प्रत्येकम् , 'आदित्रिके' आदिमेषु त्रिषु त्रिषु भङ्गेषु प्रतिषेधः, चरमे तु भङ्गे भजना वक्ष्यमाणा । अत्रैवातिदेशं कुर्वन्नाह—

जह चेव य संजोगा कायाणं हेट्ठओ य साहरणे । तह चेव य उम्मीसे होइ विसेसो इमो तत्थ ॥ ६०६ ॥

व्याख्या—यथा चैवाधः प्राक् संहरणद्वारे 'कायानां' पृथिवीकायादीनां सचित्ताचित्तमिश्रभेदभिन्नानां स्वस्थानपरस्थानाभ्यां संयोगा–भङ्गाः प्रदर्शिता द्वात्रिंशदधिकचतुःशतसङ्ख्याप्रमाणाः, तथैव 'उन्मिश्रितेऽपि' उन्मिश्रद्वारेऽपि दर्शनीयाः, तद्यथा–सचित्तपृथिवीकायः सचित्तपृथिवीकाये उन्मिश्रः, सचित्तपृथिवीकायः सचित्ताप्काय उन्मिश्र इत्येवं स्वस्थानपरस्थानापेक्षया षट्त्रिंशत्संयोगाः, एकैकस्मिंश्च संयोगे सचित्तामिश्रपदाभ्यां सचित्ताचित्तपदाभ्यां च प्रत्येकं चतुर्भङ्गीति द्वादशभिर्गुणिता जातानि चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि, ननु संहृते उन्मिश्रे च सचित्तादिवस्तुनिक्षेपान्नास्ति परस्परं विशेषः, अत आह–'तत्र' तयोः संहृतोन्मिश्रयोर्भवति परस्परमयं विशेषो–वक्ष्यमाणः । तमेवाह—

दायव्वमदायव्वं च दोऽवि दव्वाइं देइ मीसेउं । ओयणकुसुणाईणं साहरण तयन्नहिं छोढुं ॥ ६०७ ॥

व्याख्या—'दातव्यं' साधुदानयोग्यमितरत् अदातव्यं, तच्च सचित्तं मिश्रं तुषादिर्वा, ते द्वे अपि द्रव्ये मिश्रयित्वा यद्ददाति,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यथौदनं कुशलेन–दध्यादिना मिश्रयित्वा तदुन्मिश्रम्, एवंविधमुन्मिश्रलक्षणमित्यर्थः, 'संहरणं' तु यद्भाजनस्थमदेयं वस्तु तदन्यत्र कापि स्थगनिकादौ संहृत्य ददाति, ततोऽयमनयोः परस्परं विशेषः । द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गीसत्कचतुर्भङ्गभजनामाह—

तंपि य सुक्के सुक्कं भंगा चत्तारि जह उ साहरणे । अप्पबहुएऽवि चउरो तहेव आइल्लऽणाइल्ले ॥ ६०८ ॥

व्याख्या—यद्यचित्तेऽचित्तं मिश्रयति 'तदपि' तत्रापि शुष्के शुष्कं मिश्रितमित्येवं भङ्गाश्चत्वारो यथा संहरणे, तद्यथा–शुष्के शुष्कमुन्मिश्रं, शुष्के आर्द्रम्, आर्द्रे शुष्कम् आर्द्रे आर्द्रमिति । तत एकैकस्मिन् भङ्गे संहरणे इवाल्पबहुत्वे अधिकृत्य 'चत्वारः' चत्वारो भङ्गाः, तद्यथा–स्तोके शुष्के स्तोकं शुष्कं, स्तोके शुष्के बहुकं शुष्कं, बहुके शुष्के स्तोकं शुष्कं, बहुके शुष्के बहुकं शुष्कमिति । एवं शुष्के आर्द्रमित्यादावपि भङ्गत्रिके प्रत्येकं चतुर्भङ्गी भावनीया, सर्वसङ्कलया भङ्गाः षोडश, तथा 'तथैव' संहरणे इवाऽऽचीर्णानाचीर्णे–कल्प्याकल्प्ये उन्मिश्रे ज्ञातव्ये, तद्यथा–शुष्के शुष्कमित्यादीनां चतुर्णां भङ्गानां प्रत्येकं यौ द्वौ द्वौ भङ्गौ स्तोके स्तोकमुन्मिश्रं बहुके स्तोकमित्येवंरूपौ तौ कल्प्यौ दात्रीपीडादिदोषाभावात्, स्तोके बहुकं बहुके बहुकमित्येवंरूपौ तु यौ द्वौ द्वौ भङ्गौ तावकल्प्यौ, तत्र दात्रीपीडादिदोषसम्भवात्, शेषा तु भावना यथासम्भवं संहरण इव द्रष्टव्या । उक्तमुन्मिश्रद्वारम्, इदानीमपरिणतद्वारमाह—

अपरिणयंपि य दुविहं दव्वे भावे य दुविहमेक्केक्कं । दव्वंमि होइ छक्कं भावंमि य होइ सज्झिलगा ॥६०९॥

१ दातृग्रहीतृयोगादिति शेषः, तत्र द्रव्ये द्रव्यविषयं भवति षट्कं सचेतनपृथ्वीकायादिकं, द्रव्यरूपत्वात्तस्य, भावे चाध्यवसाये पुनर्भवति 'सज्झिलगा' भ्रातरो वक्ष्यमाणाः, भावाधारत्वेनोपचारात्सहोदराः, उभयलक्षणत्वात्तस्यैव सम्बन्धियुग्मादीतां सायुसम्बन्धिसङ्घाटकीयसाधोश्च ग्रहः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—अपरिणतमपि द्विविधं, तद्यथा–'द्रव्ये' द्रव्यविषयं 'भावे' भावविषयं, द्रव्यरूपमपरिणतं भावतोऽपरिणतं चेत्यर्थः पुनरप्येकैकं दातृग्रहीतृसम्बन्धाद्विधा, तद्यथा–द्रव्यापरिणतं दातृसत्कं ग्रहीतृसत्कं च, एवं भावापरिणतमपि । तत्र द्रव्यापरिणतस्वरूपमाह—

जीवत्तंमि अविगए अपरिणयं परिणयं गए जीवे । दिट्ठंतो दुद्धदही इय अपरिणय परिणयं तं च ॥ ६१० ॥

व्याख्या—'जीवत्वे' सचेतनत्वे 'अविगते' अभ्रष्टे पृथिवीकायादिकं द्रव्यमपरिणतमुच्यते, गते तु जीवे परिणतम् । अत्र दृष्टान्तो दुग्धदधिनी, यथा हि दुग्धं दुग्धत्वात् परिभ्रष्टं दधिभावमापन्नं परिणतमुच्यते, दुग्धभावे चावस्थितेऽपरिणतम्, एवं पृथिवीकायादिकमपि स्वरूपेण सजीवं सजीवत्वापरिभ्रष्टमपरिणतमुच्यते, जीवेन विप्रमुक्तं परिणतमिति । तच्च यदा दातुः सत्तायां वर्त्तते तदा दातृसत्कं, यदा तु ग्रहीतुः सत्तायां तदा ग्रहीतृसत्कमिति । सम्प्रति दातृविषयं भावापरिणतमाह—

दुगमाई सामन्ने जइ परिणमई उ तत्थ एगस्स । देमित्ति न सेसाणं अपरिणयं भावओ एयं ॥ ६११ ॥

व्याख्या—एवं 'द्विकादिसामान्ये' भ्रात्रादिद्विकादिसाधारणे देयवस्तुनि यद्येकस्य कस्यचिद्दास्यामीत्येवं भावः परिणमति, न शेषाणां, एतद् भावतोऽपरिणतं, न भावापेक्षया देयतया परिणतमित्यर्थः । अथ साधारणानिसृष्टस्य दातृभावापरिणतस्य च कः परस्परं प्रतिविशेषः ?, उच्यते, साधारणानिसृष्टं दायकपरोक्षत्वे, दातृभावापरिणतं तु दायकसमक्षत्वे इति । सम्प्रति ग्रहीतृविषयं भावापरिणतमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एगेण वावि एसिं मणंमि परिणामियं न इयरेणं । तंपि हु होइ अगिज्झं सज्झिलगा सामि साहू वा ॥ ६१२ ॥

व्याख्या—एकेनापि केनचिदग्रेतनेन पाश्चात्येन वैषणीयमिति मनसि परिणामितं, नेतरेण–द्वितीयेन, तदपि भावतोऽपरिणतमिति-कृत्वा साधूनामग्राह्यं, शङ्कितत्वात्कलहादिदोषसम्भवाच्च, सम्प्रति द्विविधस्यापि भावापरिणतस्य विषयमाह–'सज्झिलगा' इत्यादि, तत्र दातृविषयं भावापरिणतं भ्रातृविषयं स्वामिविषयं च, ग्रहीतृविषयं भावापरिणतं साधुविषयम् । उक्तमपरिणतद्वारं, सम्प्रति लिप्तद्वारं वक्तव्यं, तत्र लिप्तं यत्र दध्यादिद्रव्यलेपो लगति, तच्च न ग्राह्यं, यत आह—

घेत्तव्वमलेवकडं लेवकडे मा हु पच्छकम्माई । न य रसगेहिपसंगो इअ वुत्ते चोयगो भणइ ॥ ६१३ ॥

व्याख्या—इह साधुना सदैव ग्रहीतव्यमलेपकृद्–वल्लचनकादि, माऽभूवन् लेपकृति गृह्यमाणे पश्चात्कर्मादयो दध्यादिलिप्तहस्ता-दिप्रक्षालनादिरूपा दोषाः, आदिशब्दात्कीटिकादिसंसक्तवस्त्रादिना मोच्छनादिपरिग्रहः, अतो लेपकृन्न ग्रहीतव्यम् । अलेपकृद्ग्रहणे गुणमाह–न च सदैवालेपकृतो ग्रहणे 'रसगृद्धिप्रसङ्गः' रसाभ्यवहारलाम्पट्यवृद्धिः, तस्मात्तदेव साधुभिः सदैवाभ्यवहार्यम् । एवमुक्ते सति चोदको भणति—

जइ पच्छकम्मदोसा हवंति मा चेव भुंजऊ सययं । तवनियमसंजमाणं चोयग! हाणी खमंतस्स ॥ ६१४ ॥

व्याख्या—यदि लेपकृद्ग्रहणे पश्चात्कर्मप्रभृतयो दोषा भवन्ति ततस्तन्न गृह्यते तर्हि मा कदाचनापि साधुर्भुङ्क्ताम्, एवं हि दोषाणां सर्वेषां मूलत एवोत्थानं निषिद्धं भवति, सूरिराह–हे चोदक! सर्वकालं क्षपयतः अनशनतपोरूपं क्षपणं कुर्वतः साधोश्चिर-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कालभावितपोनियमसंयमानां हानिर्भवति, तस्मान्न यावज्जीवं क्षपणं कार्यं । पुनरपि परः प्राह–यदि सर्वकालं क्षपणं कर्तुमशक्तस्तर्हि षण्मासक्षपणं कृत्वा पारणकमलेपकृता विधत्तां, गुरुराह–यद्येवं कुर्वस्तपःसंयमयोगान् कर्तुं शक्नोति तर्हि करोतु, न कोऽपि तस्य निषेद्धा, ततो भूयोऽपि चोदको ब्रूते–यद्येवं तर्हि षण्मासानुपोष्याचाम्लेन भुङ्क्तां, न चेच्छक्नोति तत एकदिनादिहान्या तावत्परिभावयेत् यावच्चतुर्थमुपोष्याचाम्लेन पारयेत्, एवमप्यसंस्तरणे सदैवालेपकृतं गृह्णीयात् । अमुमेव गाथया निर्दिशति—

लित्तंति भाणिऊणं छम्मासा हायए चउत्थं तु । आयंबिलस्स गहणं असंथरे अप्पलेवं तु ॥ ६१५ ॥

व्याख्या—लिप्तं सदोषमिति भणित्वाऽलेपकृद्भोक्तव्यं तीर्थकरगणधरैरनुज्ञातमिति गुरुवचनम् । अत्र चोदक आह–यावज्जीवमेव मा भुङ्क्तां, नो चेत् यावज्जीवमभोजनेन शक्नोति तर्हि षण्मासानुपोष्य आचाम्लेन भुङ्क्तां, न चेदेवमपि शक्नोति तत एकदिनादिहान्या तावदात्मानं तोलयेत् यावच्चतुर्थमुपोष्याचाम्लस्य ग्रहणं करोतु, एवमप्यसंस्तरणे–अशक्तावल्पलेपं गृह्णातु । एनामेव गाथां गाथाद्वयेन विवृणोति—

आयंबिलपारणए छम्मास निरंतरं तु खविऊणं । जइ न तरइ छम्मासे एगदिणूणं तओ कुणउ ॥ ६१६ ॥

एवं एक्केक्कदिणं आयंबिलपारणं खवेऊणं । दिवसे दिवसे गिण्हउ आयंबिलमेव निल्लेवं ॥ ६१७ ॥

व्याख्या—यदि सर्वकालं क्षपणं कर्तुमशक्तस्तर्हि षण्मासान्निरन्तरं क्षपयित्वा पारणके आचाम्लं करोतु, यदि षण्मासानुपवस्तुं न शक्नोति तत एकदिनोनान् करोतु, एवं षण्मासावधिरेकैकं दिनं परित्यज्याचाम्लेन पारणकं तावत्करोतु यावच्चतुर्थं, एवमप्यसामर्थ्ये दिवसे दिवसे गृह्णात्वाचाम्लं निर्लेपमिति ॥ गुरुराह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जइ से न जोगहाणी संपइ एसे व होइ तो खमओ। खमणंतरेण आयंबिलं तु निययं तवं कुणइ ॥ ६१८ ॥

व्याख्या—यदि 'से' तस्य साधोः 'सम्प्रति' तदात्वे एष्यति वा काले न योगहानिः–प्रत्युपेक्षणादिरूपसंयमयोगभ्रंशो न भवति तर्हि भवतु क्षपकः–षण्मासाद्युपवासकर्त्ता। तत्र च क्षपणानामेकैकदिनहान्या पूर्वोक्तस्वरूपाणामन्तरान्तरा पारणकमाचाम्लं करोतु, एवमप्यशक्तौ 'नियतं' सदैवाचाम्लरूपं तपः करोतु, केवलं सम्प्रति सेवार्त्तसंहननानां नास्ति तादृशी शक्तिरिति न तथोपदेशो विधीयते। पुनरपि पर आह—

हेट्ठावणि कोसलगा सोवीरगकूरभोईणो मणुया। जइ तेऽवि जवेंति तहा किं नाम जई न जाविंति ?॥ ६१९ ॥

व्याख्या—'अधोऽवनेयः' महाराष्ट्राः 'कोशलकाः' कोशलदेशोद्भवाः सदैव सौवीरककूरमात्रभोजिनः तेऽपि च सेवार्त्तसंहननाः, ततो यदि तेऽपीत्थं यापयन्ति यावज्जीवं तर्हि तथा–सौवीरककूरमात्रभोजनेन किं न यतयो मोक्षगमनैकबद्धकक्षा यापयन्ति ?, तैः सुतरामेवं यापनीयं, प्रभूतगुणसम्भवात्। अत्र सूरिराह—

तिय सीयं समणाणं तिय उण्ह गिहीण तेणणुन्नायं। तक्काईणं गहणं कट्टरमाईसु भइयव्वं ॥ ६२० ॥

व्याख्या—त्रिकं–वक्ष्यमाणं शीतं श्रमणानां, तेन प्रतिदिवसमाचाम्लकरणे तक्राद्यभावत आहारपाकासम्भवेनाजीर्णादयो दोषाः प्रादुष्यन्ति, तदेव त्रिकमुष्णं गृहिणां तेन सौवीरकूरमात्रभोजनेऽपि तेषामाहारपाकभावतो नाजीर्णादिदोषा जायन्ते, ततस्तेषां तथा यापयतामपि न कश्चिद्दोषः। साधूनां तूक्तनीत्या दोषः, तेन कारणेन तक्रादिग्रहणं साधूनामनुज्ञातम्। इह प्रायो यतिना विकृतिपरि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भोगपरित्यागेन सदैवात्मशरीरं यापनीयं, कदाचिदेव च शरीरस्यातिशयवत्त्वे संयमयोगवृद्धिनिमित्तं बलाधानाय विकृतिपरिभोगः, तथा चोक्तं सूत्रे—'अभिक्खणं निव्विगइं गया य' इति, विकृतिपरिभोगे च तक्रादेरेवोपयोगीति तक्रादिग्रहणं, 'कट्टरादिषु' घृतवटिको-न्मिश्रतीमनादिषु ग्रहणं भाज्यं—विकल्पनीयं, ग्लानत्वादिप्रयोजनोत्पत्तौ कार्यं, न शेषकालमिति भावः, तेषां बहुलेपत्वात् गृद्ध्यादि-जनकत्वाच्च। अथ किं तत्तक्रम्?, इत्यत आह—

आहार उवहि सेज्जा तिण्णिवि उण्हा गिहीण सीएऽवि। तेण उ जीरइ तेसिं दुहओ उसिणेण आहारो ॥ ६२१ ॥

व्याख्या—आहार उपधिः शय्या एतानि त्रीण्यपि गृहिणां 'शीतेऽपि' शीतकालेऽप्युष्णानि भवन्ति, तेन तेषां तक्रादिग्रहणमन्तरे-णापि 'दुहओ'त्ति उभयतो बाह्यतोऽभ्यन्तरतश्च 'उष्णेन' तापेनाहारो जीर्यते, तत्राभ्यन्तरो भोजनवशात्, बाह्यः शय्योपधिवशात् ॥

एयाइं चिय तिन्निवि जईण सीयाइं होंति गिम्हेवि। तेणुवहम्मइ अग्गी तओ य दोसा अजीराई ॥ ६२२ ॥

व्याख्या—एतान्येवाहारोपधिशय्यारूपाणि त्रीणि यतीनां 'ग्रीष्मेऽपि' ग्रीष्मकालेऽपि शीतानि भवन्ति, तत्राहारस्य शीतता भिक्षाचर्यायां प्रविष्टस्य बहुषु गृहेषु स्तोकस्तोकलाभेन बृहद्वेलालगनात्, उपधेरेकमेव वारं वर्षमध्ये वर्षाकालादर्वाक् प्रक्षालनेन मलिन-त्वात् शय्यायास्तु प्रत्यासन्नाग्निकरणाभावेन, तेन कारणेन ग्रीष्मकालेऽप्याहारादीनां शीतत्वसम्भवरूपेणोपहन्यते 'अग्निः' जाठरो वह्निः, तस्माच्चान्युपघातादोषाः 'अजीर्णादयः' अजीर्णबुभुक्षामान्द्यादयो जायन्ते, ततस्तक्रादिग्रहणं साधूनामनुज्ञातं, तक्रादिनापि हि जाठरोऽग्निरुद्दीप्यते, तेषामपि तथास्वभावत्वात्। सम्प्रत्यलेपानि द्रव्याणि प्रदर्शयति—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ओयण मंडग सत्तुग कुम्मासा रायमास कल वल्ला । तूयरि मसूर मुग्गा मासा य अलेवडा सुक्का ॥ ६२३ ॥

व्याख्या—'ओदनः' तण्डुलादिभक्तं 'मण्डकाः' कणिक्कमयाः प्रतीता एव 'सक्तवः' यवक्षोदरूपाः 'कुल्माषाः' उडदाः 'राजमाषाः' सामान्यतश्चवलाः श्वेतचवालिका वा, 'कला' वृत्तचनकाः, सामान्येन वा चनकाः 'वल्लाः' निष्पावाः, 'तुवरी' आढकी 'मसूरा' द्विदलविशेषा मुद्गा माषाश्च प्रतीताः, चकारादन्येऽप्येवंविधाः धान्यविशेषाः शुष्का अनार्द्रा–अलेपकृतः । सम्प्रत्यल्पलेपानि द्रव्याणि प्रदर्शयति—

उब्भिज्ज पिज्ज कंगू तक्कोल्लणसूवकंजिकढियाई । एए उ अप्पलेवा पच्छाकम्मं तहिं भइयं ॥ ६२४ ॥

व्याख्या—'उद्भेद्या' वस्तुलप्रभृतिशाकभर्जिका 'पेयाः' यूषागूः 'कंगूः' कोद्रवौदनः 'तक्रं' तक्राख्यम् 'उल्लणं' येनौदनमार्द्रीकृत्योपयुज्यते 'सूपः' राद्धमुद्गदाल्यादिः 'काञ्जिकं' सौवीरं 'क्वथितं' तीमनादि, आदिशब्दादन्यस्यैवंविधस्य परिग्रहः, एतानि द्रव्याण्यल्पलेपानि । एतेषु पश्चात्कर्म भाज्यं–कदाचिद्भवति कदाचिन्नेति भावः । सम्प्रति बहुलेपानि द्रव्याणि दर्शयति—

खीर दहि जाउ कट्टर तेल्ल घयं फाणियं सपिंडरसं । इच्चाई बहुलेवं पच्छाकम्मं तहिं नियमा ॥ ६२५ ॥

व्याख्या—'क्षीरं' दुग्धं 'दधि' प्रतीतं 'जाउ' क्षीरपेया 'कट्टरं' प्रागुक्तस्वरूपं तैलं घृतं च प्रतीतं, 'फाणितं' गुडपानकं 'सपिण्डरसम्' अतीव रसाधिकं खर्जूरादि इत्यादि द्रव्यजातं बहुलेपं द्रष्टव्यं । तत्र च पश्चात्कर्म नियमतः, अत एव यतयो दोषभीरवस्तानि न गृह्णन्ति । यदुक्तं—'पच्छाकम्मं तहिं भइयं'ति सम्प्रति तामेव भजनामष्टभङ्गिकया दर्शयति—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संसट्ठेयर हत्थो मत्तो विय दव्व सावसेसियरं । एएसु अट्ठ भंगा नियमा गहणं तु ओएसु ॥ ६२६ ॥

व्याख्या—दातुः सम्बन्धी हस्तः संसृष्टोऽसंसृष्टो वा भवति, मात्रकमपि च येन कृत्वा भिक्षां ददाति तदपि मात्रं संसृष्टमसंसृष्टं वा, द्रव्यमपि सावशेषं निरवशेषं वा, एतेषां च त्रयाणां पदानां संसृष्टहस्तसंसृष्टमात्रसावशेषद्रव्यरूपाणां सप्रतिपक्षाणां परस्परं संयोगतोऽष्टौ भङ्गा भवन्ति, ते चामी—संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यं १, संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यं २, संसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यं ३, संसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यं ४, असंसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यं ५, असंसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यं ६, असंसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यं ७, असंसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यं ८, एतेषु चाष्टसु भङ्गेषु मध्ये 'नियमात्' निश्चयेन 'ओजस्सु' विषमेषु भङ्गेषु प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमेषु 'ग्रहणम्' आदानं कर्त्तव्यं, न समेषु-द्वितीय-चतुर्थषष्ठाष्टमरूपेषु, इयं चात्र भावना—इह हस्तो मात्रं वा द्वे वा स्वयोगेन संसृष्टे वा भवतोऽसंसृष्टे वा न तद्वशेन पश्चात्कर्म सम्भवति, किं तर्हि ?—द्रव्यवशेन, तथाहि—यत्र द्रव्यं सावशेषं तत्रैते साध्वर्थं खरण्टिते अपि न दात्री प्रक्षालयति, भूयोऽपि परिवेषणसम्भवात्, यत्र तु निरवशेषं द्रव्यं तत्र साधुदानानन्तरं नियमतस्तद्द्रव्याधारस्थालीं हस्तं मात्रं वा प्रक्षालयति, ततो द्वितीयादिषु भङ्गेषु द्रव्ये निरवशेषे पश्चात्कर्मसम्भवान्न कल्पते, प्रथमादिषु तु पश्चात्कर्मासम्भवात्कल्पते इति । उक्तं विशुद्धारम्, अथ छर्दितद्वारमाह—

सच्चित्ते अच्चित्ते मीसग तह छड्डुणे य चउभंगो । चउभंगे पडिसेहो गहणे आणाइणो दोसा ॥ ६२७ ॥

व्याख्या—छर्दितमुज्झितं त्यक्तमिति पर्यायाः, तच्च त्रिधा, तद्यथा—सचित्तमचित्तं मिश्रं च, तदपि च कदाचिच्छर्द्यते 'सचित्ते'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सचित्तमध्ये कदाचिदचित्ते कदाचिन्मिश्रे, तत एवं छर्दने सचित्ताचित्तमिश्रद्रव्याणामाधारभूतानामाधेयभूतानां च संयोगतश्चतुर्भङ्गी भवति, अत्र जातावेकवचनं, ततोऽयमर्थः—तिस्रश्चतुर्भङ्ग्यो भवन्ति, तद्यथा—सचित्तमिश्रपदाभ्यामेका, सचित्ताचित्तपदाभ्यां द्वितीया, मिश्राचित्तपदाभ्यां तृतीया, तत्र सचित्ते सचित्तं छर्दितं मिश्रे सचित्तं सचित्ते मिश्रं मिश्रे मिश्रमिति प्रथमा, सचित्ते सचित्तम् अचित्ते सचित्तं सचित्तेऽचित्तम् अचित्तेऽचित्तमिति द्वितीया, मिश्रे मिश्रम् अचित्ते मिश्रं मिश्रेऽचित्तम् अचित्तेऽचित्तमिति तृतीया, सर्वे-सङ्ख्यया द्वादश भङ्गाः, सर्वेषु च भङ्गेषु सचित्तः पृथिवीकायः सचित्तपृथिवीकायमध्ये छर्दित इत्यादिरूपतया स्वस्थानपरस्था-नाभ्यां षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशद्विकल्पाः, ततः षट्त्रिंशद्द्वादशभिर्गुणिता जातानि चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि । एतेषु च सर्वेषु भङ्गेषु प्रतिषेधो—भक्तादिग्रहणनिवारणं, यदि पुनर्ग्रहणं कुर्यात्ततः 'आज्ञादयः' आज्ञाऽनवस्थामिथ्यात्वविराधनारूपा दोषाः । इह 'आद्य-न्तग्रहणे मध्यस्यापि ग्रहण'मिति न्यायादौद्देशिकादिदोषदुष्टानामपि भक्तादीनां ग्रहणे आज्ञादयो दोषा द्रष्टव्याः । सम्प्रति छर्दित-ग्रहणे दोषानाह—

उसिणस्स छड्डुणे देंतओ व डज्झेज्ज कायदाहो वा । सीयपडणंमि काया पडिए महुबिंदुआहरणं ॥ ६२८ ॥

व्याख्या—उष्णस्य द्रव्यस्य 'छर्दने' समुज्झने ददानो वा भिक्षां दह्यते, भूम्याश्रितानां वा 'कायानां' पृथिव्यादीनां दाहः स्यात्, शीतद्रव्यस्य भूमौ पतने भूम्याश्रिताः 'कायाः' पृथिव्यादयो विराध्यन्ते, तत्र पतिते मधुबिन्दूदाहरणं—वारत्तपुरं नाम नगरं, तत्राभयसेनो नाम राजा, तस्यामात्यको वारत्तकः, अन्यदा चात्वरितमचपलमसम्भ्रान्तमेषणासमितिसमेतो धर्मघोषनामा संयतो भिक्षामटँस्तस्य गृहं माविक्षत्, तद्भार्या च तस्मै भिक्षादानाय घृतखण्डसम्मिश्रपायसभृतं स्थालमुत्पाटितवती, अत्रान्तरे च कथमपि ततः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

खण्डसम्भिश्रो घृतबिन्दुर्भूमौ निपतितः, ततो भगवान् धर्मघोषो मुक्तिपदैकनिहितमानसो जलधिरिव गम्भीरो मेरुरिव निष्प्रकम्पो वसुधेव सर्वंसहः शङ्ख इव रागादिभिररञ्जनो महाशुभट इव कर्मरिपुविदारणनिबद्धकक्षो भगवदुपदिष्टभिक्षाग्रहणविधिविधानकृतोद्यमो भिक्षेयं छर्दितदोषदुष्टा तस्मान्न मे कल्पते इति परिभाव्य ततो निर्जगाम, वारत्तकेन चामात्येन मत्तवारणस्थितेन दृष्टो भगवान् निर्गच्छन्, चिन्तयति च स्वचेतसि—किमनेन भगवता न गृह्यते स्म मे गृहे भिक्षेति ?, एवं च यावच्चिन्तयति तावत्तं भूमौ निपतितं खण्डयुक्तं घृतबिन्दुं मक्षिकाः समागत्याशिश्रियन्, तासां च भक्षणाय प्रधाविता गृहगोधिका, गृहगोधिकाया अपि वधाय प्रधावितः सरटः, सरटस्यापि च भक्षणाय प्रधावति स्म मार्जारी, तस्या अपि च वधाय प्रधावितः प्राघूर्णकः श्वा, तस्यापि च प्रतिद्वन्द्वी प्रधावितोऽन्यो वास्तव्यः श्वा, ततो द्वयोरपि तयोः शुनोरभूत् परस्परं कलहः, ततः स्वस्वसारमेयपराभवदूनमनस्कतया प्रधावितयोर्द्वयोरपि तत्स्वामिनोरभूत् परस्परमस्यसि युद्धम्, एतच्च सर्वं वारत्तकामात्येन परिभावितं, ततश्चिन्तयति स्वचेतसि—घृतादेर्बिन्दुमात्रेऽपि भूमौ निपतिते यत एवमधिकरणप्रवृत्तिः अत एवाधिकरणभीरुर्भगवान् घृतबिन्दुं भूमौ निपतितमवलोक्य भिक्षां न गृहीतवान्, अहो ! सुदृष्टो भगवता धर्मः, को हि नाम भगवन्तं सर्वज्ञमन्तरेणेत्थमनपायिनं धर्ममुपदेष्टुमीशः ?, न खल्वंधो रूपविशेषं जानाति, एवमसर्वज्ञोऽपि नेत्थं सकलकालमनपायं धर्ममुपदेष्टुमलं, तस्माद्भगवानेव सर्वज्ञः, स एव च मे जिनो देवता, तदुक्तमेवानुष्ठानं मयाऽनुष्ठातव्यमित्यादि विचिन्त्य संसारविमुखप्रज्ञो मुक्तिवनिताश्लेषसुखलम्पटः सिंह इव गिरिकन्दराया निजप्रासादाद्विनिर्गत्य धर्मघोषस्य साधोरुपकण्ठं प्रव्रज्यामग्रहीत्, स च महात्मा शरीरेऽपि निःस्पृहो यथोक्तभिक्षाग्रहणादिविधिसेवी संयमानुष्ठानपरायणः स्वाध्यायभावितान्तःकरणो दीर्घकालं संयममनुपाल्य जातप्रतनुकर्मा समुच्छलितदुर्निवार्यवीर्यप्रसरः क्षपकश्रेणिमारुह्य घातिकर्मचतुष्टयं समूलघातं हत्वा, केवलज्ञानलक्ष्मीमासा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

दितवान्, ततः कालक्रमेण सिद्ध इति । उक्तमेप्रणाद्वारं, सम्प्रति संयोजनादीनि द्वाराणि वक्तव्यानि, तानि च ग्रासैषणारूपाणीति प्रथमतो ग्रासैषणाया निक्षेपमाह—

णामं ठवणा दविए भावे घासेसणा मुणेयव्वा । दव्वे मच्छाहरणं भावंमि य होइ पंचविहा ॥ ६२९ ॥

व्याख्या—ग्रासैषणा चतुर्द्धा, तद्यथा—नामग्रासैषणा स्थापनाग्रासैषणा 'द्रव्ये' द्रव्यविषया ग्रासैषणा 'भावे' भावविषया ग्रासैषणा । तत्र नामग्रासैषणा स्थापनाग्रासैषणा द्रव्यग्रासैषणाऽपि यावद्द्रव्यशरीररूपा ग्रहणैषणेव भावनीया, ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तायां तु ग्रासैषणायां मत्स्यः 'उदाहरणं' दृष्टान्तः । भावविषया पुनर्ग्रासैषणा द्विधा, तद्यथा—आगमतो नोआगमतश्च, तत्रागमतो ज्ञाता तत्र चोपयुक्तः, नोआगमतो द्विधा, तद्यथा—प्रशस्ताऽप्रशस्ता च, तत्र प्रशस्ता संयोजनादिदोषरहिता, अप्रशस्ता संयोजनादिरूपा, तामेव निर्दिशति—'भावंमि य' इत्यादि, भावे—भावविषया पुनः ग्रासैषणा 'पञ्चविधा' संयोजनादिभेदात् पञ्चप्रकारा । तत्र द्रव्यग्रासैषणोदाहरणस्य सम्बन्धमाह—

चरियं व कप्पियं वा आहरणं दुविहमेत्र नायव्वं । अत्थस्स साहणट्ठा इंधणमिव ओयणट्ठाए ॥ ६३० ॥

व्याख्या—इह विवक्षितस्यार्थस्य 'साधनार्थं' प्रतिपादनार्थं द्विविधमुदाहरणं ज्ञातव्यं, तद्यथा—चरितं कल्पितं च, कथमिव विवक्षितस्यार्थस्य प्रसाधनायोदाहरणं भवतीत्यत आह—'इन्धनमिव ओदनार्थम्' इन्धनमिवौदनस्येति भावः, तत्र प्रस्तुतस्यार्थस्य प्रसाधनार्थमिदं कल्पितमुदाहरणं–कोऽप्येको मत्स्यबन्धी मत्स्यग्रहणनिमित्तं सरो गतवान्, गत्वा च तेन तटस्थेनाग्रभागे मांसपेशी-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ ग्रासैषणा विषयक दोष-आदि वर्णनं विस्तरेण वर्णयते

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||६३१||

दीप अनुक्रम [६७३]

समेतो गलः सरोमध्ये प्रचिक्षिपे, तत्र च सरसि परिणतबुद्धिरेको महादक्षो जीर्णमत्स्यो वर्त्तते, स गलगतमांसगन्धमाघ्राय तद्भक्षणार्थं गलस्य समीपमुपागत्य यत्नतः पर्यन्ते पर्यन्ते सकलमपि मांसं खादित्वा पुच्छेन च गलमाहत्य दूरतोऽपचक्राम, मत्स्यबन्धी च गृहीतो गलेन मत्स्य इति विचिन्त्य गलमाकृष्टवान्, पश्यति मत्स्यमांसपेशीरहितं गलं, ततो भूयोऽपि मांसपेशीसहितं गलं प्रचिक्षेप, तथैव च स मत्स्यो मांसं खादित्वा पुच्छेन च गलमाहत्य पलायितवान्, एवं त्रीन् वारान् मत्स्यो मांसं खादितवान्, न च गृहीतो मत्स्यबन्धेन ।

अह मंसंमि पहीणे झायंतं मच्छियं भणइ मच्छो । किं झायसि तं एवं सुण ताव जहा अहिरिओऽसि ॥६३१॥

व्याख्या—अथ मांसे प्रक्षीणे ध्यायन्तं मात्स्यिकं मत्स्यो भणति, यथा किं त्वमेवं 'ध्यायसि' चिन्तयसि ?, शृणु तावद्यथा त्वम् 'अहीकः' निर्लज्जो भवसि ।

तिबलागमुहुम्मुक्को, तिक्खुत्तो वलयामुहे । तिसत्तक्खुत्तो जालेणं, सइ छिन्नोदए दहे ॥ ६३२ ॥

व्याख्या—अहमेकदा त्रीन् वारान् बलाकाया मुखादुन्मुक्तः, तथाहि–कदाचिदहं बलाकया गृहीतः, तथा (तः) तया मुखे प्रक्षेपार्थमूर्द्ध्वमुत्क्षिप्तस्ततो मया चिन्तितं–यद्यहमृजुरेवास्या मुखे निपतिष्यामि तर्हि पतितोऽयं मुखे इति न मे प्राणकुशलं, तस्मात्तिर्यगिपतामीत्येवं विचिन्त्य दक्षतया तथैव कृतं, परिभ्रष्टस्तस्या मुखात्ततो भूयोऽपि तयोर्द्ध्वमुत्क्षिप्तस्तथैव च द्वितीयमपि वारं मुखात्परिभ्रष्टः, तृतीयवेलायां तु जले निपतितस्ततो दूरं पलायितः, तथा 'त्रिकृत्वः' त्रीन् वारान् 'वलयामुखे' वेलामुखे भ्राष्ट्ररूपे निपतितोऽपि दक्षतया शीघ्रं वेलयैव सह विनिर्गतः, तथा 'त्रिसप्तकृत्वः' एकविंशतिवारान् मात्स्यिकेन प्रक्षिप्ते जाले पतितोऽपि यावन्नाद्यापि स मत्स्यबन्धी संको-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

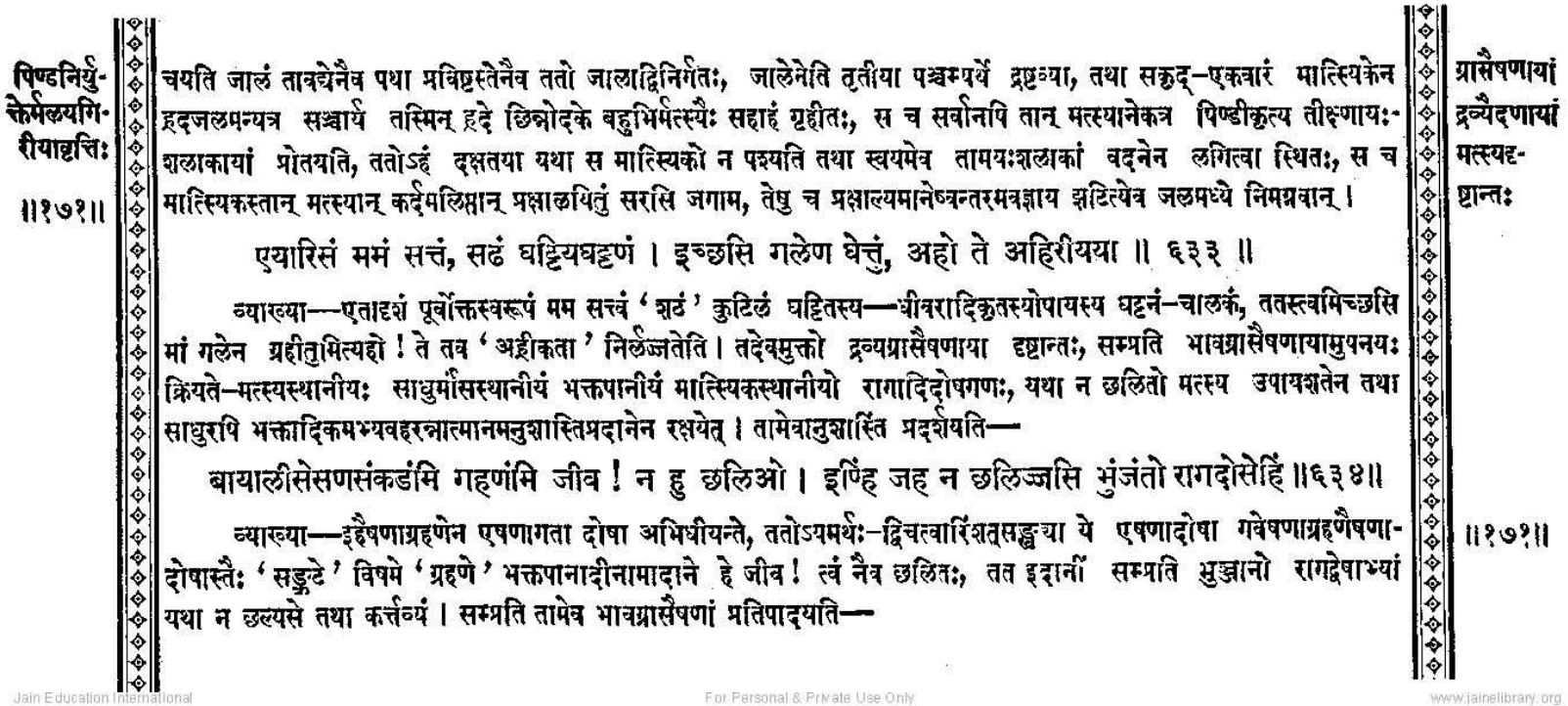

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः

॥१७१॥

चयति जालं तावच्चेनैव पथा प्रविष्टस्तेनैव ततो जालाद्विनिर्गतः, जालेनेति तृतीया पञ्चम्यर्थे द्रष्टव्या, तथा सकृद्–एकवारं मात्स्यिकेन हृदजलमन्यत्र सञ्चार्य तस्मिन् हृदे छिन्नोदके बहुभिर्मत्स्यैः सहाहं गृहीतः, स च सर्वानपि तान् मत्स्यानेकत्र पिण्डीकृत्य तीक्ष्णायः-शलाकायां प्रोतयति, ततोऽहं दक्षतया यथा स मात्स्यिको न पश्यति तथा स्वयमेव तामयःशलाकां वदनेन लगित्वा स्थितः, स च मात्स्यिकस्तान् मत्स्यान् कर्दमलिप्तान् प्रक्षालयितुं सरसि जगाम, तेषु च प्रक्षाल्यमानेष्वन्तरमवज्ञाय झटित्येव जलमध्ये निमग्नवान्।

एयारिसं ममं सत्तं, सढं घट्टियघट्टणं। इच्छसि गलेण घेत्तुं, अहो ते अहिरीयया ॥ ६३३ ॥

व्याख्या—एतादृशं पूर्वोक्तस्वरूपं मम सत्त्वं 'शठं' कुटिलं घट्टितस्य—धीवरादिकृतस्योपायस्य घट्टनं–चालकं, ततस्त्वमिच्छसि मां गलेन ग्रहीतुमित्यहो! ते तव 'अह्रीकता' निर्लज्जतेति। तदेवमुक्तो द्रव्यग्रासैषणाया दृष्टान्तः, सम्प्रति भावग्रासैषणायामुपनयः क्रियते–मत्स्यस्थानीयः साधुर्मांसस्थानीयं भक्तपानीयं मात्स्यिकस्थानीयो रागादिदोषगणः, यथा न छलितो मत्स्य उपायशतेन तथा साधुरपि भक्तादिकमभ्यवहरन्नात्मानमनुशास्तिप्रदानेन रक्षयेत्। तामेवानुशास्तिं प्रदर्शयति—

बायालीसेसणसंकडंमि गहणंमि जीव! न हु छलिओ। इण्हिं जह न छलिज्जसि भुंजंतो रागदोसेहिं ॥६३४॥

व्याख्या—इहैषणाग्रहणेन एषणागता दोषा अभिधीयन्ते, ततोऽयमर्थः–द्विचत्वारिंशत्सङ्ख्या ये एषणादोषा गवेषणाग्रहणैषणा-दोषास्तैः 'सङ्कटे' विषमे 'ग्रहणे' भक्तपानादीनामादाने हे जीव! त्वं नैव छलितः, तत इदानीं सम्प्रति भुञ्जानो रागद्वेषाभ्यां यथा न छल्यसे तथा कर्त्तव्यं। सम्प्रति तामेव भावग्रासैषणां प्रतिपादयति—

ग्रासैषणायां द्रव्यैदणायां मत्स्यदृष्टान्तः

॥१७१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

घासेसणा उ भावे होइ पसत्था तहेव अपसत्था । अपसत्था पंचविहा तब्विवरीया पसत्था उ ॥ ६३५ ॥

व्याख्या—'भावे' भावविषया ग्रासैषणा द्विविधा, तद्यथा–प्रशस्ताऽप्रशस्ता च, तत्राप्रशस्ता पञ्चविधा संयोजनातिबहुकाङ्गार-धूमनिष्कारणरूपा, तद्विपरीता संयोजनादिदोषरहिता प्रशस्ता । सम्प्रति संयोजनामेव व्याचिख्यासुः प्रथमतस्तस्या निक्षेपमाह—

दव्वे भावे संजोअणा उ दव्वे दुहा उ बहिअंतो । भिक्खं चिय हिंडंतो संजोयंतंमि बाहिरिया ॥ ६३६ ॥

व्याख्या—संयोजना द्विधा, तद्यथा–'द्रव्ये' द्रव्यविषया 'भावे' भावविषया, तत्र 'द्रव्ये' द्रव्यविषया संयोजना द्विविधा, तद्यथा–बहिरन्तश्च, तत्र यदा भिक्षार्थमेव हिण्डमानः सन् क्षीरादिकं खण्डादिभिः सह रसगृद्धया रसविशेषोत्पादनाय संयोजयति एषा 'बाह्या' बहिर्भवा संयोजना । एनामेव स्पष्टं भावयति—

खीरदहिसूवकट्टरलंभे गुडसप्पिवडगवालुंके । अंतो उ तिहा पाए लंबण वयणे विभासा उ ॥ ६३७ ॥

व्याख्या—'क्षीरदधिसूपानां' प्रतीतानां कट्टरस्य–तीमनोन्मिश्रघृतवटिकारूपस्य देशविशेषप्रसिद्धस्य लाभे सति तथा गुडस-र्पिर्वेटकवालुङ्कानां च प्राप्तौ सत्यां रसगृद्धया रसविशेषोत्पादनायानुकूलद्रव्यैः सह संयोजनां यत्करोति बहिरेव भिक्षामटन् एषा बाह्या द्रव्यसंयोजना । अभ्यन्तरा पुनर्यद्गृहतावागत्य भोजनवेलायां संयोजयति, तथा चाह–'अन्तस्तु' अभ्यन्तरा पुनः संयोजना 'त्रिधा' त्रिप्रकारा, तद्यथा–पात्रे लम्बने वदने च, नवरं 'लम्बनं' कवलः, ततोऽस्यास्त्रिविधाया अपि 'विभाषा' व्याख्या कर्त्तव्या, सा चैवं–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यद्द्रव्यं यस्य द्रव्यस्य रसविशेषाधायि तत्तेन सह पात्रे रसगृद्ध्या संयोजयति, यथा सुकुमारिकादिकं खण्डादिना सह, एषा पात्रेऽभ्यन्तरा संयोजना, यदा तु हस्तगतमेव कवलतयोत्पाटितचूर्णं सुकुमारिकादि खण्डादिना सह संयोजयति तदा कवलेऽभ्यन्तरा संयोजना, यदा पुनर्वदने कवलं प्रक्षिप्य ततः शालनकं प्रक्षिपति यद्वा मण्डकादिकं पूर्वं प्रक्षिप्य पश्चाद्गुडादिकं प्रक्षिपति एषा वदनेऽभ्यन्तरा संयोजना । एषा च द्रव्यसंयोजना समस्ताऽप्यप्रशस्ता, यतोऽनयाऽऽत्मानं रागद्वेषाभ्यां संयोजयति ॥ तथा चामुमेव दोषं वक्तुकाम आह—

संयोयणाए दोसो जो संजोएइ भत्तपाणं तु । दव्वाई रसहेउं वाघाओ तस्सिमो होइ ॥ ६३८ ॥

व्याख्या—'संयोजनायां' प्रागुक्तस्वरूपायामयं दोषः–'दव्वाई रसहेउ'न्ति, अत्रार्षत्वादादिशब्दस्य व्यत्यासेन योजना, ततोऽयमर्थः–द्रव्यस्य सुकुमारिकादेः रसहेतोः–रसविशेषोत्पादनाय, आदिशब्दाच्छुभगन्धादिनिमित्तं च, यो भक्तं पानं चानुकूलद्रव्येण खण्डादिना सह संयोजयति तस्य साधोरयं–वक्ष्यमाणः 'व्याघातः' दीर्घदुःखोपनिपातरूपो भवति ॥ तमेव भावयन् भावसंयोजनामप्याह—

संजोयणा उ भावे संजोएऊण ताणि दव्वाइं । संजोयइ कम्मेणं कम्मेण भवं तओ दुक्खं ॥ ६३९ ॥

व्याख्या—तानि हि सुकुमारिकाखण्डादीनि द्रव्याणि रसगृद्ध्या संयोजयन्नात्मानमप्रशस्तेन गृद्ध्यात्मकेन भावेन संयोजयति, एषा 'भावे' भावविषया संयोजना, ततस्तानि द्रव्याणि तथा संयोज्यात्मनि 'कर्म' ज्ञानावरणीयादिकं 'संयोजयति' सम्बध्नाति,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्मणा च संयोजयति 'भवं' दीर्घतरं संसारं, तस्माच्च भवाद्दीर्घतरसंसाररूपात् 'दुःखम्' असातं संयोजयति, ततो यो द्रव्यसंयोजनां करोति तस्येत्थमनन्तकालसंवेद्यो दुःखनिपात इति । सम्प्रत्यस्या एव द्रव्यसंयोजनाया अपवादमाह—

पत्ते य पउरलंभे भुत्तुव्वरिए य सेसगमणट्ठा । दिट्ठो संजोगो खलु अह कम्मो (क्कमो) तरिसमो होइ ॥६४०॥

व्याख्या—'प्रत्येकम्' एकैकं साधुसङ्घाटकं प्रति 'प्रचुरलाभे' विपुलघृतादिप्राप्तौ सत्यां यदि कथमपि भुक्ते सति 'चः' समुच्चये शेषं–उद्धरितं भवति, ततस्तस्य शेषस्य निर्गमनार्थं दृष्टः–अनुज्ञातस्तीर्थकरादिभिः खलु संयोगः, उद्धरितं हि घृतादि न खण्डादिकमन्तरेण मण्डकादिभिरपि सह भोक्तुं शक्यते, प्रायस्तृप्तत्वात्, न च परिष्ठापनं युक्तं, घृतादिपरिष्ठापने स्निग्धत्वात् पश्चादपि कीटिकादिसत्त्वव्याघातसम्भवेन बृहत्तरप्रायश्चित्तसम्भवात्, तत उद्धरितघृतादिनिर्गमनार्थं खण्डादिभिरपि तस्य संयोजनं न दोषायैष तावदयमपवादः संयोजनायाः । अथान्योऽपि तस्य संयोगस्यायं–वक्ष्यमाणः क्रमो भवन परिपाटीरूपो भवति ॥ तमेवाह—

रसहेउं पडिसिद्धो संयोगो कप्पए गिलाणट्ठा । जस्स व अभत्तछंदो सुहोचिओऽभाविओ जो य ॥ ६४१ ॥

व्याख्या—'रसहेतोः' गृद्ध्या रसविशेषोत्पादनाय संयोगः प्रतिषिद्धस्तीर्थकरादिभिः, यावता पुनः स एव संयोगो 'ग्लानार्थं' ग्लानसञ्जीकरणार्थं कल्पते, यद्वा यस्य 'अभक्तच्छन्दः' भक्तारोचकः, यश्च सुखोचितो–राजपुत्रादिः यश्चाद्याप्यभावितः–असञ्जातसम्यक्परिणामः शैक्षकस्तस्य निमित्तं कल्पते । उक्तं संयोजनाद्वारम्, अथाहारप्रमाणद्वारमाह—

बत्तीसं किर कवला आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ । पुरिसस्स महिलियाए अट्ठावीसं भवे कवला ॥६४२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः

व्याख्या—पुरुषस्य कुक्षिपूरक आहारो मध्यप्रमाणो द्वात्रिंशत्कवलाः 'किले'त्याहारस्य मध्यप्रमाणतासंसूचकः, महेलायाः कुक्षिपूरक आहारो मध्यमप्रमाणोऽष्टाविंशतिः कवलाः, नपुंसकस्य चतुर्विंशतिः, स चात्र न गृहीतो, नपुंसकस्य प्रायः प्रव्रज्यानर्हत्वात्, कवलानां प्रमाणं कुक्कुट्यण्डं, कुक्कुटी च द्विधा–द्रव्यकुक्कुटी भावकुक्कुटी च, द्रव्यकुक्कुट्यपि द्विधा–उदरकुक्कुटी गलकुक्कुटी च, तत्र साधोरुदरं यावन्मात्रेणाहारेण न न्यूनं नाप्याध्मातं भवति स आहार उदरकुक्कुटी, उदरपूरक आहारः कुक्कुटीव वा उदरकुक्कुटीति मध्यपदलोपिसमासाश्रयणात्, तस्य द्वात्रिंशत्तमो भागोऽण्डकं, तत्प्रमाणं कवलस्य, तथा गलः कुक्कुटीव गलकुक्कुटी, गल एव कुक्कुटीत्यर्थः, तस्यान्तरालमण्डकं, किमुक्तं भवति ?–अविकृतास्यस्य पुंसो गलान्तराले यः कवलोऽविलग्नः प्रविशति तावत्प्रमाणं [कवलस्य,] कवलमश्नीयात् अथवा शरीरमेव कुक्कुटी तन्मुखमण्डकं, तत्रास्किपोलभ्रुवां विकृतिमनापाद्य यः कवलो मुखे प्रविशति तत्प्रमाणम्। अथवा कुक्कुटी–पक्षिणी तस्या अण्डकं प्रमाणं कवलस्य, भावकुक्कुटी येनाहारेण भुक्तेन न न्यूनं नाप्यत्याध्मातमुदरं भवति धृतिं च समुद्वहति ज्ञानदर्शनचारित्राणां च वृद्धिरुपजायते तावत्प्रमाण आहारो भावकुक्कुटी, अत्र भावस्य प्राधान्यविवक्षणादेष प्राक् द्रव्यकुक्कुट्यप्युक्त इह भावकुक्कुट्युक्तः, तस्य द्वात्रिंशत्तमो भागोऽण्डकं, तत्प्रमाणं कवलस्य ।

एत्तो किणाइ हीणं अद्धं अद्धद्धगं च आहारं । साहुस्स बिंति धीरा जायामायं च ओमं च ॥ ६४३ ॥

व्याख्या—'एतस्मात्' द्वात्रिंशत्कवलप्रमाणाहारात् 'किणाइ' इति किञ्चिन्मात्रया एकेन द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिर्वा कवलैः साधोर्हीनं हीनतरं यावदर्द्धम् अर्द्धस्याप्यर्द्धमाहारं यात्रामात्राहारं धीराः–तीर्थकृदादयो ब्रुवते, न्यूनं च । एष यात्रामात्राहार एष एव चावमाहार इति भावः । तदेवमुक्तमाहारप्रमाणं, सम्प्रति प्रमाणदोषानाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पगामं च निगामं च, पनीयं भत्तपाणमाहरे । अइबहुयं अइबहुसो, पमाणदोसो मुणेयव्वो ॥ ६४४ ॥

व्याख्या—यः प्रकामं निकामं प्रणीतं वा भक्तपानमाहारयति तथाऽतिबहुकमतिबहुशश्च तस्य प्रमाणदोषो ज्ञातव्यः । सम्प्रति प्रकामादिस्वरूपमाह—

बत्तीसाइ परेणं पगाम निच्चं तमेव उ निकामं । जं पुण गलंतनेहं पणीयमिति तं बुहा बेंति ॥ ६४५ ॥

व्याख्या—द्वात्रिंशदादिकवलेभ्यः 'परेण' परतो भुञ्जानस्य यद्भोजनं तत्प्रकामभोजनं, 'तमेव तु' प्रमाणातीतमाहारं प्रतिदिवसमश्नतो निकामभोजनं, यत्पुनर्गलत्स्नेहं भोजनं तत्प्रणीतं 'बुधाः' तीर्थकृदादयो ब्रुवते । तथा—

अइबहुयं अइबहुसो अइप्पमाणेण भोयणं भोत्तुं । हाएज्ज व वामिज्ज व मारिज्ज व तं अजीरंतं ॥ ६४६ ॥

व्याख्या—अतिबहुकं—वक्ष्यमाणस्वरूपमतिबहुशः—अनेकशोऽतृप्यता सता भोजनं—भुक्तं सत् 'हादयेत्' अतीसारं कुर्यात्, तथा वामयेत्, यद्वा तदजीर्यन्मारयेत्, तस्मान्न प्रमाणातिक्रमः कर्त्तव्य इति । सम्प्रत्यतिबह्वादिस्वरूपमाह—

बहुयातीयमइबहुं अइबहुसो तिन्नि तिन्नि व परेणं । तं चिय अइप्पमाणं भुंजइ जं वा अतिप्पंतो ॥ ६४७ ॥

व्याख्या—बहुकातीतम्—अतिशयेन बहु, अतिशयेन निजप्रमाणाभ्यधिकमित्यर्थः, तथा दिवसमध्ये यस्त्रीन् वारान् भुङ्क्ते, त्रिभ्यो वा वारेभ्यः परतस्तद्भोजनमतिबहुशः, तदेव वारत्रयातीतमतिप्रमाणमुच्यते, 'अइप्पमाणे'त्यवयवो व्याख्यातः, अस्यैव प्रकारान्तरेण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्यानमाह—भुंक्ते यद्वाऽतृप्यन् एष 'अइप्पमाण' इत्यस्य शब्दस्यार्थः, 'अइप्पमाणे' इत्यत्र च नञ्प्रत्ययस्ताच्छील्यविवक्षायां यद्वा प्राकृतलक्षणवशादिति । सम्प्रति प्रमाणयुक्तहीनहीनतरादिभोजने गुणमाह—

हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा । न ते विज्जा तिगिच्छंति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा ॥ ६४८ ॥

व्याख्या—हितं द्विधा–द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतोऽविरुद्धानि द्रव्याणि, भावत एषणीयं, तदाहारयन्ति ये ते हिताहाराः, 'मितं' प्रमाणोपेतमाहारयन्तीति मिताहाराः, द्वात्रिंशत्कवलप्रमाणादप्यल्पमल्पतरं वाऽऽहारयन्तीत्यल्पाहाराः, सर्वत्र वा बहुव्रीहिः, हित आहारो येषां ते हिताहारा इत्यादि, एवंविधा ये नरास्तान् वैद्या न चिकित्सन्ति, हितमितादिभोजनेन तेषां रोगस्यैवासम्भवात्, किन्त्वेवं मूलत एव रोगोत्थानप्रतिषेधकरणेनात्मनैवात्मनस्ते चिकित्सिकाः । साम्प्रतमहितहितस्वरूपमाह—

तेल्लदहिसमाओगा अहिओ खीरदहिकंजियाणं च । पत्थं पुण रोगहरं न य हेऊ होइ रोगस्स ॥ ६४९ ॥

व्याख्या—दधितैलयोस्तथा क्षीरदधिकाञ्जिकानां च यः समायोगः सोऽहितः, विरुद्ध इत्यर्थः, तथा चोक्तम्—"शाकाम्लफलपिण्याककपित्थलवणैः सह । करीरदधिमत्स्यैश्च, प्रायः क्षीरं विरुध्यते ॥ १ ॥" इत्यादि, अविरुद्धद्रव्यमीलनं पुनः पथ्यं, तच्च 'रोगहरं' प्रादुर्भूतरोगविनाशकरं, न च भाविनो रोगस्य 'हेतुः' कारणम्, उक्तं च—"अहिताशनसम्पर्कात्, सर्वरोगोद्भवो यतः । तस्मात्तदहितं त्याज्यं, न्याय्यं पथ्यनिषेवणम् ॥ १ ॥" साम्प्रतं मितं व्याचिख्यासुराह—

अद्धमसणस्स सव्वंजणस्स कुज्जा दवस्स दो भागे । वाऊपवियारणट्ठा छब्भायं ऊणयं कुज्जा ॥ ६५० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—इह किल सर्वमुदरं षड्भिर्भागैर्विभज्यते, तत्र चार्द्धं भागत्रयरूपमशनस्य सव्यञ्जनस्य–तक्रशाकादिसहितस्याधारं कुर्यात्, तथा द्वौ भागौ द्रवस्य पानीयस्य, षष्ठं तु भागं वायुप्रविचारणार्थमूनं कुर्यात् । इह कालापेक्षया तथा तथाऽऽहारस्य प्रमाणं भवति, कालश्च त्रिधा, तथा चाह—

सिओ उसिणो साहारणो य कालो तिहा मुणेयव्वो । साहारणंमि काले तत्थाहारे इमा मत्ता ॥ ६५१ ॥

व्याख्या—त्रिधा कालो ज्ञातव्यः, तद्यथा–शीत उष्णः साधारणश्च, तत्र तेषु कालेषु मध्ये साधारणे काले 'आहारे' आहार-विषया 'इयम्' अनन्तरोक्ता 'मात्रा' प्रमाणं—

सीए दवस्स एगो भत्ते चत्तारि अहव दो पाणे । उसिणे दवस्स दोन्नि उ तिन्नि व सेसा उ भत्तस्स ॥६५२॥

व्याख्या—'शीते' अतिशयेन शीतकाले 'द्रवस्य' पानीयस्यैको भागः कल्पनीयः, चत्वारः 'भक्ते' भक्तस्य, मध्यमे तु शीत-काले द्वौ भागौ पानीयस्य कल्पनीयौ त्रयस्तु भागा भक्तस्य, वाशब्दो मध्यमशीतकालसंसूचनार्थः, तथा 'उष्णे' मध्यमोष्णकाले द्वौ भागौ 'द्रवस्य' पानीयस्य कल्पनीयौ, शेषास्तु त्रयो भागा भक्तस्य, अत्युष्णे च काले त्रयो भागा द्रवस्य शेषौ द्वौ भागौ भक्तस्य, वाशब्दोऽत्रात्युष्णकालसंसूचनार्थः, सर्वत्र च षष्ठो भागो वायुप्रविचारणार्थं मुत्कलो मोक्तव्यः । सम्प्रति भागानां स्थिरचरविभागप्र-दर्शनार्थमाह—

एगो दवस्स भागो अवट्ठितो भोयणस्स दो भागा । वड्ढंति व हायंति व दो दो भागा उ एक्केक्के ॥ ६५३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—एको द्रवस्य भागोऽवस्थितो द्वौ भागौ भोजनस्य, शेषौ तौ द्वौ द्वौ भागौ एकैकस्मिन्, भक्ते पाने चेत्यर्थः, वर्द्धेते वा हीयेते वा, वृद्धिं वा व्रजतो हानिं वा व्रजत इत्यर्थः, तथाहि–अतिशीतकाले द्वौ भागौ भोजनस्य वर्द्धेते अत्युष्णकाले च पानीयस्य अत्युष्णकाले च द्वौ भागौ भोजनस्य हीयेते अतिशीतकाले च पानीयस्य । एतदेव स्पष्टं भावयति—

एत्थ उ तइयचउत्था दोण्णि य अणवट्ठिया भवे भागा । पंचमछट्ठो पढमो बिइओऽवि अवट्ठिया भागा ॥६५४॥

व्याख्या—आहारविषयौ तृतीयचतुर्थौ भागावनवस्थितौ, तौ ह्यतिशीतकाले भवतोऽप्युष्णकाले च न भवतः, तथा यः पानविषयः पञ्चमो भागो यश्च वायुप्रविचारणार्थं षष्ठो भागः यौ च प्रथमद्वितीयावाहारविषयौ एते सर्वेऽपि भागा अवस्थिताः, न कदाचिदपि न भवन्तीति भावः । तदेवमुक्तं प्रमाणद्वारम्, अथ साङ्गारसधूमद्वारमाह—

तं होइ सइंगालं जं आहारेइ मुच्छिओ संतो । तं पुण होइ सधूमं जं आहारेइ निंदंतो ॥ ६५५ ॥

व्याख्या—तद्भवति भोजनं साङ्गारं यत्तद्गतविशिष्टगन्धरसास्वादवशतो जाततद्विषयमूर्च्छः सन्नहो ! मिष्टं अहो ! सुसम्भृतं अहो ! स्निग्धं सुपक्वं सुरसमित्येवं प्रशंसन्नाहारयति, तत्पुनर्भवति भोजनं सधूमं यत्तद्गतविरूपरसगन्धास्वादतो जाततद्विषयव्यलीकचित्तः सन् अहो ! विरूपं कथितमपक्वमसंस्कृतमलवणं चेति निन्दन्नाहारयति, अयं चात्र भावार्थः–इह द्विविधा अङ्गाराः, तद्यथा—द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतः कृशानुदग्धाः खदिरादिवनस्पतिविशेषाः, भावतो रागाग्निना निर्दग्धं चरणेन्धनं । धूमोऽपि द्विधा, तद्यथा—द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतो योऽर्द्धदग्धानां काष्ठानां सम्बन्धी, भावतो द्वेषाग्निना दह्यमानस्य चरणेन्धनस्य सम्बन्धी कलुषभावो निन्दात्मकः, ततः सहाङ्गारेण यद्वर्त्तते तत्साङ्गारं, धूमेन सह वर्त्तते यत्तत्सधूमं । सम्प्रत्यङ्गारधूमयोर्लक्षणमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अंगारत्तमपत्तं जलमाणं इंधणं सधूमं तु । अंगारत्ति पवुच्चइ तं चिय दड्ढं गए धूमे ॥ ६५६ ॥

व्याख्या—अङ्गारत्वमप्राप्तं ज्वलदिन्धनं सधूममुच्यते, तदेवेन्धनं दग्धं धूमे गते सत्यङ्गार इति, एवमिहापि चरणेन्धनं रागाग्निना निर्दग्धं सदङ्गार इत्युच्यते , द्वेषाग्निना तु दह्यमानं चरणेन्धनं सधूमं, निन्दात्मककलुषभावरूपधूमसम्मिश्रत्वात् । एतदेव भावयति—

रागग्गिसंपलित्तो भुंजंतो फासुयंपि आहारं । निद्दड्ढंगालनिभं करेइ चरणिंधणं खिप्पं ॥ ६५७ ॥

व्याख्या—प्रासुकमप्याहारं भुञ्जानो रागाग्निसम्प्रदीप्तचरणेन्धनं निर्दग्धाङ्गारनिभं क्षिप्रं करोति ।

दोसग्गीवि जलंतो अप्पत्तियधूमधूमियं चरणं । अंगारमित्तसरिसं जा न हवइ निद्दही ताव ॥ ६५८ ॥

व्याख्या—द्वेषाग्निरपि ज्वलन् 'अप्रीतिरेव' कलुषभाव एव धूमः अप्रीतिधूमः तेन धूमितं 'चरणं' चरणेन्धनं यावदङ्गारमात्रसदृशं न भवति तावन्निर्दहति । तत इदमागतं—

रागेण सइंगालं दोसेण सधूमगं मुणेयव्वं । छायालीसं दोसा बोद्धव्वा भोयणविहीए ॥ ६५९ ॥

व्याख्या—रागेणाऽऽध्मातस्य यद्भोजनं तत्साङ्गारं, चरणेन्धनस्याङ्गारभूतत्वात्, द्वेषेणाऽऽध्मातस्य तु यद्भोजनं तत्सधूमं, निन्दात्मककलुषभावरूपधूमसम्मिश्रत्वात् । तदेवं भोजनविधौ सर्वसङ्कलया षट्चत्वारिंशद्दोषा बोद्धव्याः, तद्यथा—पञ्चदश उद्गमदोषाः, अध्यवपूरकस्य मिश्रजातेऽन्तर्भावविवक्षणात्, षोडश उत्पादनादोषा दश एषणादोषाः संयोजनादीनां च पञ्चकमिति । कीदृशः पुनराहारः साधुना भोक्तव्य इत्याह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

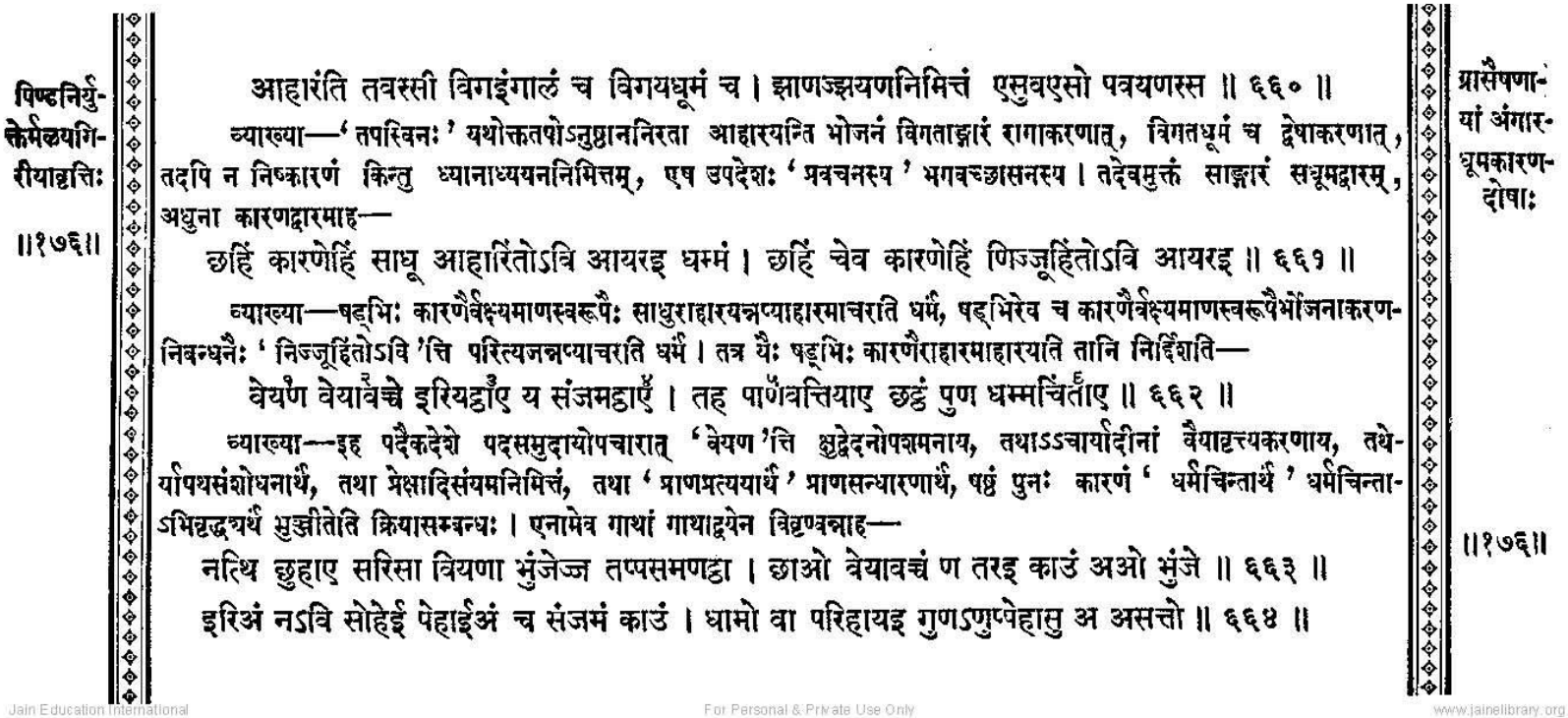

पिण्डनिर्युक्तेर्मलयगिरीयावृत्तिः ॥१७६॥

आहारंति तवस्सी विगइंगालं च विगयधूमं च । झाणज्झयणनिमित्तं एसुवएसो पवयणस्स ॥ ६६० ॥

व्याख्या—'तपस्विनः' यथोक्ततपोऽनुष्ठाननिरता आहारयन्ति भोजनं विगताङ्गारं रागाकरणात्, विगतधूमं च द्वेषाकरणात्, तदपि न निष्कारणं किन्तु ध्यानाध्ययननिमित्तम्, एष उपदेशः 'प्रवचनस्य' भगवच्छासनस्य । तदेवमुक्तं साङ्गारं सधूमद्वारम्, अधुना कारणद्वारमाह—

छहिं कारणेहिं साधू आहारितोऽवि आयरइ धम्मं । छहिं चेव कारणेहिं णिज्जूहितोऽवि आयरइ ॥ ६६१ ॥

व्याख्या—षड्भिः कारणैर्वक्ष्यमाणस्वरूपैः साधुराहारयन्नप्याहारमाचरति धर्मं, षड्भिरेव च कारणैर्वक्ष्यमाणस्वरूपैर्भोजनाकरणनिबन्धनैः 'निज्जूहितोऽवि'त्ति परित्यजन्नप्याचरति धर्मं । तत्र यैः षड्भिः कारणैराहारमाहारयति तानि निर्दिशति—

वेयणे वेयावच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए । तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिंताए ॥ ६६२ ॥

व्याख्या—इह पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् 'वेयण'त्ति क्षुद्वेदनोपशमनाय, तथाऽऽचार्यादीनां वैयावृत्त्यकरणाय, तथेर्यापथसंशोधनार्थं, तथा प्रेक्षादिसंयमनिमित्तं, तथा 'प्राणप्रत्ययार्थं' प्राणसन्धारणार्थं, षष्ठं पुनः कारणं 'धर्मचिन्तार्थं' धर्मचिन्ताऽभिवृद्ध्यर्थं भुञ्जीतेति क्रियासम्बन्धः । एनामेव गाथां गाथाद्वयेन विवृण्वन्नाह—

नत्थि छुहाए सरिसा वियणा भुंजेज्ज तप्पसमणट्ठा । छाओ वेयावच्चं ण तरइ काउं अओ भुंजे ॥ ६६३ ॥

इरिअं नऽवि सोहेई पेहाईअं च संजमं काउं । धामो वा परिहायइ गुणऽणुप्पेहासु अ असत्तो ॥ ६६४ ॥

ग्रासैषणायां अंगारधूमकारणदोषाः ॥१७६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—नास्ति क्षुधा–बुभुक्षया सदृशी वेदना, उक्तं च–" पंथसमा नत्थि जरा दारिद्दसमो य परिभवो नत्थि । मरणसमं नत्थि भयं छुहासमा वेयणा नत्थि ॥ १ ॥ तं नत्थि जं न बाहइ तिलतुसमित्तंपि एत्थ कायस्स । सन्निज्झं सव्वदुहाइ देंति आहाररहियस्स ॥ २ ॥" ततः ' तत्प्रशमनार्थं ' क्षुद्वेदनोपशमनार्थं भुञ्जीत, तथा ' छातो ' बुभुक्षितः सन् वैयावृत्त्यं न शक्नोति कर्त्तुं, तथा चोक्तं–" गलेइ बलं उच्छाहो अवेइ सिढिलेइ सयलवावारे । नासइ सत्तं अरई विवड्ढए असणरहियस्स ॥१॥" अतो वैयावृत्त्यकरणाय भुञ्जीत । तथा बुभुक्षितः सन्नीर्यापथं न विशोधयति, अशक्तत्वात्, अतस्तच्छोधननिमित्तं वाऽश्नीयात्, तथा क्षुधार्त्तः सन् न प्रेक्षादिकं संयमं विधातुमलमतः संयमाभिवृद्ध्यर्थं भुञ्जीत, तथा स्थाम बलं प्राण इत्येकोऽर्थः, तद्बुभुक्षितस्य ' परिहीयते ' परिहानिं याति ततोऽश्नीयात्, तथा गुणनं–ग्रन्थपरावर्त्तनमनुप्रेक्षा–चिन्ता तयोः, उपलक्षणमेतत्, वाचनादिष्वपि बुभुक्षितः सन् अशक्तः–असमर्थो भवति ततोऽश्नीयात् । इत्थंभूतैश्च षड्भिः कारणैः समग्रैरन्यतमेन वा कारणेनाहारयन्नातिक्रामति धर्ममिति । सम्प्रत्यभोजनकारणप्रतिपादनार्थं सम्बन्धमाह—

अहव ण कुज्जाहारं, छहिं ठाणेहिं संजए । पच्छा पच्छिमकालंमि, काउं अप्पक्खमं खमं ॥ ६६५ ॥

व्याख्या—अथवा षड्भिः स्थानैः–वक्ष्यमाणस्वरूपैः संयत आहारं न कुर्यात्, तत्र ' विचित्रा सूत्रगति'रिति षष्ठं शरीरव्यवच्छेदलक्षणकारणं व्याख्यानयति–' पच्छा ' इत्यादि, पश्चात्–शिष्यनिष्पादनादिसकलकर्त्तव्यतानन्तरं ' पश्चिमे काले ' पाश्चात्ये वयसि

(१) पान्थत्वसमा नास्ति जरा दारिद्र्यसमश्च पराभवो नास्ति । मरणसमं नास्ति भयं क्षुत्समा वेदना नास्ति ॥ १ ॥ तन्नास्ति यन्न बाधते तिलतुषमात्रमप्यत्र कायम् । सान्निध्यं सर्वदुःखानि ददति आहाररहितस्य ॥ २ ॥ (२) गलति बलमुत्साहोऽपैति शिथिलयति सकलव्यापारान्। नश्यति सत्त्वमरतिर्विवर्धतेऽशनरहितस्य ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'अप्पक्खमं'ति संलेखनाकरणेनात्मानं क्षपयित्वा यावज्जीवानशनप्रत्याख्यानकरणस्य 'क्षमं' योग्यमात्मानं कृत्वा भोजनं परिहरेत्, नान्यथा। एतेन शिष्यनिष्पादनाद्यभावे प्रथमे द्वितीये वा वयसि संलेखनामन्तरेण वा शरीरपरित्यागार्थमनशन् (तः) तत्प्रत्याख्यानकरणे जिनाज्ञाभङ्गमुपदर्शयति। सम्प्रत्यभोजनकारणानि निर्दिशति—

आयंके उवसग्गे, तितिक्खया बंभचेरगुत्तीसु। पाणिदया तवहेउं, सरीरवोच्छेयणट्ठाए ॥ ६६६ ॥

व्याख्या—'आतङ्के' ज्वरादावुत्पन्ने सति न भुञ्जीत १, तथा 'उपसर्गे' राजस्वजनादिकृते देवमनुष्यतिर्यक्कृते वा सञ्जाते सति 'तितिक्षार्थम्' उपसर्गसहनार्थं २, तथा ब्रह्मचर्यगुप्तिष्विति, अत्र षष्ठ्यर्थे सप्तमी, ततोऽयमर्थः–ब्रह्मचर्यगुप्तीनां परिपालनाय ३, तथा प्राणिदयार्थं ४, तथा 'तपोहेतोः' तपःकारणनिमित्तं ५, तथा चरमकाले शरीरव्यवच्छेदार्थं ६, सर्वत्र न भुञ्जीतेति क्रियासम्बन्धः ॥ एनामेव गाथां विवृण्वन्नाह—

आयंको जरमाई रायासन्नायगाइ उवसग्गो। बंभवयपालणट्ठा पाणिदया वासमहियाई ॥ ६६७ ॥

व्याख्या—आतङ्को–ज्वरादिस्तस्मिन्नुत्पन्ने सति न भुञ्जीत, यत उक्तम्–"बलावरोधि निर्दिष्टं, ज्वरादौ लङ्घनं हितम्। ऋतेऽनिलश्रमक्रोधशोककामक्षतज्वरान् ॥ १ ॥" राजस्वजनादिकृते उपसर्गे यद्वा देवमनुष्यतिर्यक्कृते उपसर्गे जाते सति तदुपशमनार्थं नाश्नीयात्, तथा मोहोदये सति ब्रह्मव्रतपालनार्थं न भुञ्जीत, भोजने निषिद्धे हि प्रायो मोहोदयो विनिवर्त्तते, तथा चोक्तम्—"विषया विनिवर्त्तन्ते, निराहारस्य देहिनः। रसवर्जं रसोऽप्येवं, परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥ १ ॥" तथा वर्षे वर्षति महिकायां वा निपतन्त्यां प्राणिदयार्थं नाश्नीयात्, आदिशब्दात् सूक्ष्मम्ण्डूकादिसंसक्तायां भूमौ प्राणिदयार्थमटनं परिहरन्न भुञ्जीत।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तवहेउ चउत्थाई जाव उ छम्मासिओ तवो होइ । छट्ठं सरीरवोच्छेयणट्ठया होअणाहारो ॥ ६६८ ॥

व्याख्या—' तपोहेतोः ' तपःकरणनिमित्तं न भुञ्जीत, तपश्चतुर्थादिकं–चतुर्थादारभ्य तावद्भवति यावत् ' षाण्मासिकं ' षण्मासप्रमाणं, परतो भगवद्वर्द्धमानस्वामितीर्थे तपसः प्रतिषेधात्, षष्ठं पुनः प्रागुक्तविधिना चरमकाले शरीरव्यवच्छेदार्थं भवत्यनाहारः ॥ तदेवमुक्तं कारणद्वारं, तदुक्तौ चोक्ता ग्रासैषणा, तदभिधानाच्च समाप्ता गवैषणाग्रहणैषणाग्रासैषणाभेदात्त्रिविधाऽप्येषणा । सम्प्रत्यस्या एवैषणायाः सकलदोषसङ्कलनमाह—

सोलस उग्गमदोसा सोलस उप्पायणाए दोसा उ । दस एसणाएँ दोसा संजोयणमाइ पंचेव ॥ ६६९ ॥

व्याख्या—सुगमा, सर्वसङ्ख्यया सप्तचत्वारिंशदेषणादोषाः । एतान् विशोधयन् पिण्डं विशोधयति, पिण्डविशुद्धौ च चारित्रशुद्धिः, चारित्रशुद्धौ मुक्तिसम्प्राप्तिः , उक्तं च–" एएँ विसोहयंतो पिंडं सोहेइ संसओ नत्थि । एए अविसोहिंते चरित्तभेयं वियाणाहि ॥१॥

१ एतान् विशोधयन् पिण्डं शोधयति संशयो नास्ति । एतानविशोधयति चरित्रभेदं विजानीहि ॥ १ ॥ श्रमणत्वस्य सारो भिक्षाचर्या जिनैः प्रज्ञप्ता । अत्र परितप्यन्तं तं जानीहि मन्दसंवेगम् ॥ २ ॥ ज्ञानचरणस्य मूलं भिक्षाचर्या जिनैः प्रज्ञप्ता । अत्र तूद्यच्छन्तं तं जानीहि तीव्रसंवेगम् ॥ ३ ॥ पिण्डमशोधयन् अचारित्री अत्र संशयो नास्ति । चारित्रेऽसति निरर्थिका भवत्येव दीक्षा ॥ ४ ॥ चारित्रेऽसति निर्वाणं नैव गच्छति । निर्वाणेऽसति सर्वा दीक्षा निरर्थिका ॥ ५ ॥

एतत्षट्कं निगमयन्नाह—एएहिं छहिं ठाणेहिं, अणाहारो उ जो भवे । धम्मं नाइक्कमे भिक्खू, धम्मज्झाणरओ भवे ॥ १ ॥

एषा गाथा श्रीवीराचार्यकृतश्रीपिण्डनिर्युक्तिवृत्तौ सूत्रे च दृश्यते, श्रीमलयगिरिसूरिप्रणीतवृत्त्यादर्शेषु तु बहुषु न दृश्यते ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||६६९||

दीप अनुक्रम [७११]

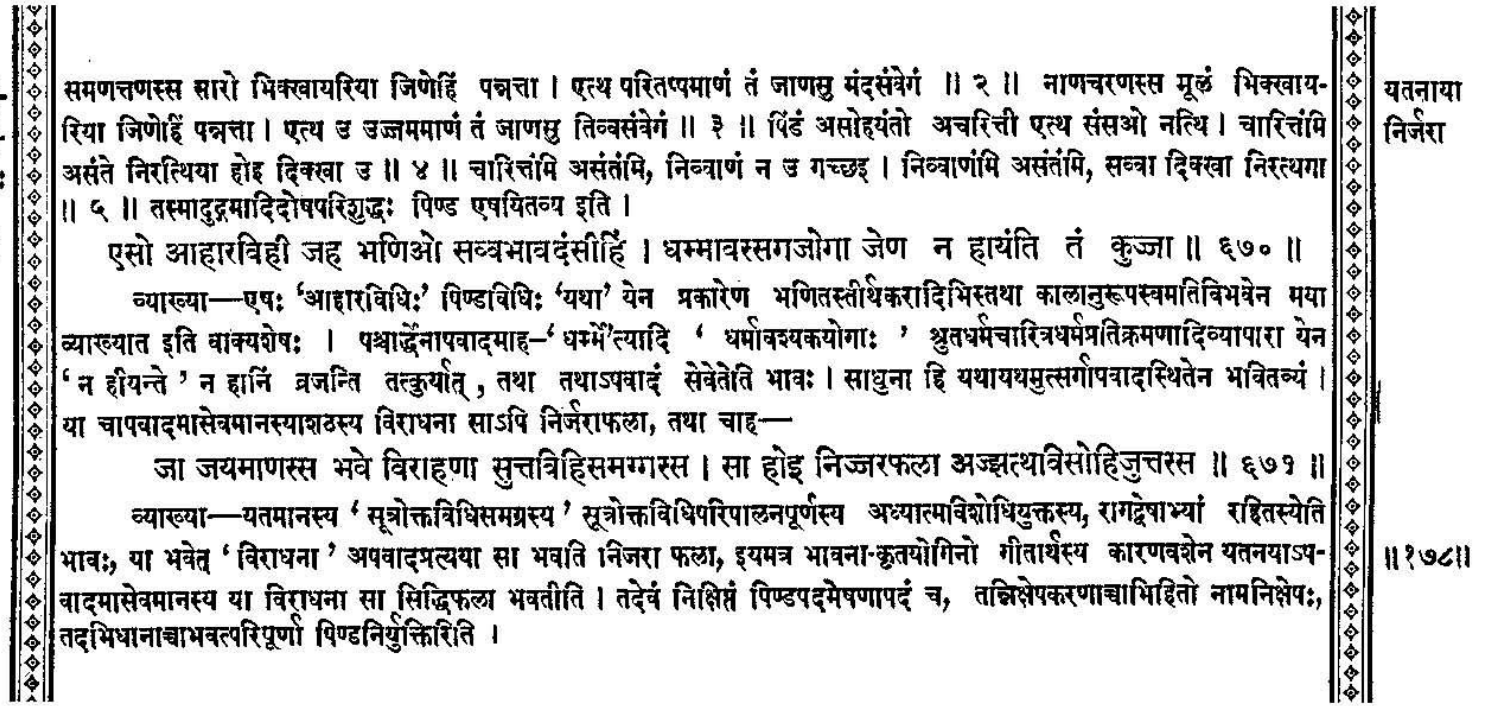

पिण्डनिर्यु-क्तिर्मलयगि-रीयावृत्तिः ॥१७८॥

समणत्तणस्स सारो भिक्खायरिया जिणेहिं पन्नत्ता । एत्थ परितप्पमाणं तं जाणसु मंदसंवेगं ॥ २ ॥ नाणचरणस्स मूलं भिक्खाय-रिया जिणेहिं पन्नत्ता । एत्थ उ उज्जममाणं तं जाणसु तिव्वसंवेगं ॥ ३ ॥ पिंडं असोहयंतो अचरित्ती एत्थ संसओ नत्थि । चारित्तंमि असंते निरत्थिया होइ दिक्खा उ ॥ ४ ॥ चारित्तंमि असंतंमि, निव्वाणं न उ गच्छइ । निव्वाणंमि असंतंमि, सव्वा दिक्खा निरत्थगा ॥ ५ ॥ तस्मादुद्गमादिदोषपरिशुद्धः पिण्ड एषयितव्य इति ।

एसो आहारविही जह भणिओ सव्वभावदंसीहिं । धम्मावस्सगजोगा जेण न हायंति तं कुज्जा ॥ ६७० ॥

व्याख्या—एषः 'आहारविधिः' पिण्डविधिः 'यथा' येन प्रकारेण भणितस्तीर्थकरादिभिस्तथा कालानुरूपस्वमतिविभवेन मया व्याख्यात इति वाक्यशेषः । पश्चार्द्धेनापवादमाह–'धम्मे'त्यादि ' धर्मावश्यकयोगाः ' श्रुतधर्मचारित्रधर्मप्रतिक्रमणादिव्यापारा येन ' न हीयन्ते ' न हानिं व्रजन्ति तत्कुर्यात् , तथा तथाऽपवादं सेवेतेति भावः । साधुना हि यथायथमुत्सर्गापवादस्थितेन भवितव्यं । या चापवादमासेवमानस्याशठस्य विराधना साऽपि निर्जराफला, तथा चाह—

जा जयमाणस्स भवे विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स । सा होइ निज्जरफला अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स ॥ ६७१ ॥

व्याख्या—यतमानस्य ' सूत्रोक्तविधिसमग्रस्य ' सूत्रोक्तविधिपरिपालनपूर्णस्य अध्यात्मविशोधियुक्तस्य, रागद्वेषाभ्यां रहितस्येति भावः, या भवेत् ' विराधना ' अपवादप्रत्यया सा भवति निजरा फला, इयमत्र भावना-कृतयोगिनो गीतार्थस्य कारणवशेन यतनयाऽप-वादमासेवमानस्य या विराधना सा सिद्धिफला भवतीति । तदेवं निक्षिप्तं पिण्डपदमेषणापदं च, तन्निक्षेपकरणाच्चाभिहितो नामनिक्षेपः, तदभिधानाच्चाभवत्परिपूर्णा पिण्डनिर्युक्तिरिति ।

यतनाया निर्जरा ॥१७८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र उपसंहार गाथा कथयते

येनैषा पिण्डनिर्युक्तिर्युक्तिरम्या विनिर्मिता । द्वादशाङ्गविदे तस्मै, नमः श्रीभद्रबाहवे ॥ १ ॥ व्याख्याता यैरेषा विषमपदार्थोऽपि सुललितवचोभिः । अनुपकृतपरोपकृतो विहृतिकृतस्तान्नमस्कुर्वे ॥ २ ॥ इमां च पिण्डनिर्युक्तिमतिगम्भीरां विवृण्वता कुशलम् । यदवापि मलयगिरिणा सिद्धिं तेनाश्नुतां लोकः ॥ ३ ॥ अर्हन्तः शरणं सिद्धाः, शरणं मम साधवः । शरणं जिननिर्दिष्टो, धर्म्मः शरणमुत्तमः ॥ ४ ॥ एवं ग्रन्थाग्रसङ्ख्या ७००० पिण्डनिर्युक्तिः समाप्ता ।

इति श्रीमन्मलयगिर्याचार्यवर्यविहितविवृतिवृता श्रीमद्भद्रबाहुस्वामिसङ्कलिता पिण्डनिर्युक्तिः समाप्ता ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/२], मूलसूत्र-[०२/२] पिण्डनिर्युक्ति मूलं एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||--||

दीप अनुक्रम [--]

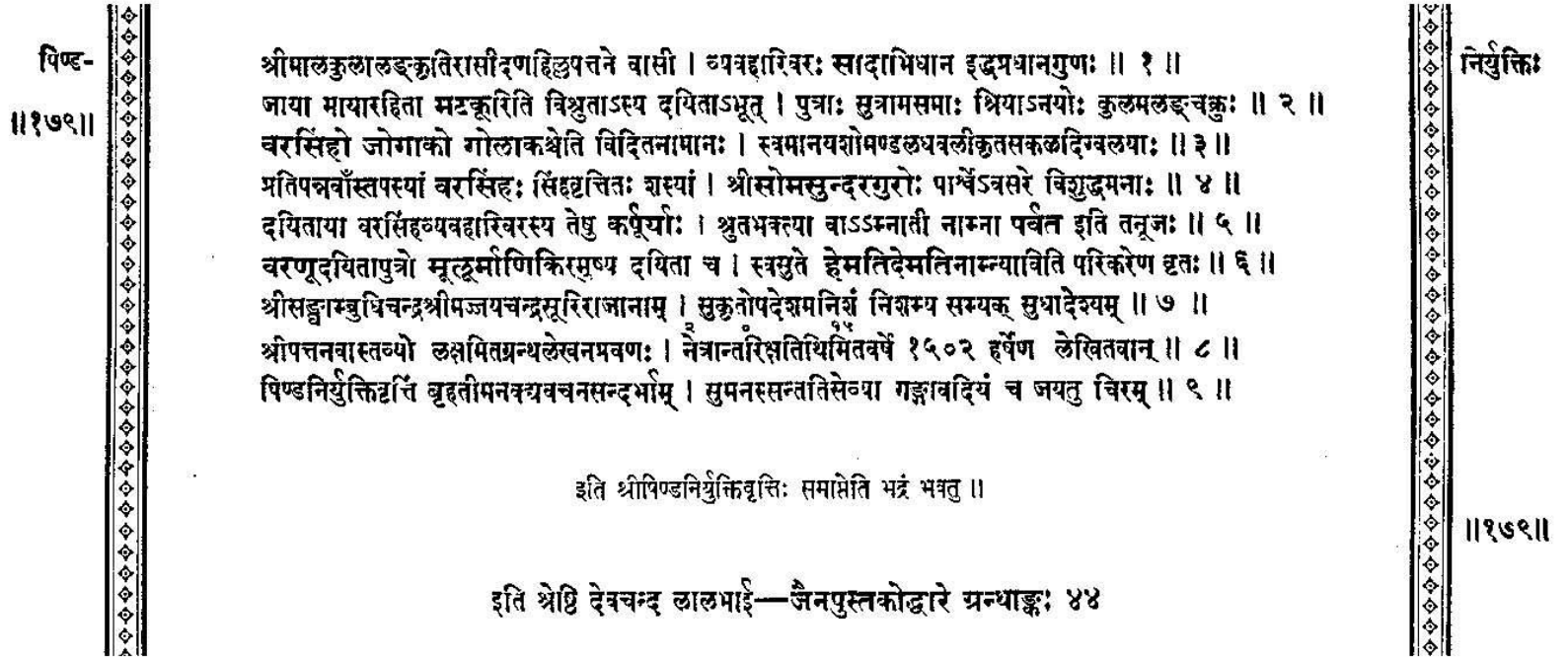

पिण्ड- ॥१७९॥

श्रीमालकुलालङ्कृतिरासीदणहिल्लपत्तने वासी । व्यवहारिवरः सादाभिधान इद्धप्रधानगुणः ॥ १ ॥
जाया मायारहिता मटकूरिति विश्रुताऽस्य दयिताऽभूत् । पुत्राः सुत्रामसमाः श्रियाऽनयोः कुलमलङ्चक्रुः ॥ २ ॥
वरसिंहो जोगाको गोलाकश्चेति विदितनामानः । स्वमानयशोमण्डलधवलीकृतसकलदिग्वलयाः ॥ ३ ॥
प्रतिपन्नवाँस्तपस्यां वरसिंहः सिंहवृत्तितः शस्यां । श्रीसोमसुन्दरगुरोः पार्श्वेऽवसरे विशुद्धमनाः ॥ ४ ॥
दयिताया वरसिंहव्यवहारिवरस्य तेषु कर्पूर्याः । श्रुतभक्त्या वाऽऽम्नाती नाम्ना पर्वत इति तनूजः ॥ ५ ॥
वरणूदयितापुत्रो मूल्हूर्माणिक्किरमुष्य दयिता च । स्वसुते हेमतिदेमतिनाम्न्याविति परिकरेण वृतः ॥ ६ ॥
श्रीसङ्घाम्बुधिचन्द्रश्रीमज्जयचन्द्रसूरिराजानाम् । सुकृतोपदेशमनिशं निशम्य सम्यक् सुधादेश्यम् ॥ ७ ॥
श्रीपत्तनवास्तव्यो लक्षमितग्रन्थलेखनप्रवणः । नेत्रान्तरिक्षतिथिमितवर्षे १५०२ हर्षेण लेखितवान् ॥ ८ ॥
पिण्डनिर्युक्तिवृत्तिं बृहतीमनवद्यवचनसन्दर्भाम् । सुमनस्सन्ततिसेव्या गङ्गावदियं च जयतु चिरम् ॥ ९ ॥

इति श्रीपिण्डनिर्युक्तिवृत्तिः समाप्तेति भद्रं भवतु ॥

इति श्रेष्ठि देवचन्द लालभाई—जैनपुस्तकोद्धारे ग्रन्थाङ्कः ४४

निर्युक्तिः ॥१७९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भाग 33	'पिण्डनिर्युक्ति'-मूलसूत्र [२/२] मूलं एवं मलयगिरिसूरिजी रचिता टीका परिसमाप्ता: मूल संशोधकः सम्पादकश्च पूज्य आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब किंचित् वैशिष्ट्य समर्पितेन सह पुन: संकलनकर्ता मुनि दीपरत्नसागरजी [M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

	सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि भाग १ से ४० में कहां क्या मिलेगा?		
भाग	इस भागमे समाविष्ट आगम के नाम और आगम-क्रम		कुलपृष्ठ
01	आगम ०१ आचार मूलं एवं वृत्ति भाग-१ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन- १,२		३१४
02	आगम ०१ आचार मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन- ३ से ९, श्रुतस्कन्ध- २		५८६
03	आगम ०२ सूत्रकृत मूलं एवं वृत्ति, भाग-१ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन- १ से १३		४९८
04	आगम ०२ सूत्रकृत मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन १४ से १६, श्रुतस्कन्ध-२		३९२
05	आगम ०३ स्थान मूलं एवं वृत्ति, भाग-१ स्थान- १ से ४		५९४
06	आगम ०३ स्थान मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ स्थान- ५ से १० संपूर्ण		४९४
07	आगम ०४ समवाय मूलं एवं वृत्ति.		३३८
08	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-१ शतक- १ से ६		५९२
09	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ शतक- ७ से ११		५५२
10	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-३ शतक- १२ से २०		५१४
11	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-४ शतक- २१ से ४१ संपूर्ण		३८४
12	आगम ०६ ज्ञाताधर्मकथा मूलं एवं वृत्ति.		५२२
13	आगम-७,८,९,१०उपासकदशा, अंतकृतदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण मूलं एवं वृत्ति.		५३८
14	आगम-११,१२, विपाक, उववाई मूलं एवं वृत्ति.		३८४
15	आगम १३ राजप्रश्नीय मूलं एवं वृत्ति.		३१४
16	आगम१४ जीवाजीवाभिगम भाग-१ मूलं एवं वृत्ति. [प्रतिपत्ति-३-अतर्गत] सूत्र- १ से १३८		४८०
17	आगम१४ जीवाजीवाभिगम भाग-२ मूलं एवं वृत्ति. [प्रतिपत्ति-३-अतर्गत] सूत्र- १३९ से प्रतिपत्ती-१० संपूर्ण		४८८
18	आगम १५ प्रज्ञापना भाग-१ मूलं एवं वृत्ति. पद- १ से ५		४२६
19	आगम १५ प्रज्ञापना भाग-२ मूलं एवं वृत्ति. पद- ६ से २२		५१४
20	आगम १५ प्रज्ञापना भाग-३ मूलं एवं वृत्ति. पद- २३ से ३६ संपूर्ण		३३६
21	आगम १६ सूर्यप्रज्ञप्ति मूलं एवं वृत्ति.		६१०

	सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि भाग १ से ४० में कहां क्या मिलेगा?		
भाग	इस भागमे समाविष्ट आगम के नाम और आगम-क्रम		कुलपृष्ठ
22	आगम १७ चन्द्रप्रज्ञप्ति मूलं एवं वृत्ति.		६१४
23	आगम१८ जंबूद्विपप्रज्ञप्ति भाग-१ मूलं एवं वृत्ति. वक्षस्कार- १ एवं २.		३७६
24	आगम१८ जंबूद्विपप्रज्ञप्ति भाग-२ मूलं एवं वृत्ति. वक्षस्कार- ३ एवं ४.		४२६
25	आगम१८ जंबूद्विपप्रज्ञप्ति भाग-३ मूलं एवं वृत्ति. वक्षस्कार- ५ से ७.		३४४
26	आगम १९-३२ निरयावलिका, कल्पवतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा, चतु:शरण, आतुरपरत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा, तंदुलवैचारिक, संस्तारक, गच्छाचार, गणिविदया, देवेन्द्रस्तव मूलं एवं छाया		३१२
27	आगम ३३ थी ३९ मरणसमाधि मूलं एवं छाया, निशीथ, ब्रुहत्कल्प, व्यवहार, दशाश्रुतस्कंध, जीतकल्प/पंचकल्प, महानिशीथ मूलं एव		३३०
28	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-१, निर्युक्ति- १ से ५२१		४६६
29	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-२, निर्युक्ति- ५२२ से ९५१		४४२
30	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-३ निर्युक्ति- ९५२ से १२७३ अपूर्ण, [अध्ययन- १ से ४ अपूर्ण]		४६४
31	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-४ निर्युक्ति- १२७३ अपूर्ण से १६२३, [अध्ययन- ४ अपूर्ण से ६ संपूर्ण]		४२६
32	आगम ४१/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं वृत्ति.		४७२
33	आगम ४१/२ पिंडनिर्युक्ति मूलं एवं वृत्ति.		३७६
34	आगम ४२ दशवैकालिक मूलं एवं वृत्ति.		५९०
35	आगम ४३ उत्तराध्यन मूलं एवं वृत्ति, भाग-१, अध्ययन- १ से ५		५२२
36	आगम ४३ उत्तराध्यन मूलं एवं वृत्ति, भाग-२, अध्ययन- ६ से २१		४८२
37	आगम ४३ उत्तराध्यन मूलं एवं वृत्ति, भाग-३, अध्ययन- २२ से ३६		४६६
38	आगम ४४ नन्दिसूत्र मूलं एवं वृत्ति.		५२८
39	आगम ४५ अनुयोगद्वार् मूलं एवं वृत्ति.		५६०
40	कल्प[बारसा]सूत्र... चतु:शरण, तन्दुलवैचारिक, गच्छाचार मूलं एवं वृत्ति.		३९४

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य आनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर गुरूभ्यो नम:

[भाग-३३] आगम 41/2

पूज्य आगमोध्धारक आचार्य श्री सागरानंदसूरीश्वरेण संशोधित: संपादितश्च

“पिण्डनिर्युक्ति: मूलसूत्र” [मूलं + भाष्यं + मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्ति:]

(किंचित् वैशिष्ठ्यं समर्पितेन सह)

मुनि दीपरत्नसागरेण पुन: संकलित:

“पिण्डनिर्युक्ति” मूलं एवं वृत्ति: नामेण परिसमाप्ता

“सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि” श्रेणि, भाग-33

आगम
वाचना शताब्दी वर्ष

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि

मूल संशोधक

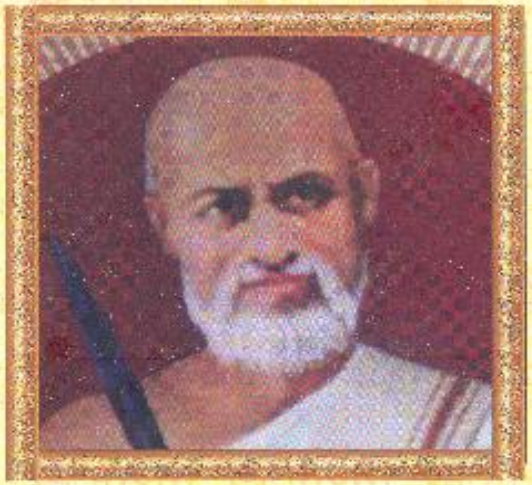

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य
श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

अभिनव-संकलनकर्ता

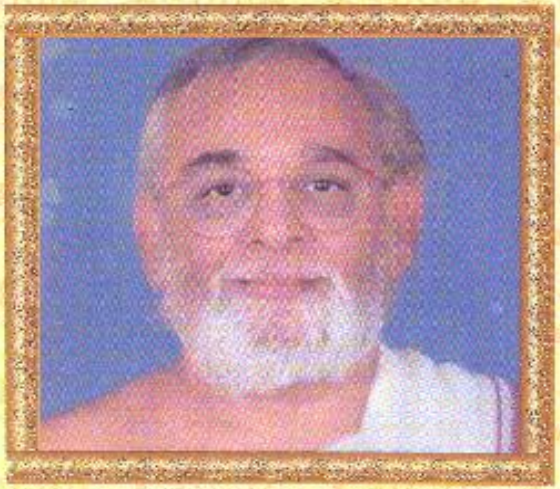

आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी
[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका
मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदाबाद Mo 9825598855 / 9825306275

ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता

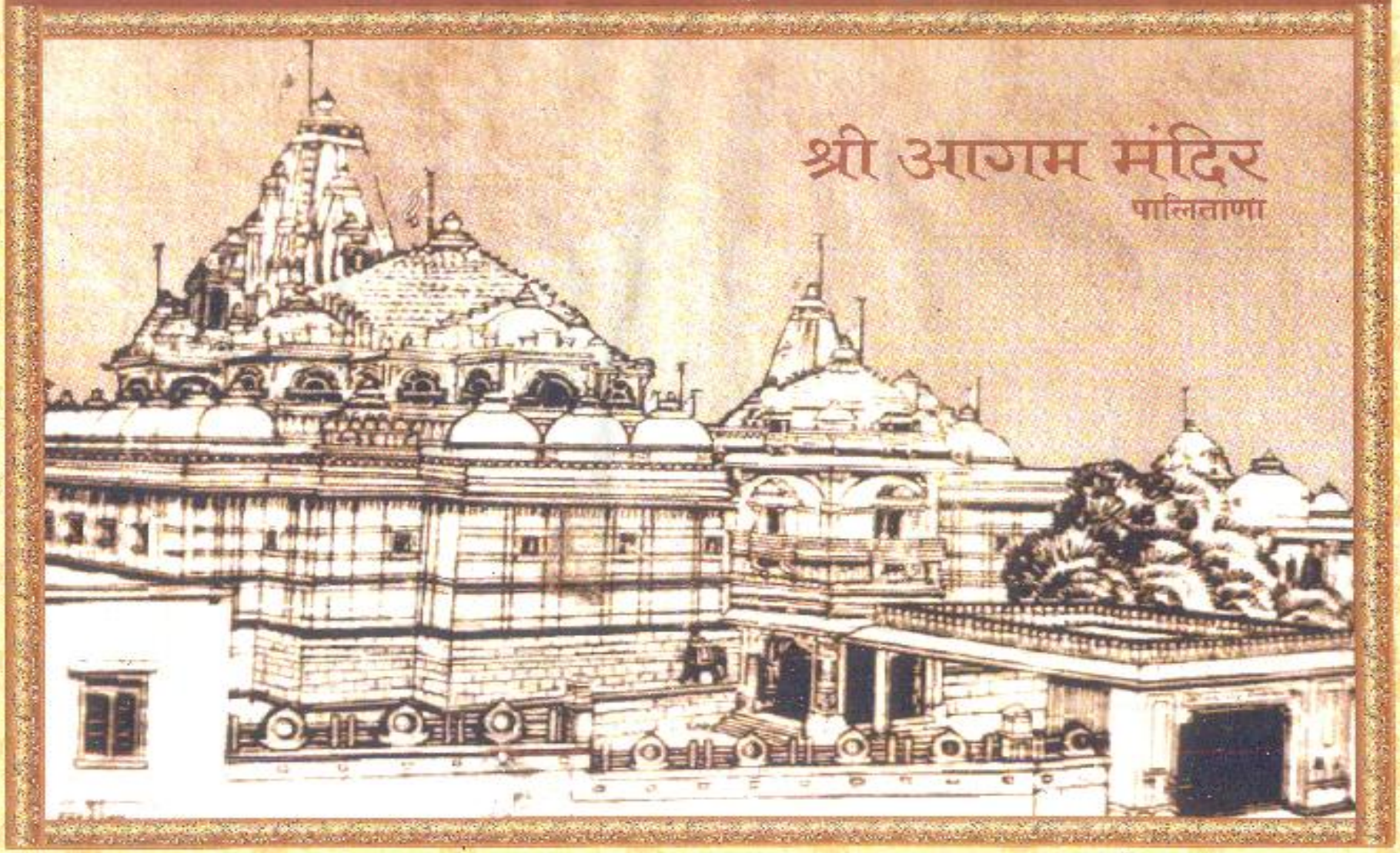

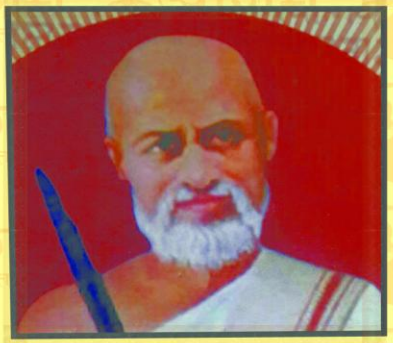

मूल संशोधक

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य

श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब

आगम ४१/२

"पिण्डनिर्युक्ति" मूलं एवं वृत्तिः

अभिनव-संकलनकर्ता

आगम दिवाकर **मुनिश्री दीपरत्नसागरजी**

[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]